दंडिन की कृतियों का सांस्कृतिक अध्ययन

(A Cultural Study of the works of Dandin]

निर्देशिका

डा० रंजना बाजपेई

रीडर, प्राचीन इतिहास, सस्कृति एव पुरतत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविधालय इलाहाबाद

शोधकर्त्री

श्रीमती मिनी ओहरी

इलाहाबाद बिश्वविद्यालय की डी० फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९९५

विषय सूची

आरम्भिकी
÷÷÷÷*÷÷*÷÷*

भारतीय संस्कृति एवं समाज के उन्नयन में संस्कृत साहित्य एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन किये बिना भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करना सम्भव नहीं है । जहाँ वेद, उपनिषद एवं पौराणिक ग्रन्थ हमारे इतिहास की नींव के प्रस्तर के रूप में प्रमाणित हुये हैं वहीं संस्कृत साहित्य के कवि और उनकी रचनायें तत्कालीन समाज एवं उसकी व्यवस्था को उद्घाटित करने वाले अनमोल रत्न स्वरूप हैं । महाकवि कालिदास, भारवि, अश्वघोष, भास, माघ एवं दण्डी जैसे मूर्धन्य कवियों ने न केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं समाज को संरक्षण प्रदान किया है अपितु इतिहास का मार्ग भी प्रशस्त किया है । इनकी कृतियों का अध्ययन किये बिना इतिहास की पृष्ठभूमि निर्मित करना कठिन है । कालिदास भारवि तथा माघ आदि कवियों की कृतियों पर अत्यधिक कार्य किया जा चुका है परन्तु महाकवि दण्डी की ओर बहुत कम इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित हुआ है जबकि दण्डी ने अपनी लोकप्रिय कृति " दशकुमारचरित " और " अवन्तिसुन्दरीकथा " के माध्यम से तत्कालीन राज्यव्यवस्था के साथ - साथ धर्म , संस्कृति एवं साहित्य का एक अनूठा चित्रण प्रस्तुत किया है, इसलिये दण्डिन की कृतियों का अध्ययन करके तत्कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति को इतिहास के आईने में देखना भी अनिवार्य था जिसका प्रयास मैने अपने इस शोध ग्रन्थ के माध्यम से किया है । अतः पाठक एवं शोधार्थी दण्डिन के विषय में विस्तृत सामग्री प्राप्त कर सकें, इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उनकी कृतियों तथा काल - निर्धारण का उल्लेख करना भी आवश्यक है ।

संस्कृत साहित्य में दण्डिन का नाम बड़े आदर से लिया जाता है । उनके बारे में कहावत है कि " कविर्दण्डि: कविर्दण्डि: कविर्दण्डि: न संशय: ।" नि:संदेह ही प्राचीन संस्कृत साहित्य में एक कवि और लेखक के रूप में दंडिन का स्थान अद्वितीय है

संस्कृत कविता के क्षेत्र में उन्होंने अभूतपूर्व योगदान दिया है । गद्य के क्षेत्र में उनका नाम सुबंधु और बाण के समकक्ष ही गिना जाता है । उनकी कृतियाँ न केवल कविता और कलात्मक गद्य के महत्व को ही चित्रित करती हैं बल्कि वह तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन तथा सभ्यता का विशद चित्रण प्रस्तुत करती है ।

गद्यकाव्य के लेखकों में सबसे प्राचीन कृतियाँ महाकवि दण्डिन की उपलब्ध होती है जिसकी पुष्टि राजशेखर कृत " शार्ङ्गधर पद्धति §174§ में वर्णित निम्नलिखित श्लोक से होती है :-

" त्रयोऽग्नयास्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणा: ।
त्रयोदण्डि प्रबंधाश्च त्रिषुलोकेषु विश्रुता: ।।"

उपरोक्त श्लोक के अनुसार दण्डिन ने तीन ग्रन्थों की रचना की है । इनमें से दो "काव्यादर्श" और " दशकुमारचरित " है । " काव्यादर्श में गद्यकाव्य शैली एवं कथावस्तु के सम्बन्ध में जिन नियमों का विधान किया गया है उनका सर्वथा पालन " दशकुमारचरित" में नहीं दिखाई देता है । अत: कुछ विद्वानों की धारणा है कि उक्त दोनों कृतियाँ दो भिन्न -भिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिखी गयी है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डिन ने " दशकुमारचरित " की रचना अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में की है तथा " काव्यादर्श " की रचना प्रौढ़ प्रतिभा की प्राप्ति के पश्चात । कुछ विद्वानों के अनुसार दण्डिन की तीसरी रचना "छन्दोविचित "या " कलापरिच्छेद " है क्योंकि ' काव्यादर्श ' §1 •21,3• 171 § में इन नामों का उल्लेख है पर उक्त दोनों नाम छन्द:शास्त्र सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ के हो सकते हैं । पिशेल ने निम्नलिखित दो आधारों पर "मृच्छकटिक" को दण्डिन की तीसरी रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है :- §1§ "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि " वाला प्रसिद्ध गद्य ' काव्यादर्श ' §2•226§ तथा " मृच्छकटिक " §1•34§ दोनों में पाया जाता है । §2§ " मृच्छकटिक " तथा" दशकुमारचरित " का सामाजिक चित्रण एक सा है । अत: दोनों दण्डिन की रचनायें हैं । परन्तु भास के नाटकों की

संस्कृत कविता के क्षेत्र में उन्होंने अभूतपूर्व योगदान दिया है । गद्य के क्षेत्र में उनका नाम सुबंधु और बाण के समकक्ष ही गिना जाता है । उनकी कृतियाँ न केवल कविता और कलात्मक गद्य के महत्त्व को ही चित्रित करती है बल्कि वह तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन तथा सभ्यता का विशद चित्रण प्रस्तुत करती है ।

गद्यकाव्य के लेखकों में सबसे प्राचीन कृतियाँ महाकवि दण्डिन की उपलब्ध होती है जिसकी पुष्टि राजशेखर कृत " शारंगधर पद्धति §174§ में वर्णित निम्नलिखित श्लोक से होती है :-

" त्रयोऽग्नयास्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणा: ।
त्रयोदण्डि प्रबंधाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता: ।।"

उपरोक्त श्लोक के अनुसार दण्डिन ने तीन ग्रन्थों की रचना की है । इनमें से दो "काव्यादर्श" और " दशकुमारचरित " है । " काव्यादर्श में गद्यकाव्य शैली एवं कथावस्तु के सम्बन्ध में जिन नियमों का विधान किया गया है उनका सर्वथा पालन " दशकुमारचरित" में नहीं दिखाई देता है । अत: कुछ विद्वानों की धारणा है कि उक्त दोनों कृतियाँ दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिखी गयी है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डिन ने " दशकुमारचरित " की रचना अपने साहित्यिक जीवन के प्रभात काल में की है तथा " काव्यादर्श " की रचना प्रौढ़ प्रतिभा की प्राप्ति के पश्चात । कुछ विद्वानों के अनुसार दण्डिन की तीसरी रचना "छन्दोविचित "या " कलापरिच्छेद " है क्योंकि ' काव्यादर्श ' §1·21,3·171§ में इन नामों का उल्लेख है पर उक्त दोनों नाम छन्द:शास्त्र सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ के हो सकते हैं । पिशेल ने निम्नलिखित दो आधारों पर "मृच्छकटिक" को दण्डिन की तीसरी रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है :- §1§ "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि " वाला प्रसिद्ध गद्य ' काव्यादर्श ' §2·226§ तथा " मृच्छकटिक " §1·34§ दोनों में पाया जाता है । §2§ " मृच्छकटिक " तथा" दशकुमारचरित " का सामाजिक चित्रण एक सा है । अत: दोनों दण्डिन की रचनायें हैं । परन्तु भास के नाटकों की

खोज के उपरान्त पहला तर्क निराधार हो जाता है तथा दूसरे तर्क में औचित्य नहीं दिखाई पड़ता है। भोजदेव ने "द्विसन्धानकाव्य" को दण्डिन की रचना के रूप में उल्लेख किया है और उसका एक श्लोक § उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः। धर्मप्रभ इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः § भी उद्धृत किया है। सन् 1924 में "अवन्तिसुन्दरीकथा" नामक एक अपूर्ण गद्यकाव्य प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक एम०आर०कवि महोदय ने इसे दण्डिन की रचना माना है।" अवन्तिसुन्दरीकथा "और" दशकुमारचरित" के कथानकों में समानता है अन्तर केवल शैली में है। "अवन्तिसुन्दरीकथा" की प्रमाणिकता में कोई सन्देह नहीं है क्योंकि "काव्यादर्श" की जंघानुकृति टीका में §" अवन्तिसुन्दरीकथा" नामक आख्यायिका का उल्लेख मिलता है। अतः कुछ विद्वानों ने "अवन्तिसुन्दरीकथा" को ही दण्डिन की तीसरी रचना माना है।

विद्वान दण्डिन की तिथि व समय के प्रश्न पर मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें सेतुबन्ध § पाँचवी शताब्दी §, भास §तीसरी शताब्दी ईसवी§, कालिदास§चौथी शताब्दी§, भारवि §छठी शताब्दी§, बाण §610-50ईसवी§ और भर्तृहरि§600ईसवी§ आदि के समकक्ष मानते हैं जबकि अन्य विद्वान 815-75 ईसवी के राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग के कन्नड़ी अलंकार ग्रन्थ "कविराजमार्ग" में भी "काव्यदर्श" की यथेष्ट छाप दिखाई देने के कारण इन्हें वामन § 780-810§ तथा भामह§600ईसवी§ के समकक्ष रखते हैं। महाशय काणे ने कवियत्री विज्जिका की साहित्यिक उपलब्धियों के आधार पर दण्डिन को सातवीं शताब्दी के उतरार्ध में रखा है क्योंकि उन्होंने अपने एक श्लोक में "काव्यादर्श" की मंगलासूचक अन्तिम पंक्ति का प्रमाण दिया है। यह श्लोक "शार्ङ्गधर पद्धति" में वर्णित है। कीथ, कालिन्स जैसे विद्वानों ने इन्हें छठीं तथा सातवीं शताब्दी का ही माना है। जैनेन्द्र बुद्धि के "न्यासकारिका" § 705-62 ईसवी § के आधार पर दण्डिन को आठवीं शताब्दी के उतरार्ध में भी रखा जा सकता है। अतः दण्डिन कालीनसभ्यता एवं संस्कृति का समूचा चित्रण प्रस्तुत करने के लिये सम्पूर्ण सातवीं तथा आठवीं शताब्दी की सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन करना हमारे लिये आवश्यक है।

हो जाता है ।

तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति के विशद अध्ययन के उद्देश्य से मैने अपनी शोध सामग्री को मुख्य रूप से छ: अध्यायों में बाँटा है जो क्रमश: इस प्रकार हैं :- जाति,वर्ण और परिवार; विवाह एवं स्त्रियों की दशा ; शिक्षा और साहित्य ; आर्थिक जीवन, लोगों के दैनिक जीवन के अन्तर्गत खान - पान, वेशभूषा, आभूषण,मनोरंजन,पर्व,प्रचलित विश्वास तथा धार्मिक जीवन ।

'प्रथम अध्याय' के अन्तर्गत मैंने तत्कालीन जातियों,वर्णों एवं परिवार की स्थिति पर प्रकाश डाला है ।भारत में सातवीं शताब्दी के पूर्व ही जाति - व्यवस्था पूर्ण रूपेण स्थापित हो चुकी थी । दण्डिन की समकालीन जीवन की सम्पूर्ण पद्धति चार जातियों, जिन्हें मुख्य रूप से ब्राहम, क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र के नाम से जाना जाता है,पर आधारित थीं । चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी देखा था कि चार प्रमुख जातियाँ मुख्य रूप से वंशानुगत पृथकता के सिद्धान्त पर आधारित थीं । ब्राहमण लोग उच्च संस्कारों से युक्त धार्मिक आदर्शों वाले थे । लोगों के द्वारा अनेक प्रकार के उपहार और भूमिदान ब्राहमणों को प्रदान किये जाते थे । ह्वेनसांग ने क्षत्रियों की प्रशंसा करते हुये उन्हें निर्दोष, पवित्र एवं मितव्ययी बताया है । देश की भौतिक समृद्धि में वृद्धि करने के साथ - साथ वैश्यों ने वाणिज्य, व्यापार, धन उधार देना तथा वस्तु विनिमय द्वारा अर्थ - व्यवस्था पर नियन्त्रण किया हुआ था । परिवार समाज की छोटी तथा महत्वपूर्ण इकाई के रूप में व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक की सम्पूर्ण अवस्थाओं तथा दैनिक कार्यों के निर्वाह को संचालित करती थी । हिन्दुओं के जीवन में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान था । उनका जीवन ब्रहमचर्य,ग्रहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों की पद्धति पर आधारित था । इन चारों आश्रमों का आधार धार्मिक पवित्रता और आत्मोन्नति था ।

'द्वितीय अध्याय' में विवाह एवं स्त्रियों की दशा को चित्रित किया गया है ।

गृहस्थाश्रम के बन्धन की पूर्णता के लिये विवाह के परम्परागत आठ प्रकारों में से प्रथम चार ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य सभी जाति के लोगों के लिये स्वीकृत थे। समाज में अन्तर्जातीय विवाह, बहुविवाह, नियोग, सती, पर्दा जैसी प्रथाओं का प्रचलन था। समाज में विधवाओं की समाजिकार्थिक स्थिति दयनीय थी। विवाह के समय अपने माता पिता द्वारा प्रदान की गयी सम्पूर्ण वस्तुओं पर कन्या का अधिकार था।

'तृतीय अध्याय' के अन्तर्गत उस समय की शिक्षा का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। सातवीं शताब्दी में शिक्षा प्रणाली में बहुत परिवर्तन हुये थे। चीनी यात्री ह्वेन-सांग के अनुसार इस समय पन्द्रह वर्षों से चली आ रही ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली प्रभावी थी और संस्कृत भाषा का व्यापक प्रचार था। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर और सौहार्दपूर्ण थे। जहाँ बौद्ध शिक्षा पद्धति का उद्देश्य छात्रों का बौद्धिक एवं नैतिक विकास करना था वहीं जैन शिक्षा पद्धति भी बालकों के विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान-वर्द्धन के लिये महत्वपूर्ण थी। तत्कालीन शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। स्त्रियों की शिक्षा की भी उत्तम व्यवस्था थी। शिक्षा प्राप्त करने के मुख्य केन्द्र ब्राह्मण विद्यालय, मठ अथवा आश्रम तथा शैक्षणिक संस्थायें थी। नालन्दा, वलभी तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में थे।

'चतुर्थ अध्याय' तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डालता है। आर्थिक दृष्टि से समाज दो वर्गों में विभाजित था :- उच्चवर्ग तथा निम्नवर्ग। उच्चवर्ग की आर्थिक स्थिति काफी समुन्नत थी किन्तु निम्नवर्ग की स्थिति बहुत दयनीय थी। न केवल समाज के निम्नवर्ग में अपराध और भ्रष्टाचार आम जीवन का अंग हो गया था बल्कि उच्चवर्ग यहाँ तक कि राज्य द्वारा ने भी इन दुर्गुणों से अछूते न रह गये थे। आर्थिक जीवन का मूलाधार कृषि, पशुपालन और व्यापार था। समाज में भूमिगत सम्पदा का विशिष्ट स्थान था। भारत के आर्थिक जीवन में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान था। तत्कालीन मुद्रा प्रणाली गुप्त मुद्रा प्रणाली के ही अनुरूप थी।

'पंचम अध्याय' लोगों के दैनिक जीवन की पद्धति को उद्घाटित करता है । लोगों के दैनिक जीवन के अन्तर्गत सन्तुलित भोजन, उचित वेशभूषा, आभूषण तथा व्यक्तिगत स्वास्थ्य का महत्वपूर्ण स्थान था । लोग दैनिक जीवन के कष्टों से अपने को आराम देने के लिये अपने को मनोरंजन तथा आनन्द के अनेक साधनों में व्यस्त रखते थे । कुछ प्रमुख त्योहारों में मदनोत्सव, कौमुदीमहोत्सव, इन्द्रोत्सव तथा प्रदीपोत्सव थे । समाज मे लोग स्वप्न, ज्योतिष, शकुन और आलौकिक शक्तियों में विश्वास करते थे । उस समय लोगों का जीवन अर्थहीन रीति - रिवाज, अंधविश्वास मिथ्याचार और पौराणिक मिथ्यों से पोषित था । इस अन्धविश्वास की चपेट से उच्चवर्ग भी प्रभावित हुआ था । इस पूरी प्रक्रिया में कुछ लोग अपने निहित स्वार्थों के लिये बहुसंख्यक समाज का शोषण कर रहे थे । परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में नैतिक गिरावट आ गयी थी ।

'छठाँ अध्याय' तत्कालीन धार्मिक दशा का चित्रण प्रस्तुत करता है । धार्मिक एकता सम्पूर्ण भारत के सामाजिक जीवन की एक विशेषता थी । समाज में मुख्य रूप से प्रचलित धर्म थे, जैसे :- शैव, वैष्णव, बौद्ध तथा जैन धर्म । बौद्ध धर्म एक प्रसिद्ध धर्म था, यद्यपि यह निश्चय ही पतन की ओर था । पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत और वैशाली को छोड़कर जैन धर्म का बहुत थोड़ा प्रभाव उत्तरी भारत में भी था । यद्यपि इस समय वैदिक धर्म की परम्परा भी कुछ प्रचलित थी तथापि बहुत से लोग पौराणिक हिन्दुत्व से जुड़े हुये थे । बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभुत्व वाला धार्मिक जीवन तेजी से ढह रहा था और उनका स्थान ब्राह्मणवादी आन्दोलन ग्रहण करता जा रहा था । यह एक तरह का महान सांस्कृतिक पुर्नजागरण था लेकिन यह जो नवीन आन्दोलन उभरा था उसमें पतन के लक्षण दिखाई देने लगे थे । यद्यपि धार्मिक सामंजस्य सामान्य रूप से बना हुआ था फिर भी बौद्ध और जैन मत के प्रति अनादर आ गया था ।

इस शोध प्रबन्ध को तैयार करते समय जिन विद्वान इतिहासकारों की कृतियों ने मुख्य रूप से मुझे आकर्षित किया और मार्ग प्रशस्त किया, उनमें से मुख्यत: थीं :-

श्री डी॰के॰ गुप्ता की 'दण्डिन कालीन समाज एवं संस्कृति (1972)' तथा 'ए क्रिटिकल स्टडी आफ दण्डिन ऐण्ड हिज वर्क (1970); श्री ए॰एस॰ अल्टेकर की 'ऐजुकेशन इन एंशेंट इंडिया (1957)' एवं 'पोजीशन आफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन(1938); श्री ओम प्रकाश की 'फूड ऐण्ड ड्रिंक इन एंशेंट इंडिया (1967); श्री बी॰एन॰एस॰ यादव की "सोसाईटी ऐण्ड कल्चर इन नादर्न इंडिया,(1973)" है।

मैं प्रोफेसर बी॰एन॰एस॰ यादव तथा प्रोफेसर एस॰सी॰भट्टाचार्य, विभागाध्यक्ष प्राचीन इतिहास पुरातत्व, सेंटर आफ एडवांस स्टडी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की आभारी हूँ जिन्होने सदैव स्नेह प्रदान करते हुये मेरा पथ - प्रदर्शन किया है। मैं अपनी निर्देशिका डा० रंजना बाजपेयी की ऋणी हूँ जिन्होने इतनी व्यस्तता के बाद भी इस शोध कार्य को पूरा करने में मुझे पग - पग पर सहयोग प्रदान किया है। विभाग के अन्य गुरूजनों में डा०आर०पी०त्रिपाठी, डा०ओम प्रकाश,डा०पुष्पा तिवारी,डा० एस० एन० दूबे की सद्भावना के लिये भी मैं आभारी हूँ।

वयोवृद्ध महानुभावी पत्रकार श्री एच०सी०ओहरी, वरिष्ठ पत्रकार श्री रामनरेश त्रिपाठी तथा इलाहाबाद आकाशवाणी के उद्घोषक श्री गौरीशंकर सिन्हा अपने अमूल्य सहयोग के लिये धन्यवाद के पात्र हैं। मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों के लिये पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मिनी ओहरी

संकेत - सारणी

अर्थ०	- अर्थशास्त्र
अथर्व०	- अथर्ववेद
अभि०शाकु०	- अभिज्ञान शाकुन्तलम्
अमर०	- अमरकोष
अवन्ति०	- अवन्तिसुन्दरीकथा
अष्टा०	- अष्टाध्यायी
अष्टांग०	- अष्टांगसंग्रह
आ०गृ०सू०	- आश्वालयन गृह्यसूत्र
आ०स०ए०रि०	- आर्केलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, एनुवल रिपोर्ट्स
आ०इ०ए०	- इण्डियन ऐन्टिक्वेरी
ई०सि०	- बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इंडिया
उत्तर०	- उत्तररामचरित
ऋतु०	- ऋतुसंहार
एल०के०ए०	- ललित कला एकेडमी
एपि०इंडिया	- एपिग्राफिया इंडिया
काद०	- कादम्बरी
काद०	- कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन
काम०	- कामसूत्र
काम०नीतिसार	- कामन्दकीय नीतिसार
का०स्मा०	- क्रिश्चियन टोपोग्राफी आफ
काव्या०	- काव्यादर्श
किराता०	- किरातार्जुनीय
कौटिल्य	- कौटिल्य अर्थशास्त्र

कुमार०	- कुमारसम्भव
कुवलय०	- कुवलयमाला
कृत्य०	- कृत्यकल्पतरू
गौ०	- गौडवहो
गौ०ध०सू०	- गौतमधर्मसूत्र
चण्डी०	- चण्डीशतक
चरक०	- चरकसंहिता
ज०रा०ए०सो०	- जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज०ए०सो०बं०	- जनरल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल
जीवनी	- दि लाइफ आफ ह्वेनसांग
तकाकुसु	- बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इंडिया
तै०ब्रा०	- तैत्तिरीयब्राह्मण
तै०संहिता	- तैत्तिरीय संहिता
दशकुमार०	- दशकुमारचरित
दुर्गा सप्त०	- दुर्गासप्तशती
नागा०	- नागानन्द
नि०चू०	- निशीथ चूर्णि
नीति०	- नीतिशतक
पा०गृ०सू०	- पारस्कर गृह्यसूत्र
पार्वती०	- पार्वतीपरिणय
प्रिय०	- प्रियदर्शिका
पु०	- पुराण
पूर्व०	- पूर्वपीठिका
बौ०ध०सू०	- बौधायनधर्मसूत्र

कुमार०	- कुमारसम्भव
कुवलय०	- कुवलयमाला
कृत्य०	- कृत्यकल्पतरु
गौ०	- गौउवहो
गौ०ध०सू०	- गौतमधर्मसूत्र
चण्डी०	- चण्डीशतक
चरक०	- चरकसंहिता
ज०रा०ए०सो०	- जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज०ए०सो०ब०	- जनरल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल
जीवनी	- दि लाइफ आफ ह्वेनसांग
तकाकुसु	- बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इंडिया
तै०ब्रा०	- तैत्तिरीयब्राह्मण
तै०संहिता	- तैत्तिरीय संहिता
दशकुमार०	- दशकुमारचरित
दुर्गा सप्त०	- दुर्गासप्तशती
नागा०	- नागानन्द
नि०चू०	- निशीथ चूर्णि
नीति०	- नीतिशतक
पा०गृ०सू०	- पारस्कर गृह्यसूत्र
पार्वती०	- पार्वतीपरिणय
प्रिय०	- प्रियदर्शिका
पु०	- पुराण
पूर्व०	- पूर्वपीठिका
बौ०ध०सू०	- बौधायनधर्मसूत्र

मत्तविलास० - मत्तविलासप्रहसन
मनु० स्मृ० - मनुस्मृति
महा० - महाभारत
महावीर० - महावीरचरितराम
माघ - शिशुपालवध
मालविका० - मालविकाग्निमित्रम्
मालती० - मालतीमाधव
मुद्रा० - मुद्राराक्षस
मृच्छ० - मृच्छकटिक
रघु० - रघुवंश
रत्ना० - रत्नावली
राज० - राजतरंगिणी
रामा० - रामायण
व्यवहार० - व्यवहारकाण्ड
वाटर्स -आन युवानच्वांग ट्रेवल्स इन इण्डिया ।
वासव० - वासवदत्ता
विक्रमो० - विक्रमोर्वशी
वी०मि०सं० - वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश
वील० - सि-यू-की, बुद्धिस्ट रेकार्ड आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड
वेणी० - वेणीसंहार
वैराग्य० - वैराग्यशतक
वृत्तांत - दि लाइफ आफ ह्वेनसांग
बृहत्० - बृहत्संहिता

वृहत्कल्प०	- वृहत्कल्प सूत्र भाष्य
शब्दा०	- शब्दानुशासन
शिशु०	- शिशुपालवध
स्मृ०	- स्मृति
सभा०	- सभाश्रृंगार
समरै०	- समरैच्चकहा
सी०ए०	- क्लासिकल एज
सूत्र०	- सूत्रकृतांग
हर्ष०	- हर्षचरित
हर्ष०	- हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन
श्रृंगार०	- श्रृंगाररसक
अनु०	- अनुवादक, अनुच्छेद
संपा०	- संपादक
पृ०	- पृष्ठ

-0-

अध्याय प्रथम

जाति, वर्ण और परिवार

प्राचीन भारतीयों के सामाजिक जीवन की सबसे मुख्य संस्था वर्णव्यवस्था है। इसी की भित्ति पर हिन्दू समाज का भवन खड़ा है जो अत्यन्त प्राचीन काल से अनन्त बाधाओं का सामना करते हुये भी अब तक न टूट सका।[1] वर्णाश्रम व्यवस्था का सम्बन्ध मनुष्य की प्रकृति तथा उसके प्रशिक्षण से था और इस प्रकार ये हिन्दू सामाजिक संगठन के आधार स्तम्भ है।[2] सातवीं शताब्दी के आरम्भ से ही बुद्ध और जैन आन्दोलनों का सामर्थ्य और प्रतिष्ठा क्षीण हो चुकी थी। और ब्राह्मणवादी पुनर्जागरण ने पूरे देश में फिर से शक्ति अर्जित कर ली थी।[3] और हिन्दू धर्म के पुनरभ्युदय के साथ - साथ वर्ण व्यवस्था की भी पुन: उन्नति हुई। दण्डिन की समकालीन जीवन की सम्पूर्ण पद्धति, चार जातियों जिन्हें मुख्य रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से जाना जाता है, पर आधारित थी।[5]

प्रारम्भिक काल में जो लोग विद्या, शिक्षा, तप, यज्ञ, धार्मिकता आदि में रुचि रखते थे वे ब्राहमण वर्ण के अन्तर्गत गृहीत किये गये। ऐसे लोगों का मुख्य कार्य अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन और तप था। जो वर्ग शासन संचालन और राज्य -व्यवस्था में योग देता था तथा जिसका प्रधान कर्म देश की रक्षा तथा प्रशासन था वह क्षत्रिय वर्ण था। पशुपालन, कृषि और व्यापार जिसका प्रधान कर्म था, वह वैश्य वर्ण माना गया। समाज के तीनों वर्णों की सेवा और परिचारक - वृत्ति करने वाला शूद्र वर्ण का माना गया।[6] समाज में ब्राहमणों को उच्च स्थान प्राप्त था। समकालीन इतिहास और साहित्य तथा दण्डिन के वर्णन में इस तरह के बहुत उदाहरण मिलते हैं जिससे यह पता चलता है कि सातवीं शताब्दी तक आते - आते वर्ण का स्थान जातियों ने ले लिया था। गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तर काल में रचित साहित्य और स्मृतियों में वर्णित जातीय व्यवस्था पुन: परिलक्षित होने लगी थी। जातीय व्यवस्था का यह उल्लेख ह्वेनसांग के वर्णन में भी मिलता है। ह्वेनसांग ने भी चार जातियों में बंटे हुये § ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र § समाज तथा उन जातियों के व्यवसाय और

वैवाहिक सम्बन्धों आदि का उल्लेख किया है ।[7] बाण ने हर्ष के विषय में उल्लिखित किया है कि वह एक ऐसा शासक था जो मनु के समान वर्णों और आश्रमों के सभी नियमों का पालन करता था ।[8] श्रीकण्ठ जनपद के जीवन तथा सम्पन्नता के सम्बन्ध में वर्णन करते समय वह कहता है कि वर्ण सम्बन्धी नियम सर्वदा से संकीर्ण नहीं थे ।[9] सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने का प्रमुख दायित्व राजा का होता था । व्यवसाय का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जातियों से था ।[10] अत: तत्कालीन समाज में ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चार जातियाँ पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित थीं ।[11]

इन चारों जातियों में से प्रथम तीन जातियाँ 'द्विज' अथवा 'द्विजाति' के नाम से जानी जाती थी । 'द्विज' का शाब्दिक अर्थ दो बार पैदा होने वाला होता है । पहला जन्म जब वह जन्म लेता है और दूसरा जन्म मुख्य रूप से तब माना जाता है जब उन्हें जनेऊ नामक पवित्र धागा पहनाया जाता था । यह धागा पहनने से उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार मिल जाता था ।[12]

ब्राहमण :-
======

ब्राहमण की प्रधानता समाज में बहुत पहले से रही । समाज में उनका स्थान श्रेष्ठ था तथा वे आदर के पात्र समझे जाते थे ।[13] दण्डिन ने मुख्य रूप से प्रथम जाति का ही उल्लेख किया है ।[14] उनके अनुसार इन द्विजाति के लोगों का समाज में पर्याप्त आदर था जिसमें ब्राहमण विशेष रूप से सम्मान के पात्र थे ।[15] समाज में द्विजाति लोगों के सम्माननीय होने का उल्लेख ह्वेनसांग और ईत्सिंग ने भी किया है । ह्वेनसांग के अनुसार देश के विभिन्न वर्ण एवं वर्गों में ब्राहमण ही पवित्रतम् एवं सबसे अधिक सम्मानित थे और उन्हीं के नाम पर देश का नाम "ब्राहमण देश" पड़ा ।[16] वे अपने सिद्धान्तों के पालन में संयम, शुद्धता और सदाचार का सर्वदा ध्यान रखते थे ।[17] चीनी यात्री ईत्सिंग ने लिखा है कि भारत के पाँचों भागों § पंच भारत § में ब्राहमणों का देवताओं के समान आदर था ।[18] बाण के अनुसार असंस्कृत बुद्धिहीन ब्राहमण, जन्म से ब्राहमण होने के कारण माननीय था ।[19] पल्लव-नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम के शासन काल में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस राज्य की तथा

उसकी राजधानी कांची की यात्रा की थी । उसने लिखा कि अनेक वर्णों, वर्गों एवं जातियों में ब्राहमणों को सबसे अधिक पवित्र माना जाता था । इसी कालावधि में भारत की यात्रा पर आये अरब यात्री अलमसूदी के अनुसार समाज के सभी वर्गों में सबसे अधिक सम्मान ब्राहमणों को प्राप्त था । लेकिन उपर्युक्त सम्मान के पात्र केवल वे ही ब्राहमण थे, जो अपने वर्ण धर्म की परम्परा का निर्वाह वैदिक पद्धति के अनुसार सम्पन्न करते थे ।[20] ब्राहमणों का महिमादान देखना हो तो इसके लिये संगम साहित्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है । संगम साहित्य ब्राहमणों की उत्कृष्ट उदाहरणों से भरा पड़ा है ।[21]

भारतीय राज्य की न्यायिक प्रक्रिया, बौद्धिक विविधता, धार्मिक क्रिया तथा समाज की मानवतावादी दृष्टि ब्राहमणों द्वारा संचालित की जाती रही । प्रधानतः ब्राहमण के छः प्रधान कर्मों का उल्लेख मिलता है - §1§ अध्ययन §2§ अध्यापन §3§ यज्ञ करना §4§ यज्ञ कराना §5§ दान देना §6§ दान लेना ।[22] मनुस्मृति में ब्राहमण का विशिष्ट कर्म अध्ययन एवं अध्यापन कहा गया है ।[23] उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे शास्त्रोचित आचार-विचार का अनुसरण करें तथा वैदिक एवं अन्य विहित शास्त्रों के ज्ञाता बनें । अध्ययन अध्यापन में कार्यरत ऐसे ब्राहमणों को आचार्य - 'श्रोत्रिय' अथवा 'उपाध्याय' जैसे सम्बोधनों से अभिहित किया जाता था ।[24] सामान्य नागरिक जीवन में ब्राहमणों से उच्चादर्श और विद्वता की आकांक्षा की जाती थी । मनु द्वारा रचित सिद्धान्तों के अनुसार[25] ब्राहमणों का यह दायित्व होता था कि वे धार्मिक अनुष्ठानों आदि को सम्पादित करेंगे । ब्राहमणों द्वारा उपहार आदि लेने का भी प्रचलन था । जो लोग धार्मिक कृत्यों और शैक्षिक कार्यों में प्रवृत होते थे, उन्हें समाज में व्यापक सम्मान और आदर प्राप्त था । इस तरह के विद्वानों को राजा स्वयं संरक्षित करता था ।[26] वेद शिक्षा में पारंगत ऐसे विशुद्ध ब्राहमणों को लोग बड़ी श्रद्धा के साथ दान दिया करते थे । ब्राहमणों का एक बड़ा वर्ग पुरोहितों का होता था ।[27] जिस प्रकार राजा सांसारिक कठिनाइयों से राज्य की रक्षा करता था उसी प्रकार पुरोहित भी अदृष्ट आध्यात्मिक बाधाओं तथा विपत्तियों से राष्ट्र को सुरक्षित

रखता था इसलिये वह राष्ट्रगोता भी कहा जाता था ।[28]

पल्लवकालीन प्रमाणों से विदित होता है कि कतिपय ब्राहमण जन राजनीतिक अधिकार भी रखते थे । इस तरह का उदाहरण घाटिका में मिलता है ।[29] पल्लवों के ही प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ब्राहमणों को भूमि आदि भी प्रदान की जाती थी जिसे "ब्रहमादेय" के नाम से जाना जाता था ।[30] उदाहरणों से यह पता चलता है कि ब्राहमण कहीं भी आने जाने और निवास करने के लिये स्वतंत्र थे क्योंकि दण्डिन ने भी इस तरह के भूमिदानों और उपहारों आदि का उल्लेख किया है ।[31]

तमिल संस्कृति के विकास में ब्राहमणों की व्यापक भूमिका थी । दण्डिन इस भूमिका का उल्लेख बार - बार करते हैं । दण्डिन के वर्णन से पता चलता है कि कावेरी के तट पर रहने वाले ब्राहमणों ने सामाजिक जीवन में पर्याप्त पवित्रता की स्थापना की थी । 'अग्रहार' नामक संस्था में रहते हुये ब्राहमणों ने मनु द्वारा निर्धारित नियमों के आधार पर धार्मिक जीवन को प्रोत्साहित किया था ।[32]

वे लोग " राजकीय दण्ड और सम्पत्ति के अधिग्रहण से मुक्त थे । यदि दण्ड देना आवश्यक हो जाता था तो उन्हें देश निकाला दे दिया जाता था । हालांकि अन्य §राज्य निवासियों§ तरह के दण्ड दिये जाने का उल्लेख मिलता है । कामपाल नामक एक ब्राहमण मंत्री को नेत्रहीन करने का दण्ड राजा ने दिया था । इस ब्राहमण पर राजद्रोह का आरोप था । यद्यपि इस अभियोग के लिये सामान्य रूप से मृत्युदण्ड दिया जाता था।[33]

बौद्ध धर्म के प्रचार के समय वर्ण - व्यवस्था के शिथिल होने के कारण ब्राहमणों के हाथ के उपयुक्त छ. कार्यों में से कई कार्य चले गये । यज्ञादि के बन्द होने से बहुत से ब्राह-मणों की आजीविका नष्ट हो गयी । इसलिये ब्राहमण अन्य वर्णों के कार्य करने लगे थे । बौद्धमत के अनुसार इस समय ब्राहमण , शिल्प, व्यापार और दुकानदारी भी किया करते थे ।[34] कुमारिल §700ई0§ ने लिखा है कि वे लोग घोड़े ,खच्चर तथा गदहों का व्यापार करते थे ।[35]

जहाँ तक ब्राहमणों के विवाह आदि का प्रश्न है तो ज्ञात होता है कि सामान्य लोग वेद पढ़ने के बाद अपने पुरोहितों अथवा उपदेशकों की आज्ञा से सजातीय कन्या से विवाह करते थे। लेकिन उनका गोत्र समान नहीं था। वे नियमित रूप से पाँच बार हवन या पूजन किया करते थे तथा अतिथियों को भोजन कराने के बाद ही स्वयं भोजन ग्रहण करते थे। ब्राहमण प्रतिमाह " भात " नामक एक प्रकार का व्यंजन बनाकर लोगों को खिलाते थे और 'बंक्वीज' नामक सामूहिक भोज में उपस्थित होकर अपने धार्मिक, चारित्रिक और उच्च ज्ञान के प्रदर्शन से इस समारोह को सम्पादित करते थे। जिन लोगों को ब्राहमण अयोग्य करार कर देते थे उन्हें श्राद्ध में आमंत्रित नहीं किया जाता था। ब्राहमणों के यहाँ पैदा होने वाले लोग जिनके साथ वेद शिक्षा अनुवांशिक रूप से जुड़ी थी, उन्हें समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त था। ये लोग नियमित रूप से तीन बार नचिकेता हवन करते थे। तथा ७. वेदांगों पर विचार - विमर्श करते थे। 'पवित्र पंक्तियों' §त्रिसुवर्णा§ का उच्चारण करते थे। इन लोगों का कार्य वेद की व्याख्या करना होता था। इन ब्राहमणों को वेदों का प्रकाण्ड व्याख्याता समझा था। और मन्त्रोच्चारण §ज्योष्ठसमान§ आदि की निपुणता भी उन्हें प्राप्त थी।[36]

ब्राहमण लोग उच्च संस्कारों से युक्त धार्मिक आदर्शों वाले, कार्य व्यवहार तथा पहनावे में पवित्रता समेटे रहते थे। तत्कालीन समाज में ब्राहमणों की उच्चावस्था का प्रमाण दण्डिन स्वयं हैं। ज्ञातव्य है कि दण्डिन स्वयं कौशिक गोत्र नामक ब्राहमण परिवार में पैदा हुये थे। और अपने विशद ज्ञान और वैदिक विद्वता के लिये प्रभूत प्रसिद्धि अर्जित की थी।[37] उल्लेखनीय है कि दण्डिन ने 'महाब्राहमण' नामक संज्ञा का उल्लेख पर्याप्त गम्भीरता से किया है। जिसका शाब्दिक अर्थ वैसे तो 'महान ब्राहमण' होता है।[38] लेकिन दण्डिन के समय के पूर्व यह संज्ञा अपमानसूचक हो गयी थी। यहाँ तक कि महाब्राहमण को 'निम्नकोटी' का ब्राहमण माना जाता था।[39] वर्णनों में ऐसे ब्राहमणों का उल्लेख मिलता है जो सर्वथा शिक्षा और उच्चगुणों से रहित होते थे। इन्हें 'ब्रम्हनब्रुवाज' नामक संज्ञा से अभिहित किया गया

है । ऐसे ब्राहमण समाज में आदर के पात्र नहीं होते थे ।[40]ब्राहमणों के निचले स्तर पर पहुँच जाने का प्रमाण दो पात्रों से मिलता है । 'प्रामति' और उसके साथी 'पंबलेश्वरस्वामी' नामक चरित्रों से ज्ञात होता है कि ब्राहमणवर्ग के लोग अमर्यादित कर्म करने पर जातिच्युत कर दिये जाते थे । इन दोनों के चरित्रों का निरूपण करते हुये जो उल्लेख मिलता है उससे यह प्रमाणित गया है कि ये दोनों मुर्गा लड़ाते थे और ताम्बूल बनाने में अभ्यस्त थे ।[41] हमें यह भी पता चलता है कि वे दोनो निषिद्ध साधनों से अपने लक्ष्य की पूर्ति करते थे तथा वर्जनीय कार्यों के द्वारा अपनी सम्पत्ति आदि एकत्र करते थे । निम्नकोटी के ब्राहमणों में वह लोग भी आते थे जो धन के प्रति लालची होते थे ।[42]दण्डिन ने इस तरह के लालची ब्राहमणों का उल्लेख करते हुये मगधराज्य में एकत्रित हुये उन ब्राहमणों का विस्तृत वर्णन किया है जिन्होंने राजा से ढेरों उपहार आदि प्राप्त किये थे । जबकि राज्य की स्थिति अच्छी नहीं थी और लोग दारूण दीनता में जी रहे थे ।[43]दण्डिन ने एक अन्य स्थल पर वीरभद्र नामक पात्र के माध्यम से लिखा है कि' कुछ ऐसे पुजारी भी राज्य में थे जिन्हें वीरभद्र उपकृत करने के लिये विशेष रूप से सम्पत्ति के रूप में प्रचुरमात्रा में उपहार तथा दक्षिणा आदि प्रदान करता था ।[44]एक अन्य उल्लेख के अनुसार एक ब्राहमण द्वारा एक वेश्या को प्रेम करने का प्रसंग मिलता है । यहाँ तक कि वह ब्राहमण उस वेश्या के प्रेम में गहरे रूप से जुड़ा हुआ दिखाई देता है ।[45]अवन्ति-सुन्दरी कथा में सोनुका और शूद्रका नामक दो ऐसे ब्राहमणों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने वेश्या की पुत्रियों से विवाह किया था ।[46] 'मृच्छकटिक' नामक ग्रन्थ में भी वसन्तसेना नामक एक वेश्या के प्रति एक ब्राहमण की अनुरक्ति का उल्लेख मिलता है । बाण के साहित्य में भी ब्राहमणों के शैक्षिक और चारित्रिक पतन का प्रमाण मिलता है यद्यपि कि इसका अपवाद नहीं है ।

<u>ब्राहमणों के प्रकार</u> :-

स्वधर्म और आपधर्म अपनाने के कारण हिन्दू समाज में ब्राहमणों के कई प्रकार हो गये थे । आर्थिक अवस्था की दयनीयता और समयानुसार आपात्त स्थिति के कारण ब्राहमणों ने विभिन्न कार्यों को अपनाया । महाभारत में काफी छः श्रेणियाँ बताई गई

हैं :- ब्राह्मणसम, देवसम, चाण्डालसम, क्षत्रसम और वैश्यसम ।[47] अत्रि ने इसके दस प्रकार बताये हैं :- (1) देवसम ब्राह्मण (नित्य स्नान, संध्या, जप, होम, देवपूजन और अतिथि का सत्कार करने वाला), (2) मुनि ब्राह्मण (एकान्त और निर्जन वन में रहकर फलाहार करते हुये तप और श्राद्ध में लगा रहने वाला ब्राह्मण), (3) द्विज ब्राह्मण (वेदान्त, सांख्य और योग का ज्ञाता ब्राह्मण), (4) क्षत्र ब्राह्मण (युद्ध और सैनिकवृत्ति अपनाने वाला ब्राह्मण), (5) वैश्य ब्राह्मण (कृषि, पशुपालन और व्यापार करने वाला ब्राह्मण), (6) (शूद्र ब्राह्मण), घी, दूध, शहद, नमक, मांसादि बेचने वाला ब्राह्मण), (7) निषाद ब्राह्मण (चोरी, लूट आदि में रुचि रखने वाला ब्राह्मण), (8) पशु ब्राह्मण (अज्ञानी और ब्रह्म के विषय में अनभिज्ञ रहने वाला ब्राह्मण), (9) म्लेच्छ ब्राह्मण (कुआं, तालाब, कूप, बाग आदि को अपवित्र करने वाला ब्राह्मण), तथा (10) चाण्डाल ब्राह्मण (अत्यन्त मूर्ख और क्रूर ब्राह्मण) ।[48]

कालान्तर में अनेक प्रकार के ब्राह्मण समाज हो गये, जो स्थान-भेद के कारण विभिन्न नामों से जाने लगे । मध्ययुग तक उनके 84 प्रकार मिलते हैं :- नागर, राजर, उदघट, भटनागर, सिभोरा, सांचोरा, दसोरा, उदवर (गौडा), साहाद्रा, (सिवोद्रा), नागोडा (नागान्डा), रोडवाल, खेडावाल, इटावाल, पल्लीवाल, श्रीमाल, गोलवाल, चोबीसा लोडी सीखा (सिखा), बडी साखा, मथुरिया, सिनोडिया, कन्होजिया, आलिमिया, श्री गौड, गौड, मेवाडा, चित्तोडा, कन्हडा, सारस्वत, उदिच, छेगोजा, तदआणा, मालवीय आदि ।[49] हेमचन्द्र ने 'कलिंग ब्राह्मण' 'सुराष्ट्र ब्राह्मण' 'अवन्तिब्राह्मण' 'कौशिका ब्राह्मण' आदि स्थान-नाम पर ख्यात ब्राह्मणों का उल्लेख किया है ।[50] इसके अतिरिक्त उत्तर भारत में कान्यकुब्ज, सरयूपारी, धनाढय, शाकद्वीपी, मैथिल, गौड आदि विभिन्न ब्राह्मणों की श्रेणियां हैं ।

क्षत्रिय :- योद्धावर्ग[51] (क्षात्र) में मुख्यतः राजपरिवार से जुड़े हुये लोग तथा सेना में सम्मिलित लोग आते थे । उन्हें समाज में राजनीतिक और सैन्य अधिकार प्राप्त थे । कार्य

गणना वीरों में होने के नाते साधारण जनता उन्हें विशेष सम्मान की दृष्टि से देखती थी । कतिपय ब्राह्मण भी इस वर्ग में शामिल दिखाई देते हैं । इस वर्ग[52] को समाज में विशेष दर्जा प्राप्त था । ह्वेनसांग ने क्षत्रिय वर्ण की भी बड़ी प्रशंसा की है । तथा ब्राह्मणों की तरह उन्हें भी निर्दोष, सीधे - सादे पवित्र एवं सरल जीवन वाले तथा मितव्ययी बताया है ।[53] चीनी यात्री ने क्षत्रिय को " राजाओं की जाति " बतलाया है । और कहता है कि यह वर्ग अनेक पीढ़ियों से राज्य करता आया है ।[54] इस वर्ग के अधिकांश लोग सैनिक जीवन व्यतीत करते थे परन्तु साथ ही गृहस्थ के रूप में जीविकोपार्जन के उन उपायों का भी अवलम्बन लेते थे, जो शास्त्र सम्मत थे । ह्वेनसांग के अनुसार क्षत्रिय राजन्यवर्ग के थे जो पीढ़ियों से शासन करते आ रहे थे और जो परोपकारी तथा दयालु प्रकृति के थे ।[55] बाण ने सूर्य और चन्द्र नामक दो प्रमुख क्षत्रिय वंशों का उल्लेख किया है तथा थानेश्वर के क्षत्रियों को उसने शास्त्रोपजीवी बताया है ।[56]

क्षत्रियों का प्रधान कर्म देश की सुरक्षा, जनता का पालन- पोषण, बाह्य आक्रमणों और प्रतिस्पर्धी राज्यों से युद्ध, राज्य की शासन व्यवस्था तथा दानादि प्रदान करना था । यह सर्वविदित है कि जब - जब देश पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ, क्षत्रियों ने एकनिष्ठता और साहस के साथ देश और प्रजा की रक्षा की ।[57] दक्षिण भारत में भी क्षत्रियों की समान स्थिति थी । उनका मुख्य कार्य जन रक्षा, देश - रक्षा, प्रशासन, यज्ञ - दानादि कर्म को सम्पन्न करना था ।[58] ब्राह्मणों के साथ अधिक रहने से क्षत्रिय लोगों का विशेषत: राजकीय वर्ग में शिक्षा का प्रचार बहुत अच्छा था । बहुत से राजा बड़े - बड़े विद्वान हुये । हर्षवर्द्धन साहित्य का अच्छा विद्वान था । पूर्वी चालुक्य राजा विनयादित्य गणित का पंडित था जिसे लोग गुणांक कहते थे ।[59]

कुछ क्षत्रिय जो शस्त्रोपजीवी नहीं बन सके तो व्यापार करने लगे । पूर्व युगों की भांति इस समय में भी शासक होने के लिये क्षत्रिय होना अनिवार्य नहीं था ।[60] वर्ण व्यवस्था के विशुद्ध रूप में कायम न रहने के कारण वे बेकार हो गये और उन्होंने भी ब्राह्मणों की भांति

अन्य पेशे इख्तियार करने शुरू किये । इसका परिणाम यह हुआ कि क्षत्रिय दो श्रेणियों में बंट गये एक तो वे क्षत्रिय जो अब भी अपना कार्य करते थे और दूसरे जिन्होंने कृषि आदि दूसरे पेशे शुरू कर दिये थे ।[61] क्षत्रिय का आपातकालीन धर्म वैश्यवृत्ति, कृषि एवं व्यापार था । मनुस्मृति में कहा गया है कि यदि वह व्यापार करे तो उसे तिल, नमक, पशु, मनुष्य, विष, मद्य, मांस आदि का क्रय - विक्रय नहीं करना चाहिए । उसे सूदखोरी से विरत रहने की मनाही दी गयी है । रांगा, सीसा, हड्डी, चमड़ा, लोहा आदि के व्यापार का भी वह अधिकारी नहीं था ।[62]

वैश्य :-

व्यापारी वर्ग[63] अपनी सम्पत्ति और समूह के कारण समाज में सम्मान का पात्र माना जाता था । दण्डिन[64] ने इस सम्प्रदाय के लोगों के लिये 'वणिक' अथवा 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया है। और जहाँ पर 'वैश्य' शब्द का उल्लेख मिलता है वहाँ दण्डिन का अभिप्राय विशेष वर्ग से होता है । 'वणिज' समुदाय विस्तृत रूप में था और इस सम्प्रदाय का सदस्य होने के लिये जन्मना वैश्य होना आवश्यक नहीं था । इस वर्ग में शामिल लोग मुख्य रूप से व्यवसाय अथवा वाणिज्य से सम्बन्धित थे । यह समाज में समृद्ध और सम्पन्नता के प्रतीक थे ।[65] दण्डिन ने[66] जिन दो शब्दों 'आर्य' और 'श्रेष्ठिन' का उल्लेख किया है उससे यह ज्ञात होता है कि यह दोनों श्रेणी के लोग अपनी सम्पत्ति के कारण समाज में समादृत थे । ज्ञात होता है कि उन्हें राज्य दरबार में भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था जिसके कारण वे शक्ति और प्रभाव भी अर्जित कर लेते थे ।[67]

समाज और देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ और सुगठित बनाने के लिये वैश्य वर्ग को नियमित किया गया था । इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना, कृषि करना, वैश्यों का प्रधान कर्म था ।[68] किन्तु बाद में आकर पठन- पाठन का कर्म उनसे छूट गया । वे पूर्णरूप से कृषि और व्यापार में संलग्न हो गये । ह्वेनसांग ने वैश्यों को व्यापारी जाति का माना है ।[69] उसके अनुसार वे वस्तुओं का विनिमय करते और लाभ प्राप्त करने के लिये दूर देशों को

जाते थे।[70] माघ ने लिखा है कि राजा की सेना के साथ-साथ वैश्य आवश्यक वस्तुओं की बिक्री के लिये यात्रा करते थे।[71] भविष्यत्कथा में वैश्यों के दूर-दूर तक व्यापार करने के लिये जाने का उल्लेख है।[72] दक्षिण भारत के अनेक साक्ष्य इस बात के प्रमाण हैं कि वैश्य व्यापार और कृषि में तल्लीन थे।[73] इस सम्प्रदाय के लोग व्यवसाय के लिये दूर-दूर यहाँ तक कि समुद्र पार यात्रायें करते थे और वहाँ जाकर अपना व्यवसाय फैलाते थे।[74] अपने राज्य से बाहर अर्थात विदेशों में उनके प्रति वहाँ की जनता का व्यवहार अच्छा नहीं होता था। इन विदेशी जनपदों में उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा जाता था।[75] यह उल्लेख भी मिलता है कि कभी-कभी वे अपना व्यवसाय बदल भी देते थे।[76] इस तरह का एक प्रमाण मगध राज्य में मिलता है जहाँ पदमोध्भ नामक वैश्य राज्यमंत्री हुआ करता था। व्यवसाय परिवर्तन के इस प्रसंग में वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस राज्यमंत्री के तीन पुत्रों में से दो पुत्रों ने अपने पिता की ही तरह राज्यपदों पर ही काम करना शुरू कर दिया था। जबकि सबसे बड़ा पुत्र रत्नोत्भव अपना पैतृक व्यवसाय (कुलधर्म) करने लगा था।[77] ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग की तरह यह वर्ग भी दण्ड से न्यूनाधिक मुक्त था।[78]

दण्डिन ने 'जनपदमहात्रा' के माध्यम से उल्लेख किया है कि वैशाली नामक एक वैश्य जिसे ग्रहपति के रूप में वर्णित किया गया है वह मिथिला नरेश का एक विश्वासपात्र व्यक्ति था।[79] 'ग्रहपति' शब्द का उल्लेख हमें मौर्यकालीन शासन में भी दिखाई देता है। यह बौद्ध धर्म से प्रभावित व्यवसायों का सम्प्रदाय था। इन्हीं ग्रहपति के वंशजों को आगे चलकर गहोई वैश्य के रूप में जाना जाने लगा था।

इस प्रकार तत्कालीन समाज में वैश्य जैसे थे लेकिन पारम्परिक वैश्य नहीं थे। परवर्ती युगीन समाज में वैश्य वर्ग प्रभुता सम्पन्न था। वे सम्भवतः जैन धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त थे तथा जैन मठों, विद्यालयों आदि को दान देने में उनकी निष्ठा अधिक थी।[80]

शूद्र :-
====

समाज का चतुर्थ एवं सबसे निम्न वर्ग शूद्र था। विराट पुरुष अर्थात ब्रह्मा के पैरों

से उत्पन्न होने के कारण उसे समाज के सभी वर्णों का भार ढोना पड़ता था ।[81]अन्य वर्णों की तुलना में उसका कर्म भी कोई महत्वपूर्ण नहीं था । अपने से उँचे सभी वर्णों की सेवा करना ही उसका प्रधान कर्तव्य था । उसकी जीविका उच्च वर्णों की परिचर्या और शुश्रूषा पर ही निर्भर करती थी ।[82]उसे अत्यन्त हेय समझा जाता था जो सभी प्रकार के अधिकारों एवं संस्कारों से रहित था । उनका जीवन पूर्णतया अपने स्वामी की दया पर निर्भर था ।[83] समाज में शूद्रों की स्थिति निचले दर्जे की थी जिन्हें 'अवमवर्ण' के नाम से अभिहित किया जाता था ।[84]शूद्र इसी वर्ग से सम्बन्धित थे । शूद्रों की स्थिति द्विजों से भिन्न थी । उन्हें वैदिक अध्ययन की अनुमति नहीं थी ।[85]

अधिकार और कर्तव्य की दृष्टि से समाज में वह अत्यन्त उपेक्षित और निम्न था । न उसे वेद पढ़ने का अधिकार था, न यज्ञ करने का, न वह सैनिक बन सकता था, व्यापार कर सकता था। कौटिल्य ने शूद्र का प्रधान धर्म द्विजाति की शुश्रूषा बताया ।[86]पराशर और गौतम के अनुसार शूद्रों का प्रधान कार्य द्विज वर्ण की सेवा करना था ।[87] सेवा के बदले ब्राह्मण उसे जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, धान का पुआल तथा पुराना खाट एवं पुराने बर्तन प्रदान करता था । जिन्हें वह उपयोग में लाता था ।[88]पुराणों के अनुसार शूद्र का प्रधान कर्म सेवा वृत्ति ही था । साधारणतः उसके दो प्रमुख कर्म माने गये थे - शिल्प और भृति ।[89]उसकी परिचर्या वृत्ति यज्ञकल्प थी ।[90]उसके लिये यज्ञ वर्जित था । अगर कोई ब्राह्मण उसके यज्ञ में सहायक होता था तो वह नरकगामी होता था ।[91]यही नहीं, श्राद्ध का अवशिष्ट अन्न उसे देने से श्राद्ध का फल नहीं प्राप्त होता था ।[92]मनु ने भी व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण भोजन के बाद उच्छिष्ट का जो मूर्ख व्यक्ति शूद्र को देता है वह अधोमुख होकर कालसूत्र नरक को जाता है ।[93]

दक्षिण भारत में भी पल्लवों के समय शूद्रों की सामाजिक स्थिति निम्न थी । वे वेदों के पठन - पाठन को कहने और सुनने के अधिकारी नहीं थे । श्रमिकों का एक बड़ा समूह सामान्यतया शूद्र समझा जाता था । इनमें खेतिहर मजदूरों के अतिरिक्त श्रमिक तथा

कारीगर, सेवा कर्म अथवा कर आदि में आनाकानी अथवा अपनी असहमति प्रस्तुत करता था । तो उसके इन कार्यों को मान्य सामाजिक परम्पराओं से च्युत मानकर उसे शूद्र बना दिया जाता था । इस तरह की स्थितियों को 'कालिवर्ज्य' के अन्तर्गत समाहित किया गया था।

सातवीं शताब्दी में वैश्यों द्वारा कृषि का परित्याग करने के कारण शूद्रों ने ही अपना प्रधान व्यवसाय बना लिया था । ह्वेनसांग ने शूद्रों को कृषक वर्ग के अन्तर्गत गृहीत किया है।[95] यद्यपि उसने मतिपुर के शासक का उल्लेख करते हुये लिखा है कि वह शूद्र था[96] उसके ये विवरण शूद्रों की उच्च स्थिति का भान कराते हैं। दक्षिण में शूद्रों की स्थिति अपेक्षा- कृत सुदृढ़ थी । शासन में उनका मान था । गिरिणगिरि शासन के दुर्जय परिवार और वेल- नाण्डु के प्रधान जो शूद्र थे महामण्डलेश्वर पद तक पहुँचे थे।[97] आठवीं शताब्दी में संकलित नृसिंह पुराण में कृषि को शूद्रों की जीविका आख्यात किया है । इसी प्रकार इस समय के स्मृतियों एवं निबन्धों में भी सामान्यतया सेवा एवं शिल्पकार्य को शूद्रों का प्रमुख व्यवसाय बताया गया है । अत्रि, देवल, उशना तथा पराशर ने शूद्रों के लिये उपर्युक्त व्यवसायों में पशुपालन, वाणिज्य तथा शिल्प को परिगणित किया है। इन कार्यों को अपनाने से शूद्रों की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ । बृहस्पति स्मृति में सुवर्णकार, चर्मकार, लौहकार, वस्त्रवाय आदि को उक्त शिल्पियों में रखा गया । ब्रह्मवैवर्त एवं पद्मपुराण के अनुसार बढ़ई, कुम्भकार, लौहकार आदि कोटी के शिल्प-कर्म शूद्रों के प्रमुख व्यवसाय थे। इस प्रकार उपर्यु- क्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सभी प्रकार के उद्योग एवं व्यवसाय शूद्रों की आजीवि का के साधन थे।[98]

विभिन्न शिल्पगत कार्यों के करने वाले लोग शूद्र के ही अन्तर्गत गृहीत किये गये थे। हथौड़े, कुल्हाड़ी, तकली आदि बनाने वाले लोहार और बढ़ई इसी वर्ग के सदस्य थे। पैसे या तकनीकी कार्य करने वालों का भिन्न - भिन्न समूह था जो अपने पेशे के कारण विख्यात थे[99]। बुनकर, बढ़ई § तक्षक§, लोहार §कुम्भार§ दन्तकार, कुम्हार §कुम्भकार§ आदि विभिन्न शूद्रीय वर्ग थे।[100] इन शिल्पकारों का अलग-अलग शिल्पगत वर्ग होता था उनके प्रधान को 'जेट्ठक' § ज्येष्ट§ कहा जाता था । उदाहरण के लिये 'वड्ढकि जेट्ठक'[101], कुम्भार जेट्ठक[102] आदि।

शूद्रवर्ग के अन्तर्गत ऐसे भी वर्ग थे जो घूम - घूम कर अपना जीविकोपार्जन किया करते थे । ये अपने विभिन्न ऐन्द्रजालिक कार्यों से जनता का मनोरंजन करके लाभ प्राप्त करते थे । नट, गंधर्व, सपेरे, भेरीवादक आदि की विभिन्न जातियां थीं जो समाज में अपने विविध कार्यों को करके अपना जीवन यापन करती थीं । गोपालक, पशुपालक, तृणहारक आदि वर्ग भी जो समाज में अव्यवस्थित ढंग से रहते हुये भी अनेककर्मों को प्रसन्नतापूर्वक करते थे ।[103]

आपत्तिकाल में शूद्र वैश्य वर्ण के कार्य अपना सकता था । अगर सेवावृत्ति से उनकी जीविका नहीं चल पाती थी तो वे अपनी भार्या और सन्तान की जीविका व्यापार पशुपालन और विभिन्न शिल्प को ग्रहण करके चलाते थे ।[104]मनु ने विपत्तिग्रस्त शूद्र के लिये विभिन्न उद्योग धंन्धे अपनाने का निर्देश किया है । वह कट्टरपंथी और कठोर नियम निया-न्ता होकर भी शूद्रों के प्रति कहीं - कहीं उदार भावना व्यक्त करता है । इसका कथन है कि द्विज की सेवा करने में असमर्थ शूद्र § भूख से पीड़ित होकर § स्त्री - पुत्रादि के कष्ट के निवारण के लिये कारूकर्म §सूप आदि बनाने का कार्य § अपना सकता था ।[105]मेधातिथि ने ' कारूकर्म ' की व्याख्या करते हुये लिखा है कि भोजन बनाने, कपड़ा बुनने और बढ़ईगीरी के कार्य सम्पन्न करके शूद्र अपनी भार्या और सन्तान का पोषण करता था[106]। हेमचन्द्र ने विभिन्न पेशे अपनाने वाले शूद्रों का उल्लेख किया है - कुम्हार, नापित, बढ़ई, लोहार, तन्तु-वाय, रजत, धोबी, तक्ष, अयस्कर आदि[107]।

मिश्रित जातियां

तत्कालीन समाज में बहुत अधिक संख्या में व्यापारिक समूह थे जो मिश्रित जातियों के रूप में जाने जाते थे । ह्वेनसांग ने मिश्रित जातियों का भी उल्लेख किया है । इनमें अधि-कांश मिश्रित विवाहों के परिणाम स्वरूप थीं । किन्तु व्यवहारिक रूप से ये जातियां कर्म के अनुसार बन गयी थीं । इसमें निषाद, पारशव, पुक्कस आदि व्यवसायी वर्ग के लोग सम्मिलित थे ।[108]बाण ने एक बहुत अधिक संख्या में मिश्रित जातियों के समूह का वर्णन किया है जो निम्नलिखित है :-[109]

§1§ भाषा कवि ईशान,एक समूह अथवा अपने देश के कवियों अथवा गीतों के लेखक के समूह से सम्बन्धित था ।

§2§ सैन्य या गायकों का समुदाय ।

§3§ पान बनाने वाले §ताम्बूली §।

§4§ पढ़ने वाले §कथावाचक §। सम्भवत: यह लोग धार्मिक तथा साहित्यिक पुस्तकों को पढ़ने के लिये नियुक्त किये जाते थे। बाण ने सुदृष्टि नामक एक कथावाचक का उल्लेख किया है जिसने वायु पुराण के कुछ पन्ने पढ़े थे।[110]

§5§ बाण ने सोनारों के समूह के रूप में स्वर्णकार अथवा हिरण्यकार का उल्लेख किया है [111] पुराणों से भी इनके द्वारा अलंकार निर्माण का पता चलता है जिसका सम्बन्ध प्रजापति विश्वकर्मा से माना गया है।[112]

§6§ चित्रकार §चित्रकार था § ।

§7§नमूने बनाने वाले अथवा गुड़िया बनाने वाले§ पुस्टाकारथा§ ।

§8§ नगाड़ा बजाने वाले § मृदंगकह § ।

§9§ बांसुरी बजाने वाले § वेणिशाला §।

§10§ कथा सुनाने वाले §कथाकह §।

§11§ चमड़े का कार्य करने वाले §चर्मकार § ।

§12§ बढ़ई §सूत्रधार § ।[113]

§13§ लोहार ।

इसके अतिरिक्त ह्वेनसांग ने भी कुछ वर्गों के लोगों का उल्लेख किया है । जैसे, कसाई, मछुवारे, नट ,जल्लाद और मेहत्तर ।[114]

तत्कालीन समाज में हमें अद्भुत समानता में भिन्नता दिखाई देती है ।सभी वर्ण के लोग और सामाजिक समूह एक साथ रहते थे । सभी सामाजिक समूह और वंश सम्बन्धी भेदभाव को भूलकर प्रत्येक वर्ग के लोग एक दूसरे का सम्मान करते थे और सभ्यता के आवश्यक अंग थे।[115]

वर्णसंकर जातियाँ

तत्कालीन समाज में अनेकानेक जातियाँ थी जिनकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम जैसे अन्तर्जातीय विवाहों के परिणाम स्वरूप हुई ।[116] समाज में खान- पान, रहन-सहन और विवाह आदि में भिन्नतायें आ गयी थी । जातीयता के आधार पर वर्गीकृत समाज में अनेक प्रकार के 'वर्णसंकर' या 'व्यक्तिकारा' नामक वर्ग का अविर्भाव हो गया था ।[117]

यद्यपि स्मृतियों में संकर जातियों का पृथकरूप से उल्लेख मिलता है, उनके साथ सामान्यतः शूद्र जैसा व्यवहार किया जाता था । मुख्यतः अनुलोम और प्रतिलोम के बीच विवाहों की संख्या छः थी ।[118] अन्तर्जातीय विवाह मुख्यतः अनुलोम और प्रतिलोम के बीच हो जाते थे और इसके साथ ही चारों वर्णों में अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गई थीं । वेदव्यास ने ऐसी 22 जातियों का उल्लेख किया है ।[119] उशनस ने इनकी संख्या 40 बताई है ।[120] और भारुचि ने ऐसी 60 जातियों का उल्लेख किया है ।[121]

अनेक स्मृतियों के द्वारा इनकी उत्पत्ति के कारण भिन्न - भिन्न बताये गये हैं । वशिष्ठ स्मृति के अनुसार एक वैश्य पुरुष और एक क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न सन्तान पुल्कस मानी जाती थी ।[122] भारुचि के अनुसार वेण, एक वैदेहक पुरुष और एक अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न सन्तान मानी जाती थी ।[123] वशिष्ठ के अनुसार एक शूद्र पुरुष और एक क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न सन्तान भी वेण कही जाती थी ।[124] जब कि उशनस ने बताया है कि एक शूद्र पुरुष और एक ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न सन्तान वेण कही जाती थी ।[125] उशनस स्मृति में रथकार के विषय में बताया गया है कि एक क्षत्रिय पुरुष और एक अविवाहित ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न सन्तान थी ।[126] कुछ अन्य उपजातियाँ इस प्रकार हैं :--

§1§ आन्ध्र :- भारुचि के अनुसार एक वैदेहक पिता और एक निषाद माता से उत्पन्न सन्तान आन्ध्र कही जाती थी । चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी बताया है कि गोदावरी, कृष्णा घाटी के लोग प्रबल चरित्र वाले थे किन्तु वहाँ भी यह जाति विद्यमान थी ।[127]

जाति अत्यन्त निम्न थी जो नाविक का कार्य करती थी । बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे नाविकों को नेसाद § निषाद § कहा गया है । स्मृतियों में एक ब्राह्मण पुरुष और एक शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान निषाद मानी जाती थी ।[129] निषाद एक मछुवारे अथवा एक शिकारी का पेशा ग्रहण करते थे ।[130] वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है कि निषाद एक स्वदेशीय जाति थी[131]

§3§ अम्बष्ठ :-

स्मृतियों में उल्लेख मिलता है कि एक ब्राह्मण पिता और एक वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान अम्बष्ठ मानी जाती थी ।[134] अम्बष्ठ की उत्पत्ति के अनेक कारण बताये गये हैं । उनमें से कुछ ने इन्हें ब्राह्मण क्षत्रिय के समूह के रूप में माना है जबकि कुछ अन्य स्मृतियों में बताया है कि वे मुख्यत: लड़ाकू थे । कुछ अम्बष्ठ पुरोहित और कृषकों के अथवा कुछ वैद्य का कार्य ग्रहण करते थे ।[135]

§4§ आभीर .-

भारुचि के अनुसार ब्राह्मण पुरुष और एक अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न सन्तान आभीर मानी जाती थी ।[136] यह एक प्रसिद्ध जाति थी । और प्राचीन भारत के विभिन्न हिस्सों में स्थित थी ।[137]

§5§ पुलिन्द :-

स्मृतियों के अनुसार एक वैश्य पिता और एक अविवाहित क्षत्रिय माता से उत्पन्न पुलिन्द मानी जाती थी ।[138] रघुवंश में भी उसका उल्लेख मिलता है ।[139]

§6§ खास :-

भारुचि ने बताया है कि एक व्रत्या- क्षत्रिय और एक स्वर्ण पत्नी से उत्पन्न सन्तान खास कही जाती थी ।[140] मारकण्डेय पुराण में उल्लेख मिलता है कि खास एक पहाड़ी जाति थी ।[141]

§7§ उग्र :-

स्मृतियों में बताया गया है कि एक क्षत्रिय पुरुष और एक शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान उग्र कही जाती थी ।[142] भारुचि ने बताया है कि क्षत्रियों में इस प्रकार की उत्पत्ति होने पर उनके साथ कठोर व्यवहार किया जाता था ।[143] किन्तु उग्र प्राचीन जातियों में

एक बहुत प्रसिद्ध जाति थी । अंगुत्तर निकाय में बताया गया है कि ये वैशाली शहर से जुड़े हुये थे । धम्मपाद ने टिप्पणी की है कि एक शहर का नाम 'उग्र या उग्र' था ।[144]

§8§ मागध :-

स्मृतियों में मगध की उत्पत्ति के चार विभिन्न मार्ग बताये हैं ,- §1§ एक वैश्य पुरूष और एक क्षत्रिय स्त्री से, §2§ एक शूद्र पुरूष और एक क्षत्रिय स्त्री से, §3§ एक वैश्य पुरूष और एक ब्राहमण स्त्री से, §4§ एक शूद्र पुरूष और एक वैश्य स्त्री से ।[145] स्मृतियों के अनुसार मागध एक भाट और एक व्यापारी का कार्य ग्रहण करते थे ।[146]

§9§ किरात :-

जब एक क्षत्रिय शूद्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों को स्वीकार कर लेता था तो वह किरात कहलाता था ।[147] वेदव्यास ने बताया है कि किरात शूद्र थे । किरात जंगलों की एक अनार्य जाति थी और पूर्वी भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करती थी ।

§10§ माला :-

भारूचि ने बताया है कि एक व्रतया- क्षत्रिय पिता और उसकी क्षत्रिय पत्नी से उत्पन्न सन्तान माला कही जाती थी ।[148] कौटिल्य ने एक गण के रूप में इनका वर्णन किया है ।[149]

§11§ यवन .-

गौतम ने कहा है कि एक क्षत्रिय पिता और एक शूद्र माता से उत्पन्न सन्तान यवन मानी जाती थी ।[150] वे विचित्र कपड़े पहनते थे और विभिन्न भाषायें बोलते थे ।[151]

ह्वेनसांग ने बताया है कि लोग अपनी ही जाति में विवाह करते थे ।[152] किन्तु इस समय अन्तर्जातीय विवाह होने के प्रमाण प्राप्त हुये हैं । बाणभट्ट ने बताया है कि वह स्वयं एक ब्राहमण माता राजदेवी से उत्पन्न हुआ था जब कि उसके दो जुड़वा भाई पारशव थे अर्थात उनके पिता ब्राहमण थे और माता शूद्र थी ।[153] यह अनुलोम विवाह का उदाहरण है । मनु ने बताया है कि ब्राहमण पिता और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान पारशव कही जाती थी । एक पुरूष का सुविधा के लिये विशेष रूप से बने हुये शास्त्र नियमों से एक ब्राहमण का सम्बद्ध नहीं हो सकता था ।[154] हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री का विवाह एक क्षत्रिय

पुरातन आचार्य ने 'भाष्य' नामक व्याख्या नहीं लिखी । योगसूत्रपर दूसरी साक्षात्-व्याख्या भोजराज की 'राजमार्तण्ड' नामकवृत्ति है इसे 'भोजवृत्ति' भी कहते हैं । भोजवृत्ति, योगभाष्य के समान विस्तृत तो नहीं है, किन्तु सूत्रगत पदों के स्पष्टीकरण में बड़ी सक्षम व्याख्या है । अनेक स्थलों पर योगभाष्य से भिन्न अर्थ प्रतिपादित करने के कारण योगसूत्रों के साक्षात् व्याख्यान के रूप में पतंजलि के मतों को सुनिश्चित रूप से बोधगम्य कराने में इसका बड़ा महत्व है ।

योगसूत्रों की साक्षात्-व्याख्या के रूप में इन दो प्रसिद्ध व्याख्याओं के अनन्तर भावागणेश, नागोजीभट्ट और रामानन्दयति की वृत्तियों का नाम सामने आता है । भावागणेश की वृत्ति बहुत लघुकाय और संक्षिप्त है । इस वृत्ति की संज्ञा 'योगदीपिका'[2] है । नागोजीभट्ट के नाम से प्रचलित वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त और भावागणेशीय वृत्ति के शब्दों और वाक्यांशों का अनुकरण करने वाली है[2] । रामानन्दयति की 'मणिप्रभा'[3] नाम की योगसूत्र वृत्ति बड़ी ही सुस्पष्ट एवं समीचीन शैली में लिखी गई व्याख्या है । इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध योगसूत्र वृत्तियाँ हैं 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' और 'सूत्रार्थबोधिनी'[4] । इन दोनों व्याख्याओं के रचयिता नारायणतीर्थ हैं । नारायणतीर्थ ने एक ही ग्रन्थ की दो व्याख्याएँ और वह भी एक ही पद्धति में क्यों लिखी ? इस प्रश्न पर इसी अध्याय में आगे प्रकाश डाला जायेगा । अर्वाचीन संस्कृत व्याख्याओं में जो उल्लेखनीय योगसूत्र व्याख्या अध्ययन का विषय बनाने योग्य कही जा सकती है वह है 'श्रीकृष्णवल्लभाचार्य' के द्वारा विरचित 'स्वामिनारायणभाष्य'[5] ।

- -

1 - श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास चांडक द्वारा अजमेर से 1961 में प्रकाशित ।

2 - " इति श्री भावागणेशभट्टकृतायां योगदीपिकायां पातंजलसूत्रवृत्तौ साधनपादो द्वितीयः "
   पुष्पिका 'समाधिपाद'-महादेवगंगाधर बाके द्वारा 1917 ई० में सम्पादित "निर्णयसागरप्रेस' बम्बई ।

3 - चौखम्बा संस्कृत सीरीज दामोदरलाल गोस्वामी द्वारा सन् 1903 में प्रकाशित

4 - चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से 1911 में प्रकाशित ।

5 - ज्योतिषप्रकाश विश्वेश्वरगंज, बनारस सिटी से 1939 ई० में प्रकाशित ।

योगसूत्र की तथाकथित परोक्ष-व्याख्याएँ –

इस कोटि की व्याख्याओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध व्याख्याएँ आचार्य वाचस्पतिमिश्रकृत 'तत्त्ववैशारदी' नामक 'पातञ्जलभाष्य व्याख्या और आचार्य विज्ञानभिक्षुकृत 'योगभाष्यवार्त्तिक' नामक व्याख्या है। ये दोनों व्याख्याएँ योगशास्त्र के अध्ययन में अनन्य साहाय्य प्रदान करने वाली तथा योगसूत्र एवं योगभाष्य के अर्थबोध कराने में अक्षुण्ण माहात्म्य वाली मानी जाती हैं। योगशास्त्र के दो प्रमुख वैचारिक-सम्प्रदायों का नेतृत्व भी यही दोनों व्याख्याएँ करती हैं। योगभाष्य के माध्यम से परम्परया योगसूत्र का अर्थबोध कराने के कारण भले ही इनका वर्गीकरण योगसूत्र की परोक्ष व्याख्याओं के रूप में किया जाय किन्तु इनके निरतिशय महत्त्व के कारण योगशास्त्र का कोई भी अध्ययन इन दो व्याख्याओं को अन्तर्भावित किए बिना अधूरा एवं विकलाङ्ग ही माना जायेगा।

इस कोटि के व्याख्याग्रन्थों में शंकरकृत 'पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य विवरण' और अपेक्षाकृत पर्याप्त अर्वाचीन श्री हरिहरानन्द आरण्यकृत 'भास्वती' नाम की टीका भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इनमें से 'भास्वती' टीका तो पर्याप्त ख्यातिलब्ध और विद्वज्जनविदित है किन्तु 'विवरण' की प्रसिद्धि उतनी नहीं है। विवरण के रचयिता कोई 'आचार्यशंकर' थे किन्तु इन्हें 'शारीरकभाष्य' कर्त्ता आचार्य शंकर से अभिन्न मानना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

- -

1. चौखम्भा संस्कृत सीरिज़ वाराणसी से 'सांख्ययोगदर्शनम्' नामक ग्रन्थ में अन्य कई व्याख्याओं सहित सन् 1934 ई० में, और 'पातंजलयोगदर्शनम्' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत योगसूत्र, व्यासभाष्य और 'योगवार्त्तिक' सहित 'भारतीय विद्याप्रकाशन' वाराणसी से सन् 1971 में प्रकाशित। तत्त्ववैशारदी के और भी कई संस्करण अनेक स्थलों से प्रकाशित मिलते हैं।

2. मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरीज़ बनारस से सन् 1952 में प्रकाशित।

तथाकथित परोक्षव्याख्याओं की अपेक्षणीयता —

इन व्याख्याओं में यद्यपि भाष्य के पदों तथा वाक्यों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है किन्तु फिर भी ये व्याख्याग्रन्थ सूत्र के पदों का अर्थबोध, सूत्र में प्रयुक्त पदों की संगति, उपयोगिता एवम् उपादेयता अलग से भी निश्चित करते हैं । इस तथ्य को तत्त्ववैशारदी योगवार्त्तिक, विवरण और भास्वती - इन चारों व्याख्याओं में प्रत्येक स्थल पर देखा जा सकता है । विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ किसी सूत्र की स्पष्टार्थता के कारण या तो योगभाष्य है ही नहीं और यदि है भी तो अत्यन्त स्वल्पाक्षर । ऐसे सूत्र अधोलिखित हैं —

1) "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।" — समाधिपाद 6 ।

2) "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार —
धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।" — साधनपाद 29 ।

3) "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।" - साधनपाद 30 ।

4) "सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।" — साधनपाद 42 ।

इनमें से नं0 1 सूत्र की उत्थानिका तो भाष्यकार ने 'ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाः पञ्चधा वृत्तयः' रूप में दी है किन्तु इस सूत्र पर भाष्यकार ने व्याख्या नहीं की है, फिर भी 'तत्त्ववैशारदी'-कार ने इसकी व्याख्या की है —

"ताः स्वसंज्ञाभिरुद्दिशति - प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।
निर्देशो यथावचनं विग्रहः । चार्थे द्वन्द्वः समास इतरेतरयोगे - - - - ।
एतावत्य एव वृत्तयो नापराः सन्तीति दर्शितं भवति ।"

त0वै0पृ0 28 ।

योगवार्त्तिककार भी इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं —

"पूर्वसूत्रेण सह योजनार्थं ताः क्लिष्टाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तय' इति
पूरयित्वोत्तरं सूत्रं पठति -प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।सुगमं सूत्रम् ।"

यो0वा0पृ0 28

इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए 'विवरण कार और 'भास्वती'कार क्रमशः कहते हैं --

" काः पुनस्ताः क्लिष्टाक्लिष्टाः पंचप्रकारावृत्तय इत्याह -- 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय' इति । एतावत्य एव वृत्तयः । 'विवरण पृ० 18 ।

" प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः "इतिपंचवृत्तयः क्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टा वा भवन्ति, चित्तस्य प्रवृत्तिकनिवर्तकत्वस्वभावात् यथा रक्तं क्लिष्टं वा प्रमाणं क्लिष्टं रागद्वेष निवर्तकप्रमाणमक्लिष्टम् । "

इसी सूत्र की भाँति अन्य तीनों सूत्रों पर भी इन व्याख्याओं ने भाष्यनिरपेक्षरूप से पूरा अर्थनिर्वचन किया है । इतना ही नहीं समस्त सूत्रों पर भाष्य से अलग इन व्याख्याकारों ने व्याख्या की है । शैली यह अपनाई गई है कि पहले सूत्र का सप्रयोजन पाठ किया जाता है, फिर उसकी व्याख्या की जाती है । इसके अनन्तर 'व्याचष्टे' 'तद्व्याचष्टे' और 'विवृणोति' इत्यादि पदों के द्वारा भाष्य का अर्थनिर्वचन प्रारम्भ किया जाता है । उदाहरणार्थ एक-एक स्थल यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से उद्धृत किए जाते हैं :----

तत्त्ववैशारदी --

" अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः' । प्रमाणादिभिरनुभूते विषये योऽसम्प्रमोषोऽस्तेयं सा स्मृतिः । संस्कारमात्रजन्मा हि ज्ञानस्य संस्कारकारणानुभवावभासितो विषय आत्मीयः, तदधिकविषयपरिग्रहस्तु सम्प्रमोषः स्तेयं । कस्मात् सादृश्यात्, मुष स्तेये इत्यस्मात् प्रमोषपदव्युत्पत्तेः । एतदुक्तं भवति ---- सोऽयं पूर्वानुभवादनतिरिक्तविषयः स्मृतेरिति । विवृणोति किं प्रत्ययस्येति । " पृ० 43 ।

योगवार्त्तिकम् --

" परिकर्मनिष्पत्तेर्लक्षणमाह - 'परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः' । अस्य परिकर्मितचेतसः परमं महत्त्वं येषां पुरुषादीनां ते परममहत्त्वाः । व्याचष्टे सूक्ष्मेऽल्पपरिमाणे चित्तस्य निवेशानमवस्थानमभीप्सोरित्यर्थः । "

पृ० 106

विवरणम् :-

" इदानीं विकल्पं दर्शयति - शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।
शब्दस्य ज्ञानं शब्दज्ञानम्, वाच्यवाचकनियमेन साध्वसाधुशब्दज्ञानम्, तदनुपतितुं शीलमस्येति
शब्दज्ञानानुपाती । वस्तुशून्य इति । यथावाच्यार्थशून्यः, यस्य शब्दस्य ज्ञानमनुपतति
तस्याभावस्य यथाभूतार्थविषयेण शून्य इति यावत् । यथाभूतार्थव्यतिरेकेण हि विकल्पनं
विकल्पः । तस्य हि शब्दज्ञानानुपातित्वादागमान्तः पातित्वं प्राप्तम्, अत आह । "

पृ० 35 ।

भास्वती -

" तत्र प्रारिप्सितस्य योगशास्त्रस्य प्रथमं सूत्रम् -
' अथयोगानुशासनमिति' शिष्टस्य शासनमनुशासनम् । "

पृ० २.

इस विवेचन से योगसूत्र की इन चारों तथाकथित परोक्ष व्याख्याओं की
उपादेयता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होता
है कि भले ही 'योगभाष्य' की व्याख्याओं के रूप में इनका ग्रहण किया जाए,
तथापि 'योगसूत्र' की व्याख्याओं के रूप में भी अलग से इनका ग्रहण न किया जाना
वस्तुस्थिति की उपेक्षा करना ही होगा । जब योगसूत्रों पर स्वतन्त्र रूप से इनमें व्याख्यान
किया गया है, योगसूत्रों के अभिप्राय, प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य का अलग से विवेचन किया
गया है और योगसूत्र के पदों की यथोचित व्युत्पत्ति एवम् अर्थपरकता निरूपित की गई
है तो इन्हें 'योगसूत्रों की "परोक्षव्याख्या" का स्तर देना भी संगत नहीं प्रतीत होता
अतः ये चारों भी योगसूत्रों की व्याख्या परम्परा में निर्विशेष रूप से परिगृहीत की जानी
चाहिए । इस प्रकार पहले प्रकार की योगसूत्रव्याख्याओं से इनका अन्तर साक्षात्
और परोक्ष होने का नहीं प्रत्युत योगसूत्रमात्र की व्याख्या और योगसूत्र की व्याख्या होने
के साथ-साथ योगभाष्य की भी व्याख्या होने का है । निष्कर्षतः इन चारों व्याख्याओं
का निरतिशय महत्त्व एवम् अनन्यउपादेयत्व दृष्टि में रखते हुए और योगसूत्रों के
स्वतन्त्र व्याख्यानपरक होने से इनको भी 'योगसूत्रों' की संकुल व्याख्याओं के रूप में समी
चीन विवेचन किया गया है ।

उक्त सभी दृष्टियों से विचार करने पर योगसूत्रों की अधोलिखित व्याख्याएँ इस शोधनिबन्ध में यथायथ विवेचित की गयी है :-

1 - योगभाष्यम् - व्यासदेवकृतम् ।
2 - तत्त्ववैशारदी - वाचस्पतिमिश्रकृता ।
3 - राजमार्तण्डवृत्तिः - भोजराजकृता ।
4 - विवरणम् - शंकरकृतम् ।
5 - योगवार्तिकम् - विज्ञानभिक्षुकृतम् ।
6 - योगदीपिकावृत्तिः - भावागणेशकृता ।
7 - पातंजलयोगसूत्रवृत्तिः - नागेशभट्टकृता ।
8 - मणिप्रभा - रामानन्दयतिकृता ।
9 - योगसिद्धान्तचन्द्रिका - नारायणतीर्थकृता ।
10 - योगसूत्रार्थबोधिनी - नारायणतीर्थकृता ।
11 - भास्वती - हरिहरानन्दआरण्यकृता ।
12 - स्वामिनारायणभाष्यम् - श्रीकृष्णवल्लभाचार्यकृतम् ।

योगसूत्रों पर कुछ अन्य छोटी-छोटी सरल व्याख्याएँ आधुनिक काल में भी लिखी गयी हैं । अर्वाचीन पण्डितों की इन अप्रसिद्ध व्याख्याओं में से आफ्रेक्ट के 'केटालागस केटालागोरम' में संकीर्तित (1) अनन्तकृत 'योगसूत्रार्थचन्द्रिका' (2) बलदेवकृत 'पातंजलीयाभिनवभाष्य' (3) भवदेवकृत 'योगसूत्रवृत्तिटिप्पण' (4) उमापतिकृत 'योगसूत्रवृत्ति' (5) ज्ञानानन्दकृत 'योगसूत्रविवृत्ति' (6) शिवशंकरकृत 'योगसूत्रवृत्ति' और (7) सदाशिवब्रह्मेन्द्रकृत 'पातंजलसूत्रवृत्ति' या 'योगसुधाकर' का उल्लेख किया जा सकता है । किन्तु इन व्याख्याओं में न तो अपेक्षित अर्थस्पष्टीकरण का यत्न किया गया है और न ही कोई नयी तात्त्विक जानकारी का ही आविष्करण हुआ है । कदाचित् इसी नगण्यता के परिणामस्वरूप और पाण्डुलिपियों की अनुपलब्धता तथा त्रुटिपूर्णता के हेतु से किसी ने इन्हें प्रकाशित कराने की भी चेष्टा नहीं की । इनमें से अनेक तो आफ्रेक्ट के द्वारा संकीर्तित मात्र हैं और सम्बन्धित पुस्तकालयों से सम्पर्क करने पर मुझे तो निराशा ही हाथ लगी , इनके अस्तित्व के संबन्ध में भी मुझे

कोई निर्णयात्मक उत्तर नहीं प्राप्त हो सका । अतः ऊपर समीक्षा श्रेणी में गिनाई गयी भाष्य एवं तत्त्ववैशारदी आदि बारह आकर व्याख्याओं की महनीयता एवं मौलिकता का विचार करते हुए आक्रेफ्ट के द्वारा इन संकलित अर्वाचीन टीका - टिप्पणियों की आलोचना प्रस्तुत निबन्ध में नहीं की जा सकी ।

योगसूत्र की व्याख्याओं का कर्तृत्वनिरूपण एवं कालनिर्धारण

योगभाष्यम् --

योगसूत्रों के प्रथम व्याख्यान 'योगभाष्य' अथवा 'सांख्यप्रवचनभाष्य' के रचयिता 'व्यास' या 'व्यासदेव' हैं । ये व्यास कौन थे और कब थे-- यह निर्णय करना कठिन है । भारतवर्ष में 'व्यास' नाम से सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्तित्व 'वेदव्यास' का है जिन्होंने वेदों की व्यवस्थिति की, महाभारत की रचना की और वेद में उपनिबद्ध अर्थों का पुराणों में व्याख्यान किया है । ये व्यास वेदव्यास या कृष्णद्वैपायन व्यास कहे जाते हैं । देखना यह है कि क्या यही व्यास योगभाष्य के भी रचयिता हो सकते हैं ? तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पतिमिश्र योगभाष्यकार व्यास को महाभारतकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ही मानकर मंगलाचरण में इस प्रकार की वन्दना करते हैं ।--

" नत्वा पतंजलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते ।
संक्षिप्त स्पष्टबह्वर्था भाष्ये व्याख्या विधीयते ।।" [2]

परन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने पर 'योगभाष्य' के रचयिता व्यास तथा 'महाभारत' के रचयिता वेदव्यास भिन्न - भिन्न व्यक्ति निर्धारित होते हैं । महाभारत की रचना योगसूत्रों से बहुत पूर्व की है । योगसूत्रों का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व निश्चित किया गया है । तृतीय-शताब्दी ईसवी पूर्व में चीनदेश में गयी बौद्ध पुस्तकों में महाभारत का उल्लेख प्राप्त है । इसके आधार पर महाभारत का काल तृतीय शताब्दी ईसवी से पूर्व का ही निर्धारित किया गया है । इतना तो सर्वमान्य है कि महाभारत के रचयिता कृष्णद्वैपायन व्यास थे

- -

1 - द्रष्टव्य - पुष्पिकाएं चारों पादों के भाष्य के अन्त में ।
2 - द्रष्टव्य - तत्त्ववैशारदी का मंगलाचरण श्लोक संख्या 2 ।
3 - द्रष्टव्य - संस्कृत साहित्य का इतिहास - बलदेव उपाध्याय ।
4 - द्रष्टव्य - शतसाहस्त्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम् " ।

'महाभारत' और योगसूत्रों के रचनाकाल में अनेक शताब्दियों का अन्तर है। महाभारत के कम से कम 600 वर्ष बाद योगसूत्रों की रचना हुई और उसके बाद उनपर भाष्य लिखा गया अतः यही मानना तर्कसंगत एवं बुद्धिगम्य है। 'योगभाष्य' के रचयिता और 'महाभारत' के रचयिता सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे। भले ही दोनों ग्रन्थकारों का नाम व्यास ही रहा हो।

योगभाष्यकार कौन थे ? इस संबन्ध में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि बादरायण व्यास ने ही 'योगभाष्य' की भी रचना की है किन्तु 'ब्रह्मसूत्रों' में आये हुए 'एतेनयोगः प्रत्युक्तः' सूत्र के द्वारा योगमत का खण्डन देखकर यह विश्वास नहीं होता कि योगशास्त्र को भ्रान्त समझने तथा भ्रान्त सिद्ध करने वाले बादरायणव्यास ने 'योगभाष्य' लिखा होगा। योगभाष्य में योग के प्रति महान आदर एवं उत्कृष्ट श्रद्धा भी "सम्यग्योगाद्व्युत्थानाधः।" और "तत्रासुक्तं योगिनं एवं क्लान्त्याशादकुर्वं चानुपादानात्।" इत्यादि अनेक वाक्यों से प्रकट होता है जिससे लगता है कि योगभाष्य के रचयिता व्यास और ब्रह्मसूत्र के कर्ता व्यास एक व्यक्ति नहीं हो सकते। सब तो यह है कि किसी दर्शन को प्रवर्तित करने वाले सूत्रग्रन्थ की रचना करने वाला कोई व्यक्ति किसी दूसरे दार्शनिक प्रस्थान पर सूत्र या भाष्य लिख ही नहीं सकता क्योंकि दो विरोधी दर्शनों की व्याख्या करना एक व्यक्ति के द्वारा तो संभव है परन्तु दो विरोधी दर्शन प्रवर्तित करना सर्वथा असम्भव है। इसलिए योगभाष्य के रचयिता व्यास को बिना किसी ज़ोरदार आन्तरिक साक्ष्य के ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायणव्यास से अभिन्न नहीं माना जा सकता। इस संबन्ध में जैसे वाचस्पतिमिश्र का बाह्य साक्ष्य योगभाष्यकर्ता व्यास के कृष्णद्वैपायनव्यास सिद्ध करने में समर्थ नहीं है उसी प्रकार विज्ञानभिक्षु के द्वारा अभीष्ट योगभाष्य के रचयिता का बादरायणव्यास होना भी सर्वथा तर्कहीन एवं निष्प्रमाण बात है।

फलतः यही स्वीकार करना निर्दोष प्रतीत होता है कि योगभाष्य के रचयिता वेदव्यास और बादरायणव्यास दोनों से भिन्न कोई अन्य व्यास थे। किन्हीं पाण्डुलिपियों में इन व्यास को व्यासदेव भी कहा गया है। बहुत संभव है कि यह 'देव' शब्द व्यास के प्रति आदरातिशय का द्योतक मात्र हो। अब प्रश्न यह उठता है कि यह व्यास कब हुए और कब इन्होंने अपने योगभाष्य की रचना की।

इस विषय में प्रचलित सबसे प्रमुख अन्तधारणा जे०एच०वुड्स महोदय के द्वारा अपने " योगसिस्टम ऑफ पतंजलि " नामक ग्रन्थ की भूमिका में इस प्रकार प्रस्तुत की गई है ।

जे०एच०वुड्स ने व्यासभाष्य का समय चौथी शताब्दी ईस्वी के पश्चात् मानते हुए यह कहा है कि व्यासभाष्य में वार्षगण्य के मतों का उल्लेख मिलता है । वार्षगण्य वसुबन्धु के समकालीन थे । वसुबन्धु का समय तीसरी - चौथी शताब्दी ईस्वी है । अतः इनके समकालीन वार्षगण्य के मतों का उल्लेख होने के कारण 'व्यासभाष्य' का समय भी चौथी शताब्दी ईस्वी है अतः इनके समकालीन वार्षगण्य के मतों का उल्लेख होने के कारण 'व्यासभाष्य' का समय भी चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद होना चाहिए । परन्तु वुड्स महोदय का यह विचार ठीक नहीं है क्योंकि वार्षगण्य महर्षिपाणिनि से भी प्राचीन आचार्य थे । क्योंकि पाणिनि ने " गर्गादिभ्योयञ् " सूत्र के उदाहरण में 'वार्षगण्य' पद को उद्धृत किया है । पाणिनि का समय सातवीं ई०पूर्व है अतः वार्षगण्य का समय इससे भी पूर्व का निश्चित होना चाहिए । इस प्रकार 'वार्षगण्य' के उल्लेख के आधार पर व्यासभाष्य को वसुबन्धु के बाद का मानना सर्वथा अनुचित है ।

माघ के 'शिशुपालवध' में एक श्लोक ऐसा प्राप्त होता है जिसमें योगसूत्र 24वें पर लिखे भाष्य की पंक्तियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है, अतः योगभाष्य निश्चय ही माघ से बहुत पूर्व की रचना है । माघ का समय सातवीं शताब्दी ई० है अतः योगभाष्य की रचना सातवीं शताब्दी ई० से बहुत पूर्व की होनी चाहिए ।

योगभाष्य में अनेक स्थलों पर 'विज्ञानवाद' का खण्डन हुआ है । विज्ञानवाद तृतीय शताब्दी ई० में मैत्रेयनाथ के द्वारा प्रतिष्ठित एवं व्यवस्थित किया जा चुका है इसलिए तीसरी शताब्दी ई० के पहले योगभाष्य की रचना मानी भी नहीं जा सकती और न तो विज्ञानवाद के खण्डन के आधार पर योगभाष्य को 'वसुबन्धु' के बाद का मानना ही आवश्यक है क्योंकि वसुबन्धु विज्ञानवाद के पहले आचार्य नहीं थे।

योगभाष्य में आयी हुई पंक्ति - " यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । " (यो0भा0 3/13) से सूचित दशमलव पद्धति के प्रयोग के कारण 'योगभाष्य ' को छठीं शताब्दी ई0 के बाद की रचना मानना भी जे0एच0 वुड्स महोदय की बड़ी भूल है, क्योंकि दशमलव पद्धति का प्रयोग और शून्य का उपयोग भारतवर्ष में ई0 की पहली शताब्दी में ही हो चुका था ।

तीसरी शताब्दी ई0 के आचार्य वात्स्यायन ने अपने न्यायसूत्रभाष्य (न्यायसूत्र 1, 2, 6 पर भाष्य) में योगभाष्य के एक वाक्य को उद्धृत किया है । " सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात् 'अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । " यह पंक्ति यत्किंचिद् अन्तर के साथ योगसूत्रभाष्य 3/13 की है । पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के आचार्य दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय नामक ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर वात्स्यायन भाष्य के अनेक अंशों की आलोचना तथा खण्डन किया है । इसलिए न्यायभाष्यकार वात्स्यायन का समय चौथी शताब्दी ई0 के बाद का नहीं माना जा सकता । फलतः योगभाष्यकार का समय अधिक से अधिक तीसरी शताब्दी ई0 के बाद का नहीं मानना चाहिए ।

- -

1 - द्रष्टव्य - " हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न "
पृ0 432, 433 ।

तत्ववैशारदी

'योगभाष्य' के माध्यम से योगसूत्रों पर पहली व्याख्या 'तत्ववैशारदी' है । इसकी रचना वाचस्पतिमिश्र ने की है । वाचस्पतिमिश्र के संबन्ध में जिज्ञासा होती है कि ये वाचस्पतिमिश्र कौन थे ? भारतीयदर्शन साहित्य में वाचस्पतिमिश्र नाम के तीन व्याख्याकारों का नाम मिलता है । वाचस्पति द्वितीय श्री हर्ष से नवीन थे क्योंकि श्री हर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' पर इन्होंने 'खण्डनोद्धार' नामक टीका लिखी है । इनकी कृतियों से इनका समय निर्धारित होता है । वाचस्पति तृतीय सबसे अर्वाचीन थे । इन्होंने 'विवादचिन्तामणि' 'व्यवहारचिन्तामणि' 'शुद्धिचिन्तामणि' 'तीर्थचिन्तामणि' इत्यादि ग्रन्थ लिखे हैं । प्रथम वाचस्पतिमिश्र का नाम भारतीयदर्शन में अत्यधिक आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है । इन्होंने आस्तिक तथा नास्तिक सभी दर्शनों पर विवेचनात्मक टीकाएँ लिखी हैं और यही कारण है जिससे ये 'षड्दर्शनकाननपञ्चानन' के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :-

1 - न्यायकणिका ।

2 - तात्पर्यटीका ।

3 - तत्वबिन्दु ।

4 - भामती ।

5 - तत्ववैशारदी ।

वाचस्पतिमिश्र प्रथम के विद्यागुरु त्रिलोचन थे । त्रिलोचन का समय महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने नवीं शताब्दी ईसवी निर्धारित किया है । वाचस्पतिमिश्र के हृदय में अपने गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी । वाचस्पतिमिश्र प्रथम को ही वृद्धवाचस्पति की भी संज्ञा दी गयी है । इनके संबन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि महान्वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने शांकरभाष्य पर टीका लिखने का निश्चय किया था परन्तु वे लिख नहीं सके और इस कार्य को किए बिना ही उनका देहावसान हो गया । अपनी इसी अतृप्त इच्छा को पूरा करने के लिए उन्होंने वाचस्पतिमिश्र प्रथम के रूप में जन्म लिया । किन्तु इस तथ्य का इतिहास से कोई संबन्ध नहीं हो सकता । वाचस्पतिमिश्र ने

अपने विषय में अधोलिखित श्लोक के अतिरिक्त कोई उल्लेख नहीं किया है ।

" न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसरे ।।

न्याय सूची निबन्ध ।

इस श्लोक के आधार पर इनका समय 898 विक्रम संवत् अर्थात् 841 ई0 के आसपास का माना जाता है । वाचस्पतिमिश्र का जन्म इनके अनुसार नवीं शताब्दी है और ' तत्ववैशारदी ' की रचना का काल भी नवीं शताब्दी ही निश्चित होता है । वाचस्पतिमिश्र मिथिला के रहने वाले थे 'तस्मिन् महीपे महनीय कीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ।" इस वाक्य के आधार पर नृग नामक राजा के दरबार की विद्वद्रत्न थे ।

'तत्ववैशारदी' में योगशास्त्र संबन्धी सभी दार्शनिक विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है । जिन सूत्रों का स्पष्टीकरण योगभाष्य में नहीं प्राप्त होता है उनकी भी व्याख्या 'तत्ववैशारदी' में उपलब्ध होता है । संक्षेप में यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि 'तत्ववैशारदी' योगभाष्य के जटिल रहस्यों को उद्घाटित करने वाली अनुपम व्याख्या है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

धारेश्वर भोजराज विरचित 'राजमार्तण्डवृत्ति' योगसूत्रों पर साक्षात् वृत्ति है। 'राजमार्तण्डवृत्ति ही 'भोजवृत्ति' के नाम से भी प्रसिद्ध है। भोज की जीवनी के संबन्ध में निर्णय करना बहुत दुष्कर नहीं है। यद्यपि भारतीय इतिहास में अनेक वंशों में उत्पन्न अनेक 'भोज' वर्णित हुए हैं[1] तथापि उनमें से 'योगसूत्रों' पर वृत्ति लिखने वाले भोज कौन थे और इनका जन्म कब हुआ था यह ज्ञातव्य है। प्रो०ए०बी०कीथ के अनुसार धारानरेश भोजदेव का समय 11वीं शताब्दी ईसवी का उत्तरार्ध हो सकता है[2]। भोज ने शृंगार प्रकाश तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी। एस०के०डे ने अपनी पुस्तक में धाराधीश भोज का समय 1010 ई० से 1055 ईसवी तक माना है[3]। डा०दास गुप्त ने इस वृत्ति का समय 10वीं शताब्दी बताया है। प्रो०हिरियन्ना ने 'भोजवृत्ति' का समय 1000ई० निर्धारित किया है। प्रो०वुड्स की सूचना इस विषय में यह है कि यद्यपि अनेक भोजदेव हो चुके हैं, परन्तु धाराधीश जिनको उनकी विविध रचनाओं के कारण पतञ्जलि की समता प्राप्त हुई है वे ही 'राजमार्तण्ड' नामक वृत्ति के रचयिता हैं जिनका समय 10वीं शताब्दी ईसवी है[4]।

---

1 - उक्त निर्देश के लिए बी०वेस्टर्न हेक्म की लिखी पुस्तक " दि भोजाज़ " पृ० 190।

2 - द्रष्टव्य - 'लौकिक संस्कृत साहित्य' — ए० बी०कीथ।

3 - द्रष्टव्य - ' हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स " भाग 1 पृ० 147।

4 - वुड्सकृत 'योगसिस्टम् ऑफ पतंजलि ' पृ० 14

इस प्रकार धारेश्वर भोज का जीवन-काल दसवीं शताब्दी ईसवी ही निर्धारित होता है । अतः भोजकृत 'राजमार्तण्डवृत्ति' का भी रचनाकाल दसवीं शताब्दी में ही माना जाना चाहिए । 'योगसूत्रों' पर की गई यह व्याख्या अन्य 'योगभाष्य' की तुलना में संक्षिप्त है परन्तु सूत्रों के अर्थ का स्पष्टीकरण करने में यह वृत्ति बड़ी सहायक है । इसीलिए विद्वानों के बीच इस वृत्ति का भी बहुत आदरणीय स्थान है ।

योगसूत्रभाष्यविवरण –

विवरणकार शंकर के जीवनकाल के बारे में कोई यथार्थ संकेत दुष्प्राप्य है, अतः यह किस शताब्दी के दार्शनिक है, यह कहना अत्यन्त दुष्कर कार्य है । हाँ इतना तो निश्चित है कि ये शंकर आठवीं शताब्दी के अद्वैत-वेदान्ती शंकराचार्य से सर्वथा भिन्न हैं । इस संबन्ध में कई ऐसे तथ्य मिलते हैं जिनसे यही विश्वास होता है कि दोनों शंकर भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व वाले थे । सर्व-प्रथम इन दोनों दार्शनिकों के चिन्तन का क्षेत्र दृष्टव्य है । अद्वैतवेदान्ती श्री शंकरा-चार्य ने 'अद्वैतवेदान्त' को ही अपनी वैचारिक साधना का केन्द्र बिन्दु बनाया था । ये सांख्ययोग और 'न्यायवैशेषिक' दर्शन के प्रबल विरोधी थे । जब कि दूसरे शंकर 'सांख्ययोग' और 'न्यायवैशेषिक' से पर्याप्त रूप से प्रभावित हैं । अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य को 'योगसूत्रभाष्यविवरण' का रचयिता न मानने के लिए अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते है :-

शारीरकभाष्यकार शंकराचार्य एकमात्र 'अद्वैतब्रह्म' के अनुयायी थे । उनके अनुसार अन्तिम तत्त्व 'ब्रह्म' 'निर्गुण' 'निर्विकल्पक' तथा 'निर्विशेष' है । उन्होंने

अपनी किसी भी व्याख्या में किसी 'देवता' की स्तुति में कोई मंगलश्लोक नहीं लिखा है । इनके माण्डूक्यकारिकाभाष्य के प्रारम्भ में मिलने वाले मांगलिकश्लोक निर्गुण ब्रह्मपरक ही हैं, किसी भी वैदिक या स्मार्त देवी-देवता की वन्दना इन श्लोकों में भी नहीं है । इसके विपरीत 'विवरणकार' ने 'विवरण' में कृष्ण भगवान की वन्दना मांगलिकश्लोकों[2] के द्वारा की है । 'विवरण' के प्रारम्भ और अन्त दोनों स्थलों में कृष्ण भगवान की स्तुति की गई है । इस आधार पर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि विवरणकार शंकर शारीरकभाष्यकार से सर्वथा भिन्न शंकर थे ।

- -

1 - " प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान् ।
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ॥
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
माया संख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि" ॥ १ ॥

योविश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान् ।
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ।"

माण्डूक्योपनिषद्, शाङ्करभाष्य पृ०-20 ।

2 - " यस्मिन्न सः कर्मविपाकौ यत आस्तां
क्लेशा यदमे नालमलङ्घ्या निखिलानाम् ।
नावच्छिन्नः कालवशात् यः कलयन्या
लोकेशस्तं केशवमानुं प्रणमामि ॥"

पातञ्जल योगसूत्रभाष्यविवरणम् पृ० 1 ।

" ओङ्कारो यस्य वक्ता समयरत फलैः कर्म यस्माद्विबोधं
निष्कर्मक्लेशपाको घटयति सकलं यः फलेन क्रियाणाम् ।
ईशानामीश्वरो यः स्थितिभवनिधनप्रक्रियाणां विधाता
ध्यायन्नः शुचिमानं व्यपनुदतु तरां कृष्णमानं स कृष्णः ॥ "

वही - पृ० 370 ।

इस संबन्ध में तीसरा तर्क यह है कि 'विवरणकार' ने 'समवाय' संबन्ध को मान्य ठहराया है यथा-" तथा द्विविध एव संबन्धः समवायाख्यः संयोगाख्यश्चेति न युज्यते ।" जब कि अद्वैतवेदान्ती शंकर ने शारीरकभाष्य में समवाय को संबन्ध ही नहीं माना है और जमकर नैयायिकाभिमत 'समवाय' का खण्डन किया है ।[1] इस विषय में योगसूत्र तृतीयपाद के 17वें सूत्र के विवरण में आए हुए स्फोटवाद के प्रसङ्ग से भी सहायता मिलती है । इस स्थल में 'स्फोटवाद' के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । यहाँ पर विवरणकार शंकर ने कुमारिल[2] और साथ ही पार्थसारथिमिश्र[3] के भी विचारों का खण्डन किया है ।

- -

1 - " युतसिद्धयोः संबन्धः संयोगो युतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषाम्, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः ।"

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पृ0 428 ।

2 - " वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः ।
व्यञ्जन्ति व्यञ्जकत्वेन यथादीपप्रभादयः ॥
सत्वात् घटादिवच्चेति साधनानि यथारुचि ।
लौकिकव्यतिरेकेण कल्पितेऽर्थे भवन्ति हि ॥
नार्थस्य बाधकः स्फोटो वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः ।
घटादिवन्न दृष्टेन विरोधो धर्मसिद्धितः ॥
प्रतिषेधेत्तु यो वर्णास्तज्ज्ञानानन्तरोद्भवात् ।
दृष्ट बाधो भवेत्तस्य शशिवच्चाभिधेयवत् ॥
वर्णोत्था वाऽर्थधीरेषा तज्ज्ञानानन्तरोद्भवा ।
यादृशी सा तदुत्था हि धूमादेरिव वह्निधी ॥
दीपवद्वा गकारादिर्गत्वादेः प्रतिपादकः ।
ध्रुवं प्रतीयमानत्वात्तत्पूर्वं प्रतिपादनात् ॥ "

3 - " ध्वनिमात्रोपादाने शब्दाभिव्यक्तीनां स्फोटाभिव्यञ्जकत्वस्य परैरनिष्टत्वाद्दृष्ट सिद्धसाध्यत्वं स्यात् । तथा श्रुतिनि पदवाक्ययोरिति विशेषणम्, पदवाक्ययोर्वर्तमाना वर्णा ध्वनयो वा स्फोटं नाभिव्यञ्जयन्तीत्यन्वयः " ।
इति श्लोकवार्तिक व्याख्यायां न्यायरत्नाकरे पार्थसारथिमिश्रः ।

पार्थसारथि मिश्र[4] बारहवीं शताब्दी ई0 के मीमांसा के आचार्य थे अतः विवरणकार को 12वीं शताब्दी के बाद का ही मानना पड़ेगा । इसलिए 8वीं शताब्दी के वेदान्ती शंकराचार्य से योगसूत्रभाष्यविवरणकार शंकर का सर्वथा अलग होना बिल्कुल निश्चित है ।

'विवरण' के अन्त में " योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि

यह श्लोक 18वीं शताब्दी के लेखक श्री रामभद्रदीक्षित द्वारा लिखे गए पतंजलिचरित में उपलब्ध होता है । लेखक ने इस श्लोक में 'पतंजलि की वन्दना की है । इस श्लोक के आधार पर विवरणकार का समय 18वीं शताब्दी के बाद मानना त्रुटिपूर्ण होगा क्योंकि ग्रन्थकी शैली और भाषा इस प्रकार की मान्यता के अनुकूल नहीं है । लगता है ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने वाले किसी सज्जन ने पतंजलि के संबन्ध में प्रचलित प्रभाववश इस श्लोक को ग्रन्थान्त में उपनिबद्ध कर दिया है ।

विवरण के चारों पादों की पुष्पिकाओं के आधार पर विवरणकार शंकर का समय निश्चित कर सकना दुष्कर है । इन पुष्पिकाओं में 'विवरण' नामक कृति के रचयिता अद्वैतवेदान्ती शंकर को बताया गया है और उनके गुरु का नाम श्री गोविन्दभगवत्पाद बताया गया है[2] ।

- -

1 - " तत्र पार्थसारथि मिश्रः द्वादशशतकयोः (12श0) मिथिला-निवासी प्रकाण्डपण्डितश्च । "
कविराजश्रीमदाचार्यपण्डितविष्णुजेन्द्रनाथ शास्त्रिभिः विरचित 'संस्कृतसाहित्य-विमर्शः" पृ0 23।

2 - इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्री शंकरभगवतः कृतौ
पातंजलयोगसूत्र (सांख्य) भाष्य विवरणे
चतुर्थः कैवल्यपादः ।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर यह निर्धारित किया गया है कि विवरण के रचयिता शंकर 'अद्वैतवेदान्त' के महान विचारक शंकराचार्य से भिन्न शंकर थे। विवरणकार शंकर का समय 12वीं शताब्दी के बाद कभी का भी हो सकता है।

योगवार्त्तिकम्

'योगभाष्य' के माध्यम से योगसूत्रों की दूसरी व्याख्या 'योगवार्त्तिक' है। 'योगवार्त्तिक' की रचना विज्ञानभिक्षु ने की है। विज्ञानभिक्षु का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। उन्होंने संस्कृतसाहित्य, व्याकरण, वेद, वेदांग तथा अन्य भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। वे एक स्वतन्त्र विचारक थे। इन्होंने सांख्यसूत्रों पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य' तथा 'ब्रह्मसूत्र' पर विज्ञानामृतभाष्य' उपनिषदों का भाष्य, 'ईश्वरगीताभाष्य' और 'योगसारसंग्रह' जैसे प्रौढ़ग्रन्थों की भी रचना की है।

विज्ञानभिक्षु का जन्म कब हुआ था ? इस संबन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार इस प्रकार हैं। प्रो0कीथ के अनुसार विज्ञानभिक्षु का समय 16वीं शताब्दी है। अपने दूसरे ग्रन्थ में इन्होंने विज्ञानभिक्षु का समय 17वीं शताब्दी में निर्धारित किया है। प्रो0कीथ द्वारा निर्धारित समय परस्पर विरोधी है। एक ही व्यक्ति का समय इन्होंने अपनी दो रचनाओं में भिन्न-भिन्न प्रतिपादित किया है जो उचित नहीं जान पड़ता है।

डा0पी0के0गोडे ने विज्ञानभिक्षु का समय 16वीं शताब्दी माना है। इस निर्णय का आधार विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश के द्वारा हस्ताक्षरित वाराणसी का एक निर्णयपत्र है। इस निर्णयपत्र पर शक सं0 1505 (1583ई0) अंकित है। इस पर उस समय के ब्राह्मणवर्ग के मुखियों का हस्ताक्षर है। इसी आधार पर गोडे महोदय ने विज्ञानभिक्षु का काल 16वीं शताब्दी ईसवी निश्चित किया है।

गोडे महोदय तर्कभाषा की टीका तत्त्वप्रबोधिनी के रचयिता गणेशदीक्षित को तथा भावागणेशदीक्षित को अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। पं0उदयवीरशास्त्री ने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में गोडे का ज़बरदस्त खण्डन किया है। वे कहते हैं कि तत्त्वप्रबोधिनीकार गणेशदीक्षित तथा 'भावागणेशदीक्षित' दोनों अभिन्न

व्यक्ति नहीं हो सकते कारण दोनों के माता पिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे । इसके अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु के शिष्य का नाम केवल भावागणेश है ऐसा उनकी पुस्तकों से मालूम होता है । दीक्षित पद भावागणेश के नाम के साथ नहीं लगा है । अतः भावागणेश और गणेश दीक्षित अभिन्न व्यक्ति नहीं हो सकते । हाल और आफ्रेक्ट महोदय ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न व्यक्ति ही स्वीकार किया है ।

पं0 उदयवीरशास्त्री ने गोडे महोदय द्वारा प्रस्तुत निर्णयपत्र पर हस्ताक्षर संबन्धित प्रमाण का भी खण्डन किया है । इनका कहना है कि उस पत्र पर जो हस्ताक्षर प्राप्त है वह विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश का हस्ताक्षर नहीं है क्योंकि निर्णय पत्र पर ~~निर्णय-पत्र-पर~~ 'भावये गणेश दीक्षित' नाम का हस्ताक्षर है । 'भावा' और 'भावये' दो भिन्न-भिन्न पद हैं । इन दोनों पदों की रचना भिन्न-भिन्न है, अतः निर्णयपत्र पर प्राप्त हस्ताक्षर से विज्ञानभिक्षु के समय का निर्णय नहीं हो सकता ।

पं0 उदयवीर शास्त्री विज्ञानभिक्षु को कश्मीर निवासी सदानन्दयति का पूर्ववर्ती मानते हैं । वे इस संबन्ध में तर्क देते हैं कि सदानन्दयति ने अपनी रचना में विज्ञानभिक्षु के नाम का उल्लेख किया है । इस आधार पर विज्ञानभिक्षु का समय सदानन्दयति से पूर्व का ही होना चाहिए । सदानन्दयति का जीवनकाल प्रो0ए0बी0कीथ ने 1500 ई0 निर्धारित किया है । अतः विज्ञानभिक्षु को 1500 ई0 के पूर्व का ही माना जाना चाहिए । इस प्रकार उन्होंने विज्ञानभिक्षु का समय 1350 ई0 के आस-पास माना है ।

किन्तु विज्ञानभिक्षु के समय के बारे में पं0 उदयवीर शास्त्री द्वारा दिए गए तर्क तथ्य से काफी दूर हैं, क्योंकि कश्मीर निवासी सदानन्दयति ने 'वेदान्तसार' की रचना नहीं की थी । 'वेदान्तसार' की रचना सदानन्दयोगीन्द्र ने की थी जो 15वीं शताब्दी के थे । ये सदानन्दयोगीन्द्र जिनका समय 1500 ई0 के कुछपूर्व का माना जाता है, विज्ञानभिक्षु के परवर्ती नहीं हो सकते ।

विज्ञानभिक्षु ने इन सदानन्दयोगीन्द्र के 'वेदान्तसार' के एक प्रसंग का नामनिर्देश किए बिना[1] खण्डन भी किया है । अतः विज्ञानभिक्षु वेदान्तसार के रचयिता से तो पीछे के हैं । यही बात अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार 'सदानन्दयति' की तो उनका समय विद्वानों ने 'रघुनाथशिरोमणि' का उल्लेख करने के कारण प्रमाणपूर्वक 17वीं शती सिद्ध किया है ।[2] अतः विज्ञानभिक्षु का कालनिर्धारण इन दोनों सदानन्दों के बीच में तर्कसंगत रूप में किया जा सकता है । विज्ञानभिक्षु ने 14वीं शताब्दी के श्रीकण्ठ जिन्होंने वेदान्तसूत्रों पर शैवभाष्य लिखा है, का भी खण्डन किया है ।[3] अतः विज्ञान-भिक्षु के समय की पूर्वसीमा 15वीं शताब्दी ठहरती है । उनके समय की परवर्ती सीमा का निर्धारण करने के लिए 1583ई० का भावागणेश नामक उनके शिष्य के हस्ताक्षर वाला वाराणसी का निर्णय पत्र और "संवत् 1680 वि०(1623ई०) भाद्रो सुदि को समाप्त की गई उनके ग्रन्थ 'सांख्यसार' की एक पाण्डुलिपि पर्याप्त है । इस प्रकार इनका जीवनकाल 16वीं शताब्दी का अन्तिम तीन चतुर्थांश स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं दृष्टिगोचर होती है।

- -

1 - "अयं च व्यष्टि समष्टिभावो न वनवृक्षवत् किंतु पितापुत्रवदेव वा"
यो०वा०पृ० 213 ।

2 - द्रष्टव्य - डा०सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव कृत 'आचार्यविज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' पृ० 39 ।

3 - "अतएव वेदव्यासः शैवसम्प्रदायिकोक्तिनो विष्णुव्यतिरिक्त परमेश्वरमीश्वरवादिनो ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं विष्णुपरतया व्याचक्षते इति मन्तव्यम्।"
वि०भा०पृ० 139 ।

योगदीपिकावृत्तिः

भावागणेश तथा उनकी रचनाओं के समय का निर्धारण अपेक्षाकृत सरलता के साथ हो जाता है । यह सर्वविदित है कि ये विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे तथा उन्हीं के समकालीन भी थे, अतः भावागणेश का समय भी यत्किंचित अन्तर के साथ वही है जो विज्ञानभिक्षु का है । भावागणेश के जीवनकाल के निर्णय के सम्बन्ध में सहायक प्रमाण पूर्ववर्णित तथा बनारस में प्राप्त 1583 ई० का निर्णय-पत्र है । विज्ञानभिक्षु के जीवनकाल का निरूपण करते समय यह निश्चित हो चुका है कि इस निर्णय पत्र पर प्राप्त हस्ताक्षर भावागणेश का ही है । अतः इस निर्णय पत्र के आधार पर भावागणेश का जीवन काल 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुविधा से माना जा सकता है । भावागणेश वाराणसी के रहने वाले 'दीक्षित' उपजाति के ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम विश्वनाथ और इनकी माता का नाम भवानी था । ये लोग कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे । इनके पिता ने स्वयं कई यज्ञ किए थे । इनकी वंशानुगत संज्ञा 'भावा' या 'भावे' थी ।

भावागणेश ने 'पातञ्जलयोगसूत्रों' पर जो वृत्ति लिखी है वह 'योगदीपिका' के नाम से प्रख्यात है । व्याख्या का यह नाम 'योगदीपिका' के प्रथम पाद की पुष्पिका में उल्लिखित है । कुछ विद्वानों के अनुसार इस व्याख्या का नाम 'योगसूत्रदीपिका' भी है । 'योगदीपिका' एक संक्षिप्त व्याख्या है । इस व्याख्या को आफ्रेक्ट ने 'योगानुशासनसूत्रवृत्ति' संज्ञा दी है । भावागणेश के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन' और प्रबोधचन्द्रोदय की 'प्रकाशिका' टीका ।

- -

1 - द्रष्टव्य - अड्यार लायब्रेरी बुलेटिन, फरवरी 1944 ई०

2 - आसीद् भावोपनामा बुधविदितयशा रामकृष्णो द्विजेशः
तस्माद्भार्या विनीतेतिविदितगुणिनि विश्वनाथोऽप्यजनि ।
तस्मात्तस्यात्मजोऽभूत्विषमसंकुलः प्रादुरासीद् भवान्याम्
श्रीमत्यां श्री गणेशो बुधविदितगुणस्तस्य शिष्यो भिक्षुकाणाम् ॥

प्रकाशिकाटीका प्रथम श्लोक ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्तिः

नागेशभट्ट द्वारा रचित योगसूत्रों की व्याख्या 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' के नाम से प्रचलित है । नागेशभट्ट हरिदीक्षित के शिष्य थे और हरिदीक्षित प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य भट्टोजिदीक्षित के पोते थे । हरिदीक्षित का समय 17वीं शताब्दी ईसवी में माना जाता है । इस आधार पर नागेश भट्ट का भी जीवनकाल 17वीं शताब्दी या 18वीं का पूर्वार्ध माना जाना चाहिए । नागोजिभट्ट का जन्म महाराष्ट्र के तासगाँव नामक स्थान में हुआ था । परन्तु अपने जीवन का अधिकांश भाग इन्होंने वाराणसी में ही व्यतीत किया । इन्होंने व्याकरणसाहित्य का गहन अध्ययन किया । इन्होंने संस्कृत व्याकरण पर अत्यन्त उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थ लिखे । जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध वैयाकरणमंजूषा, लघुमंजूषा, परिभाषेन्दुशेखर, शब्देन्दुशेखर, लघुशब्देन्दुशेखर हैं । पतंजलि के महाभाष्य पर लिखी गई कैयट् की 'प्रदीप' नामक टीका पर नागेशभट्ट ने 'उद्योत' नामक सुविस्तृत व्याख्या लिखी है ।

संस्कृत व्याकरण पर की गई इनकी व्याख्या को दृष्टि में रखकर कीलहोर्न महोदय ने इन्हें आधुनिक युग का सबसे बड़ा वैयाकरण माना है । साहित्यशास्त्र में भी इनका गौरवपूर्ण योगदान रहा है । इन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर लिखी गई गोविन्दठक्कुर की 'प्रदीप' टीका पर भी 'उद्योत' नाम की विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्या लिखी है । इन्होंने वे अपनी रचनाओं में ही सन्तान की कल्पनाकर संतुष्ट थे । इन्होंने अपनी पत्नी की सन्ततिरहितता का दुःख दूर करते हुए कहा था :-

> " शब्देन्दुशेखरः पुत्रः, मंजूषा दुहिता मम ।
> एतयोः सन्निधाने हि कीदृशी मनसो रुजा ।।"

नागोजीभट्ट की कृतियों को हम सुविधा से 17वीं शताब्दी के अन्त में और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रख सकते हैं ।

- -

1 - द्रष्टव्य -

"Studies in Indian Literary History." Vol. III — Dr. P.K. Gode. P. २१२.

मणिप्रभा

मणिप्रभा भी 'योगसूत्रों' पर ही साक्षात्-व्याख्या है । इसके लेखक 'रामानन्दयति' थे जिनके गुरु का नाम गोविन्दानन्द था । इनके बारे में ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है कि ये कब और कहाँ पैदा हुए थे । 'मणिप्रभा' की भाषा-शैली और विचारों का अवलोकन करने से केवल इतना भर निश्चित हो पाता है कि ये विज्ञानभिक्षु के बाद के ही लेखक हैं । नारायणतीर्थ की व्याख्याओं में मणिप्रभा का बहुत अधिक उपयोग हुआ है, इससे भी यह संभावना बलवती होती है कि यह व्याख्या 16 वीं और 17वीं शताब्दी के बीच की रचना है ।

मणिप्रभाकार ने 'पातंजलयोगसूत्र' में आए हुए सूत्रों के पाठ को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है । यथा प्रथम-पाद के 26वें सूत्र में से 'स एषः' पद को छोड़कर केवल "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" ही स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त इन्होंने विभूतिपादके 43वें और 44वें सूत्र को संयुक्त करके दोनों को एक ही सूत्र के रूप में स्वीकार किया है । यथा—

" बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ।"

योगसूत्र पर यह व्याख्या न तो बहुत विस्तृत है न अतिसंक्षिप्त । विषय का विवेचन इसमें भली भाँति किया गया । इस पर भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी का प्रभाव पूरी तरह से दृष्टिगोचर होता है ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका -
योगसूत्रार्थबोधिनी

इन दोनों व्याख्याओं के रचयिता नारायणतीर्थ हैं । इन्होंने 'सांख्य-कारिकाओं' पर सांख्यचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है । यह व्याख्या वाचस्पतिमिश्रकृत 'सांख्य-तत्त्वकौमुदी' की तुलना में बहुत संक्षिप्त है परन्तु संक्षिप्त होने पर भी इसमें अर्थबोध की क्षमता पर्याप्त मात्रा में है । इन्होंने इसके अतिरिक्त भक्तिचन्द्रिका, भक्त्याधिकरणमाला, तत्त्वचन्द्रिका, न्यायकुसुमान्जलिव्याख्या, सिद्धान्तबिन्दुमकरन्दव्याख्या तथा वेदान्तसूत्रटीका 'विभावना' इत्यादि ग्रन्थों की रचना की है । नारायणतीर्थ ने 'भक्तिचन्द्रिका' के भाग एक के 28वें पृष्ठ पर भक्ति की एकादश भूमिकाओं का नामनिर्देश 'भक्तिरसायन' के तीन श्लोकों के द्वारा किया है । इससे यह प्रतीत होता है कि नारायणतीर्थ मधुसूदन सरस्वती के परवर्ती थे । मधुसूदन सरस्वती का समय ईसा की 16वीं शताब्दी है । अतः नारायण तीर्थ का समय 16वीं शताब्दी ई0 के काफी बाद में होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त अनन्तदेव द्वितीय ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिनिर्णय' में नारायण-तीर्थ द्वारा रचित 'भक्तिचन्द्रिका' में से भक्तिबोधक पंक्तियों को उसी रूप में उद्धृत किया है । नारायणतीर्थ अनन्तदेव के पूर्ववर्ती थे । अनन्तदेव द्वितीय के आश्रयदाता बाजबहादुरचन्द्रदेव थे । उनके एक दानपत्र के आधार पर उनका समय 1787ई0 निर्धारित हुआ है । अतः इनका समय इनसे पूर्व का ही होना चाहिए । इसलिए नारायणतीर्थ को 17वीं शताब्दी ईसवी में मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

भास्वती -

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य 19वीं शताब्दी के अन्तिम पाद तथा 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य सांख्ययोग-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य एक साधक योगी थे। उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग 'कपिलगुहा' में व्यतीत किया था। सन् 1926 से 1947 तक वह उसी 'गुहा' में रहे और अन्त में वहीं उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का त्याग किया।

उन्होंने दर्शन संबन्धी अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें से प्रमुख यह हैं – 'सांख्यतत्त्वालोक', 'भास्वती', (योग दर्शन के व्यासभाष्य की टीका) पंचशिखादिकों सांख्य-सूत्रम् (सभाष्यम्) योगकारिका, धर्मपदम् (पालीधम्म पद का संस्कृत अनुवाद)। ये सभी ग्रन्थ स्वामी हरिहरानन्द जी की प्रखर प्रतिभा के द्योतक हैं।

स्वामिनारायणभाष्यम्

'स्वामिनारायणभाष्य' के रचयिता श्री कृष्णवल्लभाचार्य का जन्म पश्चिमी-भारत के सौराष्ट्र (गुजरात) प्रान्तमें रैवताद्रिपर्वत के निकट स्थित किसी राजघराने में हुआ था । इनके पिता का नाम 'गोपाल' देव था और माता का नाम 'कमरावती' देवी था । इसी प्रसिद्ध राजकुल में सं0 1961 विक्रमी आश्विनीशुक्लपंचमी को उनका जन्म हुआ था । 14 वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने गुरु श्री स्वामिनारायण से दीक्षा प्राप्त की और दीक्षोपरान्त काशीनगरी में आकर शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया[1] ।

इन्होंने सांख्ययोग, वेदान्त और न्याय आदि दर्शनों का सम्यक् अध्ययन किया और बाद में इन्हीं दार्शनिक ग्रन्थों पर इन्होंने कई व्याख्याएँ लिखीं । इन व्याख्याओं के नाम इस प्रकार हैं :- संवत् 1986 में 'सांख्यकारिकाभाष्यम्', संवत् 1987 ई0 में योगसूत्र पर 'स्वामिनारायणभाष्यम्' सं0 1988 में 'श्रीस्वामिनारायण वेदान्तसारः' संवत् 1990 में 'तर्कसंग्रह दीपिकाकिरणावली' सं0 1992 में सांख्यतत्त्वकौमुदीकिरणावली और सं0 1993 में न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' पर 'किरणावली' । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों की भी रचना इन्होंने की है यथा 'योजवृत्ति' पर किरण नामक व्याख्या तथा 'सांख्यकारिकागौडपादभाष्यकिरणम्' आदि

इन अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना के कारण विद्वानों ने उन्हें छहों दर्शनों का आचार्य स्वीकार किया है और इन्हें दार्शनिकपंचानन-षड्दर्शनाचार्य - नव्यन्यायाचार्य - सांख्ययोगवेदान्तमीमांसातीर्थ पण्डित' की उत्कृष्ट उपाधि से विभूषित

---

1 - " भारते पश्चिमे प्रान्ते पुण्ये सागरसंगते । 'रैवताद्रि'
समाधारे 'श्रीसौराष्ट्र' विश्रुते । --- श्रीमद् 'गोपाल' देवान्वीकस्य
पुण्यवतो गृहे । धर्मपत्न्यां श्री 'कमरावती' देव्यां तुरीयकः ।
वैक्रमे चन्द्रषड्निधिभूमिते 1961 वत्सरे शुभे । आश्विनशुक्लपंचम्यां पुत्रो
वो जन्म लब्धवान् । "

सां0सि0मु0किरणावली पृ0 500 ।

किया है । इनकी रचनाओं में 'सांख्यकारिकाभाष्यम्' के बाद 'योगसूत्र' पर लिखी गई 'व्याख्या' 'स्वामिनारायणभाष्य' का ही स्थान है ।

इस प्रकार यह भाष्य 'योगसूत्रों' की 20वीं शताब्दी ई० की व्याख्याओं का प्रामाणिक प्रतिनिधिग्रन्थ कहा जा सकता है ।

आचार्यों की भाषा-शैली

व्यासभाष्य

पातंजलयोग सूत्र पर व्यासमुनि द्वारा विरचित भाष्य अत्यन्त समादृत है। पातंजलयोगसूत्रों को सही रूप से समझने के लिए व्यासभाष्य से अपरिमित सहायता मिलती है। भाष्य की भाषा शैली स्पष्ट तथा सशक्त है। भाष्य न तो बहुत विस्तृत है न अति संक्षिप्त, प्रस्तुत विषय को समझाने के लिए जितना विवेचन अपेक्षित है उतना वर्णन भाष्य में प्राप्त होता है। योगसूत्रों में निरूपित योग से सम्बन्धित समस्त विषयों का सांगोपांग विवेचन भाष्य में किया गया है। भाष्य की शैली प्रभावपूर्ण तथा प्रवाहमय है। सूत्रों की पारस्परिक क्रमिकता और उनकी संगति का स्पष्टीकरण भाष्य से ही पूरा होता है। एक सूत्र के समाप्त होने पर दूसरे सूत्र में प्रतिपादित विषय पूर्वसूत्र के व्याख्यान के साथ ही प्रस्तुत किए गए उत्थानिकाभाष्य से स्पष्टतः संकेतित हो जाता है। यथा – 'तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"[1]

शैली — विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने यथास्थान ऋषि-मुनियों, श्रुति, विष्णुपुराण आदि की उक्तियों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथमपाद में तृतीय सूत्र की व्याख्या स्पष्ट करते हुए भाष्यकार लिखते हैं –

"स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये,
व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा।"

अर्थात् जिस तरह कैवल्य की अवस्था में चितिशक्तिरूपी पुरुष अपने रूप में ही अवस्थित रहता है, उसी तरह निरुद्धावस्था में भी वह अपने आप में अवस्थित रहता है। व्युत्थानकाल में चितिशक्तिरूपी पुरुष पूर्ववत् रहता हुआ भी वैसा प्रतीत नहीं होता।

---

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 16 ।

इसी प्रकार प्रथम-पाद के चौथे सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने पंचशिखाचार्य[1] मुनि की उक्ति को प्रस्तुत किया है । " एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् " इति । प्रथमपाद के सैंतालिसवें सूत्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए परम ऋषि की[2] गाथा को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया है ।—

" प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ।।"

सूत्र है" "निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । " अर्थात् निर्विचारसमाधि के वैशारद्य से अध्यात्म प्रसाद होता है । सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा समापत्तियों में से सविचारा समापत्ति अधिक श्रेष्ठ है । निर्विचारा समाधि के प्रसार से योगी की बुद्धि रजो, तमोगुण रूपी मलों से अलेत होकर स्वच्छ हो जाती है और योगी को परमाणु रूप समस्त विषयों का क्रम के अनुरोध बिना ही अर्थात् एक साथ ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस प्रज्ञालोक को ही अध्यात्मप्रसाद कहा गया है । अध्यात्म प्रसाद प्राप्त योगी का स्वरूप क्या होता है इसको समझने के लिए उक्त उदाहरण दिया गया है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार पर्वत पर स्थित पुरुष भूमि पर स्थित पुरुष को छोटे आकार में देखता है उसी प्रकार शोकरहित प्रज्ञाप्रसाद को प्राप्त किया हुआ योगी अन्य अज्ञानी पुरुषों को शोकयुक्त देखता है । इस उदाहरण से भाष्य का अर्थ और भी पुष्ट और प्रमाणिक हो जाता है ।

48वें सूत्र के भाष्य में सूत्रनिहित पदों का सुस्पष्ट विवेचन करने के अभिप्राय से स्मृति में से एक श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है —

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।[3]
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 18 ।
2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 125 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 126 ।

द्वितीय-अध्याय के पाँचवें सूत्र में अविद्या के स्वरूप का विवेचन मिलता है। मानव शरीर के प्रतिमोह, माया अविद्या है क्योंकि शरीर रचना कैसे होती है यह जानकार शरीर के प्रति घृणा भाव उत्पन्न होने लगता है। इस संदर्भ में भाष्यकार वैयासिकी गाथा की उक्ति का प्रमाण देते हैं :-

" स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ "[1]

द्वितीय क्लेश 'अस्मिता' के निरूपण में भी महर्षि पंचशिखाचार्य की उक्ति को उन्होंने इस प्रकार से उद्धृत किया है :-

" बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेनेति।[2] द्वितीय-अध्याय के 12वें सूत्र के भाष्य में दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों का वर्णन आया है। तृतीय पाद के छठें सूत्र में 'संयम का विनियोग' किसमें होता है इसका वर्णन आया है। यह निरूपणभाष्य में बड़ी सूक्ष्मता के साथ मिलता है। भाष्य में स्पष्ट रूप से लिखा है कि संयम का सवितर्कादि भूमियों से संबन्ध है। यहाँ पर भूमियों के पूर्व और पश्चात् के संबन्ध में शंका होती है कि कौन सी भूमि पहले आती है और कौन सी पश्चात् इस शंका का समाधान करने के लिए शास्त्रान्तर से श्लोक उद्धृत किया गया है।

" योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते[3] ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥"

भूमियों का ज्ञान योग से प्राप्त होता है क्योंकि योग से ही योग जाना जाता है। योग बल से स्वयं पूर्व और पश्चात् भूमि का ज्ञान हो जाता है।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 147 ।
2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 151 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 282 ।

विभूतिपाद में 44 वें सूत्र में आए हुए स्थूल, सूक्ष्म अवयवों के स्वरूप का विवेचन अत्यन्त ही सरल तथा स्पष्ट शैली में किया गया है । विवेचन को पुष्ट और अधिक सुगम बनाने के लिए महर्षिपंचशिखाचार्य के वचन का प्रमाण दिया गया है — 'तथा चोक्तम्—एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् ।[1] " अर्थात् पृथिवी इत्यादि भूतों का अपने-अपने धर्मों में व्यावृत्ति होती है ।

<u>युक्तियों का स्थान</u> :— भाष्य में प्रमाणों का विस्तृत विवेचन किया गया है । अनुमानप्रमाण को समझाने के लिए भाष्यकार युक्ति देते हैं —" अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथादेशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः ।[2]"

अर्थात् अनुमेय के समजातीयों में रहने वाला और विजातियों में न रहने वाला जो लिंग उसके ज्ञान से सामान्य अर्थ को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है । यथा चन्द्रमा और तारे गतिमान हैं भिन्न-भिन्न देशों में पहुँचने के कारण । यहाँ पर अनुमान का लक्षण तो 'सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्" से ही निष्पन्न है परन्तु यह वृत्ति किस प्रकार की होती है इसका स्पष्टीकरण भाष्य में दी हुई युक्ति के द्वारा ही सम्भव हो सका है ।

इसी तरह विकल्प का लक्षण स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने यह युक्ति प्रस्तुत की है—" वस्तुशून्योऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते ? भवति च व्यपदेशे वृत्तिः यथा 'चैत्रस्य गौरिति' तथा 'प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः' । 'तिष्ठति बाणः ' । स्थास्यति, 'स्थितः' इति ।[3]

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 369 ।
2 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 28 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 38 ।

ईश्वर के वाच्यवाचक संबन्ध को बताते हुए उदाहरण दिया गया है — 'प्रदीप प्रकाशवदवस्थितमिति ।' अर्थात् वाच्य (ईश्वर) और वाचक (प्रणव) में संबन्ध संकेतकृत है अर्थात् पहले से ही है जैसे दीपक में प्रकाश पूर्व स्थित है[1] ।

अन्य मतों की आलोचना — स्थल-स्थल पर भाष्यकार ने योग सिद्धान्त के विरोधियों की कड़ी कड़ी आलोचना की है । अन्य विरोधी मतों को निराधार सिद्ध करते हुए सूत्रसम्मत सिद्धान्त को ही सुदृढ़ बनाया है । प्रथम-पाद में सूत्र 32 के भाष्य में भाष्यकार ने वैनाशिक मत का भरपूर खण्डन किया है । वैनाशिकों का कहना है कि चित्त क्षणिक होता है । प्रत्यय के साथ-साथ चित्त भी बदलता रहता है । अतः प्रत्येक चित्त अपने-अपने निर्धारित समय तक के लिए एकाग्र कहे जा सकते हैं अतः सभी चित्त एकाग्र हैं विक्षिप्त नहीं । भाष्यकार ने इस मत का विरोध करते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि जब चित्त को सभी विषयों से खींचकर एक ही आलम्बन में समाहित किया जाता है तब उस चित्त को एकाग्र कहा जाता है । क्षणिक चित्त एकाग्र नहीं हो सकता प्रत्ययनियत चित्त को ही वैनाशिकों ने एकाग्रचित्त माना है । इससे विक्षिप्त की चित्त की अनुपपत्ति हो जाती है जो सम्भव नहीं है[2] ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 82 ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 92 ।

अतः "एकम् अनेकार्थम् अवस्थितम् चित्तम् इति ।" अर्थात् अनेक अर्थों को ग्रहण करने वाला एक स्थायी चित्त ही होता है ।

विभूतिपाद में 13वें सूत्र के भाष्य में बौद्धमत का खण्डन किया गया है । बौद्ध मत के अनुसार मृत्तिकादि पदार्थ को नित्य मानना चाहिए क्योंकि घट जब टूट जाता है तब पुनः मृत्तिका के रूप को ही प्राप्त हो जाता है । अतः मृत्तिका कूटस्थ नित्य है । परन्तु योग-दर्शन में इस प्रकार की कूटस्थनित्यता को स्वीकार नहीं माना गया है, योग के अनुसार चितिशक्ति से अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ कूटस्थ-नित्य नहीं माना जा सकता । इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने युक्ति दी है कि - मृत्तिकादि सभी पदार्थ व्यक्ति के द्वारा अपनाये जाते हैं और अन्त में वे नष्ट होते रहते हैं अतः नश्वरत्व गुण के कारण मृत्तिकादि पदार्थ नित्य नहीं माने जा सकते ।

सिद्धान्तविषय अधिक बल साधनपाद पर— भाष्यकार ने भाष्य की रचना सूत्र के अनुसार की है । भाष्य में साधनों पर अधिक बल दिया गया है । सर्वप्रथम योग क्या है ? बताकर भाष्यकार ने योग प्राप्ति के कौन-कौन से साधन हैं उन्हीं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है । संभवतः इसी दृष्टिकोण से पातंजल योगसूत्रों का विभाजन करते हुए प्रथमपाद को समाधिपाद द्वितीय को साधन-पाद, तृतीय-पाद को विभूतिपाद और अन्तिम अथवा चतुर्थपाद को कैवल्यपाद नाम दिया गया है ।

समाहित-चित्त वाले योगी के लिए अभ्यास और वैराग्य का अभ्यास उत्तम साधन है जिसके द्वारा योगी सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात नामक समाधियों को प्राप्त करता हुआ विवेकख्याति को प्राप्त करता है तत्पश्चात् धर्ममेघ-समाधि को और अन्त में कैवल्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है ।

- -

1- " अयमदोषः । कस्मात् ? एकान्तानभ्युपगमात् । तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति । नित्यत्वप्रतिषेधात् । अपेतमप्यस्ति । विनाशप्रतिषेधात् ।"

व्यासभाष्य पृ० २९ ।

भाष्यकार ने व्युत्थितचित्त वाले साधकों के लिए 'क्रियायोग' का सविस्तार वर्णन किया है । असम्प्रज्ञात-समाधि के आठ अंगों का उल्लेख भी किया है यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ योग के अंग है । जिनके आचरण से असम्प्रज्ञात-योग की प्राप्ति होती है । इनमें से पूर्व के पाँच अंग सम्प्रज्ञात-योग के बहिरंग साधन हैं और पश्चात् के तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-योग के अन्तरंग साधन हैं । विभूति-पाद में इन तीन अन्तरंग साधनों का विस्तृत वर्णन किया गया है ।

भाष्य की शैली विवेचनात्मक है । पूरे भाष्य में योग संबन्धी सभी विषयों का सम्यक् विवेचन है । उदाहरण के लिए योग का स्वरूप, सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात-योग, विवेकख्याति, धर्ममेघसमाधि और कैवल्य । कहीं-कहीं इनकी तर्क पद्धति प्रयत्नों के बावजूद भी स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण नहीं हो पाई है । जैसे :—
" वृत्तयोश्चतुरयोगपुंगवस्काभिमतार्थप्राप्तिलक्षित, अर्थस्य विस्पष्टत्वात् ।" यो० भा०४।३५
भाष्य में विज्ञानवादी बौद्धशब्दावली में से भी शब्द लिए गए हैं जैसे 'स्वव्यञ्जकाञ्जन', परिकर्म इत्यादि । भाष्य में वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं । भाष्य कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से विस्तृत है । जिसके कारण सूत्रों का अर्थ स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट हो जाता है । उदाहरणार्थ साधन-पाद में 15वें सूत्र का भाष्य अत्यन्त विस्तृत होकर अस्पष्ट ही हो गया है ।

तत्त्ववैशारदी –

'तत्त्ववैशारदी' भाष्य के माध्यम से योगसूत्रों पर की गयी व्याख्याओं में सबसे पहली तथा प्रसिद्ध व्याख्या है । 'तत्त्ववैशारदी' की भाषा-शैली बड़ी ही सुललित एवं साहित्यिक है । इसमें परिष्कृत संस्कृत का प्रयोग मिलता है । तत्त्व-वैशारदीकार ने योग-सम्मत विचारों का विवेचन अत्यन्त ही सुन्दरता से किया है । प्रत्येक विषय का विवेचन देने के पूर्व व्याख्याकार ने सबसे पहले आकर्षक भूमिका रची है तत्पश्चात् विषय का विस्तृत प्रतिपादन किया है । वाक्यों की रचना समुचित है । बहुत अधिक लम्बे वाक्यों का प्रयोग नहीं है ।

भाषा विवेचनात्मक और वर्णनात्मक दोनों ही प्रकार की है । विवेचनात्मक इस लिए कि इसमें 'योग' से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया है । वर्णनात्मक इस लिए कि विवेचन की शैली विस्तृत तथा वर्णनात्मक है । स्थान-स्थान पर उदाहरण भी दिए गए हैं । यथा प्रथमपाद के तृतीय-सूत्र के भाष्य की व्याख्या में बुद्धिप्रबोधात्मा पुरुष के स्वभाव की तुलना सूर्य के प्रकाश से की गई है — "पुरुषस्य बुद्धिप्रबोधः स्वभावः सवितुरिव प्रकाशः ।"[1] प्रथमपाद के तीसरे सूत्र के भाष्य की ही व्याख्या में तत्त्ववैशारदीकार ने पुरुष के चैतन्य रूप की तुलना स्वच्छस्फटिक मणि से की है, यथा — जिस प्रकार स्फटिकमणि अपने निकट के पदार्थों के रंग से भासित होने लगती है उसी प्रकार पुरुष का शुद्ध चैतन्य रूप जब उपाधियुक्त होता है तब तत् तत् विषयों के अनुरूप ही भासित होने लगता है — "पुरुषस्य हि चैतन्यं स्वरूपमनौपाधिकं न तु बुद्धिबोधः शान्तादिरूपः । औपाधिको हि सः, स्फटिकस्येव स्वभावस्वच्छधवलस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिररुणिमा ।"[2]

- -

1 – द्रष्टव्य – तत्त्ववैशारदी पृ० 16 ।

2 – द्रष्टव्य – वही पृ० 16 ।

प्रथमपाद के छठें सूत्र की व्याख्या करते हुए तत्त्ववैशारदीकार ने सबसे पहले उसमें निहित व्याकरण का निर्देश किया है । प्रस्तुत सूत्र में 'चार्थेद्वन्द्व' समास है । यह विशेष उल्लेख है क्योंकि अन्य व्याख्याकारों ने इस सूत्र को यों ही छोड़ दिया है । किसी ने इस सूत्र की व्याख्या नहीं की है । परन्तु वाचस्पतिमिश्र[1] की सूक्ष्म दृष्टि ने उसमें स्थित व्याकरण की तरफ ध्यान आकर्षित किया है । व्याख्या की शैली सर्वत्र व्याकरण-परक है । समासों के समुचित विग्रह के द्वारा पदों को समझाने की चेष्टा की गई है । "स्वकारणमञ्जन-माकारो यस्य स तथोक्तः । स्वकारणाकार इत्यर्थः । स्वकारणाकार व्यञ्जक मुद्बोधकम् तेनाञ्जनं पदाभिमुखीकरणं यस्येति तेतार्थः ।" तत्त्व० भा० पृ० 28 ।

<u>सिद्धान्तपक्ष और साधनपक्ष दोनों पर बल</u> — 'तत्त्ववैशारदी'

में सिद्धान्तों का विवेचन भी पूर्ण विस्तार के साथ किया गया है और साथ ही साथ योग के साधनों का विवेचन भी अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है, अर्थात् दोनों विषयों का पर्याप्त विवेचन किया गया है । वैनाशिकों के क्षणिक एकाग्र चित्त का खण्डन किया गया है । खण्डन की शैली बड़ी स्पष्ट है । सीधे मत का खण्डन करने के पश्चात् सही योग के मत का प्रतिपादन किया गया है ।

'विज्ञानवादी' दार्शनिकों के कुछ शब्दों का प्रयोग भाष्यकार की भाँति तत्त्ववैशारदीकार ने भी किया है । यथा — परिकर्म, प्रत्यूह, स्वव्यञ्जकाञ्जन इत्यादि ।

---

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ० 28 ।

उदाहरणप्रियता — तत्त्ववैशारदीकार 'सांख्यदर्शन' से बहुत प्रभावित हैं । 'प्रधान' के स्वरूप का विवेचन करते हुए 'सांख्य-कारिका' में से एक कारिका उद्धृत की गई है :—

" अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥"

तत्त्ववैशारदी में वाचस्पतिमिश्र ने भाष्य के प्रत्येक पद को उसका स्पष्ट अर्थ देकर समझाया है । विषय को समझाने के लिए इन्होंने युक्तियों को अधिक महत्व नहीं दी है प्रत्युत अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक शब्द की व्याख्या करके अर्थ को बोधगम्य बनाया है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

राजमार्तण्डवृत्ति पातंजलयोगसूत्रों पर अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या है । परन्तु संक्षिप्त होते हुए भी इसमें विषय का प्रतिपादन बड़ी सरलता से किया गया है । इसकी भाषा सरल है । बिना किसी अतिरिक्त सहायता के ही विषय समझ में आ जाता है । शैली में सरलता के साथ-साथ प्रवाह-पूर्णता भी है । युक्तियों तथा उद्धरणों का भी प्रयोग मिलता है । विषय का विवेचन बिना भूमिका बनाए हुए स्पष्ट और संक्षिप्त रूप में किया गया है । इसकी भाषा उच्च कोटि की साहित्यिक नहीं है, अपितु साधारण है ।

इस व्याख्या में श्रुति, स्मृति और पुराण आदि के तथ्यों का संकेत अथवा उल्लेख नहीं किया गया है । वैनाशिकों और विज्ञानवादियों के मतों की

चर्चा तथा आलोचना नहीं की गई है । केवल सूत्र के पदों के भावार्थमात्र से योग के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है । सिद्धान्त और साधनाक्रम दोनों पर बराबर बल दिया गया है । पहले सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है तत्पश्चात् उनकी प्राप्ति के लिए साधनों का उल्लेख किया गया है । इस व्याख्या में लगभग सभी सूत्रों का विवेचन प्राप्त होता है । केवल चतुर्थपाद के 16वें सूत्र की व्याख्या राजमार्तण्ड वृत्ति में नहीं की गई है ।

इस व्याख्या में दृष्टान्तों का प्रयोग भी मिलता है यथा — पुरुष को व्युत्थान काल में चित्तवृत्तियों के आकार का भासित होता है । इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए व्याख्याकार ने युक्ति दी है कि — जिस प्रकार चंचल जल तरंग में चन्द्रमा भी चंचल ही प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार पुरुष भी व्युत्थान काल में चित्त वृत्तियों के सदृश भासित होता है ।

सरलता, संक्षेप, सुबोधता तथा प्रभावशालिता राजमार्तण्डवृत्ति में सर्वत्र दर्शनीय हैं । इस व्याख्या की पद्धति तत्त्ववैशारदी की ही भाँति है । पहले सूत्रगत पदों की विग्रह प्रस्तुत किया गया है तत्पश्चात् उनका अर्थ किया गया है । यथा — प्रथमपाद के 19वें सूत्र की व्याख्या द्रष्टव्य है —

> " विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासूत्रे व्याख्याताः, तेषां समाधिर्भवप्रत्ययः भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः । अयमर्थः आविर्भावमात्रभूता एव ते संसारे तथाविध समाधिभाजो भवन्ति ।" रा0मा0 वृ0सू0 30 ।

भाषाशैली की दृष्टि से तत्त्ववैशारदी योगवार्त्तिक तथा राजमार्तण्ड-वृत्ति तीनों व्याख्यायें अपना-अपना अलग-अलग स्थान रखती हैं । तत्त्ववैशारदी की भाषा-शैली सुदृढ़ साहित्यिक है, प्रवाहगुण युक्त है । भोज की शैली विस्तृत है ।

उद्धरणों का प्रयोग भी उपलब्ध है । इसके विपरीत योगवार्त्तिक की भाषा शैली क्लिष्ट है । अतः प्रवाह में बाधा पड़ती है । विषय का विवेचन नितान्त विस्तार के साथ किया गया है । उद्धरणों और युक्तियों का बाहुल्य है । विज्ञानभिक्षु श्रुति, स्मृति और पुराण से बहुत अधिक प्रभावित हैं । राजमार्तण्डवृत्ति उक्त दोनों व्याख्याओं से भिन्न-भिन्न है । राजमार्तण्डवृत्ति उक्त दोनों व्याख्याओं की तुलना में बहुत संक्षिप्त है । इसकी भाषा सरल तथा बोधगम्य है । उद्धरणों का प्रयोग बहुत कम मात्रा में हुआ है । उक्त दोनों व्याख्याओं की तुलना में राजमार्तण्ड वृत्ति अपनी सरलता तथा स्पष्टता के कारण अधिक लोकप्रिय हो पायी है, वैसे यदि साहित्यिक वैशिष्ट्य को लिया जाये तो 'तत्त्ववैशारदी' का स्थान सभी में ऊँचा है ।

व्यासभाष्य इन सभी व्याख्याओं की तुलना में अधिक प्राचीन है । सबसे प्राचीन तथा सबसे पहली व्याख्या होने के कारण इसकी भाषा उतनी साहित्यिक और प्रांजल नहीं है । बिना किसी सजावट के भाष्य में योगसूत्रों के अर्थ को स्पष्ट करने का पूरा प्रयास भाष्यकार ने किया है । उद्धरणों का प्रयोग अधिकतर स्थानों पर मिलता है । परन्तु पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि बिना उद्धरणों के भी विषय का स्पष्टीकरण हो सकता है । उनके रहने न रहने से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है । भाषा शैली कहीं-कहीं सरल है और किसी-किसी स्थान पर दुरूह हो गयी है । प्रथमपाद के 32वें सूत्र के भाष्य के प्रारम्भ की सात पंक्तियाँ तो आसानी से समझ में आ जाती हैं परन्तु बाद की सभी पंक्तियाँ बहुत दुरूह हो गयी हैं जो बिना किसी की सहायता के सुगम नहीं होती । इस प्रकार उक्त व्याख्याओं में से भाषा-शैली की दृष्टि से तत्त्ववैशारदी का स्थान सबसे ऊँचा है क्योंकि इसकी भाषा संस्कृत साहित्यिक है, वर्णन की शैली व्यवस्थित रूप से पायी जाती है ।

विवरण

'योगसूत्रभाष्य विवरणम्' 'योगसूत्र' तथा 'योगभाष्य' पर विस्तृत व्याख्याग्रन्थ है । 'योग' से संबन्धित जितने भी विषय हैं उनका वर्णन विवरणकार ने विषयानुकूल भूमिका उद्घाटित करते हुए तथा अन्य शास्त्रों से योगशास्त्र की तुलना करते हुए किया है । उदाहरणार्थ, 'योग का लक्षण' प्रतिपादित करने के पहले 'योगशास्त्र' की तुलना चिकित्साशास्त्र से की गई है । तत्पश्चात् मुख्य विषय पर विचार विमर्श किया गया है ।

विवरणकार ने व्याख्या को तर्कसंगत बनाने के लिए कहीं-कहीं सूत्रों में पाठभेद भी स्वीकार किया है । यथा — द्वितीय पाद के 7वें और 8वें सूत्र में 'सुखानुशयीरागः' के स्थान पर 'सुखानुजन्मा रागः' पाठ उल्लिखित है । व्याख्याकार ने इस पाठ की व्याख्या करके 'अनुजन्मा' पद की सहायता से व्याख्या को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है । इसी तरह 'दुःखानुशयी द्वेषः' के स्थान पर 'दुःखानुजन्मा द्वेषः', पाठ स्वीकृत किया है ।[1]

ये न्याय और वैशेषिक शास्त्रों में प्रचलित पदावली का प्रयोग करने में नहीं हिचकते हैं । व्याख्याकार को व्याख्या के समय इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है कि व्याख्या बहुत विस्तृत हो रही है । इन्होंने निश्चिन्त भाव से जितना भी उल्लेख सम्भव हो सका है किया है ।

- -

1 - द्रष्टव्य — योगसूत्रभाष्य विवरणम् - पृ0 139, 140 ।

'विवरण' में स्थान-स्थान पर उद्धरण भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। विवरणकार ने भाष्य में उल्लिखित उद्धरणों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। प्रथम पाद में 25वें सूत्र और भाष्य की व्याख्या के मध्य मुण्डकोपनिषद् तथा कठोपनिषद् के दो पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं - "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "एको वशी"[1]। द्वितीय-पाद में योगाङ्गों के अनुष्ठान का वर्णन करते हुए मनु की उक्ति को उद्धृत किया है :-

"प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥"[2]

योग के आठों साधनों का वर्णन करते समय कठोपनिषद् की एक पंक्ति का उल्लेख किया गया है :- "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तः"। प्रश्नोपनिषद् में से "येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्" और गीता में से "ब्रह्मचारिव्रते स्थितः" इत्यादि। तृतीय-पाद के 17वें सूत्र भाष्य की व्याख्या में स्फोटवाद के सिद्धान्त को समझाने के प्रयास में कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्त्तिक[3] 6 श्लोकों अर्थात् 12 पंक्तियों को उद्धृत किया गया है।

- -

1 - द्रष्टव्य - योगसूत्रभाष्यविवरणम् - पृ० 62 ।
2 - द्रष्टव्य - वही पृ० 208 ।
3 - द्रष्टव्य - वही पृ० 268 ।

विवरण में साधनांश पर अधिक बल दिया गया है । प्रथमपाद के प्रथम सूत्र भाष्य की व्याख्या से योग के साधनों पर विशेष व्याख्यान किया गया है । इन्होंने 72 पृष्ठ में केवल योगाङ्गों का ही विवेचन किया है[1] । विवरण की भाषा-शैली अपेक्षाकृत सरल है । प्रतिपाद्य विषयों की गम्भीरता और पाण्डित्यपूर्ण शैली के प्रयोग में तत्त्ववैशारदीकार और योगवार्तिककार से इनकी तुलना नहीं की जा सकती । इन्होंने सरल तथा छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है । इनकी शैली तर्कप्रवण एवं शास्त्रार्थोन्मुख है । जहाँ कहीं किसी तर्क को प्रस्तुत करना होता है वे उससे संबन्धित जितनी भी सम्भावनाएँ होती हैं उन्हें 'अथापि' इत्यादि पदों के द्वारा प्रस्तुत करते हैं और प्रबलतर युक्तियों से उन्हें निरस्त करते चलते हैं । जैसे — " अथापि स्यात् - अज्ञानस्यापि विवर्तमानस्य स्वभावसिद्धस्य काष्ठाप्राप्तस्य तस्मिन्नीश्वरे सिद्धिरिति न - ज्ञान विरोधात् । न हि ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नप्रत्येक-विषयविषयोगोऽस्ति । न हि ज्ञाने प्रकर्षवति तत्राज्ञानं संभवति ।[2] "

सामासिक पदावली के प्रयोग के विषय में इस व्याख्या की शैली तत्त्ववैशारदी और योगवार्तिक से भिन्न है । पूरे " विवरण" में कदाचित् ही कहीं दो से अधिक पदों का समास देखने को मिलता है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - योगसूत्रभाष्य विवरणम् पृ0 207 से 235 तक ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 58 ।

योगवार्त्तिक -

भाष्य के माध्यम से योगसूत्रों पर यह दूसरी व्याख्या है । योगवार्त्तिक की भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट है, जिसके कारण बार-बार अध्ययन करने पर भी विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण कठिनाई से हो पाता है । विवेचन अत्यधिक विस्तृत है । उद्धरणों और युक्तियों का अधिक प्रयोग है । आचार्य ने पुराण और स्मृति में से उद्धरण बहुत दिए हैं, अतः आचार्य विज्ञानभिक्षु के लिए यह कहना उचित ही है कि वे पुराणों से बहुत प्रभावित हैं । कैवल्यपाद के 31वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या के अन्त में स्वयं ही लिखते हैं — " अस्मिन्नेव तु श्रुतिस्मृतिसभाष्येन तत्सर्वं श्रद्धेयमिति भावः ।।" इन पंक्तियों से भी यह स्पष्ट होता है कि आचार्य की श्रुति, स्मृति और पुराण में बहुत श्रद्धा थी । श्रुति और स्मृति का उद्धरण द्रष्टव्य है :—

" यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।। "
श्रुति --

" अव्यक्तादये विज्ञाप्ते विकारेऽस्मिश्चविशेषिते ।
चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते ।। "
स्मृति --

ये श्लोक कैवल्यपाद में 23वें सूत्र की व्याख्या में उद्धरण के रूप में दिए गए हैं । इसी प्रकार कैवल्यपाद के 22वें सूत्र के भाष्य को समझाते हुए पुराण का एक श्लोक उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

" नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा बुद्धिसन्निधिसतया ।
यथा यथा भवेद् बुद्धिरात्मा तद्वदिहेष्यते ।। "

आचार्य ने विवेचन की दृष्टि से साधनांश पर अधिक बल दिया है । सिद्धान्तांश पर भी योगवार्त्तिककार ने पूर्ण विवेचन एवं चिन्तन प्रस्तुत किया है । योगप्राप्ति के साधनों का विस्तृत विवेचन किया गया है । विस्तार की सीमा इतनी अधिक है कि भाष्य नीरस लगने लगता है । पदों में स्थित समास का विग्रह करके अर्थ को स्पष्ट करने का यत्न यत्र-तत्र मिलता है । भाषा कुछ क्लिष्ट है । बौद्धों की पदावली का भी प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है — यथा — प्रत्यूह, परिकर्म इत्यादि । वाक्य-रचना लम्बी तथा कहीं-कहीं दुरूह है[1] ।

इतना सब होने पर भी विषय प्रतिपादन, सिद्धान्त-विवेचन एवं साधननिर्देश आदि की दृष्टि से योगवार्त्तिक अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा अधिक सर्वाङ्गपूर्ण एवं जिज्ञासात्मक व्याख्या है । योगशास्त्र के वैचारिक एवं क्रियात्मक सभी पहलुओं की दृष्टि से 'योगवार्त्तिक' सर्वाधिक समर्थ एवं अपरिहार्य योगसूत्र व्याख्या है ।

- -

1 - " ततः गर्भस्थितायाः निःशेषतः क्षये सति, शान्तोदितव्यतीतोऽत्यव्यमानो तुल्यप्रत्ययावेकाकारप्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । पुनः यदि भामोदितलिनसजातीय एकैकः प्रत्ययो नश्यति अन्योऽन्य उत्पद्यत इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः । "

यो0वा0पृ0 290 ।

योगदीपिका

'योगदीपिका' 'योगसूत्रों' पर अत्यन्त संक्षिप्त, सरल-व्याख्या है परन्तु इसमें स्पष्टीकरण की पूर्ण क्षमता है। इसमें योग सम्बन्धी विषयों का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया गया है। तुलना करने पर योगदीपिका भोजवृत्ति से बहुत साम्य रखती है। भोजवृत्ति की ही भाँति यह व्याख्या भी अनावश्यक विस्तार से अछूती है। इसकी भाषा सुगम है। इसमें विषय का विवेचन आवश्यकतानुकूल है, व्यर्थ का विस्तार नहीं है। वाक्य-रचना अर्थानुकूल एवं समुचित है।

उद्धरणों की दृष्टि से देखा जाय तो इस व्याख्या में बहुत ही कम उद्धरण मिलते हैं। केवल कुछ ही ऐसे स्थान हैं जहाँ पर उद्धरण देखे जा सकते हैं। चतुर्थ-अध्याय के 33वें सूत्र में, 'विष्णुपुराण' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। पूरी व्याख्या का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि व्याख्याकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्ततम व्याख्या-शैली को अपनाया है। साथ ही व्याख्या के बीच-बीच में उद्धरणों को देना बहुत आवश्यक नहीं समझा है।

जहाँ तक विषय प्रतिपादन का संबन्ध है भावागणेश ने अपने गुरु विज्ञानभिक्षु के ही मतों को इस व्याख्या में प्रस्तुत किया है। विज्ञानभिक्षु के वार्तिक के मत से भिन्न कोई बात कहीं नहीं कही गई है। सच पूछा जाये तो यह व्याख्या 'योगवार्तिक' की ही एक संक्षिप्त प्रतिकृति है। भावागणेश ने इस तथ्य को स्वयं ही स्वीकृत भी किया है :—

" भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम्। "

योगदीपिका मंगलाचरणे ।

पातंजलयोग सूत्रवृत्ति

नागोजीभट्ट द्वारा विरचित 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' भी योगसूत्रों पर साक्षात्-व्याख्या है । यह व्याख्या, 'योग-दीपिका' और 'राजमार्तण्डवृत्ति' की तुलना में कुछ अधिक विस्तृत है । उक्त व्याख्याओं की तुलना में इस व्याख्या की भाषा कुछ क्लिष्ट है । इसमें विषय का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है । इस व्याख्या की भाषा, विचार तथा विवेचन की शैली 'योगवार्त्तिक' से मिलती जुलती है ।

इस व्याख्या में उद्धरणों का प्रयोग बहुत कम किया गया है । चारों-पादों की व्याख्या में कुल मिलाकर 5,6 उद्धरण दृष्टिगोचर होते हैं । उद्धरण स्मृति, कूर्मपुराण और श्रुतियों में से लिए गए हैं । यथा —'निद्रावृत्ति' का निरूपण करते हुए स्मृति में से उद्धरण दिया गया है —''जागत्स्वप्न सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।''[1] 'संप्रज्ञात' समाधि की वितर्कादि भूमियों की उपयोगिता को चरितार्थ करते हुए भी स्मृति की एक पंक्ति को उद्धृत किया गया है, यथा — 'स्थूले विनिर्जितचित्त' ततः सूक्ष्मं शनैर्नयेत् ।''[2] अस्मितानुगतसम्प्रज्ञात समाधि के वर्णन के प्रसंग में कूर्मपुराण की कुछ पंक्तियों को उद्धरण रूप में प्रस्तुत किया गया है, यथा — '' यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरंजनम् । मदेकं स महायोगी भाषितः परमेश्वरः । यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्' इति[3] । उद्धरणों का प्रयोग इस व्याख्या में यद्यपि कम किया गया है परन्तु जितने उद्धरण दिए गए हैं उनकी सहायता से विषय के स्पष्टीकरण में बहुत सहायता मिलती है, अतः विषयविवेचन की दृष्टि से इस व्याख्या में उद्धृत उद्धरण बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं ।

- -

1 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 9 ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ0 14 ।

3 - द्रष्टव्य - वही पृ0 15 ।

भाषा में कहीं-कहीं सजावट भी मिलती है। यथा — प्रकृतिलीन और विदेहों की स्थिति का निरूपण व्याख्याकार ने 'मण्डूक' की स्थिति से सादृश्य दिखाते हुए किया है। यहाँ पर उपमा अलंकार का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है यथा — " प्राप्तावधयस्तु पुनः संसारे विशन्ति। यथा वर्षातिपाते मृद्रूपा मण्डूकाः पुनर्वर्षासेकेन मण्डूकदेहमनुभवन्ति तद्वत्।"[1] 'विकल्पवृत्ति' के विवेचन में भी उपमा अलंकार का उदाहरण दिया गया है। यथा — " राहोः शिरो, वन्ध्यासुत, वर्णास्तिष्ठन्ति।"[2]

इस व्याख्या की भाषा परिष्कृत, संस्कृत है। साथ ही भाषा व्याकरण परक है। समासों का प्रयोग व्याख्या की प्रत्येक पंक्ति में किया गया है। सूत्रार्थों को खोलने के लिए पदों में निहित समासों का विग्रह भी किया गया है जिससे पदों के स्पष्टीकरण में बहुत सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ — 'विदेहप्रकृतिलयानाम्' पद में निहित द्वन्द्वसमास का विग्रह किया गया है यथा — " विदेहाश्चप्रकृतिलयाश्चेति द्वन्द्वः।"[3] व्याख्या में वाक्य छोटे-छोटे हैं और कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे वाक्यों की भी योजना की गई है परन्तु शैली की सारगर्भितशक्ति के कारण लम्बे वाक्य-रचना का व्याख्या पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा है। यथा —
" अहिंसादि विपरीता हिंसादयो वा वितर्का इति परिभाषिताः स्वयं कृतान्येन कारिता साधुसाध्वित्यनुमोदिता इति त्रिविधास्ते पुनरपि क्रोधमोहपूर्वकत्वेन त्रिविधाः लोभाच्च पुनस्त्रिविधा मृदवो मध्या अतिमात्रा इति सर्वं एते दुःखं विपर्ययज्ञानस्वभावानं' च संसार मूलकारणं मत्वा येषां ते इति प्रतिपक्षभावनया तेषां परिहारः कार्यं इत्यर्थः।"[4]

- -

1 -	द्रष्टव्य -	पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति	पृ0 16।
2 -	द्रष्टव्य -	वही	पृ0 9।
3 -	द्रष्टव्य -	वही	पृ0 16।
4 -	द्रष्टव्य -	वही	पृ0 53।

इस व्याख्या में सिद्धान्तांश और साधनांश पर बराबर बल दिया गया है । 'योग' संबन्धी जितने भी विषयों का उल्लेख 'योगसूत्रों' में किया गया है उन सभी विषयों की उचित व्याख्या इस व्याख्या में की गई है । व्याख्याकार ने 'विज्ञानवाद' तथा 'दृष्टिसृष्टिवाद' का खण्डन किया है । यह खण्डन कैवल्यपाद के 15वें और 16वें सूत्र में किया गया है । 'कैवल्य' के स्वरूप का निरूपण करते हुए इन्होंने कैवल्य संबन्धी वैशेषिक, और नैयायिक मतों की तुलना 'योग' में प्रतिपादित कैवल्य के स्वरूप से की है । 'योग' के अनुसार 'कैवल्य' का तात्पर्य है 'एकाकिता' जब गुणों से पुरुष वियुक्त हो जाता है तब सदा के लिए वह प्रतिबिम्बरूप उपाधि से वियुक्त होकर स्वरूपावस्थित हो जाता है । पुरुष का स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही उसका कैवल्य है । वैशेषिकों के अनुसार आत्मा का गुणों से पूर्ण रूप से विमुक्त हो जाना 'मोक्ष' है और नैयायिकों के अनुसार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है[2] । इस प्रकार तुलनात्मक विवेचन के साथ 'कैवल्य' का निरूपण किया गया है ।

पूरी व्याख्या के संबन्ध में यह कहना उचित ही है कि व्याख्या में अनावश्यक विस्तार नहीं है । यह व्याख्या तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करती हुई चलती है । इसीलिए किंचित् विस्तृत हो गई है परन्तु वर्ण्यविषय की बोधगम्यता और सरसता के कारण यह व्याख्या भी विद्वानों के बीच उतनी ही लोकप्रिय है जितनी योगवार्त्तिक, राजमार्तण्डवृत्ति और मणिप्रभा आदि हैं । शैली में प्रवाहमयता है ।

---

1 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 93, 94 ।

2 - "कैवल्यमेकाकिता, - - - - पुरुषस्य तु स्वरूपप्रतिष्ठा, सदा प्रतिबिम्बरूपोपाधिना वियुक्ता चिच्छक्तिरवस्था तत्कैवल्यमित्यर्थः ।" - - - - येऽप्यात्मनि अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वदन्ति वैशेषिकाः तदपि नास्माकं विरुद्धम् - - - - - - - आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इति नैयायिकाः ।" — वही पृ० 103, 104 ।

मणिप्रभा

'मणिप्रभा' की भाषा-शैली सरल है । इसमें उद्धरणों का प्रयोग पर्याप्त रूप में विद्यमान है । उद्धरण अधिकतर स्मृति, महाभारत, और विष्णुपुराण में से लिए गए हैं । प्रथमपाद के 25वें सूत्र में वायुपुराण से उद्धरण देकर ईश्वर में सर्वज्ञता के बीज का निरतिशय होना सिद्ध किया गया है । यथा — " सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥ "

" ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसंबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ।"

" अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेदित्यादि ॥"[1]

इन्होंने ईश्वर को पुरुष विशेष सिद्ध करने के लिए अन्त में यह भी कहा है कि "ईश्वर" ब्रह्मादि देवताओं से भी विशिष्ट है । ऐसी बात न तो व्यास ने, न तत्त्ववैशारदीकार ने और न ही योगवार्त्तिककार और वृत्तिकार भोज ने ही कही है । प्रथम-पाद के 28वें सूत्र की व्याख्या में किसी स्मृति का श्लोक उद्धृत हुआ है । यथा — "स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याय-योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥"[2]

द्वितीयपाद के 42वें सूत्र की व्याख्या में महाभारत से उद्धरण लिया गया है । तृतीय-अध्याय के प्रथम सूत्र को स्पष्ट करने के लिए 'विष्णुपुराण' में से 14 पंक्तियों को उद्धृत किया गया है[3] । इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर

---

1 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ० 14 ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ० 15 ।

3 - द्रष्टव्य - वही पृ० 50 ।

विभिन्न उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि व्याख्याकार श्री रामानन्दयति पुराणों, महाभारत और गीता से बहुत प्रभावित हैं ।

दिए गए उद्धरणों में से कुछ उद्धरण तो अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक बनते हैं, जैसे प्रथम-पाद के 25वें सूत्र की व्याख्या में दिए गए उद्धरण से ईश्वर में सर्वज्ञत्व के निरतिशय रूप का विशद वर्णन प्राप्त होता है । किन्तु कुछ उद्धरण इतने विस्तृत हो गए हैं कि उनसे विषय का विवेचन स्पष्ट होने के स्थान पर बड़ा बोझिल हो जाता है । यथा –

" प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥
मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रय-निःस्पृहम् ।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥
तच्च मूर्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप ।
तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ॥
प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥
- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -
- "

मणिप्रभाकार स्थान-स्थान पर भाष्यकार तथा तत्ववैशारदीकार से

- -

1 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ0 50 ।

प्रभावित दिखाई पड़ते हैं । योग के साधनों का पूरा निरूपण इन्होंने उक्त दोनों व्याख्याकारों के ही समान किया है । हाँ 'ईश्वर' के स्वरूप का वर्णन अवश्य उन लोगों से भिन्न किया है । मणिप्रभाकार योगशास्त्र को 'सेश्वरसांख्य' मानते हैं और ईश्वर को प्रकृति का प्रवर्तक स्वीकार करते हैं ।

मणिप्रभा में योग के सिद्धान्तों और साधनों पर समान रूप से ज़ोर दिया गया है । यह व्याख्या नितान्त सरल किन्तु अत्यन्त उपयोगी कोटि की कही जा सकती है । इसकी शैली व्याकरणसम्मत होने पर भी सुरस और प्रभावपूर्ण है । भाषा परिष्कृति की ओर अधिक झुकी हुई है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

नारायण तीर्थ द्वारा विरचित "योगसूत्रार्थबोधिनी" योगसूत्रों पर साक्षात्-व्याख्या है। यह व्याख्या न तो बहुत विस्तृत है और न अत्यन्त संक्षिप्त। नारायण-तीर्थ व्यासभाष्य से बहुत प्रभावित हैं। स्थान-स्थान पर भाष्यकार के दिए गए उदाहरणों को ही उद्धृत कर दिए हैं। यथा-प्रथमपाद के 41वें सूत्र में स्फटिकमणिका उदाहरण भाष्य से ही लिया गया है। इसी तरह अन्य स्थानों पर भी भाष्य के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अन्य विद्वानों की भाँति प्रस्तुत व्याख्याकार ने भी व्याख्या के बीच-बीच उदाहरणों का बहुत प्रयोग किया है। उदाहरण वायु पुराण, गीता आदि में से लिए गए हैं। प्रथम-पाद के 19वें सूत्र की व्याख्या में वायुपुराण से उदाहरण दिया गया है। व्याख्या बिना उदाहरण के भी पूर्ण थी परन्तु व्याख्याकार ने उदाहरण देना आवश्यक समझ कर विस्तार किया है। ~~इस स्थल में~~ उदाहरण से अर्थ की पुष्टि में न तो कोई विशेष सहायता मिलती है न कोई बाधा होती है ही।

फिर भी भाष्यकार, तत्त्ववैशारदीकार तथा योगवार्तिककार की तुलना में नारायण-तीर्थ ने उदाहरणों का बहुत ही कम प्रयोग किया है। भाषा सरल है पर साहित्यिक नहीं है। व्याख्या स्पष्ट है। रुचिकर है। वाक्य छोटे-छोटे तथा सरलता से समझने योग्य हैं। नारायण तीर्थ की दोनों व्याख्याओं पर "मणिप्रभा" का पर्याप्त प्रभाव है। किसी-किसी सूत्र की व्याख्या तो मणिप्रभा से इतनी समानता रखती है कि पढ़कर यही लगता है कि "सूत्रार्थबोधिनी" और "योगसिद्धान्तचन्द्रिका" स्थल-स्थल पर मणिप्रभा की एकदम प्रतिरूप हैं।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

यह व्याख्या सूत्रार्थबोधिनी की तुलना में विस्तृत तथा किंचित् कठिन है । व्याख्या केवल चतुर्थपाद के तीसरे सूत्र तक की है । इसमें उद्धरणों का बाहुल्य और आकर ग्रन्थों के हवालों की भरमार है । उद्धरण भी प्रायः पद्मपुराण, लिंग पुराण, स्कन्द पुराण आदि से संकलित हुए हैं । किन्तु इस कलेवरवृद्धि के बावजूद 'योग सिद्धान्त चन्द्रिका' में 'सूत्रार्थबोधिनी' व्याख्या से अधिक कोई शास्त्रीय बात नहीं जानी जा सकती । हाँ साधना पर अधिक ज़ोर इस व्याख्या में दिया गया है । इस कारण योग की साधना करने वाले लोगों के लिए इस व्याख्या का विशेष महत्व है । प्राणायाम, और ध्यान आदि योगांगों पर अन्य व्याख्याओं में दुर्लभ सामग्री का संग्रह इस सिद्धान्त चन्द्रिका में देखने को मिलता है । बहुत संभव है नारायण तीर्थ ने योगशास्त्र के सिद्धान्तों का व्याख्यान करने के लिए पहले सूत्रार्थ बोधनी व्याख्या लिखी हो और बाद में साधना के लिए उपयोगी तत्वों का सविस्तर वर्णन करने के लिए 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' व्याख्या लिखी हो ।

इन दोनों व्याख्याओं की शैली में कोई भेद नहीं है । विचार समान होना स्वाभाविक ही है । अतः यह प्रश्न स्वतः उठता है कि एक ही तरह की दो व्याख्याएँ लिखने का क्या प्रयोजन रहा होगा । 'सूत्रार्थबोधिनी' में योगसूत्र के चारों पादों में जितने सूत्र हैं सब पर व्याख्या उपलब्ध होती है । किन्तु योग-सिद्धान्तचन्द्रिका' में केवल 4/3 सूत्र तक ही व्याख्या प्राप्त होती है और अन्त में यह वाक्य लिखा मिलता है " एतावनेव ग्रन्थः उपलब्धः " । अतः हो सकता है व्याख्याकार ने इस पाद के सभी सूत्रों की भी व्याख्या लिखी हो परन्तु किसी तरह शेष सूत्रों की व्याख्याएँ नष्ट हो गई हों या फिर इसकी व्याख्या के अनन्तर नारायण-तीर्थ दिवंगत हो गए हों जिससे कि आगे लिख ही न सके हों ।

भास्वती .

" भास्वती" योगसूत्रों ' और 'योगभाष्य' पर आधुनिकअध्येताओं की उपयोगिता की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण व्याख्या है । तत्त्ववैशारदी और योगवार्तिक के पश्चात् भाष्य और तद्द्वारा सूत्रों पर लिखी गयी यह तीसरी व्याख्या है । सरलीकरण इसकी सबसे बड़ी विशेषता है । सिद्धान्तप्रदर्शन या शास्त्रीययुक्तियों का हवाला देना - ये दोनों बातें इस व्याख्या में नहीं मिलती । इसमें साधनाओं पर अधिक ज़ोर दिया गया है । 'योग का लक्षण प्रतिपादित करने के उपरान्त योग प्राप्ति के उपायों का विस्तृत एवं विशद विवेचन किया गया है । योग के आठों साधनों का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया गया है । इन साधनों का अनुष्ठान करने वाले योगियों की विशिष्टअनुभूतियों से लाभ उठाया गया है । उदाहरणार्थ समाहित - चित्त वाले साधकों को योग की प्राप्ति अभ्यास और वैराग्य नामक योग के साधनों के अनुष्ठान से ही हो जाती है ।

परन्तु व्युत्थितचित्तवाले साधकों के लिए क्रिया योग का आचरण अत्यावश्यक है । क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को क्षीण करने के उपरान्त व्युत्थित-चित्त वाले साधक भी अभ्यास, वैराग्य से ही योग को प्राप्त करते हैं । अन्त में वे साधक जो उक्त दोनों साधकों की तुलना में अवरकोटिक हैं उनके लिए यमनियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की अनुष्ठान करने के उपरान्त धारणा, ध्यान और समाधि का अनुष्ठान बतलाया गया है जिसके द्वारा मन्द अधिकारियों को भी योग की प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार पूरे योगदर्शन में 'योग' के साधनों का ही विशेष उल्लेख प्राप्त होता है ।

वास्तव में योग का व्यावहारिकज्ञान ही तो उपयोगिता की दृष्टि से सर्वोत्तम है । अतः इसे सभी श्रेणियों के साधकों के लिए सुलभ बनाने के हेतु विभिन्न साधनों का अलग निरूपण आवश्यक है । स्वामी हरिहरानन्द जी स्वयं योग के साधक थे अतः योग के सारे रहस्यों को खोलने वाली व्याख्या लिख कर उन्होंने विद्वानों और साधकों को योग संबन्धी जिज्ञासाओं को शान्त किया और योग की साधना के मार्ग को प्रशस्त किया है ।

'भास्वती' की भाषा में अन्तर्बोध की उत्कट सरसता है । इसमें सूत्र और भाष्य की पंक्तियों के सारे रहस्यों को खोल कर रख दिया गया है । जिससे सूत्रों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है । इनकी शैली स्पष्ट बोधपरक एवं सुव्यवस्थित प्रधान है । आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में सूक्ष्मतम् योग के तथ्यों का स्पष्ट विवेचन भास्वती में ही प्राप्त होता है ।

'भास्वती' भोजवृत्ति की तरह केवल योगसूत्रों पर स्वतन्त्र वृत्ति नहीं है यह सूत्रों को उद्धृत और व्याख्यात करते हुए भाष्य की भी विस्तृत और विवेचनात्मक व्याख्या है । इसमें भी विषय विवेचन को पुष्ट करने के हेतु श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों से उद्धरण दिए गए हैं । ये उद्धरण संख्या में अधिक अवश्य हैं परन्तु इनसे व्याख्या कहीं भी सम्बद्ध नहीं हुई है । अनेक उद्धरणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि स्वामी हरिहरानन्दने श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और उपनिषदों का गहन अध्ययन किया था ।

प्रथमपाद के 11वें सूत्र और भाष्य की व्याख्या को सुदृढ़ करने के लिए स्मृति से उद्धरण दिया गया है :

" तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा वेदना ध्रुवा ।
सुख दुःखेति यामाहुरदुःखा सुखवेति च ।।"

प्रथम-पाद के ही 17 वें सूत्र की व्याख्या में वे उद्धरण देते हैं — " विचारो ध्यायिनां युक्तः सूक्ष्मार्थाधिगमो यत " इसी प्रसंग में किसी स्मृति से भी उद्धरण दिया गया है :—

" इन्द्रियाणि मनश्चैव यथा पिण्डीकरोत्ययम् ।
स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत ।।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ।
न तत् पुरुषकारेण न च दैवेन केन चिद् ।।
सुखमेष्यति तत्तस्य यथैव संयतात्मनः ।
सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि ।। "

वे, 24वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में श्वेताश्वतर उपनिषद से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं :—

" ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति " इति ।

प्रथम अध्याय के 25वें सूत्र तथा भाष्य की व्याख्या में ऋग्वेद में से उद्धरण दिया गया है :—

" हिरण्यगर्भः समवर्ततांग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीद " इति ।

स्वामिनारायणभाष्य

व्याख्याकार ने सूत्रों की व्याख्या अत्यन्त विस्तार के साथ किया है । सूत्रों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार विषय को भूल जाते हैं और अन्यान्य अनावश्यक बातों का उल्लेख अत्यन्त विस्तार के साथ करते हैं । जिससे सूत्रों में निहित सिद्धान्त स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट ही रह जाते हैं । पाठक इसकी व्याख्या पढ़ने से ऊब जाता है । भाषा न तो सरल है और न ही अनावश्यक विस्तार के कारण प्रसादगुण तथा स्पष्टीकरण की क्षमता से सम्पन्न है । उदाहरण के लिए योग सूत्र के प्रथम सूत्र का ही व्याख्यान लीजिए, इस सूत्र की व्याख्या अन्य आचार्यों ने अतिसंक्षिप्त और सरल रीति से की है, जब कि श्री कृष्ण वल्लभाचार्य ने इस सूत्र की व्याख्या पूरे 9 पृष्ठों में की है । यहाँ पर प्रकृति, त्रिगुण प्रमाण

और अभ्यास-वैराग्य – इन सभी का विवेचन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। जिनकी अभी आवश्यकता नहीं है। इन सबसे संबन्धित सूत्र जो आगे आते हो हैं, अतः उस समय उनका विवेचन न्याय-संगत तथा उचित होगा। इसकारण स्थल-स्थल पर यह व्याख्या अत्यन्त अरुचिकर और बोझिल होने हो गयी है।

इतना होने पर भी यह व्याख्या योगसूत्रों को विस्तार से समझने के लिए लाभप्रद है। विषय का विवेचन विस्तृत भले ही हो किन्तु उतना संतोषप्रद नहीं हुआ है जितना कि व्यासभाष्य में, तत्त्ववैशारदी में या योगवार्तिक आदि में हुआ है। व्याख्या में गम्भीर चिन्तन का प्रायः अभाव है। व्यास भाष्य में विषयों का विवेचन बहुत ही गम्भीरता से किया गया है, इसके अतिरिक्त तत्त्ववैशारदी-कार ने तो विषय का विवेचन भाष्यकार से भी अधिक गम्भीरता के साथ किया है। शायद ही कोई विषय इनकी विस्तृत विचार पद्धति से छूटा हो।

व्यवहारों के दोनों पृथक सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा

एवं शास्त्रीय संगति का निर्णय

इन अनेक व्याख्याओं में योगसूत्रों के सारे रहस्य खोले गए हैं । किसी व्याख्या में किन्हीं सूत्रों का उत्तम स्पष्टीकरण एवं विवेचन हुआ है तो अन्य में अन्य सूत्रों का । योगसूत्रों के समग्र विषयों पर इन व्याख्याओं का अपनी-अपनी दृष्टि से विश्लेषण एवं विवेचन है । कहीं पर एक व्याख्याकार का दूसरे व्याख्याकार से मतभेद है और कहीं पर अनेक व्याख्याकारों का मतैक्य । इन सारे तथ्यों का सम्पूर्ण रूप से आकलन एवं पर्यालोचन करने के लिए प्रत्येक सूत्र से संबद्ध व्याख्याओं के मतभेदस्थलों एवं मतैक्यस्थलों का निर्देश करते हुए विषय-विवेचन करना आवश्यक है । किन्तु प्रत्येक सूत्र के लिए सब व्याख्याओं का नामोल्लेख करने पर बड़ी पुनरुक्ति होगी क्योंकि अनेक विषय योगशास्त्र में ऐसे आए हैं जिनमें एक से अधिक सूत्र लिखे गए हैं । इसलिए इस शोधप्रबन्ध में सूत्र के स्थान पर एक-एक विषय को लिया गया है और उस-उस विषय के लिए जितने सूत्र योगशास्त्र में प्रयुक्त हुए हैं, उन सब सूत्रों की व्याख्याओं का एकत्र आकलन किया गया है । साथ ही तत्तद् विषय पर समस्त व्याख्याओं की शास्त्रसंगति एवं अपेक्षित परीक्षा की ओर इंगित करते हुए पूरा विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है । विषयों की प्रस्तुति का क्रम वही रखा गया है, जो महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रों के लिए स्वीकृत किया है । इस पद्धति से जहाँ योगसूत्र के चारों पादों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों का क्रमशः अनुशीलन हो जाता है वहीं इन समस्त व्याख्याओं की सैद्धान्तिक समीक्षा भी साकल्येन सम्भव हो जाती है ।

'योग' का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है [1] । चित्तवृत्ति निरोध को ही समाधि भी कहा गया है । अब शंका उठती है कि क्या 'योग' 'समाधि' का पर्यायवाची है ? प्रस्तुत शंका का समाधान व्यास ने अधोलिखित प्रकार से किया है । चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमियाँ हैं । इन पाँचों भूमियों में चित्त-वृत्ति-निरोध यत्किंचित् मात्रा में होता ही रहता है । बिना प्रयास किए ही होने वाला यह वृत्तिनिरोध अल्पकालिक होता है और नैसर्गिक रूप से थोड़ी देर चलता है फिर जीवन के कार्य कलापों के कारण खण्डित भी होता रहता है । इस वृत्तिनिरोध का मोक्ष प्राप्त करने में कोई योगदान नहीं होता अतः योग की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं होता । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्त की सभी भूमियों में होने वाला वृत्तिनिरोध 'योग' नहीं है । केवल एकाग्र तथा निरुद्ध नामक भूमियों में होने वाला चित्तवृत्ति निरोध 'योग' है । इसीलिए यह कहा गया है कि सभी समाधियाँ अर्थात् सभी वृत्तिनिरोध योग नहीं हैं, केवल कुछ विशिष्ट समाधियाँ ही 'योग' हैं । यह विशिष्ट समाधियाँ कौन हैं ? चित्त की एकाग्र और निरुद्ध भूमियों की समाधि ही क्रमशः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात कही जाती है और यही दोनों योग हैं । चित्त की एकाग्र भूमि में ध्येय वस्तु का पूर्ण वास्तविक ज्ञान हो जाता है [2], केवल राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, अतः एकाग्र भूमि में हुई समाधि को 'सम्प्रज्ञातयोग' कहा जाता है । निरुद्ध भूमि में चित्त की सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है [3] । केवल निरोध-संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यह असम्प्रज्ञातयोग है । 'असम्प्रज्ञातयोग' में किसी भी वस्तु का किसी प्रकार का ज्ञान बुद्धि को नहीं होता । इसीलिए इसको 'असम्प्रज्ञातयोग' कहते हैं ।

- -

1 - " योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।" योगसूत्र 1/2 ।
" तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।" वही 1/3 ।

2 - " यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्म-बन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते ।"
व्यासभाष्य पृ0 [illegible]

3 - " सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिः ।" वही पृ0 [illegible]

तत्त्ववैशारदी

भाष्यकार की भाँति वाचस्पतिमिश्र ने भी 'योगः समाधिः' को मान्यता को स्वीकार किया है । वाचस्पतिमिश्र ने अपनी व्याख्या में 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति को समझाते हुए कहा है कि 'योग' शब्द 'युजसमाधौ' धातु से निष्पन्न है और यहाँ 'समाधि' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । अब शंका यह उठती है कि समाधि तो योग का अंग है और योग उसका अंगी है फिर योग को समाधि कैसे कहा जा सकता है ? इस शंका का समाधान यह है — चूँकि योग शब्द 'युज् समाधौ' धातु से उत्पन्न है, अतः 'योगः समाधिः' कहा जाता है । सूत्र के अनुसार योग शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ तो 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही है । 'समाधि' तो योग का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ है, प्रवृत्तिनिमित्तक नहीं । प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ उसे कहते हैं जिस अर्थ में कोई शब्द प्रयुक्त होता है, अर्थात् उस शब्द का वाच्यार्थ । यही अर्थ प्रवृत्तिलभ्य अर्थ या शक्यतावच्छेदक भी कहा जाता है । अतः 'योग' शब्द का वाच्यार्थ चित्तवृत्तिनिरोध है, समाधि नहीं । जैसे 'गौ' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'गच्छति इति गौः', जो चले या जाये वह 'गौ' है । किन्तु यह प्रवृत्ति-निमित्तक अर्थ नहीं है । 'गौ' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ है सास्नादिमान् पशु । प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ ही किसी पद का वास्तविक अर्थ होता है । इसलिए 'योग' का वास्तविक अर्थ हुआ 'चित्तवृत्तिनिरोध', न कि समाधि । वस्तुतः वाचस्पतिमिश्र भाष्य प्रयुक्त इस 'समाधि' शब्द से केवल योगांगभूत-समाधि का ही ग्रहण करते हैं और इसलिए योग और समाधि को पर्यायवाची नहीं मानते । उनकी दृष्टि में समाधि अंग है और योग अंगी । इसलिए दोनों की भिन्नार्थकता स्वतः सिद्ध है, अभेदोपचार से भले ही 'योगः समाधिः' कह दिया जाये[1] ।

- -

1 - "व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रभिधानं येनयुयोगः समाधिरिति अंगांगिनोरभेद विवक्षामात्रेण । प्रवृत्तिनिमित्तं तु योगशब्दस्य चित्तवृत्तिनिरोध एवेति परमार्थः ॥"

त०वै० पृ० ३ ।

इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि क्या 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही योग है और क्या चित्त की क्षिप्तादि भूमियों में होने वाला निरोध भी योग है ? इसका उत्तर यह है कि केवल एकाग्र और निरुद्ध नामक भूमियों में होने वाला निरोध ही योग है । इन दोनों भूमियों में ही मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम की योग की अवस्थाएँ आ जाती हैं । 'एकाग्रभूमि' में मधुमती 'मधुप्रतीका और विशोका तथा 'निरुद्ध' भूमि में संस्कारशेषा अवस्था की स्थिति होती है । अतः योग का लक्षण यह हुआ कि चित्त की जिस विशेषअवस्था में प्रमाणादिवृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है वह अवस्थाविशेष ही 'योग' है ।[1] यद्यपि चित्तवृत्तियों का निरोध ही परमार्थतः योग है तथापि सभी प्रकार के चित्तवृत्तिनिरोध को योग नहीं माना जा सकता है । वस्तुतः जिस चित्तवृत्तिनिरोध में क्लेश-कर्मादि की निवृत्ति हो सके उस चित्तवृत्तिनिरोध को ही 'योग' कहा जा सकता है । इसलिए निर्गलितार्थ यह हुआ कि क्लेश और कर्माशयों का परिपन्थी चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है ।[2] योग के दो भेदों सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात को वाचस्पतिमिश्र ने भी स्वीकार किया है ।

- -

1 - " निरुध्यन्ते यस्मिन्प्रमाणादिवृत्तयोऽवस्थाविशेषे चित्तस्य सोऽवस्थाविशेषो योगः ।"

— ता० वै० पृ० १० ।

2 - " क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थी चित्तवृत्तिनिरोधस्तु तमपि संगृह्णाति।"

— वही पृ० १० ।

राजमार्तण्डवृत्ति

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध ये चित्त की भूमियाँ या अवस्थाएँ हैं। क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त नामक अवस्थाओं में चित्त सांसारिक विषयों में ही भटकता रहता है, अतः चित्त की ये भूमियाँ योग के लिए उपयोगी नहीं मानी गयी हैं। चित्त की एकाग्र और निरूद्ध भूमि में वृत्तियों का जो निरोध होता है उसे 'योग' कहते हैं।[1]

चित्त की एकाग्र भूमि में चित्त की बाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है। बाह्यवृत्तियों से तात्पर्य सभी प्रकार के सांसारिक विषयों से उत्पन्न राग, द्वेषयुक्तवृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ राजस और तामस गुणयुक्त होती हैं अतः यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है।

निरूद्धावस्था में चित्त की सात्त्विकवृत्ति का भी नाश हो जाता है और चित्त प्रतिलोमपरिणाम द्वारा अर्थात् विलय की प्रक्रिया द्वारा अव्यक्त में लीन हो जाता है। निरूद्धावस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों और उनसे वृत्तियों के संस्कारों का लय अव्यक्त में हो जाता है। इस प्रकार इन दो बाद की भूमियों में हुआ चित्तवृत्ति निरोध ही 'योग' है।[2]

- -

1 - 'एकाग्रे' बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरूद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः।"

रा०मा०वृ० पृ० 4।

2 - चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभाव परिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते।"

- वही - पृ० 4।

भोज ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' में सर्व शब्द के अप्रयोग को लेकर कोई विवेचन नहीं किया है जब कि व्यास, वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु सबने इससूत्र में वृत्ति के पूर्व 'सर्व शब्द' का प्रयोग न होने के कारण 'सम्प्रज्ञात' का योगत्व सिद्ध करते हुए इस संदर्भ की व्याख्या को आगे बढ़ाया है । भोज ने संप्रज्ञात-योग असंप्रज्ञात-योग का नाम निर्देश नहीं किया है परन्तु एकाग्र और निरुद्धावस्था में हुए चित्तवृत्तिनिरोध से स्वयमेव संप्रज्ञात और असंप्रज्ञातयोग की उक्त प्राप्तता स्वीकार की है[1] ।

विवरण

चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है[2] । चित्त की क्षिप्तादि भेद से पाँच प्रकार की भूमियाँ मानी गयी हैं जिनमें से केवल एकाग्र और 'निरुद्ध' भूमि में किया गया वृत्तिनिरोध ही 'योग' माना जाता है । एकाग्र भूमि में चित्त की राजस और तामस रूप अविद्या, राग, क्लेश और कर्मादि वृत्तियों का निरोध होता है तथा चित्त में केवल सात्विकवृत्ति अवशिष्ट रह जाती है । सात्विक वृत्ति का स्वरूप ज्ञानात्मक तथा प्रकाशात्मक है । अतः केवल इस वृत्ति के रहने के कारण ही इस समाधि में ध्येय-विषय का सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है और यही कारण है कि इस समाधि का नाम 'संप्रज्ञात-समाधि' है । जब कि सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब असंप्रज्ञात-समाधि होती है । इस समय बुद्धि के माध्यम से चितिशक्ति को कोई भी बौद्धिक ज्ञान नहीं होता ।

- -

1 - "अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति ।" रा० मा० वृ० पृ० 8 ।

2 - "चित्तवृत्तिनिरोधलक्षण इति वा वक्तव्यम् । नैष दोषः लक्ष्ये लक्षणाध्यासात् ।"

विवरण - पृ० 9 ।

योगलक्षणप्रतिपादक "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" सूत्र योग की परिभाषा की दृष्टि से बहुत सार्थक तथा उचित है क्योंकि यदि सूत्र में " सर्वचित्तवृत्ति-निरोधः" होता तो केवल असंप्रज्ञात-समाधि को ही "योग" माना जाता परन्तु सूत्र में 'सर्व' शब्द का अप्रयोग यह निर्विवाद रूप से सिद्ध करता है कि सम्प्रज्ञात-समाधि भी 'योग' है । इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा उक्त दोनों समाधियों का 'योग' के अन्तर्गत अन्वयन हो जाता है जो सर्वथा उचित है ।

योगवार्त्तिक

विज्ञानभिक्षु ने भी वाचस्पति मिश्र की भाँति 'योग' शब्द को 'युज्समाधौ' धातु से व्युत्पन्न माना है । चित्त की भूमियों के बारे में भाष्यकार के ही समान वार्त्तिककार ने भी क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच भूमियाँ मानी है । यत् किंचित् निरोध चित्त की सभी भूमियों में होना भी स्वीकार किया गया है । अतः उक्त भाष्यकार की भाँति वार्त्तिककार ने भी समाधि को चित्त का सार्वभौम धर्म माना है । इनमें से एकाग्र और निरुद्ध भूमि में होने वाली समाधि को ही 'योग' कहा जा सकता है । चित्त की वृत्तियों के बारे में वार्त्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र के समान ही प्रमाणादिवृत्तियों का उल्लेख किया है और लिखा है कि चित्त की प्रमाणादि वृत्तियों का निरोध ही 'योग' है । निरोध का तात्पर्य है वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना[1] । यहाँ पर वार्त्तिककार का विवेचन उक्त दोनों विद्वानों से भिन्न रूप का है । भाष्यकार और वाचस्पतिमिश्र ने निरोध का अर्थ 'रोकना' लिया है जब कि विज्ञानभिक्षु ने अधिकरण में लीन हो जाना किया है । विज्ञानभिक्षु का कहना है कि निरोधकाल में वृत्तियाँ एकदम से नष्ट नहीं हो जातीं और न ही उनका अभाव हो जाता है प्रत्युत वे अपने कारण में लीन हो जाती हैं । चित्तवृत्तियों का जो निरोध

- -

1- " वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था । "अभावस्याधिकरणा-वस्थाविशेषमात्रत्वात्, निरुद्धाःमेऽद्यागतवस्थायामिति वक्ष्यमेव । "

- यो०वा०सू० 7 ।

पुरुष की आत्यन्तिकस्वरूपावस्थिति का हेतु बनता है उसे 'योग' कहते हैं ।

'संप्रज्ञात' योग के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं 'सम्यक् प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योगे इति सम्प्रज्ञातो-योगः ।[1]' जिस योग में ध्येय विषय का साक्षात्कार होता रहता है वह सम्प्रज्ञात-योग है। जब इस साक्षात्काररूपिणीवृत्ति का भी निरोध हो जाता है उस योग को असम्प्रज्ञात—योग कहते हैं । इस योग में कुछ भी ज्ञात नहीं होता इसीलिए इसका नाम असम्प्रज्ञात है 'न किंचिदस्मिन्योगे ज्ञायत इति विग्रहेणासम्प्रज्ञातनामा चेति वाक्यार्थः ।[2] " इस असम्प्रज्ञात की स्थिति में बुद्धि के माध्यम से होने वाले सारे ज्ञानों का अभाव होने पर भी 'ज्ञ' रूप पुरुष प्रकाशस्वरूप ही स्थित रहता है उसका 'चैतन्य' स्वभाव नहीं बाधित होता भले ही उसका दृश्य विषय कुछ न हो । वह अपने विषय रहित चैतन्य स्वरूप में अवस्थित रहता है ।[3]

- -

1 - द्रष्टव्य - यो0वा0पृ0 7 ।

2 - द्रष्टव्य - - वही - पृ0 15 ।

3 - "तदासम्प्रज्ञातकाले द्रष्टुः चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे निर्विषय चैतन्य मात्रेऽवस्थानम् ।"

- वही पृ0 7 ।

योगदीपिका

अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रयत्नविशेष से निरोध ही 'योग' है । ध्येयविषय के अतिरिक्त अन्य विषयाकार चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात-योग है जब कि समस्तप्रकार की चित्तवृत्तियों का पूर्णनिरोध असम्प्रज्ञातयोग होता है । योग के द्विविध भेदों का समान महत्त्व स्वीकार करने में भावागणेश ने भाष्य का ही अनुकरण किया । वृत्तियों का उत्कर्ष विकसित होना और उनका निर्वर्तन होना अर्थात् सिकुड़ते हुए निवृत्त हो जाना ही 'योग' है । यह लक्षण दोनों योगभेदों पर लागू होता है ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

विशेषयत्न के द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का निग्रह ही 'योग' है । भावागणेश ने वृत्ति के निवर्तन को वृत्तिनिरोध या योग स्वीकार किया था नागोजीभट्ट ने भी शब्दों का थोड़ा और हेर फेर करते हुए योग का यही लक्षण प्रस्तुत किया है । ये वृत्ति-निग्रह को वृत्तिनिरोध कहते हैं । सम्प्रज्ञात में राजस और तामस वृत्तियों के निरोधसंस्कार और सात्त्विक वृत्ति अवशिष्ट रहती है । असम्प्रज्ञात में सात्त्विकवृत्ति के भी निरोध के कारण चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही रह जाते हैं । यही चित्त की संस्कारशेषावस्था कही जाती है ।[2]

- -

1 - '' चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयः तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः । प्रयत्नविशेषाच्चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुर्न तु वृत्त्यभाव एव । ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः अन्यस्तु सर्ववृत्तिनिरोधः । ''

2 - '' साधावस्था तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा न तु वृत्त्यभाव एव । ''
- पा०यो०सू०वृ० 3 ।

मणिप्रभा

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध योग है । इसीलिए यद्यपि सम्प्रज्ञातसमाधि में रजोगुण तथा तमोगुण युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल सात्विकवृत्ति अवशिष्ट रहती है । फिर भी सम्प्रज्ञातसमाधि में योग का उक्त लक्षण अव्याप्त नहीं है । असम्प्रज्ञात-योग में चित्त की सात्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है । इस समाधि में बुद्धि के माध्यम से कुछ भी ज्ञात नहीं होता[2] । क्योंकि असम्प्रज्ञातयोग की अवस्था में बुद्धि द्वारा दर्शितविषयों से चिति-शक्ति का कोई सम्पर्क नहीं रह जाता है । वस्तुतः बुद्धि सात्विकवृत्तिरहित होने के कारण संस्कार शेषावस्था में रहती है फलतः कोई विषय चितिशक्ति को प्रदर्शित ही नहीं कर सकती । इसलिए चितिशक्ति का बुद्धिवृत्ति के साथ सम्पर्क सर्वथा असम्भव हो जाता है[3] । उस स्थिति में चितिशक्ति केवल अपने स्वरूप में स्थित रहती है ।

सूत्रार्थबोधिनी

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध ही योग है । वस्तुतः व्याख्या में 'निरोध' का अर्थ 'प्रतिलोमपरिणामेनोपशमः' किया गया है[3] । विलय की प्रक्रिया के द्वारा अव्यक्तावस्था को प्राप्त होते जाना, 'प्रतिलोमपरिणाम' है । वृत्तियों के प्रतिलोमपरिणाम की चरमावस्था ही उनका उपशम है । इस प्रकार उपशम का अर्थ हुआ वृत्तियों का पूर्ण रूप से शान्त हो जाना ।

- -

1 - " चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां निरोधो 'योग' इत्यर्थः । "
— मणिप्रभा पृ0 2 ।

2 - " सोऽयमसम्प्रज्ञातसमाधिः । अत्रहि न किंचित् प्रज्ञायत इत्यलम् । "
— वही पृ0 3 ।

3 - " चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां सत्वमयानां निरोधः प्रतिलोमपरिणामेनोपशमो योग इत्यर्थः । "
— सूत्रार्थबोधिनी पृ0 2 ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका –

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों समाधियाँ योग के अन्तर्गत आती हैं। इस व्याख्या में नारायण-तीर्थ ने अपनी सूत्रार्थबोधिनी में प्रस्तावित योग के लक्षण का विस्तृत विवेचन किया है। 'निरोध' का स्वरूप वृत्तियों का उपशम है। उस उपशम को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया गया है जैसे इन्धनरहित अग्नि अपनी कारणावस्था को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार वृत्तियाँ भी अपनी कारणावस्था में संस्काररूप से लीन हो जाती है। इस प्रकार के लक्षण की पुष्टि कूर्मपुराण में आयी हुई भगवानशिव की उक्ति से तथा गीता में भगवान कृष्ण के वचन से की गई है।[1] नारायण-तीर्थ ने असम्प्रज्ञात-योग को 'महायोग' की भी संज्ञा दी है। इसे ध्येय-विषयरहित्य के कारण 'निरालम्ब' समाधि भी कहा है। इनकी दृष्टि में असम्प्रज्ञात-योग ही 'राजयोग' है और उसी योग को सूत्रकार के योगलक्षण का प्रमुख लक्ष्य सिद्धान्तित किया है।[2] किन्तु इस मान्यता से उभयविधयोगस्वीकार रूपी भाष्यमान्यता का विरोध नहीं होता।[3]

- -

1 - द्रष्टव्य - योगसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ0 3।

2 - " राजयोगविजिज्ञापयिषयैव लक्षणसूत्रमाह। "

- वही पृ0 3।

3 - " भाष्येण विरुध्यत इति चेन्न। सम्प्रज्ञात प्रकरण, नाम विख्याति निरवशिष्ट इत्युत्तर ग्रन्थेनविशिष्टवृत्तिनिरोधस्येव लक्ष्यत्वज्ञापनात्।"

- वही पृ0 4।

भास्वती

भास्वतीकार ने 'योग' का अर्थ करते हुए यह कहा है कि यह शब्द युज् समाधौ धातु से निष्पन्न हुआ है अतः 'संयोग' आदि इसके अर्थ नहीं हैं।[1] 'योगियाज्ञवल्क्य' आदि ग्रन्थों को अभिमत 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपर-मात्मनोः' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है – भास्वतीकार को अभीष्ट नहीं है। यह योग चित्त का पूर्ण समाधान अर्थात् चित्त का सम्यग् आधान है। सम्यग् आधान का अर्थ है ठीक से रखना। तात्पर्य यह है कि न तो चित्त रजोगुण के प्रभाव से ज़रा भी चञ्चल रहे और न तमोगुण के प्रभाव से ज़रा भी अज्ञान या आलस्यसंप्रभावित हो। चित्त की ऐसी समाहितस्थिति या निस्तरंग अवस्था चित्त की एकाग्र भूमि और निरुद्ध भूमि – दोनों में होती है। यद्यपि यह अवस्था थोड़ी बहुत चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों में भी होती है किन्तु इन भूमियों की समाधि स्वल्पकालिक एवं प्रभावहीन होने के कारण 'कैवल्य' प्रद नहीं होती[2]। अतः चित्त की एकाग्र और निरुद्ध भूमि में ही होने वाले चित्त के सम्यग् आधान या सम्यग् अवस्थान को 'योग' माना जा सकता है।

चित्त की एकाग्र-भूमि में होने वाली समाधि को सम्प्रज्ञातयोग नाम दिया गया है, क्योंकि चित्त की एकाग्र-भूमि में ध्येयविषय के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान होता है और क्लेश, कर्मादि चित्त के कषायों का क्षय होता है। 'क्षय' का अर्थ है उन कषायों का 'बन्धश्लथ' हो जाना[3]। उनको इस स्थिति तक निरुद्ध कर दिया जाता है कि वे पुनः चित्त में उदित न हो सकें।

- -

1 - "न च संयोगाद्यर्थको ऽयं योगः 'युज् समाधौ' इति शाब्दिकाः तेषांच समाधि - चित्तसमाधानार्थकः। न च तदेवार्थमन्त्रादिसूत्रलक्षितः पारिभाषिकः समाधिः। सम्यगाधानमेव शाब्दिकानां समाधानमिष्टम्। "

- भास्वती पृ० 6 ।

2 - " न च तत्कैवल्याय भवेति। " - वही पृ० 8 ।

3 - " तथा च क्षिणोति क्लेशान्, तत्त्वज्ञानस्य चेतस्युपस्थानादविद्याऽऽदीन् क्लेशान्, स योगः कर्मणो बन्धश्लथान् करोति। " - वही पृ० 9 ।

योग के द्विविध स्वरूपों को भास्वतीकार ने भी यों का त्यों स्वीकार किया है । चित्त की एकाग्र भूमि में होने वाली समाधि सम्प्रज्ञात-योग है और निरुद्ध भूमि में होने वाली समाधि असम्प्रज्ञात-योग है । 'योग' की दृष्टि से सम्प्रज्ञात-समाधि का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है । सम्प्रज्ञात- समाधि द्वारा ही चित्त के अविद्या, राग और क्लेशादि मलों का निरोध होता है और चित्त ध्येयविषय में एकनिष्ठ होने के कारण चित्त को ध्येयविषय का वास्तविक एवं पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है । सम्प्रज्ञात-समाधि की अन्तिम उपयोगिता यह भी है कि इसके सिद्ध होने पर ही सभी वृत्तियों का निरोध रूप 'असम्प्रज्ञात-योग' सम्भव होता है[1] ।

स्वामिनारायणभाष्य

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूप वाली जितनी भी चित्त की वृत्तियाँ हैं, उन सभी का उनके कारण मूल-तत्त्व बुद्धि में अर्थात् चित्त में आत्यन्तिक लय ही योग है[2] । इन वृत्तियों का आत्यन्तिक लय कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है -- जब बुद्धिवृत्तियाँ विवेकज्ञान रूपी अग्नि द्वारा दग्धबीजभावापन्न हो जाती हैं तभी उनका बुद्धि या चित्त में आत्यन्तिक विलय होता है । 'आत्यन्तिकविलय' का अर्थ है बुद्धिवृत्तियों का उनके कारण में लीन हो जाना । आत्यन्तिक-रूप से विलीन होने पर बुद्धिवृत्तियाँ पुनः उदित नहीं हो पाती अर्थात् वे दग्धबीजभावापन्न हो जाती हैं ।

- -

1 - " सम्प्रज्ञातसिद्धौ सम्प्रज्ञानस्यापि निरोधे यः सर्ववृत्तिनिरोधः स ह्यसम्प्रज्ञातो योग इति । " - भास्वती पृ0 10 ।

2 - " यावतीनां बुद्धिवृत्तीनां सात्त्विकीनां राजसीनां तामसीनाम् प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृत्यभिधानां स्वकारणे बुद्धितत्त्वे तावदात्यन्तिको लयः 'योग' इत्युच्यते ।"
— स्वामिनारायण-भाष्य पृ0 15 ।

योग के दोनों भेदों सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात का निरूपण श्री कृष्णवल्लभाचार्य ने बहुत विस्तारपूर्वक किया है । 'सम्प्रज्ञातयोग' को 'सम्प्रज्ञान' तथा 'अपरयोग' नाम से भी अभिहित किया है । असम्प्रज्ञात-योग को 'असम्प्रज्ञान' और 'परयोग' नाम दिया है[1] । इनकी दृष्टि में यद्यपि मोक्ष की प्राप्ति के लिए दोनों 'योगों' का महत्वपूर्ण स्थान है फिर भी असम्प्रज्ञात की आपेक्षिक 'उत्कृष्टता' या 'परता' को वे स्वीकार करते हैं । यमनियमादि द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त सम्प्रज्ञातसमाधि होती है जिसमें परमतत्व का ज्ञान होता है । इसी समाधि में निरन्तर स्थिति रखने पर विवेकख्याति होती है । विवेकख्याति से पुरुष और प्रकृति के रूप का यथार्थज्ञान होता है और अन्त में एक ऐसी भी स्थिति आती है जिसमें इस ज्ञान के प्रति भी वैराग्य हो जाता है और तब जो समाधि होतीहै उसे 'असम्प्रज्ञात-योग' कहते हैं । यही 'परमयोग' है । जिससे साक्षात् मोक्षलाभ होता है और इस समाधि में आरूढ़ योगी जीवन्मुक्त हो कर कैवल्यप्राप्त कर लेता है[2] ।

---

1 - " यमनियमादिसाधनजन्यत्वेसति परमयोगजनकत्वम् ' अपरयोगस्य लक्षणम् । स चायमपरोयोगः सम्प्रज्ञान इति स बीज इति च ख्यायते । परमो योगस्त्वसंप्रज्ञान इति निर्बीज इति च ख्यायते । "
— स्वामिनारायणभाष्य पृ० 16 ।

2 - " अत एव परमे योगे सतायं महायोगी जीवन्मुक्त इति भवति । "
— वही पृ० 16 ।

इस प्रकार 'योग के लक्षण' के विषय में इन सभी व्याख्याओं का विवेचन करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सूत्रानुसारी व्यासभाष्य का अभिमत ही सभी व्याख्याओं में यत्किंचित शब्दान्तर से देखने को मिलता है । तत्त्ववैशारदी में थोड़ा परिवर्तन योग और समाधि के व्याप्यव्यापक सम्बन्ध में देखने को मिलता है । भाष्य के अनुसार योग व्याप्य है और समाधि व्यापक है अर्थात् सभी योग समाधि कहे जा सकते हैं किन्तु सभी समाधियाँ योग नहीं हो सकतीं, उदाहरणार्थ-क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमि की समाधियाँ योग की कोटि में नहीं आतीं । 'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञात-समाधि भी योग नहीं मानी जाती । तत्त्ववैशारदीकार ने भी और सारी बातें तो इस वर्गीकरण की स्वीकार की है किन्तु बजाय समाधि को चित्त का सार्वभौम धर्म मानने के योग को चित्त का सार्वभौम धर्म कहा है और योग को अंगी तथा समाधि को अंग कहा है । वार्त्तिक और वार्त्तिकानुयायी सभी व्याख्याकारों ने भाष्य के वर्णन को अक्षरशः अनुमोदित किया है ।

वृत्तिनिरोध

व्यासभाष्य

योग के लक्षण का विवेचन करने से यह निश्चित हो गया है कि चित्त की सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों को रोकना ही निरोध है । पूर्ण निरोधावस्था में चित्त में केवल निरोध संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यह निरोध-संस्कार सम्प्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न ज्ञानसंस्कारों के भी विरोधी होते हैं ।[1] निरोध-संस्कारों से चित्त वृत्ति के निरोध के साथ-साथ वृत्तियों के संस्कारों का भी निरोध होता है । सम्प्रज्ञात-समाधि में आंशिक निरोध और असम्प्रज्ञात-समाधि में वृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है । एक बात यहाँ पर और भी ज्ञातव्य है कि सम्प्रज्ञात काल में वृत्तियों का जो आंशिक निरोध कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि सात्विवृत्ति पूर्ण रूप से बनी रहती है और राजस तथा तामस वृत्तियों का यहाँ पर भी पूर्ण निरोध होता है आंशिक नहीं ।

तत्त्ववैशारदी

निरोध का अर्थ वृत्तियों का अभाव हो जाना है । चित्त की वृत्तियों का अभाव ही निरोध है । सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की राजस-तामस-वृत्तियों का अभाव हो जाता है । केवल उनके निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं ।[2] वृत्तिनिरोध के फलभूत ये संस्कार निरोध-संस्कार कहे जाते हैं । इसी प्रकार

- -

1 - " प्रशान्तानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति । "
— व्यासभाष्य पृ0 132 ।

2 - " राजसतामसवृत्तिनिरोधानन्तरं ... । "
— तत्त्ववैशारदी

इसी प्रकार असम्प्रज्ञात में भी जानना चाहिए । निरोध के दो उपाय हैं अभ्यास और वैराग्य । वैराग्य द्वारा चित्त को बाह्य विषयों की तरफ उन्मुख होने से रोका जाता है । इसके पश्चात् योगाङ्गों के अभ्यास से चित्त को स्थिर किया जाता है । निरोधावस्था में व्युत्थान कालिक वृत्तियों का अभिभव होता है तथा निरोध-संस्कारों का आविर्भाव होता है । ऐसी अवस्था में चित्त निरोध-संस्कारों से अन्वित होकर निरोध-परिणाम को प्राप्त होता है । निरोध-संस्कारों से चित्त का अन्वित होना ही निरोध-परिणाम है । अब प्रश्न उठता है -- व्युत्थान-संस्कारों का निरोध कैसे होता है ? क्या चित्तवृत्तियों के निरोध से व्युत्थान-संस्कार भी निरुद्ध हो जाते हैं ? इन प्रश्नों का समाधान इन शब्दों में किया गया है । व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । चित्त इन व्युत्थान-संस्कारों का उपादान कारण है । किसी भी कार्य का नाश उसके उपादान कारण के निरोध से ही सम्भव है। अतः चित्त के निरोध से ही व्युत्थान-संस्कारों का निरोध सम्भव है । निरोध-संस्कार भी चित्त के धर्म हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्युत्थान-संस्कारों का निरोध उनके उपादान कारण चित्त के निरोध से ही सम्भव है । उनके निमित्त कारणभूत वृत्तियों के निरोध से नहीं होता । पूर्णतः वृत्ति निरोध के फलस्वरूप ही निर्बीज-समाधि होती है जिसमें जात्यादि क्लेशयुक्त कर्माशय रूप बीज चित्त में से निकल चुके रहते हैं ।

- -

1 - " निरोधस्य स्वरूपमाह -- स निर्बीज इति । क्लेश सहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोग बीजम् । तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः । "

तत्ववैशारदी पृ0 12 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके प्रतिलोम-परिणाम द्वारा चित्त की वृत्तियों को उनके कारण में लीन कर देना ही "चित्तवृत्तिनिरोध" करना है । यह चित्तवृत्तिनिरोध थोड़ा बहुत तो सभी प्राणियों के चित्त की सभी भूमियों में होता रहता है, परन्तु क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमि में हुआ चित्तवृत्ति-निरोध स्वल्पकालिक और प्रभावहीन होने के कारण समाधि के लिए उपयोगी नहीं है । समाधि के लिए केवल एकाग्र और निरुद्ध भूमि में हुआ चित्तवृत्ति-निरोध ही उपयोगी होता है । इन भूमियों में क्रमशः चित्त की राजस-तामस तथा सभी वृत्तियों एवं उनके तज्जन्य संस्कारों का विलय हो जाता है । इस प्रकार वृत्तिकार ने चित्तवृत्ति-निरोध के बारे में जो विवेचन किया है उसमें तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(1) प्रतिलोम परिणाम द्वारा चित्त की वृत्तियों का उनके कारण में लीन होना ही वृत्ति निरोध का रहस्य है ।

(2) सभी भूमियों में हुए चित्तवृत्ति निरोध को निरोध संज्ञा दी जा सकती है ।

(3) निरोध-काल में सभी वृत्तियाँ तथा संस्कार अपने कारण में लीन हो जाते हैं ।

- -

1 - "चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते ।"

रा०मा० वृ० पृ० ४ ।

विवरण

वृत्तिनिरोध के दो उपाय हैं परवैराग्य और अभ्यास।[1] इन उपायों द्वारा क्रमशः सभी चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। सभी चित्तवृत्तियों से तात्पर्य यह है कि समाधिप्रज्ञाजन्य ऋतम्भराप्रज्ञा का भी इसमें ग्रहण करना चाहिए।[2] ऋतम्भराप्रज्ञा तथा उसके संस्कारों का भी निरोध हो जाने पर चित्त में केवल निरोधसंस्कार रह जाते हैं। ये निरोध-संस्कार कैवल्य-प्राप्ति के मार्ग में बाधक नहीं होते। वृत्तिनिरोध तथा व्युत्थान-संस्कारों का निरोध करने के उपरान्त ये निरोध-संस्कार चित्त में ही पड़े रहते हैं और चित्त के साथ ही ये प्रकृति में प्रविलीन हो जाते हैं। सभी वृत्तियों, संस्कारों तथा निरोध-संस्कारों के भी अपने कारण में लीन हो जाने के उपरान्त अकेला पुरुष कैवल्य लाभ प्राप्त कर केवली हो जाता है। पुरुष को चित्त से मुक्ति इस निरोधज-संस्कारों के द्वारा ही मिलती है इसीलिए 'चित्तवृत्तिरेव मुक्तिः इति' यह कहा गया है।[4]

---

1 - "उक्तमेवोपायद्वयं परवैराग्यविरामप्रत्ययाभ्यासाभ्यां संनिरोधस्य" ।
— योगसूत्रभाष्य विवरण पृ0 11

2 - " यथैव तां समाधिप्रज्ञां ऋतम्भरां निरुणद्धि, तथैवात्मना सहजातीयानां स्वकारणप्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धीनिरोधाद्भवति । "
— वही पृ0 118

3 - " व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः व्युत्थानसमाधिप्रभवैः निरोधसमाधिप्रभवैश्च सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं अवसिताधिकारत्वात् स्वस्यां प्रकृतौ स्वकारणेऽस्मितामहाभूते प्रविलीयते प्रत्यस्तमेति । " — वही पृ0 119

4 - " तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः केवलो मुक्त इत्युच्यते, चित्तवृत्तिनिवृत्तिरेव मुक्तिः इति । " — वही पृ0 119

योगवार्तिक

वार्तिककार ने निरोध को और अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना है ।[1] लीन होने से तात्पर्य वृत्तियों का अभाव या नष्ट होना नहीं है । वृत्तियों का लय होना, चित्तरूपी अधिकरण की ही एक विशिष्ट अवस्था है । चित्तवृत्ति निरोध काल में चित्त में केवल वृत्तियों से बने हुए संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं ।[2]

योगदीपिका

चित्त की सम्प्रज्ञातकालिक वृत्तियों तथा तज्जन्य संस्कारों का अत्यन्ताभाव ही वृत्तियों तथा तज्जन्य संस्कारों का निरोध है । जब अभ्यासजन्य दृढ़ता के कारण निरुद्धवृत्तियाँ तथा संस्कार चित्त में पुनः उदित नहीं होते उस समय चित्त सभी वृत्तियों और तज्जन्य संस्कारों से रहित होकर निर्बीज-समाधि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है ।[3]

- -

1- " निरोधस्तासां तत्रालयोऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः ।"

— योगवार्तिक पृ० 12 ।

2- " वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था, अभावस्याधिकरणावस्थाविशेष मात्रत्वात्, निरुध्यन्तेऽस्यामवस्थायामिति व्युत्पत्तेश्च "।

— वही पृ० 7 ।

3- " पूर्वपूर्वासंप्रज्ञाते तावत्तावत् निरुध्यते । प्रज्ञासंस्कारस्य तानवमात्रम् । एवं क्रमेण तस्यापि प्रज्ञापूर्वसंस्कारस्याप्यसंप्रज्ञातपरम्परया निरोधे अत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमसंप्रज्ञातस्यापि निर्बीजयोगस्य पराकाष्ठा भवति। अनुत्थानेऽत्यर्थः । "

— योगदीपिका पृ० 33 ।

क्लेश और कर्मादि का निरोध हो जाने के उपरान्त साधक ज्ञानरूप सम्प्रज्ञातसमाधि में अवस्थित होता है। परवैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञातसमाधिजन्य प्रज्ञा तथा प्रज्ञाकृत संस्कारों का निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञातयोग होता है, जिसे निर्बीज-समाधि भी कहा जाता है। प्रज्ञा तथा प्रज्ञाकृत-संस्कारों का निरोध ही निरोध का प्रयोजन है। निर्बीज-समाधि द्वारा ज्ञानात्मकवृत्ति तथा ज्ञानात्मक-संस्कार पहले तनूकृत किए जाते हैं, उसके पश्चात् उनका निःशेष दाह हो जाता है जिसके फलस्वरूप प्रज्ञाकृतसंस्कार तथा प्रारब्ध-संस्कार हमेशा के लिए पुरुषार्थशून्य होकर चित्त में लीन हो जाते हैं और चित्त निरोधसंस्कारों के साथ अपने कारण अव्यक्त-तत्त्व में लीन हो जाता है। इस प्रकार निरोधसंस्कारों द्वारा प्रज्ञा, प्रज्ञाकृत-संस्कारों और प्रारब्ध-संस्कारों का नाश हो जाता है। यही निरोध का स्वरूप है।

- -

1- " स च यथायथातिशीयते तथातथा तत्त्वज्ञानधर्मसाधितसंस्कारान् संप्रज्ञातयोगजाननुकरोति। एवं पूर्वपूर्वसंस्कार सह कृततरमासंप्रज्ञातेन निःशेषतः प्रज्ञातसंस्कारदाह। ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमर्थम्। सहकारिणा वध्यत्वात्। प्राग्भवीयभोग-संस्कारा हि तत् सहकारिणः ततः पुरुषार्थसमाप्त्या चरिताधिकारं चित्तमसमाप्तभोगकेनैव प्रारब्ध कर्मणानिरोध संस्कारैश्च सह स्वकारणेऽव्यक्तं लीयते।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 34।

मणिप्रभा

चित्त की वृत्तियों की क्रियाशीलता को रोकना ही वृत्तिनिरोध है अर्थात् वृत्तियों का अवसिताधिकार हो जाना ही निरोध का स्वरूप है ।[1] निरोधावस्था में चित्त में कोई वैविध्यक प्रत्यय नहीं बन पाते । अतः न तो ज्ञानरूपा कोई वृत्ति बनती है और न ही प्रत्याकृतसंस्कार ही बनते हैं । इस प्रकार वृत्तिनिरोध के परिणामस्वरूप चित्त प्रत्ययशून्य हो जाता है, जिसमें केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं, जो अन्त में चित्त के साथ ही अव्यक्तत्व में लीन हो जाते हैं । चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है ।[2]

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

निरोध के स्वरूप का उल्लेख प्रस्तुत व्याख्या में मणिप्रभा के समान ही किया गया है । न तो निरोध के स्वरूपवर्णन में कोई मणिप्रभा से भिन्न बात कही गई है और न ही कहने के प्रकार में ही कोई नवीनता है ।

- -

1- " शब्दाद्यज्ञायास्य 'निरोधे' सति सर्वस्य प्रमाणतज्जसंस्कारप्रवाहस्य निरोधादवसिताधिकारत्वेन चित्तस्य कृत्याभावात् " ।

— मणिप्रभा पृ0 25 ।

2- "यदा चित्तस्य शान्तघोरमूढानां सर्वासां वृत्तीनां निरोधस्तदा द्रष्टुश्चिदात्मनः स्वाभाविके रूपे स्थितिः ।"

— वही पृ0 3 ।

भास्वतीकार ने निरोध के स्वरूप निरूपण में राजमार्तण्डवृत्ति के मत का ही अनुगमन किया है । उनका कहना है कि निरोध का अर्थ चित्त की वृत्तियों का उनके कारण में विलीन हो जाना है । यों तो चित्त की सभी भूमियों में यत्-किंचित् वृत्ति-निरोध होता रहता है, परन्तु इस प्रकार का वृत्तिनिरोध 'योग' के लिए सर्वथा उपयोगी नहीं होता । चित्त की सभी वृत्तियों तथा संस्कारों का पूर्ण निरोध हो जाता है, तब चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं । असम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति में ये निरोध-संस्कार भी चित्त के साथ ही अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । निरोध-संस्कारों द्वारा ही व्युत्थान-संस्कारों का अभिभव संभव होता है । चित्त के ज्ञानजन्यसंस्कारों को अन्य किसी भी उपाय से नष्ट या सर्वथाभिभूत नहीं किया जा सकता ।

- -

1 - " निरोधावस्थायां प्रत्ययहीनत्वेऽपि चेतः 'संस्कारमात्रेणावतिष्ठते, कैवल्ये तु सर्वसंस्काराणां प्रविलयस्तदा चित्तं स्वकारणे प्रधाने विलीयते न च पुनरुद्भवति । "

—भास्वती पृ० 17

बुद्धिवृत्तियों का उनके कारण बुद्धितत्त्व में आत्यन्तिक-लय ही वृत्ति निरोध है[1]। ये बुद्धिवृत्तियाँ प्रथमतः विवेकख्यातिरूपी अग्नि के द्वारा दग्धबीज-भावता को प्राप्त करायी जाती हैं[2]। तत्-पश्चात् परवैराग्य द्वारा इनका नाश हो जाता है। सभी वृत्तियों का आत्यन्तिक-निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात-समाधि होती है। इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं, जो चित्त के साथ ही अपने कारणप्रकृति में लीन हो जाते हैं। जिससे पुरुष महामुक्त हो अपने नित्यशुद्धबुद्धमुक्त रूप में अवस्थित हो जाता है[3]। पुरुष का चित्त से वियोग तथा उसकी स्वरूपावस्थिति-वृत्तियों के निरोध द्वारा ही सम्भव है।

- -

1 - " निरोधो नाम स्वकारणे लयः।" — स्वामिनारायणभाष्य पृ0 15।

2 - " बुद्धिवृत्तीनां लयो हि तदैव भवति यदा बुद्धौ बीजभावस्तस्य ज्ञानाग्निना दग्धः स्यात्।" — वही पृ0 15।

3 - " ते च निरोधवर्तिनः संस्काराः स्वकार्यं निरोधसाद्व्यात्मकं सम्यङ्निर्वर्त्य कृतकृत्य इति मोक्षपर्यन्त स्वाधिभिस्तावृशसंस्कारैः सहितं चित्तं बुद्धितत्त्वं स्वकारणे प्रकृत्यात्मके प्रविलीयते। बुद्धिवियोगे च सति शरीरवियोगस्तु सुतरामेव। तथा च नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त-स्वभावः पुरुषः स्वात्मदर्शन-परः परमेश्वर-स्वामिनारायणो वा महामुक्तो भवतीति।

— वही पृ0 159।

व्यासभाष्य

बुद्धि कभी ज्ञात और कभी अज्ञात विषयों वाली होने के कारण परिणामिनी है । इसके विपरीत पुरुष सर्वज्ञ होने के कारण अपरिणामी है । बुद्धि त्रिगुणात्मक होती है तथा वह परार्थ होती है । त्रिगुणात्मक होने के कारण बुद्धि अचेतन अथवा जड़ हुई अतः वह सक्रिय कैसे हो सकती है ? बुद्धि अचेतन होकर भी जब चेतन पुरुष के सानिध्य को प्राप्त करती है तब वह चेतनवत् होती है । चित्तिच्छायापत्ति के अनन्तर पुरुष बुद्धिवृत्ति को प्रतिबिम्ब रूप में देखता है इस प्रकार व्युत्थान काल में पुरुष बुद्धिवृत्ति के ही समान आकारवाला प्रतीत होता है । इसे ही पौरुषेयबोध या पुरुष का अनुभव कहा गया है । पुरुष बुद्धि के समान नहीं है क्योंकि बुद्धि को उसका विषय कभी ज्ञात रहता है और कभी अज्ञात रहता है । इसके अतिरिक्त जितने भी मूर्त विषय जैसे गौ, घट, पट इत्यादि हैं सभी बुद्धि के विषय हैं । इसके विपरीत पुरुष को अपने विषय का ज्ञान सदैव रहता है । पुरुष का विषय बुद्धि है । बुद्धि परार्थ है अर्थात् पुरुष के हित के लिए बुद्धि है । वह पुरुष के लिए भोग तथा मोक्ष का सम्पादन गुणों के साथ मिलजुल कर करती है इस प्रकार बुद्धिपरार्थ सिद्ध हुई ।

इसके विपरीत पुरुष स्वार्थ है । पुरुष निष्क्रिय तथा अपरिणामी है वह अपने आप में स्थित रहता है । परन्तु जब बुद्धि विषयाकाराकारित होती है तब उसमें प्रतिबिम्बरूप में स्थित पुरुष बुद्धिवृत्तियों का अनुद्रष्टा होता है, उन्हें देखता है । इस प्रकार पुरुष का प्रतिबिम्ब ही बुद्धिवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करता है और चेतनरूप चितिशक्ति अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा होती हुई भी बुद्धि वृत्ति में जब प्रतिबिम्बित होती है तब वह बुद्धिवृत्ति से अभिन्न होती हुई ज्ञान रूपी

वृत्ति वाली कही जाती है[1] ।

तत्त्ववैशारदी

व्युत्थान-काल में पुरुष और बुद्धि में जब निकटता होती है तब पुरुष बुद्धिवृत्ति के समान अनुभव करने लगता है । उस समय पुरुष और बुद्धि में इतनी अभिन्नता हो जाती है कि पुरुष जैसी बुद्धि रहती है उसके समान ही अनुभव करता है । इस प्रकार की वृत्तियों का अनुभव स्वाभाविक रूप से नहीं होता है अपितु इन वृत्तियों को उस क्षण पुरुष अपने आप में समारोपित करता है[2] और तब वैसा ही अनुभव करता है । पुरुष में बुद्धि के साथ निकट होने की योग्यता है[3] । इस निकटता के संबन्ध में वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है कि पुरुष और बुद्धि की सन्निधि न तो देश से संबन्धित है और न काल से संबन्धित है । अपितु उसमें निकटता की योग्यता है ।

- -

1 - " व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः । चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः । तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः संबन्धो हेतुः । "

— यो०भा० - पृ० 18 ।

2 - " योगस्य यद्यपि शब्दाद्याकारा वृत्तिश्चित्तस्य धर्मस्तथापि चित्तचैतन्ययोरभेद-समारोपाद्वृत्तिसारूप्यात्पुरुषस्येत्युक्तम् । "

— वही पृ० 19 ।

3 - " सन्निधानं पुरुषस्य न देशतः कालतो वा, तदसंयोगात्, किन्तु योग्यतालक्षणः । अस्ति च पुरुषस्य भोक्तृशक्तिश्चित्तस्य भोग्यशक्तिः । "

— वही पृ० 19 ।

बुद्धि परिणामिनी है क्योंकि वह जिस भी विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहती है बुद्धि उस विषय के आकार की हो जाती है । तब उसे ज्ञान होता है । जो भी विषय इससे अज्ञात रह जाते हैं उसके प्रति अज्ञान का मुख्य कारण यही है कि बुद्धि उस विषय के आकार को ग्रहण नहीं कर चुकी होती है अतः अमुक विषय अज्ञात रह जाते हैं । इस प्रकार ज्ञान के लिए बुद्धि का तद्-तद् विषय से तदाकाराकारित होना अनिवार्य है परन्तु सभी विषय एक साथ ही ज्ञात नहीं हो जाते हैं । जब एक विषय के आकार से बुद्धि आकारित होती है तब उस विषय का ही बुद्धि को ज्ञान प्राप्त होता है । उस समय अन्य विषय बुद्धि को अज्ञात रहते हैं । अतः बुद्धि ज्ञात-अज्ञात विषयों वाली है तथा विषयाकार को ग्रहण करने के कारण परिणामिनी है । परन्तु पुरुष ठीक इसके विपरीत है । पुरुष अपरिणामी है क्योंकि वह ज्ञान के लिए विषयों के आकार से आकारित नहीं होता है । पुरुष तो सर्वज्ञ है उसके लिए कभी ज्ञात और अज्ञात का प्रश्न ही नहीं होता । वह प्रतिबिम्ब रूप में सर्वथा बुद्धिरूपी दर्पण में विद्यमान रहता है अतः जब भी बुद्धि किसी भी विषय के आकार को ग्रहण करती है, तत्काल ही प्रतिबिम्ब-रूप में अवस्थित पुरुष उस बुद्धि वृत्ति का प्रतिसंवेदन करता है । अनुभव की प्रक्रिया में प्रथमतः बुद्धिवृत्ति बनती है उसके पश्चात् पुरुष प्रतिबिम्ब उस बुद्धि वृत्ति को ग्रहण करता है अतः पुरुष को बुद्धि के प्रत्ययों का उपद्रष्टा अथवा साक्षी भी कहा गया है । इसप्रकार पुरुष बुद्धि के समान रूप वाला नहीं हुआ, परन्तु पुरुष उससे एकदम विरूप भी नहीं है । इसका कारण यह है कि पुरुष शुद्ध होकर भी व्युत्थान-काल में बुद्धिवृत्तियों के स्वरूप के समान स्वरूप वाला दिखाई पड़ता है । इसलिए उसे बुद्धि से अत्यन्त विरूप भी नहीं कहा जा सकता है ।

वह बुद्धि से भी भिन्न होते हुए भी उससे निकटता की योग्यता रखने के कारण बुद्धिवृत्तियों का सान्निध्य होने पर उसमें प्रतिबिम्बित होता है और उस समय वह उस समय की बुद्धिवृत्तियों के समान रूप का ही ज्ञात होता है । जैसे निर्मल जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब-मात्र ही दिखाई पड़ता है, वस्तुतः चन्द्रमा तो आकाश में स्थित

रहता है । उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति रूपी दर्पण में पुरुष का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है और यह प्रतिबिम्ब भी बुद्धिवृत्तियों का प्रतिसंवेदन करता है । यह प्रतिसंवेदन पुरुष में आरोपित करके ही पुरुष भोक्ता तथा अनुभवकर्ता कहा जाता है[1]।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अनुभव की प्रक्रिया के संदर्भ में भाष्यकार की अपेक्षा कुछ विशेष बातों का उल्लेख किया है यथा — पुरुष का अनुभव आरोप द्वारा होता है । पुरुष में बुद्धि के साथ सान्निध्य की योग्यता है[2]। यह सान्निध्य किसी निश्चित देश अथवा काल में नहीं होता अपितु किसी भी प्रकार की बुद्धिवृत्ति के सान्निध्य काल में पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है जिसके कारण बुद्धि चेतनवती होती है और पुरुष-प्रतिबिम्ब उस समय उपस्थित बुद्धिवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करता है । बुद्धि साक्षात् ज्ञान प्राप्त करती है । पुरुष बुद्धि के माध्यम से उस ज्ञान का अनुद्रष्टा बनता है । बुद्धि में तदाकाराकारित होने की क्षमता है, क्योंकि वह परिणामिनी है । अतः वह ज्ञात-अज्ञात विषयों वाली है, परन्तु पुरुष की विषयभूमि-बुद्धि उसे सदा ज्ञात रहती है । न तो वह परिणामी है न उसका ज्ञान के लिए तदाकाराकारित ही होना पड़ता है । वह तो अपने प्रतिबिम्बमात्र से ही बुद्धिवृत्ति को देखता है तथा उसके ज्ञान का ग्रहीता बनता है इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने एक प्रतिबिम्ब वाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है ।

- -

1 - " भोगश्च यद्यपि शब्दाद्याकारा वृत्तिश्चित्तस्य धर्मस्तथापि चित्तचेतन्ययोर्भेद-समारोपादवृत्तिसारूप्यात्पुरुषस्यतुक्तम् । "

— त०वै० पृ० 19 ।

2 -

व्युत्थान काल में पुरुष को वृत्तिसारूप्य होता है । जिस प्रकार की बुद्धिवृत्तियाँ बनती हैं उसी प्रकार का प्रतिसंवेदन पुरुष को होता है । इस प्रकार व्युत्थानकाल में पुरुष बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित होता हुआ सा भासित होता है जैसे जलतरंगों के चंचल होने पर उनमें पड़ा हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चंचल हो जाता है और उस प्रतिबिम्ब के हिलने-डुलने के कारण चन्द्रमा हिल डुल रहा है ऐसा कथन किया जाता है । ठीक इसी प्रकार बुद्धि के विषयाकाराकारित होने पर बुद्धि में पड़ा हुआ पुरुष प्रतिबिम्ब उस विषय का अनुद्रष्टा माना या प्रतिसंवेदन कर्त्ता कहा जाता है । इस प्रतिसंवेदन के लिए बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता हुआ नहीं माना गया है। अतः स्पष्टतः भोजराज अनुग्रह-प्रक्रिया में वाचस्पतिमिश्र के एक प्रतिबिम्ब-वाद को स्वीकार करते हैं । वार्त्तिककार द्वारा प्रतिपादित द्विप्रतिबिम्बवाद नहीं ।

- -

1 - " यस्मिन्निन्द्रियवृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणते पुरुषस्तद्रूपाकार एव परिभाव्यते । यथा जलतरंगेषु चलत्सु चन्द्रश्चलन्निव प्रतिभासते तद्वत् म् ।"

— रा०मा०वृ० पृ० 14 ।

विवरण

जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि अपने सम्पर्क में आए हुए पदार्थों के आकार से आकारित होती है और पदार्थों के सान्निध्य से वियुक्त होने पर वह पदार्थों के आकार से रहित अपने ही रूप में अवस्थित रहती है, उसी प्रकार पुरुषतत्त्व भी, जो स्वभाव से स्वच्छ है, व्युत्थानकाल में अपने सम्पर्क में आने वाले बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित प्रतीत होता है। पुरुष का बुद्धिवृत्तियों के आकार से आकारित होना ही वृत्तिसारूप्य है। यह 'वृत्तिसारूप्य' पुरुष के ऊपर आरोपित किया जाता है[1]। यथार्थतः पुरुष इन बुद्धिवृत्तियों से सर्वथा भिन्न तत्त्व है व्युत्थानकाल में पुरुष इस आरोप्यमाण विशेषता से युक्त प्रतीत होता है। इससे पुरुष के अपरिणामी स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि आरोपित धर्म पदार्थ के स्वरूप को दूषित नहीं कर सकता।

- -

1 - " चित्तवृत्तिष्वारोपितं हि तत्, न स्वतः, स्फटिकस्येवोपधानोपरागवत्। व्युत्थानइति।। निरोधादन्यत्र यच्चित्तस्य क्लिष्टादयो वृत्तयः तद्विशिष्टा सदृशी वृत्तिः स्वरूपमस्य, चित्तवृत्ति व्यतिरेकेण स्वरूपव्यतिरेकेण च पुरुषस्य वृत्त्यभावात्, सदा ज्ञातविषयत्वे परिणामानुपपत्तेश्च।।"

— विवरण पृ0 14।

योगवार्तिक

वार्तिक में भी बुद्धि के विषयाकाराकारित होने की प्रक्रिया को भाष्यकार तथा वाचस्पतिमिश्र के समान ही स्वीकार किया गया है । परन्तु अनुभव की प्रक्रिया में वार्तिककार ने द्विप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है । इनके अनुसार पुरुष के प्रतिबिम्ब से बुद्धि चेतनवती होती है । तत् पश्चात् वह विषयाकाराकारित होती है । पुनः तदाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुषतत्त्व में पड़ता है । तब पुरुष उस ज्ञान का प्रमाता, भोक्ता, द्रष्टा तथा साक्षी बनता है । इस प्रकार वार्तिककार के अनुसार द्विप्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त अनुभव की प्रक्रिया में स्वीकृत होता है[1] ।

योगदीपिका

वृत्तियों का सम्पर्क होने पर पुरुष भोक्ता बनता है और वृत्तियों का निरोध होने पर वह कैवल्य को प्राप्त करता है । अतः पुरुष का वृत्तिसारूप्य ही उसका बन्धन और वृत्तिनिरोध के द्वारा वृत्तिसारूप्य की स्थिति न आने देना ही उसका कैवल्य या मोक्ष है[2] । यह स्थिति असम्प्रज्ञातयोग के द्वारा ही सम्भव होती है ।

- -

1 - " व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूप योऽसौ बुद्धिपुरुषयोः सारूप्यम् ।"

— योगवार्तिक पृ0 20 ।

2 " चेतने तावद् बुद्धिप्रतिबिम्बमवश्यं स्वीकार्यम्, अन्यथा कूटस्थनित्य विभुचेतन्यस्य सर्वसम्बन्धात्सर्वेव सर्वं वस्तु 'सर्वेज्ञायेत । यथा च चिति बुद्धेः प्रतिबिम्बमेव बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्बं स्वीकार्यमन्यथा चेतनस्य भानानुपपत्तेः ।" — वही पृ0 214 ।

2 - " वृत्तिकालस्य पुरुषस्य दुःखभोगरूपः संसारो वृत्तिवियोगे च तन्निवृत्तिरूपं कैवल्यमतो वृत्तयोनिरोद्धव्या इति । इदं च योगस्यापान्तफलमुक्तम् ।"

— योगदीपिका पृ0

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में योगवार्त्तिक के ही सदृश प्रस्तुत विषय का विवेचन किया गया है , कोई नवीन बात नहीं कही गई है ।

मणिप्रभा

चित्तवृत्तियों का निरोध करने पर पुरुष मुक्त हो जाता है[1] और वही पुरुष व्युत्थानकाल में वृत्तियों के सान्निध्यकारण बद्ध रहता है । पुरुष का बुद्धिवृत्तियों से वृत्तिसारूप्य ही उसका बद्ध होना है । 'वृत्तिसारूप्यमन्यत्र' के कारण पुरुष वृत्तियों के अनुरूप सुख, दुःख, प्रसन्नता और आह्लाद का अनुभव करता है । परन्तु इस वृत्तिसारूप्य से पुरुष अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता क्योंकि वृत्तियों से पुरुष का तादात्म्य तो भ्रम-मात्र है[2] ।

- -

1 - " निरोधे मुक्तिर्व्युत्थाने बन्ध इति सूत्रद्वयतात्पर्यम् । "

— मणिप्रभा पृ0 4 ।

2 - " व्युत्थाने सति यश्चित्तस्य वृत्तयः शान्ताऽऽद्याकारास्ताभ्य वृत्तिमद्बुद्ध्यविवेकात्पुरुषस्य शान्तो दुःखी मूढोऽस्मीति वृत्तितादात्म्यभ्रम इत्यर्थः अतो न स्वभावात्प्रच्युतिः ।"

— वही पृ0 4 ।

<u>सूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका</u>

व्युत्थान काल में पुरुष को वृत्तिसारूप्य होता है । 'वृत्तिसारूप्यता' पुरुष के 'अवैलक्षण्य का द्योतक है[1] । क्योंकि पुरुष की विलक्षण्य तो वृत्तियों से असम्बद्ध रहने में हो है। पुरुष का स्वरूप शुद्ध तथा चिन्मात्र है । व्युत्थानकालिक वृत्तियाँ शान्त, घोर और मूढ रूप की होती हैं । ये वृत्तियाँ प्रतिक्षण चित्त में उदित और अस्त होती रहती हैं अतः इन्हें क्षणभंगुर कहा गया है[2] । व्युत्थानकाल में पुरुष का प्रतिबिम्ब इन बुद्धिवृत्तियों के आकार का हो जाता है। फलस्वरूप वह बुद्धिवृत्तियों से सारूप्यता को प्राप्त कर मैं दुःखी हूँ, सुखी हूँ; मूढ हूँ इस प्रकार का अनुभव करने लगता है । यहाँ यह याद रखना होगा कि पुरुष का इस प्रकार का अनुभव आरोप्यमाण होता है । अतः वृत्ति-सारूप्य के कारण वह अपने वास्तविक स्वभाव से प्रच्युत नहीं होता है[3] । जैसे कि स्फटिकमणि अनेक प्रकार के रंगों के प्रतिबिम्ब से उस रंग का प्रतिबिम्बित होने पर भी अपने स्वरूप से नहीं हटती उसी प्रकार पुरुष भी स्वभाव से शुद्ध होता हुआ व्युत्थानकालिक वृत्तियों के सम्पर्क में आने पर भी अपने स्वभाव से प्रच्युत नहीं होता । वह अविद्यावशात् अविवेकपूर्वक उन वृत्तियों के आकार से आकारित होकर, अथवा एकीभूत होकर शब्दादि के आकार का दिखाई पड़ता है[4] ।

- -

1 - " वृत्तिसारूप्याऽविवेकेन सह द्रष्टुर्वृत्तौ सारूप्यमवैलक्षण्यमित्यर्थः । "

योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ० 7 ।

2 - " शान्तघोरमूढाश्चित्तस्य वृत्तयः क्षणभंगुराः । "

— वही पृ० 7 ।

3 - " तभिरवशिष्टास्तत्प्रतिबिम्बस्थाः पुरुषस्य भवन्ति । याभिः शान्तोऽस्मि, दुःखितोऽस्मि, मूढोऽस्मीत्यध्यवस्यति । अतो न स्वभावात्प्रच्युतिः । " - वही पृ० 7

4 - " न हि लोहितप्रतिबिम्बकालेऽपि स्फटिकस्य स्वभावात् प्रच्युतिरस्ति ।"

— वही पृ० 7 ।

5 - " अतः शुद्धोऽपि पारार्थ्यचेतनत्वपरिणामित्वादिरूपाबुद्ध्यरहितोऽपि एतेन भूतेन्द्रियर्थसन्निकर्षाद्यावृत्तिः । प्रत्ययानुपश्य । - - - स्वस्य बुद्ध्यविवेकाद् वृत्ति-विवेकीभूतः शब्दाद्याकारेण पश्यतीत्यर्थः । "

— वही पृ०   ।

भास्वती

पुरुष का विषय बुद्धिवृत्तियाँ हैं। बुद्धि तथा बुद्धिवृत्तियाँ दोनों जड़ हैं, ये पुरुष के प्रकाश से ही प्रकाशित होकर पुरुष का विषय बनती हैं। 'योग' से भिन्नकाल अर्थात् अनिरोध या व्युत्थान-काल में पुरुष का वृत्तियों से संयोग होता है और पुरुष वृत्तियों के रूप का भासित होता है। पुरुष का वृत्तियों के रूप के आकार के समान भासित होना ही 'वृत्तिसारूप्य' है।[1] 'वृत्तिसारूप्य' द्वारा ही पुरुष भोग और विवेकख्याति की स्थिति को प्राप्त करता है। पुरुष का प्रधान के साथ 'संयोग' नित्य है क्योंकि 'पुरुष' और 'प्रधान' दोनों नित्यतत्त्व हैं, दो नित्य तत्त्वों का पारस्परिक संबन्ध भी नित्य होता है।[2] जब वृत्तिनिरोध के द्वारा यह संयोग असम्भव कर दिया जाता है तब वृत्तिसारूप्य की संभावना समाप्त हो जाती है। यही पुरुष का कैवल्य कहा जाता है।

- -

1 - 'पुरुषविषया बुद्धिवृत्तयः पौरुषप्रकाशेन प्रकाशिता भवन्ति एवं दर्शितविषयत्वाद् वृत्तिस्वरूप इव प्रतीयते, व्युत्थान इति। व्युत्थाने = अनिरुद्धचित्तावस्थायां या वृत्तयः तद्विशिष्टवृत्तिः, ताभिर्वृत्तिभिः सहाविशिष्टा = एकतान् प्रतीयमाना वृत्तिः सत्तायश्च तादृशो भवति पुरुषः।"

— भास्वती पृ0 19।

2 - " पुम्प्रधानयोर्नित्यत्वात् संयोगोऽनादिः, स च संयोगः प्रवाहरूपत्वाद् हेतुमानित्युपरिष्टाद् वक्ष्यति। "

— वही पृष्ठ - 23।

स्वामिनारायणभाष्य

चित्त की क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त, ये व्युत्थानभूमियाँ हैं । एकाग्रभूमि भी निरुद्ध भूमि की अपेक्षा व्युत्थान है[1] । इन चारों व्युत्थान भूमियों में पुरुष का सात्त्विक, राजसी और तामसीवृत्तियों के आकार से आकारित हो जाना ही वृत्ति-सारूप्य है और वृत्तियों के आकार से आकारित न होना वृत्तिराहित्य है ।

जब बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब बुद्धि पुरुष के लिए भोग्य बनती है और पुरुष का प्रतिबिम्ब ही तब बुद्धिवृत्ति द्वारा प्रस्तुत भोग का भोक्ता बन कर अपने में उस भोग का अध्यास करता है । पुरुष का बुद्धि वृत्तियों के अनुकूल हो जाना अज्ञान और अविद्यामय है[2] । वृत्तिसारूप्य पुरुष की आरोप्यमाण विशेषता है । बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर ही वृत्ति-सारूप्य होता है और पुरुष बन्धन में पड़ जाता है। बन्धन का अर्थ अविद्या या अज्ञान है । बुद्धि और पुरुष के संयोग को दुःख, सुखादिभोग का नियामक कहा गया है ।

. . . .

1 - " क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम् इत्येतास्तिस्त्रोऽवस्थाः व्युत्थानसंज्ञया व्यवह्रियन्ते, ' - - - - एकाग्रावस्थं चित्तमपि निरुद्धापेक्षया तु व्युत्थानमिति व्यपदिश्यते । "

स्वामिनारायणभाष्य पृ0 44 ।

2 - " बुद्धिपुरुषयोः संयोगस्त्वज्ञानहेतुकः, अतस्तत्संयोगावधिकमज्ञानं तन्नावश्यं दुःखं भवति, एवं च सति पुरुषे प्रतिबिम्बस्य बिम्बाभिन्नत्वेन प्रतिबिम्बगत-धर्माणां बिम्बा सम्बद्धत्वेऽपि पुरुषस्य भवत्यहमेव प्रतिबिम्बस्थः प्रतिबिम्बाऽभिन्न इति प्रत्ययः । "

- वही पृ0 46 ।

व्यासभाष्य

वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की होती हैं । अविद्यादि 'क्लेश' हैं । इन क्लेशों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं । इन वृत्तियों का निमित्त कारण क्लेश हैं । अतः ये क्लेश हेतुकाः कही गयी हैं । क्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट ज्ञान संस्कार बनते हैं । पुनः इन्हीं क्लिष्ट संस्कारों से क्लिष्टवृत्तियाँ बनती हैं । क्लेश संस्कारों से बनने वाली वृत्तियाँ ही कर्माशय संस्कारों के समूह को उत्पन्न करती हैं ।[1] क्लिष्टवृत्तियाँ प्रत्यक्ष रूप से इन कर्माशय संस्कारों का कारण न बनकर अप्रत्यक्ष रूप से इनका कारण बनती हैं । अप्रत्यक्ष का तात्पर्य है कि सीधे क्लिष्टवृत्तियाँ ही नहीं कर्माशय--समूह को उत्पन्न करतीं अपितु, इन वृत्तियों के संस्कार इन कर्माशय समूह को उत्पन्न करते हैं ।

बुद्धि और पुरुष के स्वरूप के संबन्ध में भेद ज्ञान कराने वाली वृत्ति अक्लिष्ट कही गई है । अक्लिष्टवृत्तियों का विषय विवेकख्याति है । अक्लिष्ट वृत्ति के ही उदय होने से गुणों का कार्यारम्भ - अवरुद्ध हो जाता है । चित्त सभी क्लेशों से शून्य होकर गुणातीत पुरुष के समान रह जाता है या दुःखादि शून्य चित्त, अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है । इस तरह से चित्त को कैवल्य प्राप्त हो जाता है । उक्त क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों से उनके समान ही संस्कार उत्पन्न होते हैं । क्लिष्ट-वृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्ट-वृत्तियाँ अपने स्वरूप को ही बनी रहती हैं । उसी प्रकार अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में क्लिष्ट-वृत्तियाँ क्लिष्ट ही बनी रहती हैं । ये दोनों वृत्तियाँ प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा स्मृति के भेद से 5 प्रकार की होती हैं ।

- -

1- " क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः । क्लिष्टप्रवाह पतिता अप्यक्लिष्टाः ।

— व्यासभाष्य पृ0 25 ।

तत्त्ववैशारदी

बुद्धिवृत्तियाँ असंख्य होती हैं, व्यक्तियों के व्यापार असंख्य हैं अतः वृत्तियाँ भी असंख्य हैं । वृत्तियों की गणना असम्भव है । योगसूत्र 1/5 में सूत्रकार ने इन वृत्तियों को क्लिष्ट, अक्लिष्ट के भेद से दो श्रेणियों में विभक्त कर उनके पाँच ही प्रकारों का उल्लेख किया है । वाचस्पतिमिश्र ने सूत्र के ऊपर लिखे भाष्य के आधार पर क्लिष्ट, अक्लिष्ट प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख विशेष प्रकार से किया है ।

क्लिष्टवृत्तियाँ :- अस्मितादि क्लेश हैं[1] । जिनके कारण वृत्तियों की प्रवृत्ति होती है अर्थात् अस्मितादि क्लेशों के कारण ही क्लिष्टवृत्तियाँ प्रवृत्त होती हैं । क्लिष्टवृत्तियों के संबन्ध में दूसरी धारणा वाचस्पतिमिश्र के अनुसार यह है कि क्लिष्टवृत्तियाँ ही रजो, तमोमयी वृत्तियों का कारण हैं । इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने 'क्लेशहेतुका' का दो प्रकार से अर्थ किया है । क्लिष्टवृत्तियों से क्लेशों की ही उत्पत्ति होती है । धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों को उत्पन्न करने वाली भी क्लिष्ट वृत्तियाँ ही हैं[2] ।

- -

1 - " क्लेशा अस्मितादयो हेतवः प्रवृत्तिकारणं यासां वृत्तीनां तास्तथोक्ताः । "
- त०वै० पृ० 25 ।

2 - " पुरुषार्थप्रधानस्य रजस्तमोमयीनां हि वृत्तीनां क्लेशकारणत्वेन क्लेशायैव प्रवृत्तिः । क्लेशः क्लिष्टं तदालामस्तीति क्लिष्टा इति । यतएव क्लेशोपार्जनार्थमपूर्वां प्रवृत्तिबल एव कर्माशयप्रचय क्षेत्रीभूताः । "

त०वै० पृ० 25 ।

अक्लिष्टवृत्तियाँ :- सात्त्विकवृत्तियों का प्रवाह अक्लिष्टवृत्तियों का जनक है। इन सात्त्विक वृत्तियों का विषय बुद्धि और पुरुष के बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त करना है। इस ज्ञान को ही विवेक-ख्याति की संज्ञा दी गई है। विवेक-ख्याति द्वारा जो वृत्ति चित्त में बनती है उससे गुणों के कार्य की क्षमता को रोका जाता है। क्लिष्टवृत्तियों का निरोध परवैराग्य द्वारा होता है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध हो जाने पर अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं जिससे चित्त को प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान प्राप्त होता है। इस विवेकज्ञान से जो वृत्ति बनती है वह अक्लिष्ट वृत्ति कहलाती है। अक्लिष्ट-वृत्तियों से पुनः अक्लिष्ट-संस्कार बनते हैं[1]। इस प्रकार यहाँ भी वृत्तियों से संस्कार और संस्कार से वृत्तियों का चक्र निरन्तर चलता रहता है। अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा ही साधक का चित्त निरुद्धवृत्तिक होकर संस्कार-शेषावस्था को प्राप्त करता है, तथा आगे चलकर कैवल्य की स्थिति का लाभ भी प्राप्त करता है इस प्रकार कैवल्य प्राप्ति की दृष्टि से अक्लिष्ट-वृत्तियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की होती है।

राजमार्तण्डवृत्ति

वृत्तिकार भोज ने भी सर्वप्रथम 'वृत्ति' की परिभाषा दी है कि 'वृत्तयश्चित्तपरिणामविशेषाः'[2] अर्थात् वृत्तियाँ चित्त की परिणाम विशेष हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में चित्त का जो व्यवहार होता है वही चित्त का परिणाम है। जिसे योगशास्त्र में वृत्ति कहा गया है। ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की कही गयी हैं। ये पाँचों वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकार की होती हैं। अर्थात् जब इन पाँचों वृत्तियों में क्लेश का प्रादुर्भाव होता है तब ये क्लेशयुक्त वृत्तियाँ कही जाती हैं और जब ये पाँचों वृत्तियाँ क्लेश रहित होती हैं तब अक्लिष्ट कही जाती हैं।

- -

1 - "अक्लिष्टाभिर्वृत्तिभिरक्लिष्टाः संस्कारा इत्यर्थः । तथैवं वृत्तिसंस्कारचक्रम-निशमावर्तते, आनिरोधसमाप्तेः ।" — त०वै० पृ० 26 ।

2 - द्रष्टव्य - रा०मा०वृ० 16 ।

विवरण :

वृत्तियाँ असंख्य हैं । इन असंख्यवृत्तियों को पाँचकुलों में रखा गया है[1] । पाँच कुलों में रखने से वृत्तियों का स्वरूप समझने में तथा इनका निरोध करने में बड़ी सहायता मिलतीहै । क्योंकि यदि वृत्तियों को उक्त प्रकार के समूह में विभाजित नहीं किया गया होता तो न इनके स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन हो पाता और न ही योग के अभिलाषी व्यक्ति इनका निरोध करने में ही सरलता का अनुभव करते । एक-एक समूह के अन्दर अनेकों प्रकार की वृत्तियाँ समाविष्ट हैं यथा 'प्रमाण' नामक वृत्ति में जितने भी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं सभी समाविष्ट हैं, इसी तरह विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति में भी उन उन समूहों में रहने वाली वृत्तियाँ समाविष्ट हैं ।

उक्त सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूपों वाली होती हैं । अविद्यादि पाँच क्लेशों से युक्त वृत्तियाँ क्लिष्ट कहलाती हैं, क्लिष्ट वृत्तियों से धर्म अधर्म रूप कर्माशय बनते हैं और पुनः[2] क्लिष्टवृत्तियों के रहने पर ही इन कर्माशयों का विपाक आरम्भ होता है ।

- -

1 - "यद्यपि क्लिष्टाक्लिष्टा वृत्तयोऽनन्ताः, तथापि पंचतय्यः पंचविधाः, पंचकुला एव ।"

— विवरण पृ0 17

2 - " कर्माशयप्रचये कर्माणि कुशलाकुशलविभिन्नानि सन्ति फल प्रदानादर्वाक् इति कर्माशयशब्दवाच्यानि, तेषां प्रचयस्तरेतरगुणप्रधानभावेन संहननं, तस्मिन्, कर्माशय प्रचये निमित्ते, अविद्यादिक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाख्या इत्यर्थः । सतीषु हि तासु कर्माशयो विपाकाभिमुखो भवति ।"

— वही पृ0 17

ख्यातिविषयकवृत्तियाँ अक्लिष्ट कही जाती हैं । ये अपवर्ग के लिए सहायक होती हैं । इन्हीं वृत्तियों के द्वारा चित्त रागादि क्लेशों का निरोध कर विवेकज्ञान प्राप्त करता है और निरन्तर विवेकज्ञान में ही स्थित रहता हुआ पुनः उस ज्ञान का भी निरोध कर कैवल्य लाभ प्राप्त करता है । अतः अक्लिष्ट-वृत्तियों को कैवल्य के लिए उपयोगी माना गया है ।[1] क्लिष्ट और अक्लिष्ट-वृत्तियों का प्रवाह निरोधाभिमुखचित्त में साथ-साथ होता रहता है क्योंकि क्लिष्टवृत्तियों का निरोध होने पर अक्लिष्टवृत्तियाँ प्रकाश में आती हैं । इनके प्रकाश में आने पर भी वृत्तिनिरोध की प्रक्रिया चलती रहती है । परन्तु क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ एक दूसरे से प्रभावित नहीं होतीं । इनका अपना अलग अलग रूप एक दूसरे से नष्ट नहीं होता । अर्थात् क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध तो हो जाता है परन्तु क्लिष्ट वृत्तियों की क्लिष्टता समाप्त नहीं होती ।[2]

योगवार्त्तिक

प्रमाणादि व्यापारों द्वारा चित्त भिन्न-भिन्न स्थितियों में रहता है । चित्त की ये स्थितियाँ ही चित्त की वृत्तियाँ हैं । चित्त अनेक रूपों में परिणत होता रहता है अतः वृत्तियाँ असंख्य हैं । योग-प्राप्ति के लिए उनका निरोध अनिवार्य है अतः निरोध में सुविधा की दृष्टि से सभी वृत्तियों को दो विभागों में विभक्त किया गया है । ऐसा करने से वृत्तिनिरोध का कार्य सरल हो जायेगा । क्लिष्ट अक्लिष्ट रूपा वृत्तियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं । प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति ।

- -

1 - " ख्यातिविषयत्वादेव वा अक्लिष्टाः अपवर्गहेतुत्वात् ।"

विवरण पृ0 17 ।

2 - " एवमक्लिष्टप्रवाहपतिता अपि क्लिष्टाः किमक्लिष्टा एव ? किं चातः यदि क्लिष्टप्रवाहगता अक्लिष्टाः क्लिष्टाः स्युः, तदा वृत्तिसंस्कारानुविधायिनी स्मृतिः, तदनुरूपा एव भवन्ति । अक्लिष्टच्छिद्रेषु अपि क्लिष्टाः क्लिष्टा एव । "

— वही पृ0 18 ।

दुःखरूप फल देने वाली वृत्तियों का कारण क्लेश है । यहाँ पर[1] हेतु का प्रयोग प्रयोजन के अर्थ में किया गया है । अर्थात् दुःखादि का कारण क्लेशयुक्त वृत्तियाँ ही हैं । ये क्लेशयुक्तवृत्तियाँ ही क्लिष्टवृत्तियाँ हैं । धर्म-अधर्म रूप वासनाओं तथा कर्माशयों की उत्पत्ति क्लिष्ट वृत्तियों से होती है । क्लेश ही इनका आलम्बन है । अब प्रश्न उठता है कि ये क्लेश क्या हैं ? उत्तर देते हैं — दुःख ही क्लेश हैं, दुःखरूपी फल देने वाली वृत्तियाँ ही क्लिष्टवृत्तियाँ हैं । क्लिष्टवृत्तियों से ही विषय के प्रति तृष्णा उत्पन्न होतीहै । वांछित विषय नहीं मिलने पर दुःख होता है मिलने पर इच्छा और तीव्र हो जाती है । इस प्रकार इनकी प्राप्ति के लिए धर्म, अधर्म का आचरण करना पड़ता है । जिसके परिणाम स्वरूप दुःख देने वाली क्लिष्टवृत्तियों का प्रवाह निरन्तर बढ़ता जाता है । जिसका अन्तिम परिणाम दुःख रूप ही है ।

क्लेशरहित वृत्तियाँ ही अक्लिष्ट वृत्तियाँ कही गयी हैं ।[2] अक्लिष्ट वृत्तियों से जो फल प्राप्त होते हैं वे भी अक्लिष्ट ही होते हैं अर्थात् अक्लिष्टवृत्तियों में क्लेशों का राहित्य होता है अतः इससे जो फल प्राप्त होता है वह भी क्लेशों से रहित होता है । अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रादुर्भाव होने पर गुणों की क्रियाशीलता का निरोध होता है जिसके कारण गुणों का कार्यारम्भ अवरुद्ध हो जाता है तथा अविद्यादि क्लेशों का नाश हो जाता है और चित्त केवल ख्यातिविषयकचिन्तन करता है । इस संबन्ध में जितने भी उपयोगी साधन हैं उनका पालन करते हुए विवेकख्याति को प्राप्त कर व्यक्त, अव्यक्त तथा पुरुषतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है ।

उक्त क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट-वृत्तियों से तदनुकूल ही संस्कार बनते हैं । पुनः इन संस्कारों से वृत्तियाँ बनती हैं । इस प्रकार वृत्तियों और संस्कारों का चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

- -

1 - " अत्र च हेतुः प्रयोजनम् । क्लेशाश्चात्र मुख्य एव ग्राह्यो दुःखाख्यः । तथा च क्लेशहेतुकाः दुःखफलिकाक्षयधाकारवृत्तय इत्यर्थः ।" यो०वा०पृ० 27 ।

2 - " अक्लिष्टा अक्लेशफलिकाः । ताश्च गुणाधिकारविरोधिन्यः । "

— यो०वा० पृ० 27 ।

योगदीपिका

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं । प्रत्येक वृत्ति में सत्त्वगुण और रजोगुण का प्रभाव होता है । अतः सभी वृत्तियों का निरोध आवश्यक है । वृत्तियों के दो भेदों क्लिष्ट और अक्लिष्ट का स्वभाव भी एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न नहीं है क्योंकि क्लिष्ट-वृत्तियों की भांति अक्लिष्ट-वृत्तियां भी सत्त्वगुण और रजोगुण से युक्त होती हैं । ये वृत्तियां भी क्लेशों से पूर्णतया मुक्त नहीं होती हैं अतः योग के लिए इन वृत्तियों का भी निरोध परमावश्यक है[1] ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में वृत्तियों का उल्लेख योगवार्त्तिक के सदृश ही किया गया है । कोई नई बात वृत्तियों के संबन्ध में यहाँ नहीं कही गई है ।

मणिप्रभा

वृत्तियाँ बहुत प्रकार की हैं इसीलिए 'वृत्ति' शब्द का बहुवचन 'वृत्तयः' यहाँ प्रयुक्त है । प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति के भेद से पाँच प्रकार के अवयवों वाली ये वृत्तियाँ हैं । ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकारक होती हैं । रागद्वेषादि क्लेश के कारण हैं । इन क्लेशों से बनी वृत्तियाँ क्लिष्ट-वृत्तियाँ कहलाती हैं[2] । अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लेशों का नाश होता है । अभ्यास और वैराग्य द्वारा क्लिष्ट-वृत्तियों का निरोध हो जाने के उपरान्त पुनः परवैराग्य से उनके अवशिष्ट संस्कारों का भी नाश हो जाता है और चित्त अव्यक्त में लीन हो जाता है । इस प्रकार अक्लिष्टवृत्तियों के प्रवाह से चित्त मुक्ति को प्राप्त होता है ।

- -

1 - " तास्चवृत्तयः क्लिष्टरूपा वा भवन्तु, अक्लिष्टरूपा वा भवन्तु, सर्वा एव निरोद्धव्या इत्यर्थः । क्लिष्टास्तामस्यो क्लिष्टाः सात्त्विको राजस्यश्च । क्लिष्टाक्लिष्टमिश्रवृत्तेरंशाभ्यां तामसीसात्त्विकोरेवान्तर्भावः । 'रजोमिश्रमि'तिसूत्रेः ।"

— योगदीपिका पृ0 5 ।

2 - "रागद्वेषादि क्लेशानां हेतवः "क्लिष्टाः" धर्मफलाः - - - - 'अक्लिष्टाः' क्लेशनाशिन्यो मुक्तिफलाः ।"

— मणिप्रभा पृ0 4 ।

सूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

चैत्रादि व्यक्तियों के भेद के कारण बुद्धिवृत्तियाँ भी अनेक हैं। इन अनेक वृत्तियों को पाँच समूहों के अन्तर्गत रखा गया है[1]। प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच समूह हैं जिनमें सभी प्रकार के विषयों से जनित प्रत्यय या वृत्तियाँ रहती हैं। इन असंख्य वृत्तियों को हानोपादान की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया गया है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट। अनेक विषय वासनाओं से संबन्धित वृत्तियाँ क्लिष्ट कहलाती हैं जिनका फल दुःख है अर्थात् जिनसे दुःख ही मिलता है। विवेकख्याति तथा उसके साधनों से उत्पन्न वृत्तियाँ अक्लिष्ट कहलाती हैं[2]। ये वृत्तियाँ क्लिष्ट-वृत्तियों की विरोधिनी होती हैं। अक्लिष्ट-वृत्तियों के द्वारा ही प्रकृति, पुरुष का विविक्तज्ञान प्राप्त होता है। इन वृत्तियों के उदित होने पर सभी क्लिष्ट वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है[3]।

- -

1 - " वृत्तयश्चैत्रादिभेदाद् वृत्तिसमूहाः, पंचतय्यः पंच प्रकारा अवयवायासां ताः। अवयविनो वृत्तिसमूहाः प्रमाणादि पंचप्रकाराः। तासां हानोपादानविषये भेदमाह।"

— योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ0 7।

2 - " तत्र क्लिष्टा विविधानेकविषयवासनानिबन्धना - - - - अक्लिष्टा विवेकख्यातितत्साधन - - - - क्लेशफलक वृत्तिविरोधिन्यः सात्त्विक्यः। "

— वही पृ0 7।

3 - " तासामात्यन्तिकनिरोधार्थं प्रयासान्तरमपेक्षित एवेति भावः। "

— वही पृ0 8

भास्वती

प्रमाणादि भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं । उक्त सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूपों वाली होती हैं । जो वृत्तियाँ अविद्यामूलक तथा क्लेश रूपी फल देने वाली होती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कही जाती हैं । जिन वृत्तियों से क्लेशों की निवृत्ति होती है वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ कही जाती हैं । विवेकख्याति को विषय बनाने वाली चित्तवृत्ति 'अक्लिष्टवृत्ति' कहलाती है । अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट-वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त अवसिताधिकार हो प्रकृति में लीन हो जाता है । फलस्वरूप पुरुषतत्व भी अपने शुद्ध मुक्तरूप में अवस्थित हो कैवल्य को प्राप्त करता है ।[1]

स्वामिनारायणभाष्य

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँचों चित्त की वृत्तियाँ हैं । चित्त के जितने भी व्यापार होते हैं वे सभी इन्हीं पाँचों वृत्तियों के परिणामस्वरूप होते हैं । अतः चित्त के इन प्रमाणादि व्यापारों को चित्त की वृत्तियाँ कहा गया है ।[2] ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेदों वाली होती हैं । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये क्लेश हैं । इन क्लेशों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं । ये क्लिष्ट-वृत्तियाँ रजोगुण और तमोगुण में प्रवृत्त होती हैं और क्लेश जनक धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों को उत्पन्न करती हैं । क्लिष्टवृत्तियों से क्लिष्ट-संस्कार बनते हैं ।

- -

1 - " क्लेशहेतुकाः क्लेशाः = अविद्याऽऽदयः, ये विपर्ययस्तत्प्रत्ययाः क्लिश्यन्ति हि क्लेशाः तत्प्रभवास्तत्कारणाश्च वृत्तयः क्लिष्टाः, - - - - अक्लिष्टाः वृत्तयो विवेकख्याति-विषयाः, विवेकेन चित्तस्य निवृत्तिस्तत्साधना वृत्तयो गुणाधिकारविरोधिन्यो गुणप्रवृत्तिरेव क्लेशाः, अतो गुणनिवर्त्तकाः ख्यातिविषया वृत्तयो क्लिष्टाः ।"

— भास्वती पृ0 24 ।

2 - " यैः प्रमाणादिपंचविधव्यापारैश्चित्तं जीवति ते व्यापारास्तद्वृत्तय उच्यन्ते ।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ0 56 ।

संप्रज्ञातयोग काल में चित्त में जो वृत्तियाँ बनती है वे अक्लिष्टवृत्तियाँ कहलाती हैं । अक्लिष्टवृत्तियाँ योगप्राप्ति में परम्परया सहायक होती हैं । इन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध होने पर ही निर्बीज रूप असम्प्रज्ञात योग की स्थिति आती है । इस प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरोध होता है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि 'अक्लिष्ट' वृत्तियाँ भी अविद्या और रागयुक्त होती हैं । क्लिष्टवृत्तियाँ क्लेशों की वृद्धि में सहायक होती हैं और अक्लिष्ट-वृत्तियाँ क्लेशों से रहित होती हैं और निरोध-समाधि को प्राप्त कराने में सहायक होती हैं । क्लिष्ट और अक्लिष्ट-वृत्तियों से चित्त में क्लिष्ट और अक्लिष्ट प्रकारक संस्कार ही बनते हैं पुनः उन संस्कारों से वैसी ही वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार क्लिष्ट और अक्लिष्ट-वृत्तियों से संस्कार और उन संस्कारों से उक्त प्रकार की वृत्तियों का चक्र निरन्तर चलता रहता है ।[2]

- -

1 - " अक्लिष्टा अपि परम्परयाऽस्य योगस्याङ्गभूता एवेति तत्त्वम् ।"

— स्वामिनारायणभाष्य पृ० 56 ।

2 - " क्लिष्टाभिर्वृत्तिभिः क्लिष्टाः संस्काराः क्रियन्ते, अक्लिष्टाभिर्वृत्तिभिश्चाऽक्लिष्टाः संस्काराः क्रियन्ते, तादृशतादृशसंस्कारैश्च तादृशतादृशवृत्तिसन्तानवद् चित्तं भोगमारभते । अत उभयविधा अपि निरोद्धव्याः । तासां निरोधेऽपि निरोधावस्थं चित्तं संस्कारशेषमवतिष्ठते । "

— वही पृ० 56 ।

योग के उपाय

व्यासभाष्य

वृत्तिनिरोध के लिए सूत्रकार ने अभ्यास और वैराग्यात्मक दो उपाय बताये हैं।[1] चित्त में वृत्तियाँ निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। इन वृत्तियों में से कुछ ऐसी हैं जिनके कारण चित्त सांसारिक व्यापारों में आसक्त होता है। इनका शास्त्रीय नाम 'पापवहा' है। इन वृत्तियों के प्रवाह से चित्त सांसारिक विषयों की तरफ दौड़ता है जिसके परिणामस्वरूप उसका अविवेक, अज्ञान बढ़ता जाता है और वह मोक्ष से दूर सांसारिक भोगों के प्रति आसक्त हो जाता है। इसके विपरीत जब चित्त में वैराग्य की भावना जागृत होती है तब चित्त का आकर्षण उन विषयों के प्रति दूर होने लगता है। जब चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है। चित्त की इस स्थिति के लिए जिन साधनों का अनुष्ठान किया जाता है उस अनुष्ठान को ही अभ्यास कहा गया है।[2] यह अभ्यास जब ब्रह्मचर्य से, विद्या से तथा श्रद्धा द्वारा संपादित किया जाता है तब सुदृढ़ होता है तथा सुदृढ़ हुआ अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों द्वारा बाधित नहीं होता।

दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि होने पर उनके प्रति भोग की भावना का न होना वैराग्य है। वैराग्य के दो प्रकारों का उल्लेख भाष्यकार ने सूत्र के आधार पर किया है। (1) अपर वैराग्य (2) परवैराग्य।[3]

- -

1 - "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" - यो०सू० 1/12 ।

2 - "चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः।" - व्यासभाष्य पृ० 47 ।

3 - "दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्।"
- वही पृ० 51 ।

लौकिक तथा पारलौकिक विषयों के प्रति उपेक्षाभाव होने पर उन विषयों का सम्पर्क होने पर भी साधक उनके भोग के प्रति उदासीन रहता है और अपनी इस उपेक्षाभाव युक्त अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति के द्वारा साधक को अपने चित्त पर पूर्ण अधिकार हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसका चित्त दृष्ट - अदृष्ट विषयों के पीछे नहीं भागता है। चित्त की इस समय की स्थिति विशेष का नाम ही वशीकार संज्ञा है। यह वशीकार-संज्ञा नामकस्थिति चित्त के अपरवैराग्य काल में होती है। अपरवैराग्य में दृष्ट, अदृष्ट विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और परवैराग्य में राजस, तामस के अतिरिक्त सात्त्विकगुण के प्रति भी वितृष्णा हो जाती है।

अपरवैराग्य द्वारा विरक्त हुआ चित्त पर-वैराग्य द्वारा पुरुष के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर गुणों के प्रति विरक्त हो जाता है। परवैराग्य अपर-वैराग्य की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि परवैराग्य द्वारा ही साधक को चरम-ज्ञान प्राप्त होता है।[1] चित्त उस समय यह अनुभव करता है कि जितना कुछ प्राप्तव्य था सब प्राप्त हो गया और जितना नष्ट होने योग्य था वह नष्ट हो गया। इस प्रकार के विवेकशीलविचार द्वारा अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर कैवल्य लाभ करता है।

---

1 - "ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकम् कैवल्यमिति।"
— व्यास-भाष्य पृ0 52।

तत्त्ववैशारदी

चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने पर जब चित्त में केवल सात्विक वृत्तियाँ ही प्रवाहित होती रहें, चित्त की ऐसी स्थिति के निमित्त जो प्रयत्न किया जाये उस प्रयत्न को अभ्यास कहा गया है। अभ्यास के दो साधनों का निर्देश किया गया है। (1) अन्तरंग (2) बहिरंगसाधन। अन्तरंग में धारणा, ध्यान, समाधि नामक साधन आते हैं और बहिरंग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आते हैं। उक्त दोनों साधनों से साधक, चित्त की राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों का निरोध करता है। अभ्यासकाल में कर्ता जिन बहिरंग साधनों का उपयोग करता है वह तो दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु उनसे क्या फल मिला यह नहीं दिखाई पड़ता। फल की प्राप्ति का अनुभव तो चित्त को होता है। अतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए तत्त्ववैशारदीकार ने लिखा है— "साधनगोचरः कर्तृव्यापारो न फलगोचर इति।"[1]

अभ्यास जब दीर्घकाल तक आसेवित, निरन्तर आसेवित तथा सत्कार-आसेवित होता है, तब वह सुदृढ़ हो जाता है। सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होता। अभ्यास से चित्त की राजस-तामस वृत्तियों का निरोध सरल हो जाता है। यह अभ्यास तीन विशेषणों से संपन्न है। (1) सुदृढ़ता (2) व्युत्थानसंस्कारों से अनभिभूत (3) चित्त की स्थिर स्थिति।[2]

- -

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 48 ।

2 - "सोऽयमभ्यासो विशेषणत्रयसम्पन्नः सम्यगुढावस्थो न सहसा व्युत्थानसंस्कारैरभिभूतस्थितिस्तद्विषयो भवति।"

— वही पृ० 49 ।

अपरवैराग्य :- चेतन अचेतन दृष्ट पदार्थों के प्रति वितृष्णा आनुश्रविक स्वर्गादि विषयों के प्रति वितृष्णा तथा दिव्य अदिव्य वस्तुओं के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होने के साथ-साथ इन सभी पदार्थों, विषयों के प्रति अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति का होना ही वैराग्य है । केवल वितृष्णामात्र को वैराग्य नहीं कहा जा सकता । जब वितृष्णा के साथ - साथ अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो तभी वैराग्य होता है । विषयों के प्रति अनासक्ति तथा उनके भोग के प्रति उदासीन होना वशीकार संज्ञा है । यह वशीकार संज्ञा विवेकशील चित्त को ही प्राप्त होता है । विषयताप युक्त हैं अर्थात् विषय दुःख देने वाले हैं इस प्रकार की बोध दृष्टि का होना ही प्रसंख्यान है । इस प्रसंख्यान-बल से चित्त विषयों के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर उनके प्रति उदासीन तथा अनाभोगात्मिकवृत्ति रखता है, इस प्रकार की प्रवृत्ति का होना ही वशीकार संज्ञा है । वशीकार संज्ञा को वाचस्पतिमिश्र ने भी वैराग्य का विशेषण न मानकर वैराग्यकालिक एक स्थिति माना है । वशीकार संज्ञा के प्रारम्भिक सोपानों का उल्लेख भी इन्होंने किया है । यथा - यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा तथा वशीकारसंज्ञा इति ये चार स्थितियाँ आगमशास्त्र को जानने वाले के अनुसार मान्य बतायी गयी हैं ।

- -

1 - " न वैतृष्ण्यमात्रं वैराग्यम्, अपितु दिव्यादिव्यविषय संप्रयोगेऽपि चित्तस्यानाभोगात्मिका, तामेव स्पष्टयति - हेयोपादेयशून्या । आसंगद्वेषरहितोपेक्षाबुद्धिर्वशीकारसंज्ञा ।"

त०वै० पृ० 50 ।

रागादि चित्त के मल हैं । ये चित्त के कषाय हैं । इन्हीं कषायों के कारण इन्द्रियाँ विषय भोगों में प्रवृत्त होती है । जब चित्त में यह भावना जागृत हो जाती है कि इन्द्रियाँ अब विषय सुखों में प्रवृत्त न होने पावें तो यतमानसंज्ञा होती है[1] । यतमानसंज्ञा में योगी अभ्यास प्रारम्भ करता है । जब साधक यह विचार करने लगता है कि इतने कषायों पर विजय प्राप्त हो गई, इतने और शेष बचे हैं, इस प्रकार का निश्चयरूप वैराग्य व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य होता है[2] । जब कषायों के अनुसार होने वाली इन्द्रियों की प्रवृत्ति वैराग्यभावना के कारण बन्द हो जाती है, केवल 'मन' नामक एक इन्द्रिय में ही कषाय 'उत्सुकता' के रूप में विद्यमान रहते हैं तब अपरवैराग्य की यह अवस्था 'एकेन्द्रियसंज्ञा' कहलाती है[3] । विषयों के प्रति उपेक्षा बुद्धि के साथ साथ अनाभोगात्मिका वृत्ति का होना वशीकार संज्ञा है[4] । उक्त सभी स्थितियाँ अपरवैराग्य के अन्तर्गत आती हैं ।

परवैराग्य :- अभ्यास और अपरवैराग्य के पश्चात् चित्त शुद्ध सात्त्विक प्रवाह वाला हो जाता है[5] । चित्त एकाग्र होकर पुरुष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है साथ ही उसे गुणों के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है ।

- -

1 - " रागादयः खलु कषायाश्चित्तवर्तिनस्तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्तन्ते, तन्मा प्रवर्तिषतेन्द्रियाणि तत्तद्विषयेष्विति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नः, सा 'यतमान-संज्ञा' " । त0वै0पृ0 50 ।

2 - " तदारम्भे सति केचित्कषायाः पक्वाः, पच्यन्ते, पक्ष्यन्ते चकेचित् । तत्र पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा । " - वही पृ0 50 ।

3 - "इन्द्रियप्रवर्तनासमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थानमेकेन्द्रिय संज्ञा ।" - वही0 पृ0 50 ।

4 - " औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दिव्यादिव्यविषयेषूपेक्षाबुद्धिः संज्ञा-त्रयात्परा वशीकार संज्ञा । " - वही पृ0 50 ।

5 - " अपरवैराग्यस्य परं वैराग्यं प्रति कारणत्वम् ।" - वही पृ0 52 ।

गुणों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर चित्त उनके प्रति विरक्त हो जाता है और अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर अति प्रसन्नता का अनुभव करता है[1]। उसके चित्त के अविद्यादि समस्तमल नष्ट हो जाते हैं और साधक जीवित रहता हुआ भी मुक्त के समान अनुभव करता है । इस प्रकार परवैराग्य द्वारा साधक का चित्त सभी प्रकार के मलों से दूर होकर स्वच्छ हो जाता है और ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त करता है । ज्ञान के अनन्त प्रकाश के सामने ज्ञेय उसे अति अल्प रूप का भासित होने लगता है । इस प्रकार के ज्ञान की पराकाष्ठा के पश्चात् ही योगी कैवल्य लाभ करता है जो सबसे ऊँची तथा श्रेष्ठ उपलब्धि है ।

राजमार्तण्ड वृत्ति

अभ्यास ---- चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। अभ्यास द्वारा वृत्तियों की बहिर्मुखी, प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है और ये वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर अपने कारण चित्त में लीन हो जाती हैं । वृत्तियों का निरोध हो जाने पर ही चित्त दृढ़ स्थिरता को प्राप्त होता है[3]। इस प्रकार वृत्तियों से रहित चित्त की शान्त स्थिति के लिए यत्न करना ही 'अभ्यास' है । चित्त की स्थिरता से तात्पर्य है -- चित्त का अपने स्वरूप में स्थित रहना । चित्त का वास्तविक स्वरूप 'प्रकाशात्मक' या 'सात्त्विक' है अतः चित्त का अपने सात्त्विक' रूप में स्थित होना ही चित्त की स्थिति है जिसके लिए 'अभ्यास' नामक उपाय का पालन अनिवार्य है[4]।

- -

1 - "यदुत्तरम् तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् । मात्रग्रहणेन निर्विषयत्वं सूचयति । तदेव हि तादृशं चित्तसत्त्वं रजोलेशमलेनाप्यपरामृष्टमस्थायिरीति एवं ज्ञान प्रसाद इत्युच्यते ।"
ता0वै0 पृ0 52 ।

2 - " तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानां अन्तर्मुखतया स्वकारण एवं चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । - - - - अभ्यासेन च सुखजनक शान्तप्रवाहप्रदर्शन द्वारेण दृढं स्थैर्यमुत्पाद्यते ।"
-- रा0मा0वृ0पृ0 31 ।

3 - " वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिस्तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इत्युच्यते ।"
-- रा0मा0वृ0 पृ0 32

अभ्यास की स्वरूपगत विशेषताएँ ये हैं — अभ्यास का बहुत काल तक होना उसकी प्रथम विशेषता है । चित्त की स्थिति के लिए आदर के साथ निरन्तरयत्न करना अभ्यास की दूसरी विशेषता है । तीसरी विशेषता है । अभ्यास के द्वारा चित्त का स्थिर होना । अभ्यास के ही द्वारा चित्त की स्थिति सुदृढ़ होती है अर्थात चित्त की स्वरूपनिष्ठता दृढ़ होती है[1] ।

चित्तवृत्ति निरोध का दूसरा उपाय 'वैराग्य' है । वैराग्य के दो भेद किए गए हैं । (1) अपर वैराग्य (2) परवैराग्य ।

अपरवैराग्य :- दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की नश्वरता तथा परिणामदुःखता को देखकर उनको न चाहने की इच्छा ही 'अपरवैराग्य' है । 'अपरवैराग्य' में साधक का चित्त विषयों से इतना अधिक विरक्त हो जाता है कि किसी भी प्रकार के विषय की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता है । विरक्तचित्त वशीकार-संज्ञा को प्राप्त हो जाता है और यह अनुभव करता है कि 'विषय' अब उसके वश में है वह विषयों के वशीभूत नहीं है । विषयों के प्रति अब वह कभी भी आसक्त नहीं हो सकता है[2]।

परवैराग्य :- विवेकख्यातिद्वारा पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर गुणमात्र के प्रति विरक्ति होना 'परवैराग्य' है । इस अवस्था में साधक यह समझ लेता है कि समस्त विषय गुणों से युक्त हैं, अतः वृत्तिनिरोध के लिए श्रेष्ठ उपाय गुणों से छुटकारा पा जाना है । इस प्रकार की भावना के जाग्रत होने पर साधक को सभी गुणों से वैराग्य हो जाता है । इसी वैराग्य को परवैराग्य या श्रेष्ठवैराग्य माना गया है[3] ।

- -

1 - " बहुकालं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढ़ भूमिः स्थिरो भवति । दार्ढ्याय प्रभवतीत्यर्थः । "

— रा०मा०वृ० पृ० 34 ।

2 - " तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणाम विरसत्व दर्शनाद्विगलगर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ।"

— वही पृ० 36 ।

3 - " तद्वैराग्यं पर प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम् । द्वितीयं गुणविषयमुत्पन्नपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति, निरोध-समाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् । "

— वही पृ० 39

विवरण

चित्त की सुखदुःख और मोहात्मक वृत्तियों के निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। चित्त की स्थिति के निमित्त किया गया यत्न ही अभ्यास है।[1] यत्न का ही पर्याय 'वीर्य' तथा 'उत्साह' है।[2] अतः इस आधार पर 'वीर्य' और उत्साह को भी 'अभ्यास' कहा जा सकता है। अभ्यास के लिए यम-नियमादि योग के आठों साधनों का अनुष्ठान किया गया है। इस प्रकार योग के साधनों का अनुष्ठान अभ्यास हुआ।[3] यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर आसेवित किए जाने पर दृढ़भूमि वाला होता है। दृढ़भूमिक अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से अचानक बाधित नहीं होता। अतः समाधि-स्थिति भी दृढ़ तथा दीर्घ कालीन होती है।

अब वैराग्य का निरूपणप्रस्तुत है। दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा का उत्पन्न होना वैराग्य है। इसे ही अपरवैराग्य कहा गया है। अपर-वैराग्य के चार भेदों के नाम इस प्रकार हैं :- (1) यतमानसंज्ञा (2) व्यतिरेकसंज्ञा (3) एकेन्द्रियसंज्ञा और (4) वशीकारसंज्ञा। सभी पदार्थों पर वश प्राप्त कर यह सोचना कि पदार्थ गौण हैं इनका अब कोई काम नहीं है इस प्रकार की अनाभोगात्मक प्रवृत्ति का होना ही वशीकार-संज्ञात्मक वैराग्य है।

---

1 - "निरोधनिमित्ता चित्तस्य या स्थितिः यत्नस्य फलभूता तस्या निमित्तो यो यत्नः सोऽभ्यासः।

— विवरण 42 ।

2 - "यत्नोवीर्यमभ्युत्साह इति पर्यायाः।"

— वही पृ0 43 ।

3 - "यमनियमादियोग साधनानुष्ठानमभ्यास इति।"

— वही पृ0 43 ।

दूसरे प्रकार के वैराग्य को 'परवैराग्य' नाम से अभिहित किया गया है । यह वैराग्य कैवल्य-दायक होने के कारण परमुत्कृष्ट वैराग्य माना गया है[1] ।

योगवार्त्तिक

चित्त की एकाग्रता के लिए शास्त्रोक्तश्रद्धादि साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास है[2] । अर्थात् चित्त को ध्येय रूप आलम्बन में यत्नपूर्वक लगाना या सन्निविष्ट करना ही अभ्यास है । इस अभ्यास का निरन्तर बहुतकाल तक तपस्या इत्यादि सत्कर्मों द्वारा सेवन करने से अभ्यास सुदृढ़ होता है तथा व्युत्थानसंस्कारों से खण्डित नहीं होता इस प्रकार अभ्यास से चित्त हर्षशोकादि वृत्तियों से रहित शान्त तथा एकाग्रस्थिति वाला होता है चित्त की इस एकाग्र, शान्त स्थिति के लिए यत्न करना ही अभ्यास है । 'स्थिति' शब्द को आचार्य ने योग का चरम् अंगभूत-समाधि बताया है । यह विवेचन वार्त्तिककार का विशेष विवेचन है क्योंकि अन्य व्याख्याकारों ने 'स्थिति' शब्द को लेकर ऐसा विचार नहीं किया है ।

वैराग्य :- वैराग्य अलम्भावना को कहते हैं । रागादि का अभाव मात्र वैराग्य नहीं है । चित्त में जब किसी भी प्रकार की तृष्णा नहीं रह जाती है अर्थात् सर्वथा, सर्वतः वितृष्ण चित्त ही वैराग्य को प्राप्त करता है[3] । वैराग्य दो प्रकार का होता है (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य ।

अपरवैराग्य :- दृष्ट, अदृष्ट, आनुश्रविक, विषयों के प्रति वितृष्णा के साथ-साथ चित्त की अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति ही अपरवैराग्य है । अपरवैराग्य का क्रमिक विकास यतमान संज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा तथा वशीकार संज्ञा नामक सोपानों

- -

1 - कैवल्यस्य आ प्रत्यासन्नतरत्वात् परमुत्कृष्टम् ।"

- विवरण पृ0 45 ।

2 - " श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञाऽऽदीनां वक्ष्यमाणानां साधनानामनुष्ठानमभ्यास लक्षणकृतम् ।

- योगवार्त्तिक पृ0 48

3 - " अतोऽत्र वैराग्यस्य वैतृष्ण्यमात्रं न लक्षणं किं तु यथोक्त वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञेति ।"

- वही पृ0 50 ।

से होता है । इन चारों में वशीकारसंज्ञा नामक अपरवैराग्य श्रेष्ठ माना गया है । अतः योगप्राप्ति के इच्छुक साधक को वशीकार संज्ञक अपरवैराग्य का अनुष्ठान करना चाहिए ।

<u>परवैराग्य</u> :- परवैराग्य अपरवैराग्य की तुलना में उत्कृष्टतर है[1]। परवैराग्य में चित्त सांसारिक तथा स्वर्गादि आकर्षणों के प्रति वैराग्य से भी ऊँचे उठकर बुद्धितत्व, पुरुष तत्व तथा प्रकृति तत्व का ज्ञान प्राप्त करता है और पुनः इस ज्ञान के प्रति भी विरक्तचित्त होकर परवैराग्य प्राप्त करता है । परवैराग्य के द्वारा साधक कैवल्यफल दायक असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त होता है ।

विवेकख्याति के प्रति भी वैराग्य हो जाना "परवैराग्य" है । यह वैराग्य सम्प्रज्ञात के साधक, यमनियमादि के साधक का विषय नहीं यह असम्प्रज्ञातयोग का साधन है । सम्प्रज्ञात योग के बाद विवेकख्याति प्राप्त होती है और जब विवेकख्याति के भी प्रति वैराग्य हो जाता है तब परवैराग्य की स्थिति आती है । इसी स्थिति में योगी असम्प्रज्ञात-योग को प्राप्त करता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त कर मुक्त हो जाता है[2]।

- -

1 - " तथा चात्मदृश्ययोरन्तरसाक्षात्काराभ्यासाद्धेतोरभ्यस्यमानं सकलगुणेषु वैतृष्ण्यं परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः ।

योगवार्तिक पृ0 53 ।

2 - " एतस्यैव यतो ज्ञानप्रसादस्य कैवल्यं नान्तरीयकं नियतम् एतस्मिन्नेव सति कैवल्यमावश्यकं नान्यस्मिन् ज्ञाने यमनियमादौ वैराग्ये वा तत्रस्थेऽप्यसंप्रज्ञातानुदयेनाशेषतः प्राचीनकर्मक्षयोऽनियमतः कषायसंभवताच्च मोक्षे विलम्बसम्भावाादिति । "

-वही पृ0 54 ।

विवेकख्यातिपर्यन्त चित्त की स्थिति बनाये रखने के लिए श्रद्धादि साधनों का पुनः-पुनः अनुष्ठान ही अभ्यास है[1]। इस अभ्यास का सेवन जब बिना किसी बाधा के निरन्तर ब्रह्मचर्यादि रूप सत्कार्यों के द्वारा किया जाता है तब यह अभ्यास दृढ़ भूमि वाला होता है। दृढ़भूमिक अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होता अतः सुदृढ़ अभ्यास से स्थिर चित्त की स्थिति व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होती[2]।

योग का दूसरा उपाय वैराग्य है। वैराग्य के दो भेद निर्दिष्ट हैं (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य। प्रथमतः अपरवैराग्य का स्वरूप निरूपित किया जा रहा है। जितने भी लौकिक विषय हैं सभी दृष्ट विषय हैं। वेदोक्त स्वर्गादि विषय अदृष्ट विषय हैं। इन दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा ही वैराग्य है। अपरवैराग्य के चार भेद किए गए हैं। (1) यतमानसंज्ञा (2) व्यतिरेकसंज्ञा (3) एकेन्द्रिय संज्ञा और (4) वशीकार-संज्ञावैराग्य। इन सभी का विश्लेषण क्रम से किया जा रहा है। विषयों के प्रति दोषदृष्टि होने पर ही वैराग्य होता है अतः जब ज्ञानपूर्वक वैराग्य के साधनों का अनुष्ठान किया जाता है तब यतमानसंज्ञा नामक वैराग्य होता है। यह वैराग्य की प्रथमभूमिका है। इसमें इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जा चुका है

- -

1 - " तत्र तयोर्मध्ये स्थितौ विवेकपर्यन्तं चित्तस्थैर्यार्थं प्रयत्नो वक्ष्यमाणानां श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रभृतिसाधनानां पुनः पुनरनुष्ठानमभ्यास इत्यर्थः।"

— योगदीपिका पृ० ।। ।

2 - " स तु अभ्यासो दीर्घकालेन सेवितो नैरन्तर्येणाव्यवधानेन च सेवितस्तपो-ब्रह्मचर्यादिरूपैः सत्कारैश्च सेवितो दृढभूमिर्भवति । व्युत्थान संस्कारेणानभिभूतां स्थितिं जनयतीत्यर्थः।"

— वही पृ० ।। ।

अब इतनी और जेतव्य हैं ऐसी अवधारणा द्वितीय भूमिका में होती है जिसे 'व्यतिरेकसंज्ञा' नामक वैराग्य कहा गया है। बाह्येन्द्रियों को आकृष्ट करने वाले स्वादि विषयों के प्रति राग का अभाव होने पर एक मन से सम्बन्धित रागादि के दूर हो जाने पर एकेन्द्रियसंज्ञा नामक वैराग्य होता है। जब सभी प्रकार के रागादिवासनाओं के प्रति वैराग्य हो जाता है तब वशीकार संज्ञा नामक चतुर्थ वैराग्य प्राप्त होता है[1]।

अपरवैराग्य के पश्चात परवैराग्य का निरूपण किया जा रहा है। परवैराग्य को 'श्रेष्ठवैराग्य' नाम से भी अभिहित किया जाता है। पुरुषख्याति के अनन्तर सभी गुणों के प्रति वितृष्णा का होना ही परवैराग्य है[2]। 'वितृष्णा' पद का अर्थ योगदीपिकामें 'अलंबुद्धि' किया गया है अर्थात् गुणों के प्रति आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जाना। यह वैराग्य ही कैवल्य का कारण है[3]।

- -

1 - " ज्ञानपूर्वकवैराग्यसाधनानां दोषदर्शनादीनामनुष्ठानं यतमानसंज्ञात्वेन परिभाषिता वितृष्णा प्रथमा भूमिका। बाह्येन्द्रियविषयेषु स्त्र्यादिषु रागद्वेषाद्यभावे सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानादिविषयकरागद्वेषाद्यपसारणं तृतीयाभूमिका। प्रकृष्टविषयसन्निधेरपि रागादिवासनानुद्बोधश्चतुर्थीभूमिका वशीकारसंज्ञा वितृष्णेति।"

— योगदीपिका - पृ० 12।

2 - " सकलगुणेष्वात्मोपकरणेषु वैतृष्ण्यमलंबुद्धिः परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः।"

— वही पृ० 12।

3 - " एतस्मिन्नेव च वैराग्ये सति कैवल्यनियमो।"

— वही पृ० 13।

जब चित्त की राजसी और तामसी वृत्तियों का निरोध हो जाता और चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति ही अवशिष्ट रह जाती है तब चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है। चित्त की यह एकाग्रता ही उसकी स्थिति है जिसके लिए अभ्यास और वैराग्यनामक उपायों का उल्लेख किया गया है। चित्त की स्थिरता के लिए यमादि-साधनों का अनुष्ठान प्रयत्न के द्वारा किया जाता है उस प्रयत्न की धारा को ही 'अभ्यास' कहा गया है। "प्रयत्न की धारा" पद से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न की अविच्छिन्नता ही अभ्यास है।[1] यह अभ्यास दीर्घकालतक, निरन्तर, श्रद्धा, तपस्यादि द्वारा जब सेवित होता है तब यह दृढ़ भूमि वाला होता है। दृढ़भूमि को प्राप्त अभ्यास व्युत्थान संस्कारों से अभिभूत नहीं होता अर्थात चित्त की स्थिति बनी रहती है। व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होती।

अभ्यास के बाद 'वैराग्य' का उल्लेख किया जाता है। वैराग्य के दो भेदों में से 'अपरवैराग्य' नामक प्रथम भेद का विवेचन प्रथमतः किया जा रहा है। अपरवैराग्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वैराग्यों का निरूपण किया गया है। जिनमें से चतुर्थ अर्थात 'वशीकारसंज्ञक' वैराग्य को ही वास्तविक अर्थ में वैराग्य माना गया है। योग प्राप्ति के लिए वशीकारसंज्ञक वैराग्य ही सहायक होता है। अतः इसकी प्रतिष्ठा अन्य तीन वैराग्यों की अपेक्षा अधिक की गयी है। अपरवैराग्य में दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा होती है। रामवर्णन योगदीपिका की ही भाँति है अतः यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकारसंज्ञक वैराग्य के भेदों की व्याख्या नहीं की जा रही है।[2]

---

1 - " सात्त्विकमात्रवृत्तिकैकाग्रता स्थितिस्तत्र तन्निमित्तं तत्सम्पादनेच्छया तत्साधनविषयानुष्ठाने या यत्नधारा सोऽभ्यास इत्यर्थः । "

-- पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 11 ।

2 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 12 ।

वैराग्य का दूसरा भेद है 'परवैराग्य' । यह वैराग्य उत्कृष्ट-प्रकार का वैराग्य है । जब गुणों और पुरुष का विविक्त ज्ञान हो जाता है तब साधक को गुणों के प्रति वैराग्य हो जाता है । वैराग्य का अर्थ है गुणों के प्रति अलंबुद्धिरूप-वैराग्य । यह वैराग्य निर्विषयक होता है अर्थात् इस वैराग्य के बाद साधक का चित्त किसी भी विषय तथा उसके ज्ञान से आबद्ध नहीं रहता है । इस समय न तो कोई बुद्धिवृत्तिबनती है न कोई ज्ञान होता है अतः परवैराग्य की अवस्था में चित्त असम्प्रज्ञात समाधि में लीन हो कैवल्य को प्राप्त करता है ।[1]

मणिप्रभा

चित्त की रजोगुणयुक्त तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त एकाग्रस्थिति में स्थित होता है । चित्त की एकाग्रस्थिति के लिए यमनियमादि योग के साधनों का प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान ही 'अभ्यास' है ।[2] अभ्यास प्रयत्न विशेष का नाम है । इस अभ्यास का सेवन जब पवित्रता तथा संयमपूर्वक, तपस्या तथा श्रद्धादि ज्ञान द्वारा निरन्तर किया जाता है तब यह अभ्यास सुदृढ़[3] होता है, सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों के सम्पर्क से कभी भी अभिभूत नहीं होता है । फलतः चित्त की एकाग्रभूमि में स्थिति अनवच्छिन्न रूप से बनी रहती है । 'स्थिति' शब्द का अर्थ मणिप्रभाकार ने चित्त का 'एकाग्रभूमि' में अवस्थित होना किया है ।

- -

1 - " यदुत्तरं निर्विकल्पज्ञानप्रसादमात्ररूपो संप्रज्ञातः समाधिरिति तात्पर्यम् । अस्मिन्नेव वैराग्ये सति कैवल्यनियमः ।" — पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 13 ।

2 - " चित्तस्यैकाग्रता 'स्थितिः' तस्यां कार्यायां यानि साधनानि यमनियमादीनि तद्विषयः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यास" इत्यर्थः । — मणिप्रभा पृ० 7 ।

3 - " सोऽभ्यासो दीर्घकालं तपोब्रह्मचर्यविद्याश्रद्धासत्कारेण नैरन्तर्येण चासेवितो-दृढसंस्कारः स व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते किं तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः ।"

— वही पृ० 8 ।

चित्तवृत्तियों के निरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेद किए गए हैं । (1) अपरवैराग्य और (2) परवैराग्य । अपरवैराग्य के अन्तर्गत चार प्रकार के वैराग्य समाविष्ट हैं जिनका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है । रागादि कषायों से युक्त विषयों में प्रवृत्तइन्द्रियों के कषायों को पकाने के लिए किया गया यत्नविशेष ही यतमानसंज्ञक वैराग्य है । 'पकाना' शब्द यहाँ सम्भवतः कषायों को 'दग्धबीजभावता' प्राप्त कराने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । दग्ध बीज भाव को प्राप्त कराने के बाद क्लेशयुक्त वृत्तियाँ पुनः नहीं उत्थित हो पातीं और इस प्रकार उनका आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । इन पकाए गए कषायों के बाद अब और कितने बचे का विभाग करना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । क्लेशों के पक जाने या भर्जित हो जाने के उपरान्त इन्द्रियाँ अप्रवर्त्तनशील हो जाती हैं और चित्त एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है । चित्त का एकाग्र होना ही एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य है । जब साधक सभी दृष्ट-अदृष्ट विषयों को विनाश, ताप और असूयादि दोषों से युक्त देखता है तब इनके प्रति भी उसके चित्त में वितृष्णा जग जाती है फलतः साधक उन विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता हुआ वशीकारसंज्ञक वैराग्य को प्राप्त करता है ।[1]

अपरवैराग्य के बाद ही परवैराग्य की प्राप्ति होती है । इसी बात को ध्यान में रखते हुए मणिप्रभाकार ने लिखा है — " पूर्ववैराग्यमुत्तरवैराग्ये हेतुः ।" योगांगों के अनुष्ठान से चित्त जब शुद्ध होकर विषयों के प्रति दोषदृष्टि रखता हुआ वैराग्य प्राप्त कर लेता है तब उसे पुरुषख्याति होती है । पुरुषख्याति को ही विवेकख्याति भी कहते हैं । विवेकख्याति के निरन्तर होते रहने पर चित्त नितान्त

- -

1. " तत्ररागादिमन्ति चित्तस्थानां कषायाणां विषयेष्विन्द्रियप्रवर्त्तकानां पाकाय प्रयत्नो यतमानसंज्ञावैराग्यं, ततः पक्वानां केषांचित्कषायाणां पक्ष्यमाणेभ्यो विभागावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्यं, ततः पक्वानां सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्त्तनाशक्तानां मनस्यौत्सुक्यरूपेणावस्थान मेकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्यं, - - - - - दृष्टेषु - - - - आनुश्रविकेषु - - - विनाशपरिताप-सातिशयत्वासूयादिदोषाणामभ्यासेन साक्षात्कारात् "वितृष्णा" "स्योपेक्षाबुद्धिः" "वशीकारसंज्ञा" "वैराग्यमित्यर्थः ।"

— मणिप्रभा पृ० 8 ।

शुद्ध सात्त्विक रूप में स्थित होता हुआ धर्ममेघसमाधि को प्राप्त होता है ।[1] धर्ममेघ-समाधिस्थ चित्त जब गुणों से मुक्त होकर कृतकार्य हो जाता है तब उसे असम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति होती है । असम्प्रज्ञातसमाधि को परवैराग्य की पूर्णता का अभिन्न फल कहा गया है[2] ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

यमनियमादि योग के साधन जिनके द्वारा चित्त रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों से शून्य होकर एकाग्र स्थिति में स्थित होता है । चित्त की इस एकाग्रता के लिए किया गया प्रयत्न अथवा अनुष्ठान ही अभ्यास है[3] । यह अभ्यास ब्रह्मचर्य और श्रद्धादि संस्कारों से आसेवित होने पर दृढ़ होता है । अभ्यास के सुदृढ़ होने पर तदनन्तर ही दृढ़संस्कार चित्त में बनते हैं जिसके कारण चित्त की एकाग्र स्थिति खण्डित नहीं होती । क्योंकि सुदृढ़ अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों से सर्वथा अनभिभूत रहता है[4] ।

वृत्तिनिरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेदों का उल्लेख किया गया है । अपरवैराग्य और पर-वैराग्य । अपरवैराग्य परवैराग्य की तुलना में कम श्रेष्ठ है सम्भवतः इसीलिए इस वैराग्य का नाम अपरवैराग्य रखा गया है।

- -

1 - " सोऽयमतिशुद्धचित्तधर्मः प्रसादो धर्ममेघस्योत्तरावधिः तस्यैव फलीभूतः परं गुणेभ्यो वैतृष्ण्यं वैराग्यमुच्यते यं मुक्ति हेतु साक्षात्कारं वदन्ति मोक्षविदः । यस्योदये प्रक्षीण सर्वक्लेशो विधूताशेषकर्माशयः कृतविवेकख्यातावप्युपेक्षकः कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमिति मन्यते योगी । "

— मणिप्रभा पृ0 9 ।

2 - " चित्तमसम्प्रज्ञातसंस्कारमात्रशेषं भवति तत्परं वैराग्यम् ।"

— वही पृ0 9 ।

3 - " रजस्तमोवृत्तिशून्यस्य चित्तस्य एकाग्रतास्थितिः । तस्यां कार्यापि यम-नियमादीनि । तद्विषयकः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यासः इत्यर्थः ।"

— सूत्रार्थबोधिनी पृ0 5 ।

4 - " सः व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते, किन्तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः ।"

— वही पृ0 6

जब दृष्ट और अदृष्ट विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि होने पर विषयों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होती है तब वशीकारसंज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है जो अपरवैराग्य की भूमिकाओं में से अन्तिम वैराग्य है । अपरवैराग्य के चारों भेदों का उल्लेख इस व्याख्या में औरों से भिन्न रूप में किया गया है ।

स्वीकृत विषय जिनका त्याग नहीं हो सकता उनके प्रति उदासीनभाव रहते हुए उनके समान वस्तुओं का त्याग करना ही यतमानसंज्ञकवैराग्य है । प्रिय विषयों के प्रति राग का अभाव होना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है । विषयवृत्तियों के प्रति हृदय में राग का शिथिल हो जाना एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य है । जब एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य के प्रति भी उदासीनता आ जाती है तब वशीकार संज्ञक वैराग्य होता है । वशीकार-संज्ञक वैराग्य में चित्त पूर्णतया सभी विषयों की तरफ से उदासीन होकर केवल अपने आप में स्थित रहता है[1] ।

अपरवैराग्य के पश्चात परवैराग्य की स्थिति आती है । पुरुष और प्रधान का विविक्तज्ञान हो जाने पर गुणों के प्रति वितृष्णा का हो जाना ही पर वैराग्य है । पर का अर्थ है श्रेष्ठ है । अतः 'परवैराग्य' इस पूरे पद का अर्थ श्रेष्ठ वैराग्य हुआ । इस वैराग्य द्वारा चरमज्ञान प्राप्त हो जाता है और साधक सद्यः कैवल्य प्राप्त कर मुक्त हो जाता है[2] ।

- -

1 - "तत्र स्वीकृतविषयान् सन्त्यक्तुमशक्नुवतोऽपि समानेच्छा त्यागेनाद्यम् । ततोऽपिविषयाणां मध्ये प्रियवस्तुताकस्यापि व्यतिरेकेणाऽपि वृत्तिर्द्वितीयम् । तथा वृत्तावपि मनसि रागशैथिल्येन बाह्येन्द्रियैरेव सेवनं तृतीयम् । तत्राप्यौदासीन्यं चतुर्थमित्यर्थः ।"

— सूत्रार्थबोधिनी पृ0 6 ।

2 - "पुरुषस्य या ख्यातिः प्रधानादिविविक्तस्य यः साक्षात्कार उच्यते तदभ्यासाद्बोध गुणत्रयव्यवहारेषु वैतृष्ण्यम् । तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्या भवति तत्परं श्रेष्ठं फलभूतं वैराग्यं तत्परिपाकनिमित्तोपशमपरिपाकवतोऽखिलक्षेम कैवल्यमित्यर्थः ।"

— वही पृ0 7 ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका –

चित्त की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करने के उपरान्त परमात्मा में चित्त को एकाग्र करने के हेतु जिन प्रयत्नों का अनुष्ठान किया जाता है उस अनुष्ठान को ही अभ्यास कहा गया है । 'अभ्यास' के निमित्त किए गए प्रयत्न ये हैं उत्साह, साहस, धैर्य, अध्यात्मविद्या, शास्त्रों का अध्ययन और योग के आठों साधनों के अनुष्ठान द्वारा चित्त एकाग्रस्थिति में स्थित होता है । यह अभ्यास बहुत समय तक निरन्तर भक्ति और श्रद्धापूर्वक सेवित होने पर दृढ़-भूमिवाला होता है । दृढ़अभ्यास से दृढ़अभ्याससंस्कार बनते हैं जो व्युत्थान संस्कारों से बाधित नहीं होते और चित्त इस प्रकार दृढ़ अभ्यास द्वारा स्थितिशील होने में समर्थ होता है[2] ।

वृत्तिनिरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेद हैं – अपरवैराग्य और परवैराग्य ।

अपरवैराग्य – दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति उपेक्षाबुद्धि के होने पर जो वैराग्य होता है उसे अपरवैराग्य कहते हैं । अपरवैराग्य के चारों भेदों का उल्लेख 'सूत्रार्थबोधिनी' की भाँति ही इस व्याख्या में भी किया गया है ।

परवैराग्य – यह वैराग्य अपरवैराग्य से श्रेष्ठ वैराग्य माना गया है[3] । यह वैराग्य कैवल्यदायक होता है तथा इसवैराग्य में ही प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान हो जाता है जिससे गुणों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न होने पर साधक को गुणों से वैराग्य हो जाता है ।

- -

1- " तत्रतयोर्मध्ये तस्मिन् परात्मनि सच्चिद्रूप इति वा स्थितिरेकाग्रता तदर्थं प्रयत्न उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याध्ययनमहत्सेवनयमनियमाद्यनुष्ठानलक्षणोऽभ्यास इत्यर्थः ।"

– योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ० 16 ।

2 - " सोऽभ्यासो दीर्घकालं नैरन्तर्येण भक्तिश्रद्धादिरूपसत्कारेणासेवितो दृढ़भूमिर्दृढ़संस्कारः सन् । व्युत्थानसंस्कारैरनभिभवेन स्थितौ समर्थो भवतीत्यर्थः ।"

– वही पृ० 17 ।

विवेकज्ञान अर्थात तत्त्वज्ञान के मुख्य उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं । अतः विवेकज्ञान के साधनों का पुनः-पुनः अनुष्ठान ही अभ्यास है[1]। 'अभ्यास' की विशद व्याख्या इस प्रकार से की गयी है - चित्त की स्थिति के लिए प्रयत्न करना अभ्यास है । चित्त की स्थिति क्या है ? इसका विवेचन करते हुए लिखते हैं - चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने के उपरान्त निरुद्धवृत्तिक शान्त चित्त ही चित्त की वास्तविक "स्थिति" है । चित्त की यह "स्थिति" चित्त की "एकाग्र" और "निरुद्ध" भूमियों में होती है[2]। इस स्थिति के लिए योग के साधनों का अनुष्ठान ही अभ्यास है । यमनियमादि योग के साधन हैं जिनके अभ्यास द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध होता है और चित्त स्थिर होता है । इन साधनों का अभ्यास, जब निरन्तर श्रद्धापूर्वक नियमपूर्वक, तपस्या और विद्या के साथ अर्थात् ज्ञान के साथ आदरातिशय के साथ किया जाता है तब वह अभ्यास सुदृढ़ होता है अर्थात ऐसा अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों के द्वारा अभिभूत नहीं होता है[3]।

अपरवैराग्य - चित्तवृत्ति निरोध का दूसरा उपाय वैराग्य है । वैराग्य के दो भेदों का उल्लेख सूत्रकार ने किया है, अपरवैराग्य और परवैराग्य । अपरवैराग्य में लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है ।

---

1 - " विवेकस्य साधनानामपि पुनः पुनरनुष्ठानमभ्यासः ।"

— भास्वती पृ० 45 ।

2 - " अवृत्तिकस्य = निरुद्ध वृत्तिकस्य चित्तस्य या प्रशान्तवाहिता निरुद्धावस्थायाः प्रवाहः सा हि मुख्या स्थितिः, तदनुकूलैकाग्रावस्थाऽपि स्थितिः ।"

— वही पृ० 46 ।

3 - " दीर्घकालं यावत् आसेवितः = अनुष्ठितः, निरन्तर = प्रत्यहं प्रतिक्षण-आसेवितः, तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च सम्पादितः सत्कारवानभ्यासः = सत्कारासेवितः, - - - - तथाभूतोऽभ्यासो दृढ़भूमिर्भवति, व्युत्थानसंस्कारेण न झाक् = सहसाऽभिभूयत इति ।"

— वही पृ० 46 ।

जितने भी दृष्ट अर्थात लौकिक विषय हैं तथा अदृष्ट अर्थात अलौकिक विषय हैं उनके प्रति चित्त का आकर्षण बना रहना अवैराग्य है और जब इन दोनों प्रकार के विषयों के प्रति चित्त में वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है तब वैराग्य हो जाता है । अपरवैराग्य के कई भेदों का उल्लेख प्राप्त है यथा – यतमानसंज्ञक-वैराग्य, व्यतिरकसंज्ञक-वैराग्य, एकेन्द्रिय और वशीकार-संज्ञक-वैराग्य ।

इनमें से पूर्ण वैराग्य की स्थिति का निरूपण वशीकार-संज्ञक वैराग्य में ही होता है अतः वशीकारसंज्ञक वैराग्य को अन्य वैराग्यों की अपेक्षा अधिक उपयोगी माना गया है । इस संदर्भ में इन सभी वैराग्यों का स्वरूप वर्णनीय है । राग को उखाड़ फेंकने की चेष्टा को यतमानसंज्ञक वैराग्य कहा गया है, कितने विषयों के प्रति वैराग्य हो चुका है, अब और कितने शेष रह गए हैं, इस प्रकार की अवधारणा करते हुए वैराग्य में लगे रहना 'व्यतिरेकसंज्ञक' वैराग्य है, राग के क्षीण हो जाने पर उत्सुकतापूर्वक मन में स्थान हो जाना एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य है, जब एकेन्द्रियसंज्ञक राग का नाश हो जाता है तब वशीकार-संज्ञक वैराग्य हो जाता है[1] । वशीकारसंज्ञक वैराग्य के उत्पन्न होने पर साधक के चित्त में विदेहों और प्रकृतिलयों को प्राप्ति तथा अन्य भी दिव्य-अदिव्य वस्तुओं के प्रति अनाभोगात्मिका प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह इन सभी पदार्थों एवं उपलब्धियों की क्षणिक दुःखता को देखकर उनको तुच्छ[2] मानकर विरक्त हो जाता है । यही वैराग्य अपरवैराग्य के नाम से जाना जाता है ।

- -

1 – " रागोत्पाटनाय चेष्टमानता यतमानम्, केषुचिद्विषयेषु विरागः सिद्धः केषु सिद्ध साध्य इति यत्र व्यतिरेकेणावधारणं तद् व्यतिरेकसंज्ञकम्, ततः परं यदेकेन्द्रियं मनस्यौत्सुक्य मात्रेण क्षीणो रागस्तिष्ठति तदेकेन्द्रियेण तादृशस्यापि रागस्य नाशाद् वशीकारः सिद्ध्यतीति ।"

— भास्वती पृ० 47 ।

2 – " तुच्छताख्यातिमती, हेयोपादेयशून्येत्यर्थः । वैतृष्ण्यात्मका वशीकारसंज्ञा, तस्यापरं वैराग्यम् ॥"

— वही पृ० 48 ।

परवैराग्य — जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष और प्रकृति का भेदज्ञान हो जाता है तब यह ज्ञात हो जाता है कि सभी लौकिक और अलौकिक विषय गुणों के ही व्यक्त रूप हैं। अतः विवेकख्यातिलब्ध साधक को इन सबके मूलकारण गुणों के प्रति वैराग्य हो जाता है। गुणों के प्रति वैराग्य का होना ही परवैराग्य है। परवैराग्य की स्थिति में साधक का चित्त रजोगुण तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों से हीन होकर केवल पुरुषख्याति में लीन हो जाता है[1] इस अवस्था में चित्त के समस्त कषाय समाप्त हो चुके रहते हैं और साधक को केवल पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता रहता है। इस प्रकार की ज्ञानात्मक स्थिति को ही 'परवैराग्य' की संज्ञा दी गयी है। परवैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा भी कहा गया है क्योंकि ज्ञान की अन्तिम सीमा 'पुरुषख्याति' है। इस वैराग्य में ही यह ख्याति होती है अतः परवैराग्य को ज्ञान की पराकाष्ठा कहना सर्वथा उचित है।[2]

- -

1 - "तत्र यदुत्तरं परवैराग्यं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् = ज्ञानस्य यः प्रसादस्तदुत्कर्षो रजोलेशमलहीनता, अतएव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रिता।"

— भास्वती पृ० 50।

2 - "एवं ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यं, नान्तरीयकम् = अविनाभावि।"

— वही पृ० 50

स्वामिनारायणभाष्य

चित्तवृत्तियों का निरोध विवेकज्ञान तथा चित्त की अत्यन्तएकाग्रता द्वारा होता है। ये दोनों अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही चित्तवृत्ति निरोध करने में समर्थ होते हैं, अतः अभ्यास और वैराग्य विवेकज्ञान और चित्त की आत्यन्तिक एकाग्रता के प्रयोजक हैं[1]। इन दोनों में से पहले अभ्यास का स्वरूप द्रष्टव्य है। संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त आत्यन्तिक रूप से एकाग्र और शान्त रहता है। चित्त की इस एकाग्रता और शान्ति को दृढ़ करने के लिए इन अवस्थाओं के अनुकूल प्रयत्न ही "अभ्यास" है[2]।

चित्त-वृत्तियों के निरोध तथा वृत्तियों के संस्कारों का निरोध करने के लिए समाधि की दृढ़ता अनिवार्य है। अतः अनेकों संस्कारों का क्षय करने के लिए समाधि की दीर्घकालीनता अपेक्षित है। चित्त पुनः-पुनः अभ्यास द्वारा ही स्थिर होता है अतः समाधि की दृढ़ता के लिए, दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास का आसेवन वांछनीय है। सत्कार का अर्थ 'श्रद्धा' और 'आदर' इस व्याख्या में किया गया है।

वैराग्य :- दृष्ट-अदृष्ट विषयों में राग का अभाव होना ही वैराग्य है। इसके दो भेद किए गए हैं। (1) अपरवैराग्य (2) परवैराग्य। अपरवैराग्य के पुनः तीन भेद किए गए हैं। यतमानसंज्ञक वैराग्य, व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य और एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य। पर-वैराग्य केवल एक प्रकार का होता है वह है वशीकारसंज्ञकवैराग्य।

1- " चित्तवृत्तिनिरोधं प्रति विवेकज्ञानम् अत्यन्तैकाग्रावित्तावस्था चेत्युभयं प्रयोजकम् तत्र चोभयेऽस्त्याभ्यासो वैराग्यश्चेत्युभयं क्रमशः प्रयोजकमिति।"

— स्वामिनारायणभाष्य पृ० 80।

2 - " तादृशशान्तिभागैकाग्रतावस्थाया दृढीकरणाय पुनः पुनरेकाग्रतावस्थानुकूलः प्रयत्नएव अभ्यास-पदवाच्यः।"

— वही पृ० 80।

कामक्रोधादिकषायों से रागयुक्तचित्त की इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयों में भ्रमित होती रहती हैं, उनकी इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रारम्भिक प्रयत्न यतमानसंज्ञक वैराग्य है।[1] कितने चित्तकषाय नष्ट हो चुके हैं कितने अभी अवशिष्ट हैं इस प्रकार के कषायों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त उन्हें भी नष्ट करने के हेतु प्रयत्न करना व्यतिरेकसंज्ञकवैराग्य है।[2] सभी चित्त कषायों के नष्ट हो जाने पर और इन्द्रियों के शिथिल, असमर्थशील हो जाने के उपरान्त मन में ही स्थित रहते हुए तथा कुछ समय पश्चात् मन के प्रति भी वैराग्य की भावना होने पर एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य होता है।[3] उक्त तीनों वैराग्यों में लौकिक-अलौकिक विषयों के प्रति तृष्णा का अभाव कथंचित् ही रहता है अतः इन वैराग्यों को अपरवैराग्य नाम दिया गया है।

- -

1 - " यतमानसंज्ञको यथा 'कामक्रोधादिकषाया रागयुक्तचित्तवर्तिनो यथास्वं विषयेष्विन्द्रियाणि प्रेरयन्ति तन्मा प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति रागादिपरिपाचनाय प्रारम्भितप्रयत्नो यतमानसंज्ञकवैराग्यः।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ0 82।

2 - " इयेवं पक्वेभ्योऽपक्वानां व्यतिरेकेणाऽवलोकनमनुसन्धायाऽपक्वानां परिपाचनायाऽनुष्ठितप्रयत्नो व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य इति।"

— वही पृ0 82।

3 - " सर्वेषु चित्तकषायेषु पक्वेषु प्रत्याऽसामर्थ्येनेन्द्रियाणां प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि पक्वास्ते मनस्येव स्वस्वरूपाऽवस्थानमात्रेण तिरोभावतया सूक्ष्मरूपेण संस्थिताः सन्तो मनस्येव विषयौत्सुक्यसम्पादका भवन्ति येन मनस्येवाङ्कुररूपो विषयाऽभ्यासो भवति तस्यापि विलयाय कृतप्रयत्नः एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्यो।"

— वही पृ0 82।

<u>परवैराग्य</u> :- वशीकारसंज्ञक वैराग्य को ही इस व्याख्या में 'परवैराग्य' कहा गया है इस वैराग्य में लौकिक और अलौकिक विषयों के प्रति आत्यन्तिक वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है फलस्वरूप सुख, दुख और मोहसंज्ञक त्रिगुणों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है इसके अतिरिक्त बुद्धि जिसका स्वरूप त्रिगुणात्मक हो है उसके प्रति भी गुणवृष्टि होने के कारण बुद्धि के प्रति भी वैराग्य हो जाता है । इस प्रकार विषयों से सम्पर्क बनाने वाले साधन 'बुद्धि' तथा त्रिगुणात्मक विषयों के प्रति आत्यन्तिक वैराग्योदय के कारण इस वैराग्य को परम वैराग्य कहा गया है । परवैराग्य का उदय होने पर साधक अपने स्वच्छ आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है और अन्त में परम् कैवल्य को प्राप्त कर जीवनमुक्त हो जाता है ।

- -

1 - " चतुर्थे वैराग्ये तु - लौकिका लौकिकविषयतृष्णात्यन्ताभावेऽपि सुखदुःख मोहसंज्ञकेषु बुद्ध्यात्मकत्रिगुणेष्वपि तृष्णाया अभावः । बुद्धावपि गुणवृष्टिरिति, अतश्चतुर्थः परमो वैराग्य इति । "

— स्वामिनारायणभाष्य पृ0 82 ।

व्यासभाष्य

'चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है' । इस परिभाषा के अनुसार संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियाँ दोनों ही 'योग' कही जा सकती हैं । सम्प्रज्ञातयोग में चित्त के क्लेश, कर्मादि का निरोध होता है[1] । सम्प्रज्ञातसमाधि निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधि को अभिमुख करती है ।

सम्प्रज्ञातसमाधि -- सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल चित्त की सात्त्विकवृत्ति शेष रह जाती है । चित्त की एकाग्रभूमि में ही राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होता है, अतः एकाग्र भूमि में हुआ वृत्तिनिरोध ही सम्प्रज्ञातसमाधि है । सम्प्रज्ञातसमाधि क्लेशों को नष्ट करती है और असम्प्रज्ञातसमाधि को सम्मुख लाती है । इस समाधि में साधक को अपने ध्येय का सम्यक्ज्ञान या संप्रज्ञान प्राप्त होता है . अतः इस समाधि का नाम 'सम्प्रज्ञात' समाधि है । सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि चार क्रमिक सोपानों में होती है । (1) वितर्कानुगत, (2) विचारानुगत, (3) आनन्दानुगत और (4) अस्मितानुगत ।

वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि में साधक का चित्त स्थूलभूतों के आकार से पूर्णतया आकारित रहता है । उसे उन स्थूल पदार्थों का पूर्ण तथा वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता रहता है । चित्त की इस स्थिति का नाम वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[2] ।

- -

1 - 'यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते ।"

— व्यासभाष्य पृ० 1 ।

2 - " वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः ।"

— वही पृ० 54 ।

विचारानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त सूक्ष्मपंचतन्मात्रादि के आकार से पूर्णतया आकारित रहता है। आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त एकाग्रता आनन्दस्वरूपइन्द्रियों के आकार से पूर्णतया अनुगत हो जाता है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में साधक को पुरुषप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि रूप अस्मितातत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है। इनमें प्रथमसमाधि बाद की तीनों समाधियों से युक्त होती है, द्वितीय अपने बाद की दो समाधियों से युक्त, तृतीय अपने बाद एक समाधि से युक्त और चतुर्थ केवल अपने आप में रहती है। यह सभी समाधियाँ सालम्बन होती हैं।[1]

तत्त्ववैशारदी

सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्र भूमि में होती है। यह समाधि अविद्यादि क्लेश तथा कर्मरूपी बन्धनों को शिथिल कर असम्प्रज्ञातसमाधि को सम्मुख करती है। सम्प्रज्ञातसमाधि के चार क्रमिक सोपान हैं। (1) वितर्करूपानुगत (2) विचाररूपानुगत (3) आनन्दरूपानुगत (4) अस्मितारूपानुगत।

स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोग है। स्थूल विषयों का साक्षात्कार प्राप्त होने पर चित्त का पूर्ण रूप से स्थूल विषय के आकार का हो जाना वितर्क-रूपानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है। चित्त का सूक्ष्म तन्मात्राओं के आकारसे आकारित होते

- -

1. " सर्व एते सालम्बनाः समाधयः।"

— व्यासभाष्य पृ0 54 ।

रहना विचारस्वानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[1]। सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न ज्ञानेन्द्रियाँ ही सुखरूप हैं इसलिए ज्ञानेन्द्रियों में चित्त का आभोग या तदाकाराकारित होना आनन्दस्वानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[2]। बुद्धि में उपस्थित पुरुष प्रतिबिम्ब ही 'अस्मितातत्त्व' है। जब सम्प्रज्ञातसमाधि काल में चित्त उक्त अस्मिता तत्त्व के आकार से पूर्णतया अनुगत होता रहता है, तब 'अस्मितास्वानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[3]।

राजमार्तण्डवृत्ति

संशय और विपर्यय से रहित होकर सम्यक् प्रकारेण ध्येय के स्वरूप का प्रकृष्ट ज्ञान जिस समाधि में होता है वह सम्प्रज्ञात समाधि है[4]। सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद हैं। सवितर्क, सविचार, आनन्द और सास्मित।

जब स्थूल विषय जैसे पंचमहाभूत तथा स्थूल इन्द्रियों के पूर्वापर अनुसंधान द्वारा तथा शाब्दिक और आर्थिक विश्लेषण द्वारा उनके बारे में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उक्त तत्त्व में भावना की जाती है तब उन पदार्थों का साक्षात्कार होने लगता है। यही सवितर्क समाधि है[5]। तन्मात्राओं तथा

- -

1- " एवं चित्तस्यालम्बने सूक्ष्म आभोगः स्थूलकारणभूतसूक्ष्मपंचतन्मात्र लिंगालिंग विषयो विचारः।" — त0वै0पृ0 54।

2- " इन्द्रिये स्थूलालम्बने चित्तस्याभोगोऽह्लाद आनन्दः।" — वही पृ0 54।

3- " अस्मिताप्रभवानीन्द्रियाणि। तेनेयमस्मिता सूक्ष्मं रूपम्। सा चात्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेकात्मिका संवित्।" — वही पृ0 55।

4- " सम्यक्संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य स्वरूपं येन स संप्रज्ञातः।" — रा0मा0वृ0 पृ0 40।

5- " यदा महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनाऽऽदाय पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेख संभेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः।"
— वही पृ0 41।

अन्तःकरण रूप सूक्ष्मविषय को आलम्बन मानकर देश, काल और धर्म सहित जब भावना की जाती है तब सविचार-समाधि होती है[1]। जब चित्त रजोगुण और तमोगुण से रहित होकर सात्त्विक रूप में भावना करता है तब सत्त्वप्रकाशसंपन्न चितिशक्ति के ध्यान से चित्त 'आनन्द' को प्राप्त होता है। इस समय की समाधि को 'सानन्द' समाधि कहा गया है[2]। व्याख्याकार भोज ने 'महत्तत्त्व' को 'अस्मिता' माना है। जब चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त में केवल सात्त्विकवृत्तिशेष रह जाती है। इस शुद्धसत्त्वगुण के प्रकाश से प्रकाशितचित्त में जब केवल महत्तत्त्व की ही सत्ता आलम्बनरूप से रह जाती है, तब इस सम्प्रज्ञातसमाधि को सास्मित-सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं[3]। सास्मित-सम्प्रज्ञात समाधि काल में चित्त में केवल पुरुष का प्रतिबिम्ब ही अवभासित होता रहता है[4]।

- -

1 - "तदेवान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः।" रा0मा0 सू0 पृ0 41।

2 - "यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति।"
— वही पृ0 41।

3 - "ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात् चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते।"
— वही पृ0 41।

4 - "न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता।"
— वही पृ0 41।

सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्र भूमि में होती है। यह ध्येयभूत अर्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराती है और अविद्यादि क्लेशों, कर्म से उत्पन्न जन्मादि बन्धन को शिथिल करती है और निरोध रूप असम्प्रज्ञात-समाधि को अभिमुख करती है।[1] वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मिता-रूपानुगत के भेद से सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेद किए गए हैं। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'रूप' शब्द का प्रयोग इन्होंने केवल 'अस्मितारूपानुगत' समाधि के साथ ही किया है, पूर्वोक्त तीन समाधियों के साथ 'रूप' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। 'रूप' शब्द यहाँ 'मात्रा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

यहाँ चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों का उल्लेख किया जा रहा है। जब चित्त स्थूल आलम्बन के आकार से आकारित हो जाता है तब वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है। जब सूक्ष्म आलम्बन का आभोग अथवा साक्षात्कार चित्त को होता है तब विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि होती है। जब विचारानुगत से भी सूक्ष्म आलम्बन का आभोग होता है तब आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है। यद्यपि आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि भी सूक्ष्मविषयक होती है परन्तु इस समाधि में, पूर्व की

- -

1 - " एकाग्रता भूमेः समाधिर्यः स भूतमर्थं यथात्मानं प्रद्योतयति अवगमयति। - - - - - क्षिणोति, क्षपयति पञ्चपर्वणोऽविद्यादीन् क्लेशान्। कर्मबन्धनानि, कर्माण्येव बन्धनानि, धर्माधर्माविमिश्र कर्मजालानि जन्मादि निबन्धनानि श्लथयति, शिथिली करोति निरोधमभिमुखी करोति।"

विवरण पृ0 8।

2 - " वितर्कानुगमाद्विचारानुगमादानन्दानुगमादस्मितारूपानुगमादिति। रूपशब्दो मात्रार्थो वितर्कादिपूर्वपदत्रयवर्जितः व्यापनार्थः।"

— वही पृ0 47।

समाधि की तुलना में एक वैशिष्ट्य निहित है और वह है आनन्द का आभासित होना[1]।

चौथी और अन्तिम सम्प्रज्ञात-समाधि है, 'अस्मितारूपानुगत' - सम्प्रज्ञातसमाधि। 'अस्मिमात्रोऽस्मिता' इति मानते हुए विवरणकार ने अस्मिता शब्द को अहंकार' के अर्थ में लिया है। जब अहंकार मात्र ही चित्त में भासित होता है तब, 'अस्मिता-रूपानुगत' सम्प्रज्ञात समाधि होती है[2]। इस समाधि में, 'अहंकारमात्र' ही केवल भासित होता है अतः इस समाधि के साथ 'रूप' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन चारों समाधियों में से प्रथम समाधि बाद की तीनों समाधियों से अनुगत रहती है। दूसरी अपने बाद की दो समाधियों से और तीसरी समाधि अपने बाद की एक समाधि से अनुगत रहती है और अन्तिम अर्थात् चौथी समाधि केवल अपने रूप मात्र से अनुगत रहती है। अतः चौथी सम्प्रज्ञात समाधि के साथ 'रूप' शब्द का प्रयोग उसके स्वरूप के अनुसार विवरणकार ने ठीक ही किया है।[3]

- -

1 - " आनन्दो ह्लादः विचारः सूक्ष्मतर आभोगस्तुतीयः।"

— विवरण पृ0 47 ।

2 - " एकरूपात्मिका संविदस्मिता दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतायां समापन्नश्च अस्मिता प्रत्ययमात्रता एकरूपात्मकत्वम्।"

— वही पृ0 47 ।

3 - " तत्र पूर्वः पूर्वः स्वकीयोत्तरोत्तरधर्मानुगतः। परः परस्तु पूर्वपूर्वधर्म-विकलः।"

— वही पृ0 48 ।

सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्रभूमि में होती है । इस समाधि में ध्येयवस्तु के परमार्थतः सत्यस्वरूप का साक्षात्कार होता है । यह समाधि अविद्यादि पाँचों क्लेशों को नष्ट करती है तथा धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों को जिनसे बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है शिथिल कर देती है । सम्प्रज्ञातसमाधि ही निरोध रूप असम्प्रज्ञातसमाधि को सम्मुख करती है । इस प्रकार सम्प्रज्ञातयोग का संक्षिप्त वर्णन यह है कि जिस समाधि से ध्येय के स्वरूप का सम्यक्प्रकारेण ज्ञान हो अर्थात साक्षात्कार हो, उसे सम्प्रज्ञातयोग कहते हैं । सम्प्रज्ञातयोग के चार सोपानों का वर्णन वार्त्तिककार ने भी किया है । तत्ववैशारदीकार ने इन चारों नामों में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है यथा-वितर्करूपानुगत, विचाररूपानुगत, आनन्दरूपानुगत, और अस्मितारूपानुगत । वार्त्तिककार इस 'रूप' शब्द के प्रयोग को अनावश्यक एवं प्रामादिक कह कर इसकी उपेक्षा करते हैं । उनका कहना है कि " आनन्दरूपानुगमादिति पाठः प्रामादिकत्वादुपेक्षणीयः भाष्ये वितर्क-विकलः सविचार इत्यादि प्रयोगेषु रूप-पदाप्रयोगात् । " — यो०वा०पृ० 52 ।

योनिज, विराट्, चतुर्भुजादि पदार्थों में से किसी भी एक को आलम्बन रूप में लेकर उसमें एकाग्रचित्त होकर भावना करनी चाहिए । यहाँ स्मरणीय है कि चारों सम्प्रज्ञातसमाधियों में आभोग के लिए अर्थात परिपूर्ण ज्ञान के लिए चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त एक ही आलम्बन के स्थूल सूक्ष्म वस्तुओं का आभोग होता है । स्थूल का आभोग जिस समाधि में होता है उसे वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है । इसमें धारणा ध्यान और समाधि द्वारा

- -

1. " स्थूलाकारस्वात्स्थूल आभोगः परिपूर्णता, स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोर्दृष्टा श्रुतानाशेष विशेषसाक्षात्कारः सवितर्क इत्यर्थः ।"

" विशेषेण तर्कणमवधारणं वितर्कस्तेनानुगतो युक्तो निरोधो वितर्कानुगत नामा योग इति भावः ।" यो०वा०पृ० 53, 56 ।

चित्त स्थूल विषय का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है । पुनः धारणाध्यान और समाधि द्वारा उसी आलम्बन में चित्त सूक्ष्मतन्मात्राओं का आभोग प्राप्त करने पर जो समाधि होती है, उसे विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं[1] । विज्ञानभिक्षु का सिद्धान्त आनन्दानुगत के संबंध में वाचस्पति मिश्र से भिन्न है । वाचस्पतिमिश्र ने "सत्त्वप्रधान अहंकार से उत्पन्न ज्ञानेन्द्रियाँ सुखरूप हैं" ऐसा माना है । वार्तिककार ने इसका खण्डन किया है और लिखा है कि इन्द्रियाँ स्थूल हैं अतः स्थूल का आभोग तो वितर्कानुगत में ही आ गया । पुनः आनन्दानुगत में उनका ग्रहण करना दोषपूर्ण है । इनकी दृष्टि में इस समाधि का आलम्बन वह 'सुख' होता है जो उसी ध्येय विषय के स्थूल और सूक्ष्मरूपों का साक्षात्कार करने से स्वतः अनुभूत होता है इस सुखविशेष का आभोग होने पर आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि होती है[2] । पुरुष और बुद्धि की एक रूपता को इन्होंने 'अस्मिता' माना है । जब चित्त ध्येय रूप में केवल आत्मा का साक्षात्कार करता है, तब अस्मितानुगत-समाधि होती है । उक्त सभी समाधियाँ सालम्बन होती हैं । क्रम से वितर्क विचारों से युक्त, विचार वितर्क रहित और बाद वालों से युक्त, इसी प्रकार अन्य भी अपने पूर्व से वियुक्त तथा पश्चात् से युक्त होती चलती हैं[3] ।"

- -

1 - " सूक्ष्मविचार इति । तत्रैवालम्बने कारणतादिनाऽनुगता ये प्रकृतिमहदहंकार-रूपंचतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तदाकार स्वात्तद्यो यश्चित्तस्याभोगः सूक्ष्मगता-शेषविशेषसाक्षात्कारः स विचार इत्यर्थः ।"

यो०वा० पृ० 56

2 - " तथा येन्द्रियकारकादिन्द्रियस्थो यश्चित्तस्याभोगः ।साक्षात्कारः स आनन्द इत्यर्थं वदति ।" — वही पृ० 56 ।

3 - " या चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् साक्षात्कारोऽस्मीत्येतावन्मात्रा कारत्वाद-स्मितेत्यर्थः । --- तेनानुगतो युक्तो निरोधोऽस्मिता युक्तनामा योगइति भावः । "

— वही पृ० 56 ।

योगदीपिका।

सम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येय विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। सम्प्रज्ञातसमाधि के वार्त्तिकानुसारी चार भेद किए गए हैं। (1) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि (2) विचारानुगत (3) आनन्दानुगत और (4) अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि। चित्त की राजस, तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने के उपरान्त किसी भी स्थूलपदार्थ को ध्येय मानकर पहले उस ध्येय के स्थूलरूप का विशेष साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है। किसी भी पदार्थ का स्थूल रूप भूतेन्द्रियात्मक होता है। अतः यदि चतुर्भुजादि रूप ध्येय को आलम्बन माना जाता है तो उसके स्थूलरूप का बोध अर्थात् पूर्णसाक्षात्कार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है[1]। पुनः उसी ध्येय के सूक्ष्मरूप का परिपूर्ण साक्षात्कार प्राप्त करने पर विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि होती है[2]। प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्राएँ ही किसी भी स्थूल पदार्थ के सूक्ष्मकारण हैं। इन सूक्ष्मपदार्थों का परिपूर्णसाक्षात्कार प्राप्त होने पर ही विचारानुगत-समाधि होती है।

जब उक्त आलम्बन के चौबीसों तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब सभी विषय सुखों के प्रति वैराग्य हो जाता है। इस वैराग्य के होने पर चित्त को सुख नहीं प्रत्युत आनन्द की प्राप्ति होती है; इस समय के आनन्द से अनुगत

- -

1 - " एकस्मिन्नेव चतुर्भुजादिव्यष्टिसमष्टिसंघातस्थालम्बने चतुर्विधः सम्प्रज्ञातः क्रमेण भवति। तत्र भूतेन्द्रिययोः स्थूलतामात्रस्याधिकसाक्षात्कारो वितर्क परिभाषा।"

— योगदीपिका पृ० 13।

2 - " सूक्ष्मावस्थापर्यन्तस्थूलतत्त्वाधिकसाक्षात्कारे विचारसंज्ञा। तेन च फलेनोपहितचित्तवृत्तिनिरोधो विचारानुगतः।"

— वही पृ० 13।

समाधि को ही आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है[1]। आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित चित्त का योगजसिद्धियों से प्राप्त उपलब्धियों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है। उसी आलम्बन में जब जीवेश्वररूप पुरुष का ही साक्षात्कार होता है तब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि होती है[2]।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

'भाव्य' के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान जिस समाधि में होता है उस समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं। नागोजीभट्ट ने सम्प्रज्ञातसमाधि के भोजराजानुसारी चार भेद स्वीकार किए हैं। सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित। सम्प्रज्ञातसमाधि के इन चारों भेदों का उल्लेख भावना के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए किया गया है। सबसे पहले साधक भाव्य के 'स्थूल' रूप का साक्षात्कार प्राप्त करता है। स्थूलरूप का साक्षात्कार प्राप्त करने वाली समाधि को सवितर्क-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है[4]। इस समाधि में साधक को साधना के आलम्बन रूप के स्थूलरूपों यथा महाभूतेन्द्रिय का बोध विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस ज्ञान में भाव्य के अतीत, अनागत और वर्तमान कालिक गुणदोषों का ज्ञान शब्दार्थ के द्वारा होता है। सम्प्रज्ञातसमाधि के ही सवितर्क और निर्वितर्क नामक भेद भी हैं जिनका उल्लेख समापत्तियों के वर्णन में किया गया है।

- -

1- " तथा तत्रैवालम्बने यच्चतुर्विंशतितत्त्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽस्ति तद्गतशेषविशेषसाक्षात्कारे आनन्दसंज्ञा। तेन च क्लेनोपहितचित्तवृत्तिनिरोध आनन्दानुगतः।" — योगदीपिका पृ0 13।

2- " तथा तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतरस्याशेष विशेष-साक्षात्कारे अस्मितासंज्ञा।" — योगदीपिका पृ0 13।

3- " सम्यक् संशयविपर्यय रहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन स संप्रज्ञातसमाधिः भावनाविशेषः। स सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च।" — पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 14।

4- " तत्रालम्बने स्थूलयोर्महाभूतेन्द्रिययोर्भिद्यमानानामशेषविशेषाणामतीतानागत-वर्तमानव्यवहित विप्रकृष्टानां गुणदोषाणामदृष्टाश्रुतामतानामपि पूर्वापरानुसंधानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावनया यः साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते।" — वही पृ0 14।

जब उसी आलम्बन में उसके स्थूल ज्ञान को त्यागकर, आलम्बन के सूक्ष्म कारण का धारणाविषय द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है तब सविचार सम्प्रज्ञात-समाधि होती है।[1] तन्मात्राएँ, अहंकार और प्रकृति ये भूतेन्द्रियों के सूक्ष्म कारण हैं जिनका सम्यक्ज्ञान इस समाधि में प्राप्त होता है। इस समाधि के भी दो भेदों सविचारा और निर्विचारा का उल्लेख समापत्तियों के वर्णन में किया गया है।

उसी आलम्बन में पूर्वोक्त स्थूल, सूक्ष्म को त्याग कर चौबीसों तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद जो सुख होता है उसे आनन्द कहा गया है। आनन्द की अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय में अभेद हो जाता है और अतः सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित हो जाता है। सानन्द सम्प्रज्ञातसमाधि में सात्त्विकआनन्द की उपलब्धि होती है। किसी भी प्रकार के विषयसुखों के प्रति तथा योगजसिद्धियों से प्राप्त उपलब्धियों के प्रति कोई मोह या लोभ नहीं होता। इन विषयसुखों तथा योगजसिद्धियों से प्राप्त सुखों के प्रति वैराग्य हो जाने से मन को जो सन्तोष सुख मिलता है यथार्थतः वही आनन्द है।[2]

जब आनन्द के प्रति भी दोषदृष्टि हो जाती है तब साधक पुरुष के वास्तविक रूप का ध्यान करता है। पुरुष के यथार्थ रूप के आकार से आकारित हो जाना

- -

1. " ततस्तस्मिन्नेवालम्बने दोषदर्शनेन स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा कारणत्वेनानुगता ये तन्मात्राहंकार प्रकृतिरूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तेषु क्रमेण धारणाविषयेण यस्तदनुगतदोषविशेष साक्षात्कारः स सविचारः।" — पा०यो०सू०वृ० पृ० 14

2. " ततस्तस्मिन्नेवालम्बने तामपि दृष्टिं दोषदर्शनेन त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगतसुखरूपपुरुषार्थे धारणाविषयेण पूर्ववद्योगविशेषतः सुखाकारः स आनन्दः ज्ञानज्ञेययोर भेदोपचारात् तद्युपरिताः सानन्दः।" — वही पृ० 14

ही अस्मिता है । सास्मित सम्प्रज्ञातसमाधि को साधक की परमावस्था और धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा कहा गया है । क्योंकि सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाने के बाद जीवेश्वर का साक्षात्कार ही अन्तिम ज्ञान तथा उपलब्धि है ।

मणिप्रभा

चित्त की एकाग्रभूमि में रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में सात्विकवृत्ति शेष रह जाती है । यह सात्विकवृत्ति-विशेषवाला चित्त ध्येय के वास्तविक अर्थ का प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करता है । क्लेशों और कर्म के बन्धन को क्षीण करता है और निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि को सम्मुख लाता है । इस समाधि को ही सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है[2] ।

मणिप्रभाकार ने सम्प्रज्ञातसमाधि के चारों भेदों की वही संज्ञा निश्चित की है जो भोजराज ने की थी । और उनका लक्षण क्रमशः वही दिया है जो वाचस्पतिमिश्र ने दिया है । सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद बताये गए हैं । — (1) सवितर्क (2) सविचार (3) सानन्द और (4) सास्मित । इन चारों का भेदक लक्षण यह है कि

- -

1 - " सर्वथालम्बने जीवेश्वरस्य यत्सुस्पष्टरूपमस्ति तदन्तरस्य कूटस्थचिन्मात्रं स्पष्टं जडेभ्यो विवेकेन य आत्माकारः साक्षात्कारः सो स्मितम् । "

— पा0यो0सू0वृ0 पृ0 15

2 - " एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः सात्विकवृत्ति-विशेषः संप्रज्ञातयोगो भवति ।"

मणिप्रभा पृ0 21

क्रमशः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के स्वरूपों के साक्षात्कार से अनुगत होकर यह चारों संप्रज्ञात के भेद परस्पर भिन्नरूप में स्थित होते हैं। शालग्रामादि स्थूल पदार्थ के साक्षात्कार को 'वितर्क', पञ्चतन्मात्रादि सूक्ष्मपदार्थों के साक्षात्कार को 'विचार', इन्द्रिय के साक्षात्कार को 'आनन्द' और ग्रहीता पुरुष के साथ एकीभूतबुद्धि के साक्षात्कार को 'अस्मिता' कहते हैं।[1] मणिप्रभाकार ने इसी प्रसंग में भोजवृत्ति के अस्मिताविषयक सिद्धान्त का खण्डन भी किया है[2] और 'अस्मिता' विषयक अपने सिद्धान्त को मान्य ठहराया है।

- -

1 - " स्थूलमेव शालग्रामादिकं ध्यानेन साक्षात्करोति स स्थूलसाक्षात्कारो "वितर्कः"
" तस्य स्थूलस्य कारणं पंचतन्मात्रादिकं सूक्ष्मं तस्य ध्यानेन साक्षात्कारो "विचारः"
" इन्द्रियाणि स्थूलानि प्रकाशकत्वात्सत्त्वरूपाणि तेषां ध्यानेन साक्षात्कार "आनन्दः"
" तत्र स्थूलं च ग्राह्यमिन्द्रियाणि ग्रहणानि अस्मिताऽऽख्यो ग्रहीता तेषु ग्रहीतृ ग्रहण-ग्राह्येषु ध्यानपरिपाकः सम्प्रज्ञातो योगः।"

— मणिप्रभा पृ० 9 ।

2 - " भोजवृत्तौ तु इन्द्रियेषु सवितर्कमुक्त्वा, तन्मात्रेषु सविचारमुक्त्वाऽहङ्कारे सानन्दो, महत्तत्त्वे सास्मित इत्युक्तम् ।"

— वही पृ० 10 ।

योगसूत्रार्थप्रबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में भी सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेदों का उल्लेख किया गया है । सम्प्रज्ञातसमाधि के चार भेदों का नाम इस प्रकार से दिया गया है । वितर्कसम्प्रज्ञातसमाधि, विचारसम्प्रज्ञातसमाधि, आनन्दसम्प्रज्ञातसमाधि और अस्मितासम्प्रज्ञातसमाधि । इन व्याख्याओं में इन भेदों के नाम के साथ 'अनुगत' शब्द नहीं लगाया गया है परन्तु इससे अर्थ में कोई भी अन्तर नहीं आया है । वितर्कसम्प्रज्ञातसमाधि में स्थूल-विषय का ध्यान किया जाता है । इस समाधि में ध्येयविषय चतुर्भुजादि स्थूल विषय होते हैं ।[1] "वितर्क" शब्द का शाब्दिक विश्लेषण योगसिद्धान्तचन्द्रिका में इस प्रकार से किया गया है — "विशेषेण तर्कणीमिति व्युत्पत्तेः"। स्थूल-भूतों का कारण तन्मात्राएँ, अहंकार, महद् और अव्यक्तादि सूक्ष्म ध्येय-विषय हैं जिनका साक्षात्कार "विचारसम्प्रज्ञातसमाधि" में होता है ।[2] विचार शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की गई है — "विशेषेण सूक्ष्मपर्यन्तं चरणीमिति व्युत्पत्तेः ।" इस समाधि में स्थित हो जाने के उपरान्त बुद्धि की प्रकृष्टता बढ़ जाती है और प्रकृष्ट बुद्धि का आह्लाद से साक्षात्कार होने पर "आनन्दसम्प्रज्ञातसमाधि" होती है ।[3] ग्रहीता पुरुष के साथ बुद्धि का एकीभूत हो जाना "अस्मितानामक-सम्प्रज्ञातसमाधि" होती है ।[4] इन चारों समाधियों से जब चित्त युक्त हो जाता है तब चित्त को ध्येय-विषय का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त होता है । समाधि की इस अवस्था विशेष को ही "सम्प्रज्ञातयोग" कहा गया है ।

- -

1 - " प्रथमं भावनाविषयस्याभिनिवेशतः स्थूलश्चतुर्भुजाऽऽदेः साक्षात्कारो वितर्कः ।"
— यो०सि०च० पृ० 19 ।

2 - " स्थूलकारणप्रपंचतन्मात्राहंकारमहदव्यक्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो विचारः ।"
— वही पृ० 19 ।

3 - " तत्रारोहात् सत्त्वप्रकर्षेण जायमानाह्लादस्य साक्षात्कार आनन्दः ।"
— वही पृ० 19 ।

4 - " सा ग्रहीत्रैकीभूताऽस्मितेत्युच्यते । न विषयसाक्षात्कारोऽप्यस्मिता ।"
— वही पृ० 19 ।

भास्वती

निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से स्थिति प्राप्त एकाग्रचित्त में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उससे युक्त समाधि ही सम्प्रज्ञातयोग है । चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढभूमियों में हुई समाधि संप्रज्ञातसमाधि नहीं है क्योंकि ये निष्फल एवं सम्प्रज्ञान-रहित होती हैं । समाधियाँ केवल समाधियाँ हैं, इनमें चित्तवृत्ति निरोध अल्पकालिक होता है । सम्प्रज्ञातसमाधि चित्त की एकाग्रभूमि में होने वाली समाधि है, यह समाधि, समाधि और योग दोनों हैं, सम्प्रज्ञातयोग में चित्त ध्येयविषय का आभोग या परिपूर्णज्ञान प्राप्त करता है । आभोग का अर्थ परिपूर्णज्ञान है । सम्प्रज्ञातसमाधि चार प्रकार की होती है । (1) वितर्कानुगत (2) विचारानुगत (3) आनन्दानुगत और (4) अस्मितानुगत। स्पष्ट ही ये भेद वार्त्तिककार की शब्दावली का अनुसरण करते हैं ।

स्थूल विषयों के आभोग से अनुगत समाधि वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातसमाधि है[2]। स्थूलविकारों का परिपूर्ण ज्ञान ही आभोग है । वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि, विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि से युक्त होती है । सूक्ष्म विषयों का ग्रहण विचार द्वारा होता है अतः विचार से अनुगत समाधि विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि है[3] । सूक्ष्म विषयों में तन्मात्राएँ, अहंकार और अस्मितातत्त्व सम्मिलित हैं । इनका चित्तवृत्तियों द्वारा आभोग ही विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि है । यह समाधि वितर्करहित और आनन्द अस्मितासहित होती है । स्थूलइन्द्रियों की

- -

1 - " निरन्तराभ्यासात् स्थितिप्राप्त एकाग्रभूमिके चित्ते याः प्रज्ञा जायेरन्, ताः प्रतिनिष्ठेयुः , ताभिश्च चित्तै परिपूर्णं तिष्ठेत् स एव सम्प्रज्ञातयोगो " ।

— भास्वती पृ0 52 ।

2 - " तत्र षोडशस्थूलविकारविषया समाधिजा प्रज्ञा यदा चेतसि सदैव प्रतितिष्ठति तदा वितर्कानुगतः सम्प्रज्ञातः। "

— वही पृ0 52

3 - " विचारेणाधिगतसूक्ष्मविषयया प्रज्ञया चेतसः परिपूर्णता विचारानुगतः सम्प्रज्ञातः ।"

— वही पृ0 52 ।

रचना सात्त्विक अहंकार से हुई है । सत्त्वगुण प्रकाशपूर्ण होता है और प्रकाश आह्लाददायक होता है अतः सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न स्थूल इन्द्रियों से आनन्द की प्राप्ति होती है । चित्त जब इन्द्रियों से अनुगत हो जाता है तब आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है [1] । आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि अपने पूर्व समाधियों से रहित और अस्मितानुगत-समाधि सहित होती है । सभी बौद्धिकवृत्तियों में अहम् का आरोप अस्मिता है । चित्त का अहम्वृत्ति के साथ परिपूर्ण रूप से तदाकारित होना 'अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि' है । अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि वितर्क, विचार और आनन्दानुगत-समाधियों से रहित होती है [2] ।

- -

1 - " अत्र स्थूलेन्द्रियाणां स्थैर्यसहगतसात्त्विकप्रकाशज एव आनन्दः प्रथममालम्बनी-क्रियते, ततश्चान्तःकरणस्थैर्यजातस्य ह्लादस्याधिगमो भवति.। "

— भास्वती पृ0 54 ।

2 - " चतुर्थे ध्यान आनन्दस्यापि " ज्ञाताऽहम्" इत्यस्मितामात्रा संविदेवालम्बनं ततस्तदानन्दादिविक्तम् ।"

— वही पृ0 54 ।

स्वामिनारायणभाष्य

चित्त की एकाग्रभूमि में जब चित्त की राजस और तामस वृत्ति का निरोध हो जाता है और केवल सात्त्विक वृत्ति शेष रह जाती है उस समय जो समाधि होती है उसे सम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं । इस एकाग्रचित्त में चित्त की मधुमती, मधुप्रतीका और विशोकानामक तीन भूमिकाएँ विद्यमानरहती हैं । जब स्थूल विषय का साक्षात्कार होता है तब 'मधुमती' भूमि होती है । जब सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार होता है तब मधुप्रतीका और बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ध्येय विषय का ज्ञान कराने वाली भूमि 'विशोका' नामक भूमि होती है । अब सम्प्रज्ञातसमाधि के उल्लिखित चारों भेदों का वर्णन किया जा रहा है ।[1]

पंचभौतिकवस्तु या चतुर्भुजादिरूप युक्त परमेश्वर के स्थूल रूप का साक्षात्कार होने पर 'सवितर्क'-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है ।[2] इस समाधि में आलम्बन के स्थूलआकार का साक्षात्कार प्राप्त होता है। जब स्थूल विषयक ज्ञान को त्याग कर आलम्बन के सूक्ष्म रूप का ज्ञान प्राप्त होता है और चित्त वृत्ति सूक्ष्मवस्त्वाकार हो जाती है तब 'सविचार-' सम्प्रज्ञातसमाधि होती है ।[3] जब आलम्बन के सूक्ष्माकार को छोड़कर सत्वगुण से उत्पन्न इन्द्रियों के कारण 'अहंकार' का ज्ञान होता है तब चित्तसानन्द-सम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त करता है ।[4] जब 'आनन्दानुगत' ज्ञान को भी त्याग कर बुद्धि में आत्मा की एकरूपता

- -

1 - " अत्र चैकाग्रे चेतसि शुद्धसत्त्वमय्या वृत्तेः सद्भावात् सम्प्रज्ञायते मनाक् सत्त्ववृत्तिर्यत्रेति व्युत्पत्त्या सम्प्रज्ञातयोग इति व्यपदिश्यते । स चायमपरोयोगोबोध्यः, तस्य चत्वारो भेदा एकाग्रे चित्ते एव विद्यन्ते ते यथा - सवितर्कसम्प्रज्ञातः, सविचारसम्प्रज्ञातः सानन्दसम्प्रज्ञातः, सास्मितसम्प्रज्ञातश्चेति ।"

— स्वामिनारायण भाष्य पृ0 18 ।

2 - "प्राथमिको योगी स्थूलमेव स्वाभिमतं पाञ्चभौतिकं वस्तु परमेश्वराद्याकृतिकं साक्षात्करोति तत्तेनैकाग्रता भवति सोयं सवितर्क इति ।" — वही पृ0 85 ।

3 - " सविचारः विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तमिति विचारः ।" — वही पृ0 85 ।

4 - " एवं सामग्र्यः सूक्ष्मपदार्थानपि विहाय -इन्द्रियाणां सात्त्विकतया तत्कारणभूतोऽहंकारोऽपि सत्त्वप्रधान आनन्दपूर्ण इति-आनन्देनाऽत्र लब्धे चित्तैकाग्रतासानन्द इति ।"

— वही पृ0 85 ।

स्थापित हो जाती है । बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर दोनों में अभेद वाली स्थिति का होना ही 'अस्मिता' है । इस समय 'अहंचेतता', 'अहंकर्ता' इस प्रकार की अनुभूति बुद्धि और पुरुष के संयोगजन्य अभेद का ही फल या परिणाम है । इस स्थिति का पूर्णसाक्षात्कार 'सास्मित' समाधि की स्थिति में होता है ।

- -

1- " तावुभावन्यमपि विहाय कारणीभूता बुद्धिपरात्मना सहैकात्म्य इव तिष्ठति तत्र तयोः संयोग एवोऽभेदाऽयमासकः, तादृशैकात्मकताऽभिधानायां संयोगात्मिकायां सूक्ष्मतायां तत्क्षीभूतायां यच्चित्तस्यैकाग्र्यं स सास्मितसंप्रज्ञात इति ।"

स्वामिनारायण भाष्य पृ0 85 ।

असम्प्रज्ञातयोग

व्यासभाष्य

असम्प्रज्ञातयोग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं । चित्त की यह संस्कारशेषावस्था ही असम्प्रज्ञात-योग की अवस्था है । असम्प्रज्ञात-योग की स्थिति में चित्त को कोई [illegible] ज्ञान नहीं होता[1] । चित्त निरालम्बन-समाधि में स्थित रहता है । निरालम्बन-समाधि इस लिए कि इस समाधि में ध्याता, ध्येय-रहित-समाधि में लीन रहता है, अवलम्बन-हीन परवैराग्य ही असम्प्रज्ञातयोग का उपाय है । असम्प्रज्ञातयोग को ही निर्बीजसमाधि भी कहते हैं । क्योंकि इस समाधि में चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं अन्त में निरोध-संस्कारों सहित चित्त भी प्रधान में लीन हो जाता है और पुरुषमात्र केवल रह जाता है । इस अवस्था में पुरुष अपने स्व में प्रतिष्ठित होकर कैवल्य की दशा का अनुभव करता है अर्थात सभी प्रकार के बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर केवली रह जाता है[2] ।

असम्प्रज्ञातसमाधि दो प्रकार की होती है (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि ।

- -

1 - " न तत्र किञ्चित्सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः ।"

— व्यासभाष्य पृ0 10 ।

2 - " तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्र प्रतिष्ठितोऽतः शुद्धः केवली मुक्त इत्युच्या

— वही पृ0 132 ।

भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि — भवप्रत्यय का अर्थ है जन्मकारणक अथवा अविद्याकारणक । विदेहों और प्रकृतिलीनों को भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि होती है । इस समाधि में चित्त सर्ववृत्तिशून्य रहते हुए, केवल संस्कार-मात्र अवशिष्ट रहता है । परन्तु चित्त के संस्कार कृतकार्य नहीं होते अर्थात् चित्त के इन संस्कारों में कार्यारम्भ की योग्यता नहीं रहती है । विदेह साधक संस्कारमात्र-अवशिष्ट-चित्त द्वारा कैवल्यपद का सा अनुभव करते हैं और संस्कारों के फल का भोग करते रहते हैं । जब यह फल भोग समाप्त हो जाता है तब पुनः वे जन्म ले लेते हैं । पुनः जन्म ले लेने के कारण ही विदेह प्राप्त योगी को भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातनिष्ठ कहा गया है ।

इसी प्रकार प्रकृतिलीनों का चित्त भी अकृतकार्य होता है । चित्त में जब केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं तब चित्त प्रकृति में लीन हो जाने पर कैवल्य पद के समान मुक्त का सा अनुभव करता है , जब तक कि फिर से संस्कार में जन्म नहीं ले लेते । ये दोनों समाधियाँ जन्मकारणक हैं , विवेकख्याति के बिना होती हैं । ये मोक्षदायक नहीं होती अतः इन्हें असम्प्रज्ञातयोग के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता । ये योगाभासमात्र हैं ।

- -

1- " विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तमिति।"

— व्यास-भाष्य पृ० 59

उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि – उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि योगियों को होती है [1]। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक योग के उपायों के पूर्व में होने पर योगी को असम्प्रज्ञातसमाधि होती है,। श्रद्धा योगी की रक्षा करती है, वीर्य से विवेकार्थी योगी का उत्साह मिलता है, श्रद्धाऔर वीर्य से पुनः योगी ध्यानस्थ होता है। ध्यान से समाधिनिष्ठ होता है और तत्पश्चात् योगी को प्रकृष्टज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्याति ही प्रकृष्टज्ञान है जब विवेकख्याति के प्रति भी वैराग्य हो जाता है तब असम्प्रज्ञातसमाधि होती है [2]।

तत्ववैशारदी

असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है वृत्तियों के इस कृत्स्न निरोध का उपाय 'परवैराग्य' है। परवैराग्य द्वारा साधक का दृष्टिकोण विषयों के प्रति दोषदृष्टि वाला हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप साधक योग प्राप्ति के उक्त उपाय द्वारा सभी विषयों का परित्यागकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और चित्त तब असम्प्रज्ञात-समाधि में स्थित होता है [3]।

- -

1 - " उपायप्रत्ययो योगिनां भवति ।" — व्यासभाष्य पृ0 62 ।

2 - "समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते येन यथार्थं वस्तु जानाति तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ।"

— वही पृ0 62

3 - " विषयादृष्यदर्शी सर्वविषयपरित्यागाच्च स्वस्वरूपप्रतिष्ठा तन्निरालम्बनः संस्कारमात्रशेषस्य निरालम्बनस्य समाधिः कारणमुपपद्यते ।"

— तत्ववैशारदी पृ0 58 ।

असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन होती है । इस समाधि में चित्त को कोई बौद्धिक ज्ञान नहीं होता, समस्त वृत्तियों का निरोध हो चुकता है केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि को ही "निर्बीज समाधि" कहते हैं क्योंकि क्लेश और कर्माशय रूपी बीज इस समाधि में सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।

असम्प्रज्ञात योग के दो भेद हैं (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि ।

भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि — 'भव' शब्द का अर्थ वाचस्पतिमिश्र ने अविद्या किया है । अविद्या से ही जन्म होता है अतः जन्म अविद्यामूलक है । विदेह और प्रकृतिलीनों को भवप्रत्यय-समाधि होती है । जब विदेह लोग भूतेन्द्रियों में लीन हो जाते हैं तब उनके चित्त में संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । संस्कार मात्र चित्त द्वारा वे कैवल्यपद के समान मोक्ष का अनुभव करते हैं परन्तु जब व्युत्थान-वृत्तियों का आगमन होता है तब वे चित्त द्वारा प्रारब्ध भोग करने लग जाते हैं । भोग समाप्त होने पर उनका पुनः इस संसार में जन्म होता है । इस तरह विदेह प्राप्त सिद्ध लोगों की समाधि को योग नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे कैवल्य नहीं प्राप्त होता अतः विदेहों की समाधि भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि है, योग नहीं है ।

- -

1 - "भवोऽविद्या, - - - - भूतेन्द्रियाणामन्यतममात्मत्वेन प्रतिपद्यमानास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमिन्द्रियेषु भूतेषु वा लीनाः संस्कारमात्रावशेषमनसः षाट्कौशिकशरीररहिता विदेहाः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः प्राप्नुवन्तो विदेहाः ।"

— त0वै0 पृ0 59,60 ।

विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समाधि को असम्प्रज्ञात भी नाम नहीं देना चाहिए क्योंकि इसमें स्थित विदेह लोग एक निश्चित अवधि के पश्चात् पुनः संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं । सम्भवतः चित्त के संस्कारशेषावस्थायुक्त हो जाने से भव-प्रत्यय को भी असम्प्रज्ञात-समाधि नाम दे दिया गया है । परन्तु भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के संस्कार साधिकार होते हैं । जब कि असम्प्रज्ञातयोग में चित्त के संस्कार साधिकार नहीं होते । प्रत्युत चित्त के साथ संस्कार भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं अतः असम्प्रज्ञातयोग के संस्कारों से भवप्रत्यय-समाधि के संस्कारों में कोई समानता नहीं है ।

प्रकृतिलीन उपासक भी जब अव्यक्त, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्राओं में से किसी में भी लीन हो जाते हैं और व्युत्थान आने पर यौगिक रूप से प्रारब्ध फल भोग करते हैं । भोग की अवधि के समाप्त हो जाने पर वे पुनः इस संसार में जन्म लेते हैं [1] । जन्म अविद्यामूलक है यह पहले ही कहा जा चुका है अतः इस अविद्याजन्य समाधि को योग नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र के विवेचन के आधार पर भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि को योग नहीं कहा जा सकता ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> — श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा नामक उपायों से भी असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है । असम्प्रज्ञातसमाधि कैवल्यदायक होती है । अतः इस समाधि के लिए उक्त उपायों का अनुष्ठान साधक के लिए मोक्षफलदायक है । उपायों का विवेचन इस प्रकार से किया गया है ।

- -

1 - " प्रकृतिलयाश्चाव्यक्तमहदहंकारपंचतन्मात्रेष्वन्यतमममात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरमव्यक्तादीनामन्यतमे लीनाः ।"

— त0वै0पृ0 60 ।

श्रद्धा— आगम, अनुमान, आचार्योपदेश में प्रसन्नतापूर्वक अभिरुचि श्रद्धा है [1]। श्रद्धालु विवेकार्थी के अन्दर उत्साह की भावना स्वयमेव जागृत होती है जिसे वीर्य कहा गया है। स्मृतिका अर्थ ध्यान से है। अर्थात् ध्यान नामक उपाय भी असम्प्रज्ञात-योग में सहायक बनता है [2]। समाधि का होना योग के लिए परम आवश्यक है। सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञातसमाधि में हुआ चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है। समाधि योग के आठ अंगों में से आठवाँ अंग है। अतः समाधि का योग के लिए बहुत महत्व है [3]। प्रज्ञाप्रकाश के होने पर ही सम्प्रज्ञातयोग में प्राप्त ज्ञान के प्रति भी वैराग्य होता है जिसके परिणामस्वरूप परवैराग्य से असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होती है जो मोक्षदायक योग या समाधि है। इस प्रकार उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि योगी के लिए बहुत उपादेय है। इन्द्रियादि विषयक भी इन उपायों के अनुष्ठान से योगनिष्ठ हो सकते हैं [4]।

- -

1 - " चेतसः संप्रसादोऽभिरुचिरतीच्छा श्रद्धा ।" — त0वै0 पृ0 62 ।

2 - " स्मृतिर्ध्यानम् ।" — वही पृ0 62 ।

3 - " तदेवमभिन्नयोगानुपपन्नस्य संप्रज्ञातो जायते इत्यत्र – समाहितचित्तस्येति ।"
— वही पृ0 62 ।

4 - " प्रज्ञाया विवेकः प्रकर्ष उपजायते । संप्रज्ञातपूर्वमसंप्रज्ञातसमाधे- - - - - -
स हि कैवल्य हेतुः । सत्त्वगुणस्यान्यताख्यातिपूर्वो हि निरोधावस्थागामिन कार्यकरणेन चरितार्थमधिकारादवसाययति ।" — वही पृ0 62 ।

असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में कोई ज्ञानात्मक वृत्ति नहीं बनती। चित्त में केवल संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीज-समाधि भोज ने भी स्वीकार किया परन्तु 'निर्बीज' का विवेचन उनका औरों से भिन्न है। किसी भी प्रकार का ज्ञान न होना निर्बीज-समाधि है[1]। असम्प्रज्ञातयोग में चित्त में केवल निरोध-संस्कार रह जाते हैं। चित्त की एकाग्रभूमि में उत्पन्न सभी संस्कारों को तथा अपने संस्कारों को भी निरोध संस्कार जला देते हैं[2]। असम्प्रज्ञातसमाधि के दो भेद हैं। (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि।

<u>भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि</u> — यह विदेह और प्रकृतिलीनों को होती है। इनका योग सांसारिक ऐश्वर्य के अन्तर्गत है अतः उन्हें परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अतः भवप्रत्यय को योग नहीं योगाभास मानना चाहिए[3]। ऐसा भोज का मत है।

- -

1- न तत्र किञ्चिद्वेद्यम् संप्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः।

— रा०मा०वृ० पृ० 46।

2- "एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति।"

— वही पृ० 47।

3- "तेषां परतत्त्वादर्शनाद्योगाभासोऽयम्।"

— वही पृ० 51।

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि :- श्रद्धादि उपायों के अभ्यास से जो समाधि होती है वह उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञातयोग है । श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि आदि उपायों के द्वारा सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है । इन उपायों के निरन्तर अभ्यास से और परवैराग्य से असम्प्रज्ञातसमाधि होती है[1] ।

विवरण

असम्प्रज्ञात-समाधि सम्प्रज्ञातसमाधि से पर्याप्त भिन्न है । असम्प्रज्ञात-समाधि चित्त की निरुद्धभूमि में होती है[2] । इस समाधि में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है । असम्प्रज्ञातकाल में चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं[3] । असम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीज-समाधि की संज्ञा दी गई है । यह संज्ञा सम्भवतः इस समाधि की विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए दी गयी है । सबसे पहली विशेषता इस समाधि की यह है - (1) 'निर्बीज' समाधि में चित्त की क्लिष्ट वृत्तियों के क्लेश रूप बीजों का निरोध हो जाता है । (2) यह समाधि निरालम्बन होती है इसका उपाय 'परवैराग्य' है[4] (3) इस समाधि में चित्त में केवल संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं[5] । इस प्रकार इन विशेषताओं के कारण ही असम्प्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि कहा गया है

- -

1 - " स एते सम्प्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः । तदभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसम्प्रज्ञातः ।" - रा० मा० वृ० पृ० 53 ।

2 - " एतस्यां निरोधभूमौ यः समाधिः स निर्बीजः । निर्गतं बीजमत्र क्लेशादिबीजं सर्वमुत्सन्नमस्मिन्निति ।" - विवरण पृ० 12 ।

3 - " निरुद्धासु वृत्तिषु वृत्तिजनिताः संस्कारा एवावशिष्यन्ते ।" -- वही पृ० 1? ।

4 - " तस्य परं वैराग्यमुपायः तत्र समाधिः परमुत्तरम् ।" -- वही पृ० 49 ।

5 - " स एष निर्बीजः संस्कारशेषस्वभावः समाधिरसम्प्रज्ञात इति ।" - वही पृ० 49 ।

असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ चित्त को और अधिक सुस्पष्ट करने के हेतु विवरणकार ने निम्नलिखित किन्तु सटीक उदाहरण प्रस्तुत किया है यथा – सभी विषयों का विनिवर्तन हो जाने पर चित्त उसी प्रकार शान्त हो जाता है जिस प्रकार दहकता हुआ अंगारा धीरे-धीरे क्षीण होने के उपरान्त अन्त में एकदम शान्त अर्थात् राख के रूप में हो जाता है । यह उपमा असम्प्रज्ञातकाल में निरुद्धवृत्तिक चित्त के लिए बहुत ही उपयुक्त है । इस उदाहरण द्वारा व्याख्याकार का इस संबन्ध में यह विचार सामने आता है कि असम्प्रज्ञातकाल में चित्त की वृत्तियों का पूर्ण-निरोध हो जाता है । परिणामतः चित्त में पुनः उनका प्ररोह नहीं हो पाता । जिस प्रकार जलती आग के धीरे-धीरे शान्त होने पर केवल राख बची रह जाती है उसी प्रकार वृत्तियों का निरोध हो जाने पर केवल उनके संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । ये संस्कार निरोध-संस्कार कहे जाते हैं । इनसे पुनः किसी भी प्रकार की वृत्तियाँ नहीं बनतीं[1] ।

असम्प्रज्ञात-समाधि के दो भेद हैं । (1) उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि (2) भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि । भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञात समाधि विदेह तथा प्रकृतिलीन उपासकों को होती है । इन उपासकों को अपनी अपनी उपासना के द्वारा 'कैवल्य' पद के समान मुक्ति का 'अनुभव होता है । कैवल्य का यथार्थ अनुभव तथा लाभ नहीं होता अतः इन साधकों के योग को योगाभास ही मानना चाहिए । 'विदेह' और 'प्रकृतिलीन' उपासक अपनी साधना एवं उपासना के बल पर मुक्त की सी अवस्था को प्राप्त करते हैं ।

- -

1 - " पावकस्य ज्वलतः प्रदीपस्येन्धनस्य शनैःशनैरपायात्स्वतः प्रशमवद् स्वापस्येवातिरेकता ।"

— विवरण पृ0 49 ।

उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि — प्रथमपाद के 20वें सूत्र के आधार पर असम्प्रज्ञातसमाधि का यह दूसरा विभेद है । यहाँ पर असम्प्रज्ञातसमाधि के उपायों का वर्णन किया गया है । श्रद्धा, स्मृति, समाधि आदि असम्प्रज्ञातसमाधि के उपाय दिए गए हैं । 'श्रद्धा' द्वारा प्रसन्नचित्त होने पर उत्साहसहित योग के आठों साधनों का अनुष्ठान करने पर आत्मज्ञानविषयक स्मृति सुदृढ़ हो जाती है । स्मृति के सुदृढ़ होने पर विवेकार्थी का चित्त चंचलता से रहित हो जाता है और इस प्रकार का अनाकुलचित्त ही समाधि के योग्य होता है । ऐसा चित्त ही समाधिस्थ होकर प्रकृष्टज्ञानयुक्त बुद्धि के द्वारा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करने में समर्थ होता है । वह आत्मादि के यथार्थ रूप का ज्ञान प्राप्त करता है । इस प्रकार के ज्ञान के निरन्तर होते रहने पर अन्त में 'पर-वैराग्य' द्वारा इस ज्ञान के प्रति भी वैराग्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप असम्प्रज्ञातसमाधि होती है[1]।

इस प्रकार उक्त उपायों द्वारा योगी असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता है । असम्प्रज्ञातयोग के निर्दिष्ट द्विविध भेदों के विवेचन से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि असम्प्रज्ञातसमाधि का दूसरा भेद ही अर्थात् उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि ही 'योग' माना जा सकता है । इस समाधि के स्वरूप से 'असम्प्रज्ञातयोग' के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है । प्रथमपाद के 18वें सूत्र से असम्प्रज्ञातयोग का लक्षण निर्दिष्ट होता है और प्रथमपाद के 20वें सूत्र से तथा उसकी व्याख्या द्वारा असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति के साधन के ऊपर प्रकाश डाला गया है । अतः यह सर्वथा उचित है कि "उपायप्रत्ययासम्प्रज्ञातसमाधि" योग है ।

- -

1. "तदभ्यासात् — एतदुक्तं भवति — आत्मदर्शनविरामप्रत्ययाभ्यासादिति । तद्विषयाख्य वैराग्यं (ख्यातिविषयाः) तु परस्मादेवाभ्यासादिति । असम्प्रज्ञातः समाधिः इति ॥" —— विवरण पृ0 5।

असम्प्रज्ञात योग में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। केवल निरोध संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं[1]। यह समाधि निरालम्बन होती है। यह समाधि ही निर्बीज समाधि कही जाती है। चित्त के सारे संस्कार ही चित्त के बीज हैं अतः इन संस्कारों का इस समाधि में दाह हो जाने के बाद नाश हो जाता है। संस्कारों का नष्ट हो जाना ही निर्बीज समाधि है। निर्बीजसमाधि में चित्त में केवल निरोध संस्कार रह जाते हैं, इनसे निर्बीज समाधि को कोई हानि नहीं होती है क्योंकि निरोधसंस्कार चित्त के बीज नहीं माने जाते[2]।

यहाँ विज्ञानभिक्षु का विवेचन वाचस्पतिमिश्र से भिन्न है। वाचस्पतिमिश्र ने क्लेशसहित कर्माशयों को बीज माना है, उनका चित्त से निकल जाना ही निर्बीज समाधि है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार चित्त के जितने भी संस्कार हैं सभी बीजरूप हैं, इन सभी का दाह हो जाना निर्बीज-समाधि है। असम्प्रज्ञातयोग के द्विविध भेदों का उल्लेख वार्तिककार ने अधोलिखितशब्दों में किया है।

- -

1 - " निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रावशेषं चित्तं निरुद्धम्" ।
योगवा० पृ० 4 ।

2 - " तत्रश्च निरोधावस्थचित्तं संस्कारोपगं संस्कारमात्रानुसारि संस्कारमात्ररूपेण प्रशान्तवाहि भवति । सेयं प्रशान्तवाहिता स पूर्वोक्तो निर्बीजः समाधिः निरोधयोगः न किंचित्तत्र योगे ज्ञायत इति विशेषणात्प्रज्ञातत्वाभाव इति तात्पर्यः । - - - बीजदाहादेव चास्य निरोधस्य स्वरूपावस्थितिहेतुतया क्लेशकर्मादि परिपन्थित्वाभाव इत्यलं संस्कारशेषत्वादेः । " — वही पृ० 19 ।

भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि - विदेह उपासक देहविगम प्रलय में और कभी कभी सृष्टिकाल में भी निरोधसंस्कारयुक्त चित्त द्वारा कैवल्य पद के समान सुख अनुभव करते हैं । व्युत्थान होने पर वे प्रारब्ध कर्माशयों का भोग करते हैं । इस भोग द्वारा वे प्रारब्ध-कर्माशय-संस्कारों को समाप्त कर मुक्त हो जाते हैं[1] । यहाँ विज्ञानभिक्षु का मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न है—वाचस्पतिमिश्र के अनुसार विदेह लोग समाधि में व्युत्थान आने पर प्रारब्ध भोग करने के पश्चात् पुनः इस संसार में जन्म लेते है इसी लिए विदेह और प्रकृतिलीन की समाधि योग नहीं कही जाती । इसके विपरीत योगवार्तिककार के अनुसार प्रारब्ध-भोग के पश्चात् विदेह तथा प्रकृतिलीन मुक्त हो जाते हैं । मोक्षफलदायक होने के कारण यह समाधि भी योग कही जा सकती है ।

इसी तरह प्रकृतिलीन उपासक भी ईश्वर तथा प्रकृति देवता की उपासना द्वारा संसार को त्याग कर लिंग शरीर से प्रकृति या अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । प्रकृतिलीन होने के उपरान्त भी व्युत्थान होने पर भोग द्वारा अपने प्रारब्धकर्माशय संस्कारों को समाप्त कर जीवन्मुक्त की भाँति मुक्त हो जाते हैं[2] । इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के अनुसार भवप्रत्यय प्राप्त विदेह और प्रकृतिलीन

---

1 - " ते हि देहविगमप्रलये कदाचिच्च सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन संस्कारशेषेण निरोधावस्थेन चित्तेन, कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तो व्युत्थानकाले च स्वसंस्कारस्य देवभावप्रापकसंस्कारस्य विपाकं कर्मभोगं प्रारब्धकर्मण्यपि ता अतिवाह्य अतिक्रामन्ति, ततो मुच्यन्त इति शेषः ।" — यो०वा० पृ० 61 ।

2 - " ईश्वरोपासनया प्रकृतिदेवतोपासनया वा ये ब्रह्माण्डं सावरणं त्यक्त्वा लिंगशरीरेण सह प्रकृत्यावरणे गताः तेऽत्र प्रकृतिलयाः । तेऽपि यावत्प्राप्तकालं चेतसि स्वेच्छयैव प्रकृतिलीने संस्कार-शेषे सत्यसम्प्रज्ञातयोगेन कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्ति यावदधिकारशेषवशात् चित्तं पुनर्व्युत्थानं न भवति — — । अधिकार समाप्तौ च तेऽपि मुच्यन्त इत्याशयः ।"

— वही पृ० 61 ।

उपासक भी असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त कर कैवल्य लाभ करते हैं ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> -- शास्त्रोक्त उपायों द्वारा असम्प्रज्ञात-योग को प्राप्त करना उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञातयोग है[1] । ये उपाय हैं श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा । योग के प्रति प्रीति श्रद्धा है । श्रद्धालु का योग साधना के लिए प्रयत्न करना वीर्य है । प्रयत्न से ध्यान करना स्मृति है । समाधि योग का चरम अंग है । सम्प्रज्ञातयोग से उत्पन्न जीव ब्रह्म का भेद-ज्ञान ही प्रज्ञा है । इन उपायों के अनुष्ठान से साधक शीघ्र असम्प्रज्ञातयोग प्राप्त करता है ।

---

1 - " इतरेषां विवेकप्रकृतिलयातिरिक्तानां देवानां वा मनुष्यादीनाम वा न जन्म-मात्राद्संप्रज्ञातो भवति, किन्तु श्रद्धाऽऽदिभ्यः, प्रज्ञापर्यन्तेभ्यो-द्त्यर्थः ।"

-- योगवार्तिक पृ0 62 ।

योगदीपिका।

असम्प्रज्ञात-समाधि में विवेकख्याति रूप ज्ञान का भी निरोध परवैराग्य द्वारा हो जाता है । ज्ञान के प्रति वैराग्य-भावना का होना ही 'परवैराग्य' है[1] । इस परवैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञानसमाधिजनित प्रज्ञा तथा सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा रूप विवेक ज्ञान का भी निरोध हो जाने पर चित्त में कोई ज्ञानात्मक वृत्ति शेष नहीं रह जाती । इस समय चित्त में केवल निरोध संस्कार रह जाते हैं । अतः इस समय जो समाधि होती है उसे असम्प्रज्ञातसमाधि नाम दिया गया है । असम्प्रज्ञात-समाधि में स्थित रहने पर ही योगी कैवल्य प्राप्त करता है । वृत्ति-निरोध के उपरान्त चित्त का प्रकृति में आत्यन्तिक विलय तथा पुरुष की स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है । असम्प्रज्ञात-समाधि के द्विविध भेदों का उल्लेख इन्होंने भी किया है ।

भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि — यह समाधि विदेह तथा प्रकृतिलीनों को होती है । इस समाधि में देह की अपेक्षा बिना किए हुए, अर्थात् देह रहित होकर केवल बुद्धि द्वारा समाधि के साधनों का अनुष्ठान करते हैं । इस व्याख्या में व्याख्याकार ने भवप्रत्यय का ही अर्थ किया है । विदेह, प्रकृतिलीन के स्वरूप का विधिवत विवेचन नहीं किया है । केवल विदेहों के स्वरूप का विवेचन किया है कि जो देह की अपेक्षा नहीं रखते हैं वे विदेह कहे जाते हैं[2] ।

- -

1. " ज्ञानेऽप्यलंबुद्धिः परवैराग्यम् । तदभ्यासपरिपाकेन पुनः पुनरभ्यासे यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स संप्रज्ञातापेक्षयाऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः । - - - - योगे तु चित्तस्यात्यन्तविलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः ।" — योगदीपिका पृ0 ।9।
2. " विदेहानां प्रकृतिलयानां च असंप्रज्ञातो भवप्रत्ययसंज्ञको भवति । भवो जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । देहनैरपेक्ष्येणैव बुद्धिवृत्तिमन्तः सिद्धा विदेहा इति । ते च महदादयो देवाः तेषां न साधनानुष्ठानम् ।"

— वही पृ0 16 ।

यह समाधि योग है अथवा नहीं इस विषय पर भी व्याख्याकार मौन हैं। अतः इस व्याख्या के आधार पर भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि के बारे में कोई भी निर्णय नहीं किया जा सकता।

<u>उपायप्रत्ययसम्प्रज्ञातसमाधि</u> – इस समाधि के विषय में व्याख्याकार भावागणेश ने कोई विवेचन नहीं किया है।

<u>पातंजलयोगसूत्रवृत्ति</u>

इस व्याख्या में असम्प्रज्ञातयोग का उल्लेख योगदीपिका के ही समान किया गया है। असम्प्रज्ञातयोग के द्विविध भेदों को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है।

<u>भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि</u> – यह समाधि विदेह और प्रकृतिलीन साधकों को होती है। विदेह और प्रकृतिलीन में द्वन्द्व समास है। विदेह स्थूल देह की अपेक्षा नहीं करते हैं। वे भूतेन्द्रिय, तन्मात्राओं, अहंकार इत्यादि की उपासना द्वारा अपने स्थूल शरीर का परित्याग कर वृत्तिरहित और संस्कार-शेष बुद्धिद्वारा कैवल्य के समान अनुभव करते हैं। परन्तु एक निश्चित अवधि के आने पर विदेह उपासक संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात जन्म ले लेते हैं। इसी लिए इस समाधि का नाम भव-प्रत्यय है अर्थात 'जन्म है कारण जिसका'[1]।

प्रकृतिलय प्रकृतिदेवता की उपासना द्वारा ब्रह्माण्ड को छोड़कर प्रकृति में अपने स्थूल शरीर को लीन कर, स्थूल देह तथा उस समय की वृत्तियों से रहित होकर विवेकख्याति द्वारा मुक्ति का अनुभव करते हैं और पुनः इस अवधि के समाप्त हो जाने पर प्रकृति लीन देवादि इस संसार में प्रविष्ट हो जाते हैं

- -

1 - "भवो जन्म प्रत्ययः कारणं यस्येत्यर्थात् ।" – पातंजलयोगसूत्रवृत्ति सू0 I6 I

योगियों का प्रकृति की उपासना द्वारा मुक्त होना तथा पुनः संसार में प्रविष्ट होने का क्रम पूर्व की भांति चलता रहता है । प्रकृतिलीन तथा विदेहों को संसार की प्राप्ति होती रहती है अतः भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि हेय है ।

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि — व्याख्याकार ने इस समाधि का वर्णन योग दीपिका की ही भांति किया है ।

मणिप्रभा

असम्प्रज्ञातसमाधि का ही 'संस्कारशेषः' नाम दिया गया है । परवैराग्य-द्वारा जब सम्प्रज्ञात कालिक सात्त्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब चित्त में वृत्तियों के संस्कार-मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं[1]। पुनः उनका भी निरोध निरोध-संस्कारों के द्वारा कर देने के पश्चात चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं जो चित्त के साथ ही प्रधान में लीन हो जाते हैं । असम्प्रज्ञात-समाधि को निर्बीज-समाधि कहा गया है, क्योंकि यह समाधि आलम्बन रहित होती है तथा इसमें कर्मरूपबीज का अभाव रहता है[2]। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद इस प्रकार में भी किए गए हैं ।

---

1 - "तदा चित्तं संस्कारमात्रावशिष्टमवतिष्ठते ।"

— मणिप्रभा पृ० 10 ।

2 - "स निर्बीजः समाधिः । निरालम्बनः कर्मबीजाभावाच्चेत्यर्थः ।"

— वही पृ० 10 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योग सिद्धान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा का पर्याप्त अनुकरण किया गया है । अभ्यास और वैराग्य द्वारा वृत्तियों का अभाव होने पर असम्प्रज्ञातसमाधि होती है । असम्प्रज्ञातयोग का कारण परवैराग्य है । परवैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञात-समाधि का निरोध कर निर्बीज या असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है । निर्बीज-समाधि में कर्मरूपी बीजों का अभाव हो जाता है । केवल निरोध संस्कार चित्त में रह जाते हैं ।[1] असम्प्रज्ञातसमाधि के द्विविध भेदों को इन व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है ।

भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि — 'भव' का अर्थ अविद्या किया गया है । इस समाधि के मूल में अविद्या है अतः यह समाधि हेय है ।

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि — योगियों के लिए उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि ही उपादेय है । अन्य विवरण मणि-प्रभा के समान हैं ।

- -

1. "परं वैराग्यं संप्रज्ञातरोधाननिरुध्य स्वसंस्कारं शेषयति स निर्बीजः समाधिः कर्मबीजाभावात् ।"

— यो०सि०च० पृ० 7 ।

भास्वती -

असम्प्रज्ञातसमाधि में सम्प्रज्ञातकालिक चित्त की सात्त्विकवृत्ति का भी निरोध हो जाता है । चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमात्र शेष रह जाते हैं और इसके पश्चात चित्त में कोई नई वैषयिक वृत्ति नहीं बनती । चित्त के प्रज्ञाकृत संस्कारों का निरोध निरोधसंस्कारों से होता है । इस प्रकार असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त में किसी भी प्रकार के प्रत्यय नहीं रह जाते । केवल निरोधसंस्कार चित्त में तब तक बने रहते हैं जब तक चित्त अव्यक्त में लीन न हो जाये । चित्त के साथ ही ये निरोधसंस्कार भी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस समय पुरुष अकेला अपने रूप में अवस्थित होकर कैवल्य की दशा का अनुभव करता है ।

असम्प्रज्ञातसमाधि का उपाय "परवैराग्य" है । परवैराग्य द्वारा ही सम्प्रज्ञातसमाधि की पराकाष्ठा-विवेकख्याति तथा धर्ममेघसमाधि के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और साधक निर्बीज-समाधि में लीन हो जाता है । निर्बीज-समाधि असम्प्रज्ञातसमाधि का ही दूसरा नाम है । असम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येयरूप आलम्बन नहीं होता है, निरालम्बन समाधि होने के कारण ही इस समाधि को असम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है । असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त की सभी वृत्तियों तथा संस्कारों का निरोध हो जाता है । बीजरूप वृत्ति तथा वृत्तिजन्यसंस्कारों का निरोध हो जाने से ही यह समाधि निर्बीज कही गयी है ।[1]

---

1 - " सम्प्रज्ञातं लब्ध्वा तदपि निरुध्य यदा प्रत्ययहीनां निरस्तवृत्तिकावस्थाऽधिगम्यते तदा सोऽसम्प्रज्ञातयोग इति । ध्येयविषयस्यास्य बीजस्याभावाद् निरोधः समाधि-निर्बीज इत्युच्यते । " — भास्वती पृ० 17 ।

निर्बीज समाधि के दो भेद किए गए हैं । उपायप्रत्यय-निर्बीज-समाधि और भवप्रत्ययनिर्बीजसमाधि ।

भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि — भवप्रत्यय निर्बीजसमाधि कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं होती । यह समाधि विदेह तथा प्रकृतिलीनों को होती है । स्थूलसूक्ष्मशरीर से हीन को विदेह कहते हैं । विदेह साधक को जब शरीर के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है तब वे वैराग्य के द्वारा अपने शरीर का त्याग कर देते हैं । सूक्ष्मशरीर प्रकृति में लीन हो जाता है और उस समय साधक विदेहकैवल्य के समान दशा का अनुभव करता है । विदेहों को पुरुषख्याति नहीं होती । अतः पुरुषख्याति के अभाव में चित्त के संस्कारों का समूल प्रकारेण नाश नहीं होता । पर वैराग्य से उत्पन्न वैराग्यसंस्कारों की शक्ति जब क्षीण हो जाती है तब पुनः उनका इस संसार में जन्म होता है । पुनः जन्म लेने तथा पुरुषख्याति से हीन होने के कारण विदेहों की समाधि भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि होती है[1] ।

इसी तरह प्रकृतिलीन उपासक भी वैराग्य द्वारा अपने शरीर का त्याग प्रकृति में कर देते हैं परन्तु विवेकहीनता के कारण तथा साधिकारचित्त के कारण वैराग्य से उत्पन्न निरोध-संस्कार की शक्ति का क्षय होने पर प्रकृतिलीन इस संसार में फिर से जन्म लेते हैं । वैराग्य की भावना द्वारा उक्त साधक देहपात करते हैं । अतः इस समय की समाधि को निर्बीज कहा गया है ।

- -

1 - " विदेहानां देवानां, तथा प्रकृतिलयानामपि योगिनाम्, ये तु पुरुषख्यातिहीनाः संस्कारमात्रस्थे मनोलयेऽपि विरागमापन्ना न देह-मात्रे, तद्विरागात् तदनुरूपसमाधेश्च तेषां विवेकहीनत्वात् साधिकारं चित्तं प्रकृतौ लीयते ।"
— भामती पृ० ५७ ।

परन्तु वैराग्यसंस्कार की शक्ति के क्षीण होते ही निर्बीजसमाधि दूर हो जाती है और पुनः उनका जन्म इस संसार में हो जाता है । निर्बीज समाधि चूंकि अद्युत्पन्न छिन्न हो जाती है अतः यह समाधि योग नहीं है ।

__उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि__ – श्रद्धादि उपायों के अनुष्ठान से व्युत्थानसंस्कारों का नाश हो जाने पर परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है । प्रज्ञा विवेक का अर्थ = विशद या विशिष्ट ज्ञान का उत्कर्ष किया गया है । यह समाधि ही योगी के लिए कैवल्य साधक है[1] ।

__स्वामिनारायणभाष्य__

चित्त की सभी वृत्तियों का आत्यन्तिक विलय जिस समाधि में होता है उसे असम्प्रज्ञातसमाधि कहते हैं[2] । असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त में केवल वृत्तियों के संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाते हैं अतः इसे संस्कारशेषसमाधि भी कहते हैं । असम्प्रज्ञातसमाधि में प्रमाणभूतसंस्कारों का भी निरोध, निरोधसंस्कारों से हो जाता है और अन्त में सभी संस्कारों का निरोध हो जाने पर चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार चित्त में ही रहते हैं और चित्त के साथ ही अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । इस समय पुरुष स्वरूपावस्थित होकर कैवल्य अपवर्ग को प्राप्त करता है ।

- -

1 – " प्रज्ञा विवेकः = वैशिष्ट्यं = उत्कर्ष इति यावत् ।"
" व्युत्थानसंस्कारनाशे परवैराग्ये सम्प्रज्ञातः समाधिर्भवतीति ।"

— भास्वती पृ0 60 ।

2 – " सर्वासां वृत्तीनां विरामस्य – अत्यन्तविलयस्य, प्रत्ययः – कारणं यत्परं वैराग्यं गुणवैतृष्ण्याख्यम्, तदभ्यासः – तदनुशीलनम्, तत्पूर्वः – तत्कारकः, अन्योऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति ।"

— स्वामिनारायणभाष्य – पृ0 85 ।

असम्प्रज्ञातसमाधि में कोई बौद्धिकवृत्ति नहीं बनती । परवैराग्य द्वारा दग्धबीजभावता को प्राप्त वृत्तियाँ चित्त में पुनः प्रबुद्ध नहीं हो पाती । अतः इस इस समाधि में कुछ ज्ञान नहीं होता है इसी आधार पर इस समाधि का नाम असम्प्रज्ञात किया गया है [1] । असम्प्रज्ञातसमाधि को ही निर्बीज-समाधि भी कहते हैं । और आलम्बन रहित होने के कारण यह समाधि निर्बीज-समाधि है । असम्प्रज्ञात-समाधि के दो भेद किए गए हैं । (1) भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि (2) उपाय-प्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि ।

भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि — भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों तथा प्रकृतिलयों को होती है । शरीर की अपेक्षा नहीं करते हुए केवल बुद्धिवृत्तियों के द्वारा रहने वाले विदेह कहे जाते हैं । ये सिद्ध योगी होते हैं जो जन्म से बिना किसी साधन का अनुष्ठान किए एक शरीर के बाद दूसरे शरीर की रचना करने में समर्थ होते हैं । ऐसे सिद्धों को जन्म से ही असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि प्राप्त रहती है [2] । इसके लिए उन्हें किसी साधन के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती । विदेहसिद्ध शरीर की अपेक्षा नहीं करते हुए केवल बौद्धिक वृत्तिमात्र अवस्था में रहते हुए अन्त में वृत्तियों के संस्कार शेषावस्था में पहुँच कर कैवल्य को दशा के समान मोक्ष की स्थिति का अनुभव करते हैं । जब प्रारब्ध कर्मों का विपाक पूरा हो जाता है तब वे कुछ काल पश्चात् अपनी इच्छानुसार स्थूल शरीर धारण कर लेते हैं । शरीर धारण उनकी इच्छा के अधीन है अतः संसार में लोग उन्हें ईश्वर तथा देवता की ही उपाधि भी देते हैं ।

- -

1 - " न सम्प्रज्ञायते ध्येयोऽर्थो यत्र सः असम्प्रज्ञातः ।"

— स्वा०ना०भा० पृ० 86

2 - " शरीरनैरपेक्षेण बुद्धिवृत्ति मात्र आत्मनो देवादयो पुण्यविशेषभाजः तेषां साधनानुष्ठानं बिनैव सम्प्रज्ञातयोगो भवप्रत्ययो ः भवः संसारः जन्म इति यावत् तन्निमित्तको भवति । ते तु योगिनः सिद्धयोगे एव ।"

— वही पृ० 86 ।

प्रकृत्यादि जड़ तत्त्व को आत्मा मान कर उन्हीं जड़ तत्त्वों की उपासना करते हुए अपने लिंग शरीर को अव्यक्त में या प्रकृति के किन्हीं भी आठ तत्त्वों में लीन कर संस्कार शेषावस्था में रहते हुए कैवल्यपद के समान मोक्ष का अनुभव करते हैं । कुछ निश्चित समय के उपरान्त वे फिर से इस संसार में जन्म ले लेते हैं । यहाँ स्मरणीय है कि पुनः जन्मधारण वे स्वेच्छा से करते हैं । प्रकृतिलय योगी जन्म से ही योगी कहलाते हैं इनका असम्प्रज्ञातयोग जन्मकारणक होता है । अतः इनके योग को भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि या योग कहा गया है । प्रकृतिलीनों को भी देवता, ईश्वर नाम से संसार में लोग अभिहित करते हैं ।

<u>उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि</u> -- श्रद्धादि उपायों के अनुष्ठान से जो असम्प्रज्ञातसमाधि होती है वह कैवल्य-दायक होती है । उपायों का निर्वचन इन शब्दों में किया गया है । योग का फल कैवल्य है अतः इसकी प्राप्ति के लिए योग में आस्था, प्रीति का होना श्रद्धा है । श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने पर योगी के चित्त में उत्साह उत्पन्न होता है । वीर्य द्वारा योग के विरोधी अविद्यादि विघ्नों का विध्वंस होता है और योगी को योग की प्राप्ति होने में सहायता मिलती है । आत्मविषयक अविरल ध्यान स्मृति है । यमादि उपायों से दृढ़ हुए चित्त में ही समाधि होती है इसमें आत्मविषयक सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है जिसे सम्प्रज्ञातयोग कहते हैं । प्रकृति और पुरुष का विभिन्नज्ञान ही विवेकप्रज्ञा है । इन उपायों के अनुष्ठान से योगी कैवल्यदायक असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता है । असम्प्रज्ञातयोग का साक्षात् उपाय परवैराग्य है ।[2]

- -

1 - " प्रकृत्यादि जडतत्त्वान्यात्मत्वेनाभिमत्य तदुपासनया अहङ्कारेण मिथ्या लिंग शरीरेण सह प्रकृत्याद्यष्टान्यतमेषु जडतत्त्वेषु लीना आत्मनः । तेऽपि तत्तत्संस्कार-शेषेण चित्तेन कैवल्यपदमनुभवन्तु इव । " -- स्वा०भा०भा० पृ० 86

2 - " परवैराग्यात् गुण वैतृष्ण्यात्मकवशीकारसंज्ञकात् असम्प्रज्ञातसमाधि रासिद्धिर्भवति । " स हि 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वः परमकैवल्य हेतुर्भवेति प्रयोग यदेवेच्छति तदा परमकैवल्यं पुरुषाय समर्पयतीति । "

-- वही पृ० 86 ।

व्यासभाष्य

ईश्वर नितान्त शुद्ध तथा सभी प्रकार के क्लेशों से अपरामृष्ट है[1]। क्लेशों का उससे सम्पर्क न तो अतीत में था न वर्तमान में और न भविष्य में अर्थात वह सदा से क्लेशों से अपरामृष्ट है इसी लिए ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है । ईश्वर नित्यमुक्त है । वह कैवल्य प्राप्त कर लेने वाले केवली की तरह मुक्त नहीं क्योंकि ये केवली पुरुष अतीतकाल में बन्धनों से बंधे रहते हैं और आगे चल कर अपनी साधना के बल पर उन बन्धनों को छोड़कर मुक्त होते हैं । ईश्वर की मुक्तता इनसे भिन्न है । ईश्वर तो सदैव से मुक्त है वह कभी भी किसी भी काल में बन्धनयुक्त नहीं रहा है अतः उसकी मुक्ति नित्यमुक्ति है[2]।

ईश्वर में भोक्तृत्वादि का भी व्यपदेश नहीं हो सकता क्योंकि सभी व्यक्तियों के अन्दर जो पुरुष तत्त्वविद्यमान है उसमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों, धर्म-अधर्म-रूप कर्मों, उनके विपाकों तथा विपाकों से बनने वाले कर्माशयों के भोग का व्यपदेश होता है क्योंकि यद्यपि चितिशक्ति असंग है फिर भी व्युत्थानकाल में बुद्धि से संपर्क बने रहने के कारण वह बुद्धिगत सुखदुःखों का भोक्ता कहा जाता है । परन्तु ईश्वर में क्लेशों तथा वासनाओं का व्यपदेश मात्र भी नहीं होता क्योंकि ईश्वर का बुद्धिगत सुखदुःखादि से सम्पर्क नहीं होता ।

---

1 - " यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।"
— व्यासभाष्य पृ0 66 ।

2 - " कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्ध-कोटिः संभाव्यते, नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।" — वही पृ0 66

ईश्वर ऐश्वर्ययुक्त है । ईश्वर का ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से विनिर्मुक्त है । इसके समान ऐश्वर्य न तो किसी और का है और न इससे बढ़कर कोई अन्य ऐश्वर्य है अतः शास्त्रों में कहा गया है कि ईश्वर का ऐश्वर्य साम्यातिशय-विनिर्मुक्त है[1] । ईश्वर के इस ऐश्वर्य का प्रमाण हमें शास्त्रों से मिलता है । पुनः यह पूछा जा सकता है कि इन शास्त्रों की क्या प्रमाणिकता है ? उत्तर है — ईश्वर ही इन शास्त्रों का प्रमाण है । इस प्रकार ईश्वर के ऐश्वर्य और शास्त्र के बीच नित्य संबंध है । ईश्वर का उत्कर्ष इसका वाच्य है इस प्रकार ईश्वर और शास्त्रों में वाच्य-वाचक भाव संबंध भी सिद्ध होता है । यह संबन्ध भी नित्य सिद्ध है क्योंकि प्रत्येक सृष्टि में ईश्वर के ऐश्वर्य का स्वरूप इन शास्त्रों के द्वारा ही जाना जाता है । ईश्वर का ज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि ईश्वर को भूत, वर्तमान और भविष्य का अतीन्द्रिय ज्ञान रहता है । ईश्वर की दया-दृष्टि प्राणियों के ऊपर निःस्वार्थभाव से होती है इसी बात को ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने लिखा है — " तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञान-धर्मोपदेशेन कल्प प्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति ।" पृ0 66. योगशास्त्र के अनुसार ईश्वर अवतार नहीं धारण करता है। प्राणियों की रक्षा के लिए अपने संकल्प मात्र से जीवों का उद्धार करता है । ईश्वर अनादि है, सर्वव्यापी है, यह सभी गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि ईश्वर का काल से अवच्छेद नहीं होता यह त्रिकालाबाधित है सभी सृष्टि में यह पूर्व से विद्यमान माना जाता है अतः अब तक जितने भी गुरु हुए हैं उन सभी का यह गुरु है ।

- -

1 - " एतस्य हि तत्र्वभवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्चतस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते ।"

— व्यासभाष्य पृ0 67 ।

तत्ववैशारदी

ईश्वर न तो चेतन है और नही अचेतन है बल्कि ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाकाशयों से अपरामृष्ट पुरुष विशेष है । ईश्वर सदैव मुक्त है । यह भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सभी प्रकार के बन्धनों से रहित है । यहाँ पर वाचस्पतिमिश्र ने प्रकृतिलय-प्राप्त तथा विदेहप्राप्त तथा कैवल्यप्राप्त योगियों से तुलना करते हुए यह विवेचन प्रस्तुत किया है कि उन योगी कैवल्य प्राप्ति के पूर्व बन्धन में अवश्य रहते हैं । अपनी साधना के बल पर बन्धनों को दूर कर कैवल्य को प्राप्त करते हैं । परन्तु ईश्वर तो सदैव से मुक्त है कभी भी बन्धनों का स्पर्श ईश्वर को नहीं हुआ इसीलिए ईश्वर को पुरुष-विशेष तथा सदैव-मुक्त कहा गया है[1]।

ईश्वर प्रकृष्टसत्त्व को धारण करता है परन्तु ईश्वर के सत्त्व में अविद्या का लेशमात्र भी सम्पर्क नही होता है । ईश्वर अपनी इच्छा से प्राणियों का उद्धार करता है यह उद्धार की क्रिया, ज्ञान धर्म के उपदेश द्वारा सम्पन्न होती है[2]। इस ज्ञान और धर्म का उपदेश हमें शास्त्रों के द्वारा प्राप्त होता है ।

ईश्वर सृष्टि और संहार की क्रिया अपनी इच्छानुसार करता है । इस कार्य से ईश्वर की विशिष्टता में तथा ऐश्वर्य में कोई अन्तर नही आता । ईश्वर का उत्कर्ष शाश्वत् है । महाप्रलय के समय भी ईश्वर का चित्तसत्त्व प्रधान में विलीन नहीं होता क्योंकि ईश्वर का ऐश्वर्य, उत्कर्ष, शाश्वत है हमेशा रहने वाला है । अतः वह प्रकृति में विलीन नहीं होता[3]।

- -

1 - " इह तु पूर्वापरकोटिनिषेध इति । संक्षिप्य विशेषं दर्शयति स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।"
— त0वै0पृ0 68 ।

2 - " न चेश्वरस्य सदामुक्तस्याविद्याप्रभवचित्तसत्त्वसमुत्कर्षेण सह स्वस्वामिभावः संबन्धः संभवतीत्यत उक्तम् — प्रकृष्टसत्त्वोपादानाद् इति । - - - किं तु तापत्रय - परीतान्प्रेत्य भावमहार्णवाज्जन्तूनुद्धरिष्यामि ज्ञानधर्मोपदेशेन ।"
— वही पृ0 68 ।

3 - " अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे सर्गान्तरसमुत्पन्नाखिलजहोर्मावधिसमये पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेयः इति प्रणिधानं कृत्वा भगवाञ्जगत्संजहार - - - न चेश्वरस्य चित्त-सत्त्वं महाप्रलयेऽपि न प्रकृतिसाम्यमुपैतीति वाच्यं ।"
— वही पृ0 68 ।

प्रश्न उठता है कि ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का क्या प्रमाण है ? उत्तर देते हुए कहते हैं - ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष का प्रमाण शास्त्र है । इस शाश्वतिक उत्कर्ष का कारण शास्त्र नहीं है । उसका कारण प्रकृष्ट-सत्त्व है । शास्त्र का प्रमाण प्रकृष्ट सत्त्व है साथ ही शास्त्र का कारण भी प्रकृष्ट-सत्त्व है । इस प्रकार शास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि शास्त्र का कारण अथवा आश्रय प्रकृष्टसत्त्व है, शाश्वतिक उत्कर्ष नहीं । जब कि शाश्वतिक उत्कर्ष का कारण या आश्रय शास्त्र नहीं है । वास्तव में दोनों स्थलों पर प्रकृष्ट सत्त्व ही प्रतीत है अर्थात शास्त्र और शाश्वतिक उत्कर्ष दोनों का कारण प्रकृष्ट सत्त्व है न कि ये परस्पर एक दूसरे के कारण हैं । शास्त्र स्वतः प्रामाण्य हैं क्योंकि मन्त्र आयुर्वेद को व्यवहार में लाने पर यह देखा जाता है कि ये शास्त्र अपनी सच्चाई का प्रमाण स्वयं देते हैं । अतः इसके लिए वाचस्पतिमिश्र ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रवृत्तिसामर्थ्याद्यथार्थविचारविनिश्चयात्प्रामाण्यं सिद्धम् ।' अतः यह स्पष्ट है कि इन शास्त्रों की प्रामाणिकता ईश्वर से नहीं सिद्ध होती प्रत्युत स्वयं सिद्ध है । परन्तु कारण की दृष्टि से ईश्वर का प्रकृष्ट सत्त्व इन शास्त्रों का कारण है । ईश्वर का प्रकृष्टसत्त्व रजो, तमो गुणों के मलों से रहित नितान्त शुद्ध तथा प्रकृष्टरूपेण प्रकाशमान है अतः उसका सत्त्वोत्कर्ष इतना अधिक उच्च कोटि का है कि उसमें रजोगुण तमोगुण का भ्रम मात्र भी नहीं होता । इसीलिए ईश्वर के सत्त्व को प्रकृष्टसत्त्व कहा गया है ।

- -

1 - "न चेश्वरप्रत्यक्षागमत्वं शास्त्रमिति युक्तम् । कस्मादित्यपि इदं भूयादन्योन्याश्रयप्रकाशनायेति भावः । परिहरति प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् ।"

- त०वै० पृ० 6[illegible] ।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविद्यादि क्लेशों से विहित, प्रतिषिद्ध और व्यामिश्र रूप कर्मों, कर्मों के विपाक तथा कर्माशय संस्कारों से तीनों कालों में अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है।[1] ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से सारे जगत की सृष्टि और उद्धार करने में समर्थ है।[2] यद्यपि सभी संसारी पुरुषों में निहित आत्मतत्व भी उसी का अंश है परन्तु बुद्धि से संयुक्त होने के कारण इन आत्माओं में क्लेश, कर्माशयादि का व्यपदेशमात्र तो होता ही है, परन्तु ईश्वर में क्लेशादि का व्यपदेशमात्र भी नहीं होता, क्योंकि ईश्वर का बौद्धिक वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः तीनों कालों में भी उसका क्लेशादि से कोई सम्पर्क नहीं होता। अतः वह ईश्वर विलक्षण है अर्थात् विशेष लक्षणों वाला है।

ईश्वर की विशिष्टताएँ —

1) ईश्वर का सत्त्वोत्कर्ष अनादि है।

2) ईश्वर सदा मुक्त है अतः मुक्ति प्राप्त किए जीवों से उसकी कोई समानता नहीं है।

3) ईश्वर एक है अनेक नहीं।

4) ईश्वर का ऐश्वर्य अपनी पराकाष्ठा पर है। उसके ऐश्वर्य की और कोई सीमा नहीं है। यह त्रिकालाबाधित नित्य तत्व है।

5) ईश्वर अपने दयालु स्वभाव के कारण सृष्टि के अन्त में प्राणियों का उद्धार करता है।

---

1 - " क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः। विहितप्रतिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्माणि। विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः। आफलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः। पुरुषविशेषः — अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः।"

— राजमार्तण्डवृत्ति पृष्ठ 63।

2 - " ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरण क्षमः।"

— वही पृ0 63।

6) ईश्वर सर्वज्ञ है । उसकी सर्वज्ञता सृष्टि के आदि से अन्त तक विद्यमान है । उससे बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है । ईश्वर ब्रह्मादि का भी गुरु है[1] ।

7) ईश्वर का ऐश्वर्य ज्ञानबल से प्राप्त नहीं प्रत्युत स्वाभाविक है । ईश्वर शाश्वत सत्ता है उसका ज्ञान और ऐश्वर्य भी शाश्वत है ।

8) ईश्वर का वाचक 'प्रणव' या 'ओंकार' है । वाचक और वाच्य का संबन्ध नित्य है । चूंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा । परिणामस्वरूप वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव का संबन्ध भी नित्य है[2] । इस प्रकार योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर अपनी विशिष्टताओं के कारण ही पुरुष विशेष कहा गया है ।

- -

1. " आद्यानां गुरूणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा ।"
— रा०मा०वृ० पृ० 70 ।

2. " वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धो नित्यः ।"
— वही पृ० 73 ।

6) ईश्वर सर्वज्ञ है। उसकी सर्वज्ञता सृष्टि के आदि से अन्त तक सिद्ध है। उससे बढ़कर कोई ज्ञानी नहीं है। ईश्वर ब्रह्मादि का भी गुरु है[1]।

7) ईश्वर का ऐश्वर्य ज्ञानबल से प्राप्त नहीं प्रत्युत स्वाभाविक है। ईश्वर शाश्वत सत्ता है उसका ज्ञान और ऐश्वर्य भी शाश्वत है।

8) ईश्वर का वाचक 'प्रणव' या 'ओंकार' है। वाचक और वाच्य का संबन्ध नित्य है। चूंकि ईश्वर नित्य है अतः उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा। परिणामस्वरूप वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणव का संबन्ध भी नित्य है[2]। इस प्रकार योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर अपनी विशिष्टताओं के कारण ही पुरुष विशेष कहा गया है।

- -

1 - "आद्यानां सृष्टीनां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा।"

— रा०मा०वृ० पृ० 70।

2 - "वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धो नित्यः।"

— वही पृ० 73।

विवरण

'ईश्वर' को पुरुष विशेष कहा गया है। 'ईश्वर' क्लेश, कर्म और विपाकाशयों से तीनों कालों में असपृष्ट है। सामान्यपुरुषों में कुछ पुरुषों का इन क्लेशों से संबन्ध जीवनपर्यन्त बना रहता है, कैवल्याभिलाषी योगी का मोक्ष की अवस्था के पूर्व काल में इन क्लेशों से संबन्ध बना रहता है, परन्तु ईश्वर ही एक ऐसा तत्त्व है जो तीनों कालों में इन क्लेशों से असपृष्ट रहता है। 'असपृष्ट' का अर्थ विवरणकार ने 'असम्बन्ध' किया है। ईश्वर का क्लेशादि से किसी भी काल में कोई संबन्ध नहीं होता है।[2] वह सदैव मुक्त है।

ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य, निरतिशय तथा अन्य सभी ऐश्वर्यों से उत्कृष्ट प्रकार का ऐश्वर्य है।[3] प्रश्न उठता है कि ईश्वर का ऐश्वर्य सनिमित्त है या निर्निमित्त। 'निमित्त' शब्द को इन्होंने 'कारण' का पर्याय माना है जब कि अन्य व्याख्याकारों यथा, भाष्यकार, वाचस्पतिमिश्रादि ने 'निमित्त' शब्द को 'प्रमाण-वाची' माना है। विवरणकार का कहना है कि 'ईश्वर' के प्रकृष्टसत्त्व को न तो 'सकारण' माना जा सकता है और न ही निष्कारण, क्योंकि यदि ईश्वर के प्रकृष्टसत्त्व को सकारण मानते हैं तो ईश्वर की स्वरूपगत विशिष्टता अर्थात् 'सर्वेश्वरत्व' की हानि होती है और यदि ईश्वर के प्रकृष्टसत्त्व को निष्कारण अथवा निर्निमित्त मानते हैं तो स्वभावव्याघात दोष की सम्भावना होती है।

- -

1 - " न कालत्रितये, उपलक्षणार्थत्वं — न परामृष्यते, नापि परामृष्यते-नापि परामृष्ट इति।"

— विवरण पृ० 54।

2 - " क्लेशकर्मविपाकाशयासंबन्धी (अयोगी) ईश्वरः।"

— वही पृ० 54।

3 - " नित्यनिरतिशयसर्वानैश्वर्य शक्ति सम्पत्तिरुत्कर्षः।"

— वही पृ० 54।

ईश्वर का प्रकृष्ट सत्व निष्कारण नहीं है । शास्त्र उसका निमित्त कारण है । 'शास्त्र' का तात्पर्य है 'ज्ञान' । शास्त्र के द्वारा ही हमें ईश्वर के उत्कृष्टसत्व का ज्ञान प्राप्त होता है अतः ईश्वर के उत्कर्ष को सनिमित्त माना जाता है । ईश्वर के उत्कर्ष और शास्त्र में परस्पर बीजाङ्कुरवत् अनादिसंबन्ध है[1] । अतः यहाँ पर ईश्वरोत्कर्ष को ज्ञान (शास्त्र) का कार्य और 'शास्त्र' को 'ईश्वरोत्कर्ष' का कारण माना है[2] । शास्त्र और 'ईश्वरोत्कर्ष' में परस्पर प्रमाण-प्रमेय रूप अनादि संबन्ध है[3] । ईश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान यद्यपि हमें शास्त्रों से ही प्राप्त होता है परन्तु ईश्वर का ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है[4] ।

'ईश्वर' के उत्कर्ष की सकारणता को सिद्ध करने के उपरान्त उसके ऐश्वर्य की विशेषताओं का वर्णन किया गया है । 'ईश्वर' का ऐश्वर्य 'साम्यातिशयविनिर्मुक्त है । ईश्वर के ऐश्वर्य के समान प्रकृष्ट ऐश्वर्य और कोई नहीं है । इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए विवरणकार ने ईश्वर के स्वरूप का उल्लेख अधोलिखित पंक्तियों में किया है :— "

" तस्माद्यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तमैश्वर्यं[5] स ईश्वर इति प्रधानपुरुष व्यतिरिक्तः पुरुषविशेषईश्वरः सिद्धः ।"

- -

1 - " तत्र यथैव ज्ञानसंस्कारस्मृति प्रबन्धानामन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन बीजाङ्कुरवदनादिसंबन्धः ।"

— विवरण पृ0 55 ।

2 - " तत्रोत्कर्षो ज्ञानस्य कार्यमेव । ज्ञानमपि तस्य कारणमेव ।"

— वही पृ0 55 ।

3 - " एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः प्रमाणप्रमेयलक्षणेतरेतरसंबन्धः अनादिः ।"

— वही पृ0 56 ।

4 - " ईश्वरप्रामाण्यस्यानुमानेन सिद्धावबोधः ।"

— वही पृ0 56 ।

5 - ;" द्रष्टव्य - विवरण पृ0 57 ।

ईश्वर निरतिशय तथा सर्वज्ञता का बीज है । इसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । वह अतीन्द्रिय ज्ञानवान् है । 'अतीन्द्रियज्ञान' का[1] अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान । ईश्वर ही एकमात्र ऐसा ज्ञाता है जिसे उक्त तीनों कालों का सर्वदा ज्ञान रहता है । ईश्वर, ज्ञान की प्रकृष्टपराकाष्ठा है इसी लिए उसे सर्वज्ञ कहा गया है ।

ईश्वर ही इस संसार का निर्माता है, पालक है और संहारकारक है[2] । ईश्वर में ही ऐश्वर्य की पराकाष्ठा है इसीलिए उसे 'परमेश्वर' की भी संज्ञा दी गई है । ईश्वर का ज्ञान प्रकृष्ट ज्ञान है, उसमें विपर्ययादिका लेश मात्र भी सम्भव नहीं होता । ईश्वर दयालु है । प्राणियों पर अनुग्रह कर उन्हें अविद्यादि पङ्क से विनिर्मुक्त कर धर्म और ज्ञान का उपदेश देता है और उनका इस संसार से उद्धार करता है । ईश्वर ही सभी प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है[3] । ईश्वर की इन सभी विशेषताओं का ज्ञान, आगम और अनुमान प्रमाण से होता है ।

---

1 - "अतीन्द्रियग्रहणं त्रिविधम् — सूक्ष्मविषयं व्यवहितविषयं विप्रकृष्टविषयं च ।" - - - स सर्वज्ञः सिद्धः ।"

— विवरण पृ० 57 ।

2 - "तेन जगन्निर्माणस्थापनोपसंहारादिकर्तृत्वसिद्धिः । तथैश्वर्यस्यापि वर्धमानस्य यत्र काष्ठाप्राप्तिः, स परमेश्वरः । ततश्च ज्ञानस्यापि विपर्ययदोषाभावसिद्धिः ।"

— वही पृ० 57 ।

3 - "तस्मात् प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः सर्वप्राणिकर्मफलपरिस्फुरणज्ञाना- त्मकानुग्रहकारणम् ईश्वरः सिद्धः । स प्रकृष्टसत्त्वोपादान ईश्वरः कथं कर्ता ? कथं चानुगृह्णाति ? इत्येतदपि न चोदयितव्यम् । आगमतः पर्यन्वेषणस्य युक्तत्वात् । अनुमानस्य च तद्विषयस्यानुपपत्तेः विशेषसम्बन्धाग्रहणादिति ।"

— वही पृ० 73 ।

योगवार्तिक –

विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को पुरुष विशेष मानते हुए ईश्वर को पुरुष से एकदम पृथक नहीं माना है । योगवार्तिक में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि – " तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेः प्रधाने इति भावः ।" यो०वा०पृ० 70।
अर्थात ईश्वर का अन्तर्भाव पुरुष में और उसकी उपाधि का अन्तर्भाव प्रधान में होना चाहिए। ईश्वर सामान्य पुरुष नहीं है । वह पुरुष-विशेष है । विशेषता इस बात की है कि साधारण पुरुषों में क्लेशों, कर्मों, विपाकों का व्यपदेश होता है क्योंकि प्रत्येक पुरुष की बुद्धि तद्-तद् कर्मों में अनुरक्त रहती है। अतः यद्यपि वह पुरुष भी असंग माना गया है परन्तु विविध प्रकार की वृत्तियों से युक्त, बुद्धि के कारण इन सांसारिक क्लेशों का व्यपदेश पुरुष में होता रहता है परन्तु ईश्वर में इन क्लेश कर्मादि का व्यपदेशमात्र भी नहीं होता अतः ईश्वर को विशेष पुरुष कहा गया है।[1]

ईश्वर सदैव मुक्त है।[2] कैवल्य प्राप्त योगियों से ईश्वर के कैवल्यावस्था की तुलना नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर में त्रैकालिक परामर्शशून्यता है जब कि योगी अपने अतीत काल में बद्ध अर्थात् क्लेशों से परामृष्ट रहता है ।

- -

1 – " ते हि हिरण्यगर्भादयः प्राकृतिकानि बन्धनानिपूर्वमितानि विच्छेद्य मुक्ताः, न तु क्लेशादि परामर्शशून्याः, ईश्वरस्तु सर्वदैव क्लेशात्मक बन्धन प्रागभावतया मुक्तादि विलक्षण इत्यर्थः । ईश्वरस्य सदा क्लेशादि शून्यत्वेमानम् " ।
— यो०वा० पृ० 72।

2 – " सदैवमुक्त इति । मुक्तमुक्त इत्यर्थः। सदैवेश्वर इति । "
— वही पृ० 72।

ईश्वर का ऐश्वर्य सभी ऐश्वर्यों से बढ़कर है । ईश्वर की उपाधि - प्रकृष्टकोटि की है । ईश्वर की उपाधि- शाश्वत तथा नित्य है । सृष्टि और संहार नामक उपाधियाँ ही ईश्वर की उपाधि हैं । ईश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से सृष्टि और संहार का चक्र चलाता रहता है । ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण हमें शास्त्रों में प्राप्त होता है और शास्त्रों की प्रमाणिकता स्वयंसिद्ध मानी गई है अतः ईश्वर और शास्त्रों की प्रमाणिकता के संबन्ध में अन्योन्याश्रय दोष नहीं पाया जाता है ।

ईश्वर कोई अवतार नहीं लेता । ईश्वर ब्रह्मा, विष्णु, शंकर का भी गुरु है । ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहा गया है । कारण वही प्रकृति की साम्यावस्था को संक्षुब्ध कर सृष्टि के लिए समर्थ बनाता है । विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार किया है । इसके साथ ही साथ विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को निर्गुण भी कहा है । निर्गुण इस लिए कि ईश्वर गुणों के अभिमान से शून्य है इस विवेचन को पुष्ट करने के लिए ही गीता से उद्धरण भी दिया गया है —

" परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहंकारयुतोऽपरः । "

योगदीपिका

'ईश्वर' का लक्षण-प्रतिपादक सूत्र के शब्दों में ही भावागणेश ने पुरुष के स्वरूप की विवेचना की है। क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इन सबसे भूत, वर्तमान और भविष्य में अपरामृष्ट पुरुष-विशेष 'ईश्वर' है। ईश्वर जीवों अर्थात् आत्माओं से पृथक् है, विशिष्ट है क्योंकि यद्यपि जीवात्मा भी क्लेशादि से शून्य है, परन्तु सचित्त होने के कारण क्लेशादि का इन जीवात्माओं में व्यपदेश होता ही है। ईश्वर में क्लेशादि का व्यपदेश मात्र भी नहीं होता।

ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है। ईश्वर अन्तर्यामी है, वह हिरण्यगर्भादि का भी गुरु है, गुरु होने के कारण ईश्वर को ज्ञान चक्षु प्रदान करने वाला भी कहा गया है। वह चिन्मात्र, अविकारी है, भावागणेश, श्रुति-सम्मत सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए ईश्वर के संबन्ध में लिखते हैं कि जीव कार्योपाधि है और ईश्वर कारणोपाधि है[1]। भावागणेश ने 'ईश्वर' के स्वरूप के संबन्ध में वेदान्त दर्शन के वर्णन को भी स्वीकार किया है।

- -

1. " कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।" इति श्रुतेः ।

— योगदीपिका पृ० 20 ।

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

क्लेश, कर्म, विपाकों तथा कर्माशयों से अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है । ईश्वर सदैव मुक्त है । कैवल्य प्राप्त मुक्त जीवों से ईश्वर का मोक्ष नितान्त पृथक है । केवली की मुक्ति भूतकाल में नहीं होती अर्थात् मोक्ष के पूर्व वे बद्ध रहते हैं परन्तु पुरुष किसी भी काल में बद्ध नहीं रहता है । वह तो सदा से ही विनिर्मुक्त है । वह तीनों कालों में अनादि से अस्पृष्ट होता हुआ मुक्त रहता है[1] ।

ईश्वर अपनी इच्छा मात्र से इस संसार का उद्धार करने में समर्थ है[2] । इस कार्य का सम्पादन ईश्वर ज्ञान, क्रिया और शक्ति द्वारा करता है । रजस, तमस रहित, विशुद्ध सत्व के प्रकर्ष से ही पुरुष प्राणियों का उद्धार करता है । सत्वगुण का परिग्रहण कर ईश्वर सृष्टि का कार्य करता है और तमोगुण का परिग्रहण कर संहार करता है । इन गुणों का ग्रहण कर लेने से ईश्वर के शाश्वत रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इस सम्बन्ध में शेष वर्णन भाष्यगणेश की व्याख्या की ही तरह है ।

- -

1 - " कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः ।"
— पा०यो०सू०वृ० पृ० 19 ।

2 - " ईश्वरस्य स्वेच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणसामर्थ्यम् ।"
— वही पृ० 19 ।

क्लेश, कर्म, विपाकों तथा आशयों से तीनों कालों में भी असम्बद्ध 'पुरुष' 'विशेष' ईश्वर है। 'विशेष' शब्द द्वारा ईश्वर की मुक्ति की विशिष्टता दिखाई गई है[1]। मुक्तजीव मुक्ति के पहले बन्धन में आबद्ध रहते हैं अतः उनका मोक्ष तीनों कालों में नहीं होता परन्तु ईश्वर तो स्वभाव से ही शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। वह तो सदा से मुक्त है अतः उसकी मुक्ति किसी काल विशेष से सम्बद्ध नहीं है यही कारण है कि ईश्वर की मुक्ति अन्य साधकों की मुक्ति से पृथक और विशिष्ट है। ईश्वर प्राकृत, वैकारिक और दाक्षिणबन्ध इन तीनों बन्धनों से सर्वथा अस्पृष्ट है। इन तीनों प्रकार के बन्धनों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है[2]।

प्राकृतबन्धन — प्रकृति में लीन होने वालों का बन्धन प्राकृत बन्धन कहलाता है।

वैकारिकबन्धन — भूतेन्द्रियों में तथा प्रकृति के विकारों में लीन होने वालों का बन्धन वैकारिक बन्धन है।

दाक्षिणबन्ध — यह बन्धन देवताओं तथा संसारी मनुष्यों को होता है।

ईश्वर इन तीनों प्रकार के बन्धनों से तीनों कालों में विनिर्मुक्त है

---

1 — "क्लेशादिभिरेभिस्तस्यैः 'परामृष्टः' सांसारिकः पुरुषविशेषत्वादिविवेकेन भोक्तृत्वात् तैः कालत्रयेऽप्यसम्बद्धः 'पुरुष' 'ईश्वरः' 'विशेष' पदेन कालत्रय-सम्बन्धाभावेन मुक्तजीवेभ्यो व्यावृत्तिः कृता।"

— मणिप्रभा पृ० 12 ।

2 — "प्रकृतौ लीनानां प्राकृतो बन्धः। भूतेन्द्रियेषु विकारेषु लीनानां विदेहानां वैकारिकः। अन्येषां देवनराणां दाक्षिणबन्धः।"

— वही पृ० 12 ।

यही उसकी विशेषता है जिसके कारण उसे 'विशेष' 'पुरुष' कहा गया है ।

ईश्वर निरतिशय ज्ञान, क्रिया और शक्ति से सम्पन्न है । ईश्वर शुद्ध सात्त्विक चित्त से सम्पन्न है । अपने इस सात्त्विक चित्त द्वारा वह संसार समुद्र में पड़े हुए दुःखी प्राणियों का उद्धार करता है । प्राणियों के उद्धारार्थ वह ज्ञान और धर्म का उपदेश देता है । इस क्रिया का संपादन ईश्वर सात्त्विक चित्त से ही करता है । इस प्रकार सात्त्विक चित्त की उपादेयता सिद्ध होती है क्योंकि बिना सात्त्विकचित्त की सहायता के ईश्वर ज्ञानधर्मोपदेशा-त्मक कार्य करने में समर्थ नहीं होता । यह सारा कार्य ईश्वर अपने संकल्प से करता है ।

ईश्वर के चित्त-सत्त्व के विषय में यह प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के इस चित्तसत्त्व का क्या नाम है ? इसका स्पष्टीकरण व्याख्याकार ने इन शब्दों में किया है । ईश्वर का चित्त सत्त्व स्वाभाविक ज्ञान क्रिया शक्ति से संपन्न है अर्थात सामान्य पुरुषों का चित्त जड़ होता है । उसमें ज्ञान, क्रिया और शक्ति का संचार पुरुष के सम्पर्क से चितिच्छायापत्ति पड़ने पर होता है । बिना पुरुष के सान्निध्य के चित्त जड़, अचेतन रहता है परन्तु ईश्वर का चित्त सत्त्व स्वाभाविक रूप से ज्ञान, क्रिया और शक्ति से संपन्न होता है ।

- -

1 - " स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च एष' सर्वेश्वर' इत्यादिवेदवाक्याभिप्रेत क्रमः । "

— मणिप्रभा पृ0 131

निरतिशय ज्ञान से संपन्न ईश्वर ने ही वेद की रचना की है। ऐसा शास्त्रों से प्रमाण मिलता है। ईश्वर की सर्वज्ञता वेदों से प्रमाणित होती है[1]। ईश्वर का काल से अवच्छेद नहीं हो सकता। वह सदा से है। ईश्वर ने ही ब्रह्मादि को भी रचना की है[2]। अतः यह सर्वप्रकारेण सिद्ध है कि ईश्वर सर्ग के आदि के पूर्व से ही विद्यमान है अर्थात् ईश्वर अनादि और अनन्त है।

सूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

ईश्वर का स्वरूप निर्धारण इस व्याख्या में मणिप्रभा तथा भाष्यकार व्यास के समान किया गया है। ईश्वर की विशेषता का उल्लेख मणिप्रभा के सदृश किया गया है और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन भाष्यकार की भाँति किया गया है।

- -

1 - " वेदप्रामाण्यादिसिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः । "

— मणिप्रभा पृ0 14।

2 - " यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । " इत्यादिश्रुतिः ।

— वही पृ0 14।

भास्वती

योग शास्त्र में दो नित्य तत्त्व माने गए हैं। प्रधान और पुरुष। ईश्वर को यदि प्रधान के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं तो ईश्वर की चेतनता बाधित होती है। ईश्वर चेतन है और प्रधान 'जड़' है। अतः 'चेतन' 'ईश्वर' की परिकल्पना प्रधान में नहीं हो सकती। ईश्वर को पुरुषतत्त्व के अन्तर्गत भी नहीं स्वीकार किया जा सकता कारण लौकिक पुरुष में प्रभुत्व, भोक्तृत्व का आरोप होने से उसमें चित्त द्वारा अर्जित क्लेश, कर्म, विपाकाशयों का व्यपदेश भी होता है परन्तु ईश्वर में क्लेशादि का व्यपदेशमात्र भी नहीं होता है। वह इन सबसे अपरामृष्ट 'पुरुष विशेष' है।

'ईश्वर' की विशिष्टता संबन्धी, एक पृथक और विशेष विवेचन भास्वतीकार ने प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार ईश्वर जो कि क्लेशादि से सर्वथा अस्पृष्ट है, उसका सम्पर्क विद्यामूलक निर्माण चित्त से कदाचित होता है। ईश्वर अपने शरण में आए हुए विवेकार्थी योगियों को ज्ञान का उपदेश विद्यामूलक निर्माण चित्त द्वारा ही देता है। इस विशुद्ध सत्त्व द्वारा निर्मितचित्त का ईश्वर से परामर्श होने पर भी ईश्वर के नित्यत्व में कोई बाधा नहीं होती। विद्यामूलक निर्माण चित्त का ईश्वर से संपर्क होना भी उसकी विशेषता का ही द्योतक है।

ईश्वर नित्यमुक्त है। उसकी मुक्ति त्रिकालों से अबाधित है अर्थात् वह भूत, वर्तमान, और भविष्य सभी काल में सदा मुक्त रहता है। नित्यमुक्त

---

1. " किन्तु विद्यामूलनिर्माणचित्तेन कदाचित् परामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।"

भास्वती पृ0 66 f

ईश्वर की तुलना जीवन्मुक्त प्रकृतिलीन और विदेहों से नहीं की जानी चाहिए । कारण इनमें से कुछ मुक्ति के पूर्व बंधे रहते हैं बाद में मुक्त होते हैं, कुछ भविष्य में पुनः बन्धनयुक्त हो जाते हैं अर्थात् वे तीनों कालों में मुक्त नहीं होते । इसके विपरीत ईश्वर ही एक ऐसी सत्ता है जो सर्वदा सभी कालों में मुक्त है, ईश्वर ही नित्यमुक्त है ।[1]

ईश्वर ऐश्वर्यवान है । 'ज्ञानक्रियाशक्ति' रूपी सम्पत्ति ही ईश्वर का ऐश्वर्य है । सर्वज्ञता की पराकाष्ठा ईश्वर में ही है । इसी लिए ईश्वर को सर्वज्ञता का बीज कहा गया है । इसका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से विनिर्मुक्त है । अर्थात् ईश्वर निरतिशयऐश्वर्य से युक्त है । ईश्वर के ऐश्वर्य के लिए सृष्टि और संहार के कार्य का उसमें अनुमान करना न्यायसंगत नहीं है । सृष्टि और संहार के कार्य का कारण अपर ब्रह्म हिरण्यगर्भ है । हिरण्यगर्भ जगत की सृष्टि, पालन और संहार करता है । सृष्टि, स्थिति और विनाश के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप देवताओं का अनुमान किया गया है । इस प्रकार भास्वतीकार के मतानुसार सृष्टिसंहार की क्रिया का सम्पादक ईश्वर नहीं हिरण्यगर्भ है ।[2]

ईश्वर की विशिष्टता उसके दयालु स्वभाव के कारण भी सर्वविदित है । ईश्वर सर्वज्ञ है तथा दयालु है । अपने इसी विशेष स्वभाव के कारण वह यथायश शरण में आए हुए योगियों को ज्ञान और धर्म का उपदेश देकर उनकी रक्षा करता है ।[3] ईश्वर एक है । ब्रह्मादि देवता अनेक हैं ।[4] ईश्वर के विलक्षणत्व के सावयस उत्कर्ष का प्रमाण शास्त्रों से प्राप्त होता है । ईश्वर का वाचक प्रणव है ।

- -

1 - " स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति, अनेनासंख्याता एव नित्यमुक्तपुरुषाः समाख्याता इति, अर्थः ।"

— भास्वती पृ0 66 ।

2 - " स च भगवान परमेश्वरो जगद्व्यापाररहितो नित्यमुक्तत्वाद्, मुक्तपुरुषस्य जगत्सर्जनमनुपपन्नं शास्त्रव्यापकोपपत्तेः जगत्सर्जनपालनादिकार्यमधिकार ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य ।"

— वही पृ0 73 ।

3 - " ईश्वराणां कार्यं ज्ञानधर्मोपदेशेन संसारिणां पुरुषाणामुद्धरणम् ।"

— वही पृ0 77 ।

4 - " ईश्वर एक एव ब्रह्मादयो देवा असंख्याताः ।"

— वही पृ0 79 ।

इस व्याख्या में ईश्वर के लिए 'परमेश्वर' शब्द का भी प्रयोग हुआ है[1]। परमेश्वर अविद्यादिक्लेशों, शुक्ल, कृष्ण और अशुक्लकृष्ण रूप तीनों प्रकार के कर्मों तथा उनके धर्म-अधर्म रूप फलों से और जन्म-भोगानुकूल वासनाओं से कभी भी किसी भी काल में स्पृष्ट नहीं होता है[2]। क्लेशकर्मविपाकाशय चित्त के धर्म हैं, अतः केवल उन्हीं पुरुषों को स्पर्श कर सकते हैं, जो सचित्त हों। पुरुष चाहे साधारण पुरुष हों या प्रकृतिलीन या विवेक प्राप्त पुरुष हों, सभी सचित्त होते हैं[3] अतः वे सभी भूत भविष्य और वर्तमान कालों में क्लेशादि से संबद्ध रहते हैं। इसके अतिरिक्त जीवन्मुक्त योगी भी यद्यपि 'योग' द्वारा इन क्लेशों से मुक्त होकर ही कैवल्य प्राप्त करता है परन्तु भूतकाल में तो उसका भी सम्पर्क इन क्लेशों से बना ही रहता है। परन्तु परमेश्वर का इन क्लेशादि से कभी भी किसी भी काल में सम्पर्क या सम्बन्ध नहीं रहता है। परमेश्वर का साधारण पुरुषों से यही वैशिष्ट्य[4] है इसीलिए परमेश्वर को या ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है।

- -

1 - " ईश्वरः – परमेश्वरः, स च लक्ष्यः।" –

— स्वामिनारायणभाष्य पृ० 96 ।

2 - " तैः सर्वैः कदाऽपि कालविशेषेऽपरामृष्टोऽसंसृष्टः परमेश्वर इति।"

— वही पृ० 96 ।

3 - " तेषां सर्वेषां हि भूतभविष्यद्वर्तमानकालान्यतमकालावच्छेदेन क्लेशकर्मविपाकाशयानां भोगाख्यसंसर्गसत्त्वात्।"

— वही पृ० 96 ।

4 - " तद्वारणायैव 'पुरुषविशेष' इति पदोपादानात्।"

— वही पृ० 97 ।

पुरुष-विशेष ईश्वर की स्वगत विशेषतायें हैं – सर्वज्ञता, सर्वनियन्तृत्वता और सर्वेशानशीलत्वता। ईश्वर की इन्हीं विशेषताओं के कारण इसे पुरुषोत्तम तथा 'परमात्मा' कहा गया है[1]। उपनिषदों में 'ब्रह्म' और 'परब्रह्म' का वर्णन आया है तथा उनमें इन दोनों के स्वरूपगतभेद का भी उल्लेख है[2]। उपनिषदों में ब्रह्म से परब्रह्म को श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्म में सर्वेशानशीलत्व नहीं होता है, परब्रह्म में ही यह सर्वज्ञता तथा सर्वेशानशीलता होती है परन्तु योग में प्रतिपादित ईश्वर उपनिषद के परब्रह्म से भी उत्तम है। संभवतः इसी लिए योग के ईश्वर के लिए पुरुषोत्तम, परमात्मा और परमेश्वर शब्दों का प्रयोग किया गया है।

'योग' में वर्णित ईश्वर का स्वरूप गीता के 'क्षर' और 'अक्षर' ब्रह्म से भी भिन्न है[4]। योग का ईश्वर तीनों लोकों को धारण करने वाला उत्तम पुरुष है[5]। अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमेश्वर तत्त्व जीवतत्त्व से भिन्न नहीं है। इसी तरह स्मृतियों में भी जीव को ईश्वर का अंश माना गया है[6]। इसके विपरीत

- -

1 - " सर्वपिक्षया सर्वशक्तिरिति अतः पुरुषोत्तम इति परमात्मा व्यपदिश्यते।"
— स्वा०ना०भा० पृ० 97।

2 - " कठवल्ल्यां यथा–द्वे तत्वेवाऽक्षरं ब्रह्म द्वे तत्वेवाक्षरं परम्।"
— वही पृ० 97।

3 - " सर्वज्ञत्वम् परब्रह्मणः संभवति, ब्रह्मणस्तु न तथा सर्वज्ञत्वम्।"
— वही पृ० 97।

4 - " द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम।"
— वही पृ० 124

5 - " अद्वैतात्तु - परमेश्वरतत्त्वं जीवतत्त्वादिभिन्नं न भवतीत्यभ्युपगच्छन्ति। तेषामयमाशयः - 'न हि जीवादिभिन्ने परमेश्वरतत्त्वे किमपि प्रमाणं पश्यामः।"
— वही पृ० 106

6 - " ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।"
— वही पृ० 107।

योग में प्रतिपादित 'ईश्वर' पुरुष से विशेषता रखता हुआ "पुरुषविशेष" माना गया है।[1] स्वामिनारायणभाष्यकार ने 'ईश्वर' संबन्धी अन्य दर्शनों के सिद्धान्तित मतों की तुलना में 'योगदर्शन' में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप को ही श्रेष्ठ माना है।[2]

'ईश्वर' में ऐश्वर्य की पराकाष्ठा के साथ साथ ज्ञान की भी पराकाष्ठा है। भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान, स्थूल सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान, सामान्य और विशेष का बहुतम ज्ञान ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। यह पराकाष्ठा ईश्वर में ही है और इसी लिए ईश्वर को सर्वज्ञता का बीज भी कहा गया है।[3] लौकिक अलौकिक सत्ता की तुलना करते हुए ईश्वर की ही सर्वज्ञता सुसिद्ध होती है। यथा-- पशुओं की तुलना में मनुष्यों में ज्ञान अधिक होता है। मनुष्यों की तुलना में देवताओं में, देवताओं की अपेक्षा सत्यलोक में स्थित पितृ आदि में, पित्रादि की अपेक्षा प्रकृतिलीनों में, प्रकृतिलीनों की अपेक्षा विराजादि ईश्वरों में, इनकी अपेक्षा महाकाशस्थ ईश्वर में और इनकी अपेक्षा ब्रह्मलोकस्थ महामुक्तों में, महामुक्तों की अपेक्षा अक्षर ब्रह्म में

- -

1 - "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।"

-- स्वा०ना०भा० पृ० 96 ।

2 - "कश्चिज्जीवादभिन्नं प्रवदति परमं ब्रह्म मायाऽप्रभावात् । स्वीयोपाध्यात्मकाद्वै वदति तदितरः कल्प्यमानात्मभेदात् ।। कश्चित्त्वाशास्तु साक्षात्परिणतिरहितस्वात्मभेदात्त एते । भ्रान्ताः, सिद्धान्तश्रेष्ठः स्वयमिह गदितो योगसिद्धान्तपक्षः ।।"

-- वही पृ० 125 ।

3 - "यावतां भूतभविष्यद्वर्तमानानां स्थूलसूक्ष्मपदार्थानां सामान्यतो विशेषतश्च ज्ञानं यदपेक्षया यदाधिक्यं तदपेक्षया तस्य विशिष्टत्वम्, एवमेव कस्यचिद् बहुग्रहणं कस्यचिद् बहुतरग्रहणं कस्यचिद् बहुतमग्रहणम्, तदेतद्वर्धमानं यत्र निरतिशयतां - पराकाष्ठां प्राप्तं तदेव सर्वज्ञताबीज-सर्वज्ञत्वाधिकरणमिति ।"

-- वही पृ० 125 ।

और अक्षरब्रह्म की अपेक्षा परब्रह्म में सर्वज्ञता होती है परन्तु ईश्वर ही अकेला ऐसा तत्व है जिसके ज्ञान से बढ़कर अन्य किसी का ज्ञान नहीं है । ईश्वर की सर्वज्ञता न्यूनाधिक दोषों से युक्त है[1] । ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है । यह पूर्व पूर्व सर्गों में उत्पन्न ब्रह्माविष्णु, महेशादि का गुरु है । 'गुरु' शब्द यहाँ 'पिता' 'अन्तर्यामी' और ज्ञान-नेत्र प्रदान करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2] । ईश्वर काल से अनवच्छेद्य है, नित्य है, सर्वज्ञ है[3] ।

- -

1 - " तद्यथा - पश्वाद्यपेक्षया मनुष्याणामधिकमल्पं सर्वज्ञत्वं तदपेक्षया देवानां तदपेक्षया सत्यलोकस्थपित्रादीनां तदपेक्षया प्रकृतिलयानां तदपेक्षया विराजादीश्वराणां तदपेक्षया सूत्रात्मवासीश्वराणां तदपेक्षयाऽव्याकृतवासीश्वराणां तदपेक्षया अमृतमहाकाशवासीश्वराणां तदपेक्षया प्रकृतेर्मायातो बहिरवस्थितानां ब्रह्मलोकस्थानां महामुक्तानां, तदपेक्षयाऽक्षरब्रह्मणो ब्रह्मणाऽपेक्षया च परब्रह्मणोऽनन्तैश्वर्यादिकं निरवधिकमिति । यतः - परमेश्वरात् कश्चिदधिकः तत्समानो वा नास्ति यदपेक्षया परमेश्वरस्यापि सर्वज्ञत्वादिकं न्यूनं समानं वा स्यादिति । "

स्वा०ना०भा० पृ० 128, 129 ।

2 - " गुरुः - पिता-अन्तर्यामी विद्याया ज्ञाननेत्रप्रद इति यावत् ।"

-- वही पृ० 129 ।

3 - " तदनवच्छेदात्तु परमात्मा श्रीस्वामिनारायणो मुक्तकोटिपरिवृतो नित्यसर्वज्ञः सर्वगुरुरिति ।"

-- वही पृ० 130 ।

योग के विघ्न

व्यासभाष्य

योगसाधना के मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं उन्हें योग के विघ्न कहते हैं । 'विघ्न' को ही अन्तराय भी कहते हैं । ये विघ्न-व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व के भेद से 9 प्रकार के हैं । ये विघ्न ही चित्त को विक्षिप्त करते हैं अतः विघ्नों को 'चित्त के विक्षेप' भी कहते हैं । सभी विघ्न चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं[1] । चित्त की प्रमाणादिवृत्तियाँ विक्षेपों के उत्पन्न होने पर ही उदित होती हैं । वृत्तियों के बिना विक्षेपों की स्थिति चित्त में नहीं होती । इस प्रकार 'विक्षेप' और चित्त की वृत्तियाँ साथ साथ रहती हैं ।

व्याध्यादि के प्रभाव से ही प्रमाणादि वृत्तियाँ उत्पन्न होती है । अतः विक्षेपों को वृत्तियों का उत्पन्न करने वाला मानना त्रुटिपूर्ण नहीं है । वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला होने के कारण ही इन विक्षेपों को योग का विघ्न कहा जाना चाहिए । अब संक्षेप में 9 वों विघ्नों की व्याख्या की जा रही है --

शरीर के धातु, रस और इन्द्रियों में विषमता आने पर जो शारीरिक पीड़ा होती है उसे व्याधि कहते हैं । चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान है उभयकोटि स्पर्शीज्ञान संशय है । समाधि के साधनों का अभाव ही प्रमाद है । शरीर के भारीपन के कारण चित्त की अप्रवृत्ति ही आलस्य है । चित्त की विषयों के प्रयोग के प्रति लालसा अविरति है । मिथ्याज्ञान ही भ्रान्तिदर्शन है । समाधि साधना में भूमिकाओं का लाभ नहीं होना अलब्ध भूमिकत्व है । प्राप्त हुई भूमिका में चित्त का प्रतिष्ठित न होना, अनवस्थितत्व है। ये सब चित्त के विक्षेप ही योग के विघ्न कहे जाते हैं ।

- -

1 - " नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः । सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः ।"

-- व्यासभाष्य पृ० 90 ।

योग के नवों विघ्न, चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं । अतः वे सभी योग के प्रतिपक्षी कहे जाते हैं । चित्तवृत्तियाँ तो स्वयमेव योग के मार्ग में बाधाएँ हैं योग के लिए इनका निरोध परमावश्यक है । अतः योग निरोधक चित्तवृत्तियों के साथ रहने वाले व्याध्यादि भी योग के विरोधक सिद्ध हुए ।

नवों विघ्नों में संशय और भ्रान्तिदर्शन विपर्ययवृत्ति के अन्तर्गत ही आ जाते हैं अतः इनका वृत्ति होना स्वतः सिद्ध हो गया । शेष व्याध्यादि चित्तवृत्तियों से अलग रह कर वृत्तियाँ नहीं कहलाती हैं परन्तु व्याध्यादि के प्रकट होते ही तत्तद्भूता चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं और योग के लिए बाधक होती हैं । इस प्रकार नवों विघ्न चित्त की प्रमाणादिवृत्तियों में अन्तर्भूत हैं । ये विघ्न चित्त को योग के मार्ग से दूर हटाते हैं अतः इन्हें योग का प्रतिपक्षी तथा चित्त का विक्षेपक कहा गया है । ये चित्त के विक्षेप हमेशा चित्त वृत्तियों के साथ साथ ही रहते हैं । इन विक्षेपों की पृथक-पृथक व्याख्या इस प्रकार से की गई है ।

व्याधि – धातु, रस और इन्द्रियों से शरीर की स्थिति है । वात, पित्त और श्लेष्मा धातु हैं । भोजन, जल से रस रूप विशेष परिणाम बनता है और क्रियाशीलता जिनके द्वारा होती है वे ही इन्द्रियाँ हैं । जब धातु, रस और इन्द्रियों में किसी प्रकार की विषमता अथवा न्यूनाधिक्य होता है तब शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है और उस समय जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे चित्त को विक्षिप्त कर योग से हटाती हैं ।

- -

1 – " संशयभ्रान्तिदर्शने तावद्वृत्तितया वृत्तिनिरोधप्रतिपक्षौ । येऽपि न वृत्तयो व्याधिप्रभृतयस्तेऽपि वृत्तिसाहचर्यात्तत्प्रतिपक्षा इत्यर्थः । "

— त०वै०पृ० ९० ।

2 – " वैषम्यम् = न्यूनाधिकभाव इति । "

— वही पृ० ९० ।

अकर्मण्यता – तत्त्ववैशारदीकार ने 'अकर्मण्यता' का अर्थ कर्म करने में अयोग्यता किया है । अर्थात कर्म न कर सकने वाली स्थिति ही अकर्मण्यता है ।

संशय – उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान ही संशय है । हाँ या ना के प्रति संदेहात्मक ज्ञान ही उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान है ।

विपर्यास – मिथ्याज्ञान ही विपर्यास नामक विघ्न है ।

अभावनम् – प्रयत्न का न होना अभावनम् नामक योग का विघ्न है । प्रयत्न नहीं करने पर समाधि की भावना नहीं हो सकती । अतः प्रयत्नहीन होकर रहना समाधि के लिए एक प्रकार से बाधा ही है ।

तमोगुण के कारण शरीर में शिथिलता का आ जाना भी योग के लिए बाधक है । यहाँ पर वाचस्पतिमिश्र ने विघ्न का नाम आलस्य नहीं लिया है पर आलस्यवाली स्थिति का ही वर्णन किया है । अतः यह वर्णन आलस्यरूप विघ्न के विषय में ही है ।

तृष्णा – गर्धः का अर्थ वाचस्पतिमिश्र ने तृष्णा किया है । लालच की भावना ही तृष्णा है । इसके होने पर चित्त इतस्ततः लालचवश भ्रमित होता रहता है ।

अलब्धभूमिकत्व – समाधि की मधुमती, मधुप्रतीका और विशोका नामक भूमियाँ हैं । इनकी प्राप्ति न होना अलब्ध भूमिकत्व नामक दोष है ।

समाधि की भूमियों के प्राप्त होने पर भी यदि मन उसमें स्थित नहीं हो पाता है तो समाधि की भूमियाँ अप्राप्य हो जाती हैं । इस तरह के विघ्न को अनवस्थितत्त्व नामक विघ्न कहा जाता है ।

भोजवृत्तिकार ने मलों के प्रेरकतत्त्व, मूल तत्व का उल्लेख किया है । विषय की दृष्टि से उनका यह विवेचन विशेष स्थान रखता है । क्योंकि रजोगुण और तमोगुण ही मूलतत्व हैं, इन विक्षेपों के । इन विक्षेपों के मूल में यह गुण ही हैं जिनसे प्रवृत्त होकर ये नवों मल चित्त को विक्षिप्त करते हैं । चित्त की एकाग्रता को भंग करना ही विक्षेप है[1] । इन विक्षेपों का वर्णन उल्लेखनीय है ।

व्याधि — धातु के वैषम्य से ज्वरादि का होना व्याधि है । यहाँ पर वृत्तिकार भोज ने रस, और इन्द्रियों का नाम निर्देश नहीं किया है जब कि व्यास तत्ववैशारदीकार, योगवार्त्तिककार ने व्याधि के अन्तर्गत धातु, रस की विषमता से इन्द्रियों में वैषम्य का होना व्याधि माना है ।

स्त्यान — चित्त की अकर्मण्यता ही स्त्यान है ।

संशय — उभयकोटिक ज्ञान हो जिसमें आलम्बन हो उसे संशय कहते हैं । यथा — समाधि की साधना की जाय अथवा नहीं इस प्रकार के संशय से[2] चित्त एकाग्र नहीं हो पाता है । फलतः समाधि साधना नहीं हो पाती ।

- -

1 - " नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपाः भवन्ति । तैरेकाग्रता विरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः ।"

— रा0मा0वृ0 पृ0 79 ।

2 - " उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयः योगः साध्यो न वेति । "

— वही पृ0 79 ।

प्रमाद -- समाधि के साधनों के प्रति उदासीनभाव हो जाने से उनका अनुष्ठान नहीं करना प्रमाद है ।

आलस्य -- शरीर और चित्त का भारीपन के कारण योग प्राप्ति के हेतु अप्रवृत्तिशील होना आलस्य है ।

अविरति -- चित्त का विषयों के साथ सम्पर्कशील होना तथा इच्छाओं से, तृष्णाओं से,युक्त होना अविरति नामक विघ्न है ।

भ्रान्तिदर्शन --- विपर्ययज्ञान ही भ्रान्तिदर्शन है । यथा शुक्ति में रजत का ज्ञान ।

अलब्धभूमिकत्व --- किसी कारणवश समाधि की भूमि को प्राप्त न कर सकना अलब्धभूमिकत्व नामक योग का विघ्न है ।

अनवस्थितत्व -- समाधि की भूमियों के प्राप्त हो जाने पर भी चित्त का उसमें स्थित नहीं हो सकना अनवस्थितत्व नामक विघ्न है ।

विवरण

प्रथमपाद के सूत्र 30 में उल्लिखित चित्त के नवअन्तराय योगप्राप्ति के मार्ग में बाधक है। इन नवों अन्तरायों को चित्त का विक्षेप कहा गया है क्योंकि इन अन्तरायों के द्वारा समाधि का प्रवाह विच्छिन्न हो जाता है और समाधि भंग हो जाती है। ये अन्तराय समाधि को बाधित करने वाले हैं अतः इन्हें योग का प्रतिपक्षी तथा योग का अन्तराय भी कहा गया है।[1] इन अन्तरायों के द्वारा चित्त विषयों में आसक्त हो जाता है।[2]

योग के इन अन्तरायों के उदित होने पर ही प्रमाणादिवृत्तियाँ भी उदित होती हैं। ये दोनों चित्त में साथ-साथ ही रहती हैं। अन्तरायों के अभाव में चित्तवृत्तियों की स्थिति चित्त में नहीं होती और चित्तवृत्तियों के बिना इन व्याधि आदि विक्षेपों की स्थिति भी नहीं होती। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे की सहायता से ही चित्त में रहते हैं। सूत्र में कथित 9वें अन्तरायों में से 'संशय' और 'भ्रान्तिदर्शन' की स्थिति विपर्ययवृत्ति में ही होती है। शेष सात अन्तराय ज्यों उदित होते हैं त्यों ही प्रमाणादिवृत्तियाँ उदित हो जाती हैं और इस प्रकार सभी अन्तराय चित्तवृत्तियों के साथ रहते हैं।[3] इन अन्तरायों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

व्याधि — शरीर के अन्दर वात, पित्त और श्लेष्मादि में विषमता आने पर व्याधि होती है।

- -

1 - " सदैते नवान्तरायाः । अन्तरं विवरं विच्छेदं कुर्वन्त आयान्तीत्यन्तरायाः विक्षेपाः, प्रतिपक्षाः योगप्राप्तेरुपसर्गाः । "

— विवरण पृ0 82 ।

2 - " चित्तं विक्षिपन्ति विषयेष्विति चित्तविक्षेपाः ।" — वही पृ0 82

3 - " अथैषामभावे व्याधिप्रभृतीनामभावे सहायबलाभावान्न भवन्ति पूर्वोक्ताः प्रमाणादयश्चित्तवृत्तयः ।" — वही पृ0 82 ।

स्त्यान — चित्त की क्रियाशीलता का रुक जाना, स्तब्ध हो जाना ही 'स्त्यान' है ।

संशय — 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति उभयकोटिस्पर्शी ज्ञान ही 'संशय' है ।

प्रमाद — 'समाधि' के विहित साधनों का आचरण न करना प्रमाद है ।

आलस्य — शरीर और चित्त का भारीपन जिससे दोनों में प्रवृत्ति न हो वह स्थिति ही 'आलस्य' है ।

अविरति — चित्त का विषयों के प्रति आसक्ति 'अविरति' नामक विक्षेप है । इसे ही गर्द्ध या तृष्णा भी कहा गया है ।

भ्रान्तिदर्शन — विपर्ययज्ञान ही भ्रान्तिदर्शन है ।

अलब्धभूमिकत्व — समाधि की चित्तवृत्ति के भेद से चार भूमियाँ हैं इन भूमियों की अप्राप्ति ही अलब्ध-भूमिकत्व है ।

अनवस्थितत्व — प्राप्त भूमियों में भी चित्त का प्रतिष्ठित, स्थित न होना अनवस्थितत्व है ।

इस प्रकार ये 9 प्रकार के योगमल हैं जिनसे समाधि खण्डित होती है ।

प्रथम-अध्याय के 30वें सूत्र में वर्णित नवों अन्तराय चित्त को योग मार्ग से विक्षिप्त करते हैं । अतः इन्हें विक्षेपक कहा गया है । ये नव विक्षेपक ही चित्त के विक्षेप हैं । ये विक्षेप चित्तवृत्तियों के साथ ही रहते हैं । विघ्नों के उदित होते ही उनसे संबद्ध चित्तवृत्ति बन जाती है । विघ्नों के उदित होने और तत् सदृश चित्तवृत्ति के बनने में जो सूक्ष्म-कालिक व्यवधान पड़ता है उसे वृत्तियों के सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं पड़ती । 'व्याध्यादि प्रतिबन्धिचित्तवृत्तियाँ' तथा केवल चित्तवृत्तियाँ भी योग को भंग करती हैं । इसीलिए चित्तवृत्तियाँ तथा नवों अन्तरायों को 'योग-प्रतिपक्ष' कहा गया है[1] ।

वार्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र की भाँति '9वां विघ्न' किस प्रकार चित्त-वृत्तियों के साथ रहते हैं, इसका विवेचन नहीं किया है। परन्तु इससे वर्णन में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि परोक्षरूप से इन्होंने वाचस्पति और भाष्यकार के साथ सामंजस्य दिखाया है ।

<u>व्याधि</u> — धातु, रस और इन्द्रियों में वैषम्य होने पर शरीर व्याधि-ग्रस्त हो जाता है । धातुओं और रस की गड़बड़ी से शरीर की इन्द्रियों में विषमता उत्पन्न होती है और इस वैषम्य से ही शरीर रोगग्रस्त हो जाता है ।

<u>अकर्मण्यता</u> — अकर्मण्यता का अर्थ विज्ञानभिक्षु ने योग के अनुष्ठान में अक्षम किया है, अर्थात् योग के लिए विहित साधनों का अनुष्ठान नहीं कर सकना ही अकर्मण्यता है ।

- -

1 - सूक्ष्मकालानवकलनेन सहेत्युक्तम् । एतेषामव्यवधानेनैव व्याध्यादिगोचरा च सन्निवृत्त्युपायगोचरा वा चित्तस्य वृत्तयो भवन्ति योगप्रतिपक्षा इत्यर्थः ।"

यो०वा०पृ० 91 ।

संशय और भ्रान्तिदर्शन — यह ऐसा होना चाहिए अथवा ऐसा नहीं होना चाहिए इस प्रकार का द्विविध संदेह संशय है ।

गुरु और शास्त्रों द्वारा बताये गए समाधि के लिए साधन हैं । उन साधनों की भावना न करना अर्थात् उन साधनों का आचरण नहीं करने से भी योग भंग होता है । यहाँ प्रमाद नामक विघ्न का नाम नहीं लिया गया है । यद्यपि उसी की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है ।

शरीर में धातुओं की गड़बड़ी से शारीरिक आलस्य आता है, तमोवृत्ति से चित्त भारी होता है । शारीरिक और मानसिक गुरुता से समाधि के साधनों के अनुष्ठान में चित्त नहीं प्रेरित होता है अर्थात् चित्त अनुष्ठानों को करने में प्रवृत्तिशील नहीं हो पाता है और इस प्रकार की अप्रवृत्ति ही योग के लिए बाधक होती है[1] ।

विषयों के सामीप्य से उनकी प्राप्तिविषयक अभिलाषा 'गर्ध' है । गर्ध का अर्थ अभिलाषा है[2] । इच्छाएँ अनन्त हैं अतः विषयों के सन्निकर्ष से अनन्त इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे समाधि बाधित होती है अर्थात् चित्त, 'योग' की साधना करने में प्रवृत्त नहीं हो पाता । वह अभिलाषाओं की पूर्ति में ही रह जाता है ।

मधुमत्यादि भूमियों में से किसी एक भी भूमि की प्राप्ति नहीं होना अलाभ है ।

इसके अतिरिक्त लाभ प्राप्त हुई भूमि में चित्त का प्रतिष्ठित न होना अनवस्थितत्व नामक योग का विघ्न है ।

ये नव योग के मल अथवा विघ्न हैं जो चित्त को आक्षिप्त करते हैं ।

- -

1. "कायगुरुत्वं कफादिना, चित्त गुरुत्वं तमसा, ताभ्यां हेतुभ्यामप्रवृत्तिः समाधिसाधनाननुष्ठानम्। 2. "विषयसम्प्रयोगात्मा सन्निकर्षजन्यो गर्धोऽभिलाषः।"

यो०वा० पृ० 91 ।

योगदीपिका तथा पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में इस विषय का समान विवेचन प्राप्त है। अतः दोनों के विवेचन को एक साथ ही उद्धृत किया जा रहा है। व्याधादि से चित्त विक्षिप्त होकर 'योगसाधना के योग्य नहीं रह जाता है अतः व्याध्यादि को योग का अन्तराय कहा गया है। ये अन्तराय ९ प्रकार के हैं'।

व्याधि – धातु, रस की विषमता के कारण इन्द्रियों में वैषम्य का होना व्याधि है।

स्त्यान – अकर्मण्यता। योगानुष्ठान में चित्त का अक्षम होना ही स्त्यान है।

संशय – गुरू तथा शास्त्र द्वारा उपदिष्ट योग के साधनों के प्रति उभयकोटिक ज्ञान ही संशय है।[1]

प्रमाद – अनवधान ही प्रमाद है। समाधि के साधनों के प्रति ध्यान न देना प्रमाद है।[2]

आलस्य – शरीर और चित्त का भारीपन के कारण अप्रवृत्तिशील होना आलस्य है।

अविरति – विषयों की अभिलाषा अविरति है।

भ्रान्तिदर्शन – गुरू आदि द्वारा प्रमाणित उपदेशों के विपरीत निश्चय का होना ही भ्रान्तिदर्शन है।[3]

- -

1 - '' गुरुशास्त्रोक्त साधनेषु उभयकोटिकं ज्ञानम्। '' – योगदीपिका पृ0 22

2 - '' प्रमादोऽनवधानम्। '' – वही पृ0 22।

3 - '' गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः। '' – वही पृ0 22।

अलब्धभूमिकत्व — साधन का अनुष्ठान करने पर भी योग की भूमियों को अप्राप्ति अलब्ध-भूमिकत्व है ।

अनवस्थितत्व — लब्ध योग की भूमियों में भी योग का बाधित हो जाना अनवस्थितत्व नामक विघ्न है[1]।

मणिप्रभा

चित्त को योग से विक्षिप्त करने वाले चित्त विक्षेप ही योग के विघ्न या अन्तराय है[2]। ये विघ्न 9 प्रकार के हैं । 9वों प्रकार के विघ्नों का वर्णन इस व्याख्या में भी उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार व्यासभाष्य में किया गया है । केवल भ्रान्तिदर्शन[3] नामक योग के विघ्न का वर्णन औरों से भिन्न रूप में किया गया है । परन्तु इस विघ्न का स्पष्टीकरण इसी व्याख्या में ही पाया है । भ्रान्तिदर्शन के विषय में व्याख्याकार लिखते हैं यह 'एककोटिकविपर्यय' है अर्थात इसमें हाँ या न का सन्देह नहीं बना रहता । इसमें जो वस्तु जिस रूप में दिखाई देती है उसके उसी रूप का उस समय दृढ़ ज्ञान रहता है । सन्देह नहीं रहता । यथा 'शुक्ति में रजत ज्ञान' जब होता है तब केवल यही लगता है कि यह रजत ही है अन्य कोई वस्तु नहीं है । यह सभी विक्षेप, योग को नष्ट करने वाले हैं । इनके अतिरिक्त दुःखदौर्मनस्यादि भी योग के नाशक होने से विघ्न ही माने जाते हैं ।

- -

1 - " अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंश इति ।"

योग दीपिका पृ0 22 ।

2 - " ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति अपनयन्ति "ते" "चित्तविक्षेपाः" योग 'अन्तरायाः ' विघ्ना नव ।"

मणिप्रभा पृ0 16 ।

3 - " भ्रान्तिदर्शनमेककोटिको विपर्ययः ।"

— वही पृ0 16 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्त चन्द्रिका

जो चित्त को योग से विक्षिप्त करते हैं उन्हें योग का अन्तराय अथवा योग के विघ्न कहा गया है । सूत्र के आधार पर योग के विघ्न नव प्रकार के बताए गए हैं । इन विघ्नों के स्वरूप का उल्लेख इन व्याख्याओं में व्यासभाष्यादि के ही सदृश किया गया है । किन्हीं विशेष बातों का उल्लेख नहीं किया गया है ।

भास्वती

भास्वतीकार ने योग के विघ्न से सम्बन्धित सूत्र पर व्याख्यान न देकर केवल भाष्य के ऊपर ही व्याख्या लिखी है । 'प्रमाद' और 'अनवस्थितत्व' नामक विक्षेपों का निर्वचन इनकी व्याख्या में अनुपलब्ध है । शेष वर्णन भाष्य के ही समान है ।

स्वामिनारायण भाष्य

चित्त को विक्षिप्त करने वाले व्याध्यादि ही विक्षेप हैं । विक्षेपों से योग बाधित होता है अतः इन्हें योग के अन्तराय भी कहते हैं¹ । यह अन्तराय चित्त की वृत्तियों के साथ ही रहते हैं । इनका वर्णन कृष्णवल्लभाचार्य के अनुसार इस प्रकार है –

व्याधि — वात,पित्त और श्लेष्मा में विषमता आने पर तथा भोजन जल के परिणाम विशेष रसादि में वैषम्य आने से इन्द्रियों में विषमता आती है । जिससे वेदना अर्थात् कष्ट होता है और यही व्याधि है जो योग से चित्त को विक्षिप्त करती है ।

- -

1. " विपाकवस्तु परम्परया चित्तविक्षेपका इति तत्र नाऽतिव्याप्तिः ।" तेन चित्तधर्मत्वेन लक्षणसङ्गमनं न तु रजोगुणे इति । "

स्वा०ना०भा० पृ० 133 ।

स्त्यान — योगांगों के अनुष्ठान में चित्त की अयोग्यता ही स्त्यान है ।

संशय — योग के फल के प्रति सन्देह 'संशय है'।[1]

प्रमाद — समाधि के साधनों के अनुष्ठान में प्रयत्नशील नहीं होना प्रमाद है ।

आलस्य — कफादि के द्वारा शरीर में गुरुता आने पर तथा तमोगुण के कारण चित्त में गुरुता आने पर शरीर और चित्त का समाधि के लिए साधनों का अनुष्ठान नहीं करना आलस्य है ।

अविरति — विषयों की प्राप्ति के लिए चित्त का अभिलषित होना अविरति है ।

भ्रान्तिदर्शन — विपरीतज्ञान ।[2]

अलब्धभूमिकत्व — चित्त की मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम से चार भूमियाँ हैं । उनमें से किसी एक को भी प्राप्त न होना अलब्ध भूमिकत्व नामक विघ्न है ।

अनवस्थितत्व — मधुमत्यादि में से किसी भी एक का लाभ होने पर भी उसमें चित्त की आस्था का न होना अनवस्थितत्व है ।

ये विक्षेप चित्त को योग से अलग रखते हैं । चित्त में समाधि साधना की योग्यता होने पर भी इन विघ्नों के कारण चित्त योग के लिए अयोग्य हो जाता है ।

---

1 - " योगस्य मुक्तिफलजनकत्व -तदजनकत्वोभयप्रकारकज्ञानम् । "
स्या०मा०भा० पृ० 133 ।

2 - " योगस्य समाधि साधनत्वं नास्तीत्याकारकं विपरीतज्ञानम् । "
— वही पृ० 133 ।

व्यासभाष्य

वृत्ति निरोध के फलस्वरूप वृत्तिरहित चित्त का आलम्बन के साथ तदाकाराकारित हो जाना ही 'समापत्ति' है । 'समापत्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ तदाकारापत्ति है । वृत्तियों से रहित स्वच्छ निर्मल चित्त का जब ग्राह्यरूप आलम्बन से संपर्क होता है तब चित्त ग्राह्याकार हो जाता है । इसी तरह ग्रहण और ग्रहीतृ रूप आलम्बनों से भी उपरक्त हुआ चित्त तत् आकार का हो जाता है । इस प्रकार स्वच्छ चित्त का आलम्बन के आकार से आकारित हो जाना ही 'समापत्ति' है । 'समापत्ति' के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने स्फटिकमणि का उदाहरण दिया है । जिस प्रकार अत्यन्तस्वच्छ, निर्मल स्फटिकमणि अपने ऊपर रखे हुए पदार्थों के आकारावभासित होती है अर्थात् स्वच्छ स्फटिकमणि के संपर्क में जो भी पदार्थ आता है उसी के आकार और रंग को वह मणि भी भासित होने लगती है उसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियाँ अस्त हो जाती हैं तब अति निर्मल चित्त अपने समीप में आए हुए आलम्बनों के आकार से आकारित हो जाता है ।

समापत्ति और सम्प्रज्ञात समाधि के विषय में यह ज्ञातव्य है कि सम्प्रज्ञात-समाधि चित्त की एकाग्र भूमि में होती है । इसमें चित्त की क्लेशयुक्त, कर्मबन्धनयुक्त वृत्तियों का निरोध होता है और चित्त को अपने ध्येय-विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है । समापत्ति में वृत्तियों का निरोध तो सम्प्रज्ञात काल में ही

- -

1 - "केवलः ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते । "

व्यासभाष्य पृ० 107 ।

हो चुका है । अतः स्वच्छ चित्त स्थिरता को प्राप्त कर अपने आलम्बन के आकार से उपरक्त हो आलम्बनाकार चित्त हो जाता है । अर्थात् समापत्तिकाल में चित्त में तदाकारापत्ति होती है । समापत्ति के चार भेदों का उल्लेख किया गया है (1) सवितर्कासमापत्ति (2) निर्वितर्का (3) सविचारा (4) निर्विचारा, समापत्ति ।

सवितर्कासमापत्ति — समापत्तिलाभ प्राप्त किए हुए योगी के चित्त में जब शब्द, अर्थ और ज्ञान के मिश्रित रूप का आभास होता है तब सवितर्का समापत्ति होती है । यथा — "गौ" शब्द के उच्चारण से समाधिस्थ चित्त वाले योगी के चित्त में "गौ" के शब्द, अर्थ और ज्ञान के मिश्रित रूप की समापत्ति सवितर्का समापत्ति है ।[1]

निर्वितर्का समापत्ति — निर्वितर्का समापत्ति में ग्राह्य विषय के केवल अर्थमात्र का आभास होता है और चित्त ग्राह्य पदार्थ के अर्थमात्राकार सा हो जाता है । इस समापत्ति में शब्दानुमानज्ञान की स्मृति निवृत्त हो चुकी रहती है अर्थात् इस समापत्ति में चित्त शब्दानुमानज्ञान से शून्य होकर केवल ध्येय के अर्थमात्र के आकार से युक्त रहता है ।[2]

सविचारासमापत्ति — देशकाल और निमित्त के ज्ञान से युक्त[3] तथा पदार्थों के भूतसूक्ष्मतत्वों में चित्त की तदाकारापत्ति सविचारासमापत्ति है ।

- -

1 - "तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवादिशब्दार्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ।"

व्यासभाष्य पृ0 109 ।

2 - "पदार्थमात्रस्वरूपं ग्राह्यस्वरूपापन्नमेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः ।"

— वही पृ0 111 ।

3 - तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते ।

— वही पृ0 118

निर्विचारासमापत्ति — जब देश काल और निमित्तों से रहित आधारभूत भूतसूक्ष्मों के स्वरूप से रहित प्रज्ञा केवल आलम्बनविषयाकार रहती है तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहते हैं[1]।

सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति स्थूल विषयक होती है और सविचारा निर्विचारा सूक्ष्मविषयक समापत्ति होती है। ये चारों समापत्तियाँ आलम्बन युक्त होने के कारण सबीज होती हैं। सबीज होने के कारण ये सम्प्रज्ञात-समाधि की ही श्रेणी में आती हैं।

तत्त्ववैशारदी

चित्त की रजोगुणी और तमोगुणी मलरूप वृत्तियों का निरोध हो जाने के पश्चात स्वच्छ चित्त जब ध्यान में परिपक्व होकर स्थिरता को प्राप्त कर लेता है तब सात्त्विक चित्त ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य रूप विषयों के आकार से आकारित हो जाता है। चित्त सत्त्व का उक्त आलम्बनों के आकार से आकारित होना ही समापत्ति है[2]।

वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या के अनुसार समापत्तिकाल में यद्यपि रजो, तमो, वृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध रहती हैं, परन्तु सात्त्विकवृत्ति बनी रहती है क्योंकि उन्होंने सात्त्विक चित्त की स्थिरता के साथ तदाकाराकारितता को ही समापत्ति माना है। भाष्यकार ने मलों से रहित किया हुआ स्वच्छ-चित्त को ही समापत्ति के योग्य माना है।

- -

1 — "प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते।"
व्यासभाष्य पृ० 118 ।

2 — "तेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु, स्थितस्य चित्तस्य ध्यानपरिपाकवशादपगत-रजस्तमोमलस्य चित्तसत्त्वस्य या तदञ्जनता तदाकारता सा समापत्तिः।"
— त०वै० पृ० 108 ।

वाचस्पतिमिश्र के अनुसार आठ प्रकार की समापत्तियाँ हैं । (1) ग्राह्यविषया सवितर्कसमापत्ति (2) ग्राह्यविषयानिर्वितर्का समापत्ति (3) ग्राह्यविषयासविचारा समापत्ति (4) ग्राह्यविषया निर्विचारा समापत्ति (5) ग्रहणविषया सविचारा समापत्ति (6) ग्रहणविषया निर्विचारा समापत्ति (7) ग्रहीतृविषयासविचारा समापत्ति (8) ग्रहीतृविषया निर्विचारा समापत्ति ।

इनमें ग्राह्यविषया सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल विषयक होती हैं और ग्राह्यविषया सविचारा निर्विचारा सूक्ष्म विषयक होती हैं ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त की वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर चित्त जब केवल ध्येय-मात्र में ही स्थित रहता है तब ध्येय के आकार के समान ही आकार चित्त का भी हो जाता है । इस प्रकार चित्त में तद्रूपता रूप परिणाम का होना ही समापत्ति है । समापत्ति के चार भेदों का वर्णन इन्होंने भी किया है । चारों समापत्तियों का विवेचन भाष्य के ही समान है अतः वर्णन में समानता होने के कारण उन समापत्तियों का पुनः वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

- -

1 - " क्षीणवृत्तेर्यस्य तत्क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिर्भवति । तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयत्वं क्षीणवृत्तौ चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः, तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः । "

— रा०मा०वृ०पृ० 104 ।

विवरण –

'समापत्ति' शब्द समापत्ति का पर्याय है । क्षीणवृत्तिक चित्त का ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य के आकार से आकारित हो जाना ही समापत्ति है । वैसे व्युत्थान काल में भी चित्त विषयाकाराकारित होता है परन्तु व्युत्थानकालिक तदाकाराकारितता को समापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्युत्थान-काल में चित्त में रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव बना रहता है ।[1] 'समापत्ति' काल में चित्त की राजस और तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी होती हैं और चित्त वशीकारसंज्ञक हो इन वृत्तियों से अनभिभूत होता हुआ ग्रहीत्रादि आलम्बन के आकार से आकारित होता हुआ तद्रूपाकार ही भासित होता है ।[2] विवरणकार ने 'समापत्ति' और 'संयम' के स्वरूप में समानता देखते हुए दोनों को समान माना है । 'समापत्ति' और 'संयम' दोनों स्थितियों में चित्त राजस और तामस वृत्तियों का निरोध कर वशीकार-संज्ञक अवस्था में रहता हुआ, अत्यन्त स्वच्छ चित्त आलम्बनोपरक्त होता हुआ तत् तत् आलम्बन का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करता है ।[3]

विवरणकार ने 'क्षीणवृत्तेरिति' पद का अर्थ 'बाह्यप्रमाणादिवृत्तयो' का क्षीण हो जाना' किया है । समापत्तिकाल में चित्त क्षीणवृत्तिक होने के कारण

- -

1 – " सम्यगापत्तिः समापत्तिः सा च तादृशी प्रत्यस्तमितबाह्यवृत्तेरेव भवति । यद्यपि व्युत्थितचित्तस्यापि समापत्तिरस्ति । तथाऽपि सा न समीचीनतया रजस्तमोभ्यां चित्तस्याभिभूतत्वादिति ।"

— पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरण पृ0 101 ।

2 – " एवं शुद्ध्या चित्तवशीकारोऽर्थवान्, येन ग्रहीत्राद्युपरक्तमापन्नं चित्तं तदाभासं भवतीति ।" — वही पृ0 98 ।

3 – क :– " तेषु ग्रहीत्रादिषु तिष्ठतीति तत्स्थं तत्स्थतादिविशिष्टा या ग्रहीत्राद्यञ्जनता।"

— वही पृ0 101 ।

3 – ख :– " मूर्धसंयमं कृत्वा समस्तं भुवनप्रस्तारं प्रत्यक्षीकुर्वीत ।"

— वही पृ0 287 ।

अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है। ऐसा चित्त जब ग्रहीतृपुरुष के सम्पर्क में आता है तब उसी के रूप के आकार का भासित होने लगता है। बुद्धि की बोधकता ही 'ग्रहीतृ' का स्वरूप है। अतः जब बुद्धि विषय-वृत्तियों का बोद्धा न होकर केवल पुरुष और प्रकृति का विविक्त ज्ञान प्राप्त करती है तब पुरुष क्लेशादि से मुक्त चित्त वाला होता है। ऐसे पुरुष के सम्पर्क में आने पर उसके क्लेशादि से वियुक्त चित्त के आकार से आकारित हो जाना ग्रहीतृ विषयक समापत्ति है। इसी तरह 'ग्रहण' और 'ग्राह्य' आलम्बनों से उपरक्त होने पर 'ग्रहण' तथा 'ग्राह्य' समापत्तियाँ होती हैं।

समापत्ति के चार भेदों का उल्लेख विवरण-कार ने भी किया है।[2] जब शब्द, अर्थ और ज्ञान से मिश्रित ध्येयालम्बन से चित्त तदाकाराकारित होता है तब सवितर्कसमापत्ति होती है।[3] जब वही ध्येयालम्बन शब्दसंकेतस्मृति से शून्य केवल स्वरूपमात्र रूप से ही भासित होता है तब निर्वितर्का समापत्ति होती है। इस समापत्ति में ध्येय रूप आलम्बन आगम और अनुमानज्ञान से भी शून्य होकर केवल ग्राह्यमात्र रूप से चित्त में विभावित होता है।[4] सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियाँ स्थूल ग्राह्यविषयक होती हैं।

- -

1 - " तथा ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं बुद्धिबोधकस्वरूपमित्यर्थः । स एव बुद्धेर्बोद्धा यदा विषयवृत्तीनां न बोद्धा भवति तदा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रावस्था ।

— पातंजलयोगसूत्रभाष्य विवरण पृष्ठ 99 ।

2 - " सैषा समापत्तिश्चतुर्धा । "

— वही पृ0

3 - " ध्यातध्यातव्यमधिपर्यैर्विकल्पैः संकीर्णा विमिश्रा इतरेतराध्यासानुविद्धा सा संकीर्णसमापत्तिः । " — वही पृ0 102 ।

4 - " ग्राह्यमात्रेव सा विभाव्यते । "

— वही पृ0 103 ।

जब भूतसूक्ष्म तन्मात्रादिविषय देशकालनिमित्तादि के अवच्छिन्न होते हुए ध्येयविषय बनते हैं तब उस ध्येय के तदाकाराकारित होने पर सविचारा-समापत्ति होती है[1] और जब भूतसूक्ष्मविषय देशकाल और निमित्त से अनवच्छिन्न होकर चित्त में भासित होते हैं तब निर्विचारा-समापत्ति होती है ।[2] सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ सूक्ष्मविषयक होती हैं ।

योगवार्त्तिक

क्षीणवृत्तिक निर्मल चित्त का ग्रहीत्रादि विषयों में सम्यक् रूप से तदाकाराकारित हो जाना समापत्ति है । समापत्ति सम्प्रज्ञात समाधि का फलरूप है क्योंकि पहले सम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येय-विषय का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् ही समापत्ति में चित्त को ध्येय विषय का साक्षात्कार होता है ।[3]

- -

1 - " यद्धि वस्तु देशादिभिरवच्छिद्यमानं विषयीभावं सम्प्रत्यवस्थानं व्यवहाराय कल्पते । तेष्वेवंभूतेष्वेवं भूतेन देशादिविकल्पानुविद्धेनैव या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते ।" — विवरण पृ0 110 ।

2 - " तैरनवच्छिन्नेषु भूतसूक्ष्मेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वान्धर्माननुपतन्ति तानि सूक्ष्माणि सर्वविशेषात्मकत्वात् । सर्वात्मकेषु सर्वेभ्यो विषयेभ्योऽनन्यत्वात्स्वभावात् । तत्र या समापत्तिः सा निर्विचारेति ।" — वही पृ0 111 ।

3 - " समापत्तिः सम्प्रज्ञातफलरूपापत्तिः प्रत्यक्षवृत्तिरित्यर्थः ।"
" क्षीणवृत्तेर्निर्मलस्य मणेरिव ग्रहीत्रादिषु तत्स्थतया तदञ्जनता सम्यक्तदाकारता जायते, सा च समापत्तिरित्याख्यायते भवतीत्यर्थः ।" — यो0वा0पृ0 108 ।
" अत्र सम्प्रज्ञातफलभूतायाः प्रज्ञायाः समापत्तिरिति नाम्नैकी परिभाषाऽपि प्रसंगादुक्ता ।"
— वही पृ0 108 ।

'समापत्ति' की स्थिति सम्प्रज्ञातसमाधि में होती है क्योंकि दोनों समाधियाँ सालम्बन होती हैं। असम्प्रज्ञातसमाधि निर्बीज होती है अतः उसमें समापत्तियाँ नहीं हुआ करती। विज्ञानभिक्षु के अनुसार समापत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। (1) सवितर्का, (2) निर्वितर्का (3) सविचारा (4) निर्विचारा और (5) ग्रहीतृविषयक-समापत्ति।

सवितर्का — स्थूलभूतेन्द्रियों के शब्द अर्थ और ज्ञान में अभेद रूप भ्रम से युक्त विषय का साक्षात्कार होने पर सवितर्कसंज्ञक समापत्ति होती है। सवितर्का समापत्ति में नारायण के स्थूल रूप की कल्पना कर उसमें चित्त के तदाकारा-कारित हो जाने पर साधक को नारायण के रूप का आभास होता है[1]।

निर्वितर्का समापत्ति — वार्तिककार ने भी श्रुतानुमानज्ञान से शून्य केवल अर्थमात्राकार से आकारित चित्त की समापत्ति को निर्वितर्कासमापत्ति कहा है[2]।

सविचारा, निर्विचारासमापत्ति — सविचारा और निर्विचारासमापत्ति सूक्ष्मभूतरूप आलम्बन वाली होती है। इन्द्रियादि के सूक्ष्मकारण तन्मात्राएँ हैं, इन वर्तमान सूक्ष्मभूतों में देशकालनिमित्तों सहित अनुभूत उन सूक्ष्मविषयों को आलम्बन करके होने वाली सविचारा समापत्ति है। जब देश कालादि से रहित सूक्ष्मभूतों में चित्त का साक्षात्कार होता है तब निर्विचारा समापत्ति होती है।

ग्रहीतृविषयकसमापत्ति — ग्रहीतृविषयक समापत्ति का क्षेत्र पुरुष है। जब स्थिर चित्त पुरुष के आत्म स्वरूप के आकार से आकारित हो जाता है तब ग्रहीतृ विषयकसमापत्ति होती है[3]।

- -

1 - " नारायणोऽयं भासते ' इत्यादि रूपैव सवितर्का समापत्तिर्भवति।"

— यो०वा०पृ० 111

2 - " अखिल विकल्प शून्या या समापत्तिः सा निर्वितर्केत्यर्थः।"

— वही पृ० 115

3 - " ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्म भेदेन सवितर्कविचारादिचतस्रः पंचमी च ग्रहीतृविषयेति।

— वही पृ०

विज्ञान भिक्षु ने समापत्ति विषयक अपने विचार की श्रेष्ठता बताई है कि ग्रहण और ग्राह्य का अन्तर्भाव सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा निर्विचारा में हो जाता है। परन्तु ग्रहीतृ का अन्तर्भाव इन स्थूल, सूक्ष्म भूतों में नहीं हो सकता। अतः इसके लिए अर्थात् पुरुषतत्त्व के लिए ग्रहीतृ विषयक समापत्ति की मान्यता अनिवार्य है। इन्होंने वाचस्पतिमिश्र द्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार की समापत्तियों का खण्डन किया है और समापत्तियों के केवल पाँच प्रकार ही बताए हैं।

<u>योगदीपिका : पातंजलयोगसूत्रवृत्ति</u>

समापत्ति शब्द का अर्थ साक्षात्कार है। समापत्ति शब्द से 'साक्षात्कार' का अर्थ स्पष्ट होता है और साक्षात्कार शब्द से समापत्ति का अर्थ स्पष्ट होता है। इन दोनों शब्दों का अर्थ हुआ सम्यक्-रूप से तदाकाराकारित हो जाना[1]। 'समापत्ति' चित्त की उस स्थिति में होती है जब कि चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है और स्वच्छ चित्त स्वतः ही सभी विषयों के अर्थग्रहण में समर्थ हो जाता है[2]। निरुद्धवृत्तिक स्वच्छ चित्त समापत्तिकाल में ध्येय रूप आलम्बन के आकार को ग्रहण कर ध्येय विषयाकाराकारित हो जाता है। ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य ये तीन ध्येय विषय ही निरुद्ध वृत्तिक चित्त के आलम्बन हैं। 'ग्रहीता' से तात्पर्य है पुरुष सामान्य। ग्रहण, अर्थात् बाह्य प्रकार की इन्द्रियाँ ही 'ग्रहण' हैं और स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ये तीन प्रकार के 'ग्राह्य' विषय हैं। पंच-भूतों को 'स्थूल' कहा गया है, पंच-तन्मात्राओं को 'सूक्ष्म' कहा गया है तथा प्रकृति-तत्त्व को सूक्ष्मतर ग्राह्य विषय माना गया है[3]। इन तीनों ध्येय विषयों में ही योग का समस्त विषय गृहीत हो गया है। इसलिए इन तीनों ध्येय विषयों के साथ चित्त का सम्यक्रूपेण तदाकाराकारित हो जाना ~~हो जाना~~ ही समापत्ति है। समापत्ति के चार भेदों का वर्णन इन व्याख्याओं में जो प्राप्त

- -

1- " समापत्तिरिति च साक्षात्कारपरिभाषा ।" - - - सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याभिव्यक्तिविशेषैः सम्यक्तदाकारतावस्थेत्यर्थः ।"
— योगदीपिका पृ० 26

2- " तथा च तच्चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं ।" — वही पृ० 26
3- " अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं च इह ग्रहीतृनेनोक्त्यभ्युत्पत्त्या करणमात्र-मयोदशविधम् । ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधम् । पंचभूतपंचतन्मात्रप्रकृतिरूपम् ।
— वही पृ० 26

सवितर्का-समापत्ति — 'सवितर्क' शब्द का विश्लेषणात्मक अर्थ इस प्रकार से किया गया है —[1] " विपरीततर्कयोगात्सवितर्कसंज्ञितार्थः अत एव तत्कालीन योग एव सविकल्प इत्युच्यते ।" अर्थात् विपरीत तर्क से युक्त सवितर्क समापत्ति है । अतः सवितर्क समापत्ति को सविकल्पक-योग की संज्ञा दी गई है । इस समापत्ति में स्थूल विषयों के शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेद जन्य साक्षात्कार प्राप्त होता है[2] ।

निर्वितर्का-समापत्ति — यह समापत्ति भी स्थूल विषयक होती है । यह समापत्ति ध्येयार्थमात्र को ग्रहण करती है । विकल्प शून्य होने के कारण इस समापत्ति को निर्वितर्का समापत्ति कहा गया है[3] । यह समापत्ति अविद्या के लेश मात्र भी सम्पर्क से रहित होती है । सम्भवतः इसी लिए इस समापत्ति को 'परंप्रत्यक्षम्' यह संज्ञा भी दी गई है । अविद्या का लेशमात्र भी सम्पर्क न होने से चित्त को ध्येय विषय के अर्थ का शुद्ध साक्षात्कार होता है अतः (परप्रत्यक्ष) यह संज्ञा इस समापत्ति के लिए उचित ही दी गई है[4] ।

सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ :- यह समापत्तियाँ सूक्ष्म विषयक आलम्बनों वाली होती हैं । स्थूल कार्यों का कारण सूक्ष्म-तत्त्व ही हैं । इन सूक्ष्म-तत्त्वों के साथ चित्त की सम्यगापत्ति सविचारा समापत्ति है[5] । यथा — वायु, जल पृथ्वी ये सभी स्थूल कार्य हैं जिनके सूक्ष्म कारण तन्मात्राएँ हैं । इन तन्मात्राओं के आकार से आकारित हो जाना ही निर्विचारा-समापत्ति है ।

- -

1 - " द्रष्टव्य - योगदीपिका पृ0 27 ।

2 - " तत्र समापत्तिसामान्ये गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यादिरूपैः शब्दार्थ ज्ञानानां ये विकल्पा अभेदभ्रमाः ।"
— वही पृ0 27 ।

3 - " ध्येयार्थमात्रावगाहिनी विकल्प शून्या स्थूल समापत्तिर्निर्वितर्कसंज्ञितार्थः ।"
— वही पृ0 28 ।

4 - " इयं समापत्तिः परंप्रत्यक्षमुच्यते अविद्यालेशेनाप्यसंपर्कात् ।
— वही पृ0 28 ।

5 - " तत्र स्थूलस्य यत्कार्यं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचारा ।"
— पातंजलयोगसूत्र वृत्ति पृ0 29 ।

मणिप्रभा

जिस प्रकार स्वच्छ अभिजातमणि अपने समीप स्थित विविध फूलों के रंगों से उपरक्त होकर वैसी ही भासित होती है उसी प्रकार अभ्यास वैराग्य द्वारा वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर नितान्त निर्मल स्वच्छ चित्त अपने रूप का परित्याग कर आलम्बन के आकार से आकारित हो जाता है।

स्वच्छ चित्त जब ग्रहण अर्थात इन्द्रियों के सम्पर्क में आता है तब वह ग्रहणाकार भासित होता और जब ग्रहीतृ अर्थात् अस्मिताख्य पुरुष से उपरक्त होता है तब अपने स्वरूप का परित्याग कर अस्मिताकार भासित होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति पर्यन्त स्थूल सूक्ष्म ग्राह्य विषयों के सम्पर्क में आने पर उनके आकार का भासित होता है। इस प्रकार क्षीणवृत्तिक चित्त का स्वरूपपरित्याग द्वारा ग्रहीतृ ग्रहण और ग्राह्याकार से उपरक्त होने पर तद्रूपता या समापत्ति ही समापत्ति है। समापत्ति और सम्प्रज्ञात-समाधि में मणिप्रभाकार ने अभेद माना है क्योंकि सम्प्रज्ञातसमाधि में भी स्थूल और सूक्ष्म विषयों का सम्यक् ज्ञान होता है और समापत्ति में भी स्थूल तथा सूक्ष्म ध्येय पदार्थों की तदाकारापत्ति होती है। समापत्ति के चार भेदों का निरूपण भाष्य के आधार पर किया गया है।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

योगसूत्रार्थबोधिनी, और योगसिद्धान्तचन्द्रिका में व्याख्याकार ने विषय का विवेचन मणिप्रभा के समान ही किया है।

- -

1 - अभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणराजसतमोवृत्तिकस्य चित्तमणेः स्थूलसूक्ष्मभूतात्मकग्राह्येण ग्रहणैरिन्द्रियैर्ग्रहीत्रा पूर्वोक्ताभिमताऽऽत्मपुरुषेण चोपरक्तस्य स्वरूपाभिभवेन या ग्राह्याकारतापत्तिः स समापात ।। "

— मणिप्रभा पृ0 20

भास्वती

समापत्ति सम्प्रज्ञातयोग का पर्याय है । एकाग्रभूमिक चित्त में ही समापत्ति होती है । ग्रहीतृ ग्राह्य और ग्रहण ही समापत्ति के विषय हैं । समापत्ति-काल में चित्त इन विषयों के तद्रूप हो जाता है । चित्त का ध्येयालम्बन के प्रति तद्रूपापत्ति ही समापत्ति है ।[1]

समापत्तिकाल में ग्रहीता के सम्पर्क में चित्त ग्रहीत्राकार हो जाता है । ग्रहीता का अर्थ यहाँ पुरुषाकार बुद्धि है । पुरुषाकार बुद्धि ही अस्मिता है । ज्ञातृत्व कर्तृत्व और भोक्तृत्व के मूल में बुद्धि ही है । पुरुष की चितिच्छायापत्ति पड़ने पर ही पुरुष का बुद्धिवृत्तियों से सारूप्य होता है तभी सारा ज्ञान अस्मिता रूपी पुरुष-तत्त्व को होता है । चित्त का अस्मिताकार होना ही ग्रहीतृसमापत्ति है । स्थूल-तत्त्व तथा सूक्ष्मतत्त्व ही ग्राह्यविषय है । स्थूलतत्त्व के अन्तर्गत पृथ्वी, घटादि भौतिक पदार्थ हैं और सूक्ष्मतत्त्व के अन्तर्गत तन्मात्राएँ आती हैं जब चित्त इन सूक्ष्मभूतों तथा सूक्ष्मतन्मा-त्राओं के आकार से आकारित होता है तब ग्राह्यविषयक समापत्ति होती है । चित्त जब ग्रहणाकार हो जाता है तब ग्रहण समापत्ति होती है । ग्रहण का अर्थ इन्द्रिय नहीं प्रत्युत इन्द्रियशक्ति है । इन्द्रियशक्ति रूपी आलम्बन के तद्रूप होने पर ही ग्रहणाकार समापत्ति होती है । समापत्ति के चार भेद हैं (1) सवितर्का (2) निर्वितर्का (3) सविचारा और (4) निर्विचारा। स्थूल-विषयक-समापत्ति सवितर्क, निर्वितर्क है, और सूक्ष्म-विषयक-समापत्ति सविचारा, और निर्विचारा है ।

<u>सवितर्का समापत्ति</u> --- एकाग्रभूमिक चित्त जब शब्दार्थ ज्ञान के मिश्रित विकल्प के आकार से भासित[2] होता है तब सवितर्का समापत्ति होती है । यह समापत्ति स्थूल विषयों में होती है ।

- -

1 - ''एकाग्रभूमिकस्य चित्तस्य, अभिजातस्य = स्वच्छस्येव् ग्रहीतृग्रहणग्राह्याणि समापत्तिर्भवति, तत्स्थतदंजनता तथा: सामान्यं स्वरूपं ग्राह्यादि विषयेषु सर्वेषु या स्थितता तद्रूपतैव दोपरक्तता यथास्वच्छस्य मणेः पार्श्वोपरागः सैव समापत्ति, सम्प्रज्ञातस्य योगस्यापरपर्याय इति ।"

— भास्वती पृ0 107

2 - "स्थूलविषयेऽथाया प्रज्ञया परिपूर्णस्य चेतसो या समापन्नता सा सवितर्केति ।"

— वही पृ0 111 ।

निर्वितर्का समापत्ति — जब ध्येय विषय का ध्यान, विषय के नाम और वाक्य के माध्यम के बिना किया जाये तब वह ध्यान 'निर्विकल्पक' होता है । निर्विकल्पक इसलिए क्योंकि इस ध्यान में विकल्पों का मिश्रण बिलकुल नहीं रहता । यह ध्यान शाब्दिक संकेत तथा अनुमानादिप्रमाणों के संकेत से शून्य-वत् रहता है । 'शून्य-वत्' शब्द यहाँ विशेष अर्थ का द्योतक है । वास्तविक रूप से शून्य नहीं प्रत्युत नामादिरहित स्थूल ध्येय विषयक-समापत्ति ही निर्वितर्का-समापत्ति है ।[1]

निर्वितर्का-समापत्ति में चित्त ध्येय के वास्तविक आकार से आकारित होता है । यह 'परप्रत्यक्ष' समापत्ति है क्योंकि इसमें अनुमानादि प्रमाणों का मिश्रण नहीं रहता । साथ ही शब्दहीन होने के कारण यह समापत्ति शब्दादि विकल्पों के स्फुरण से शून्य होती है । इस समापत्ति में ग्राह्यविषय, ध्येयविषय मात्र होता है । भूततत्त्व नहीं । ध्येय-विषय निर्वितर्का-समापत्ति में नामादि विकल्पों से रहित केवल अर्थ मात्र में भासित होता है । इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि निर्वितर्का-समापत्ति में ग्राह्य विषय केवल ध्येय मात्र होता है अर्थात् केवल अर्थ मात्र होता है ।[2] इसीलिए इस समापत्ति को ध्येय-विषय मात्रद्योतिनी कहा गया है । इस समापत्ति में वास्तविकध्येयार्थ ही प्रकाशित होता है । असत्पदार्थ का लेशमात्र भी सम्पर्क नहीं होता ।

- -

1 - "वास्तवं यथाभूतमेव तदा निर्भासते, न च कश्चिदसत्यपदार्थस्तदन्तर्गतो भवति सा हि निर्वितर्का समापत्तिः । तत् परं प्रत्यक्षं समाधि जातत्वादन्यप्रमाणासिद्धत्वात् ।"

— भास्वती पृ० 111/112 ।

2 - "नामादिहीनध्येयविषयमात्रद्योतिनी समापत्तिर्निर्वितर्का स्थूलविषयेति सूत्रार्थः । नामादिहीनध्येयविषयमात्रद्योतिनी समापत्ति निर्वितर्का स्थूल विषयेति सूत्रार्थः ।"

— वही पृ० 112 ।

"ग्राह्यमत्र ध्येयविषयो न तु भूतानि ।"

— वही पृ० 113 ।

सविचारा और निर्विचारा समापत्ति -- सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ सूक्ष्म आलम्बनों वाली होती हैं । तन्मात्रादि सूक्ष्म आलम्बन हैं । जब इन तन्मात्रादि सूक्ष्म आलम्बनों के देश, काल और निमित्त सहित आकार से चित्त तदाकाराकारित होता है तब सूक्ष्म विषयक सविचारा समापत्ति होती है[1] । जब इन धर्मों से अनवच्छिन्न शब्दादिविकल्प से हीन ध्येय विषय की तदाकारापत्ति चित्त में होती है तब निर्विचारा-समापत्ति होती है[2] । निर्विचारा-समापत्ति का पर्यवसान अलिंग में होता है ।

श्रीमन्नारायणभट्ट

अभ्यास वैराग्य द्वारा चित्त की राजस तामस वृत्तियों के क्षीण हो जाने के उपरान्त स्वच्छ चित्त की ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य नामक पदार्थों में तदाकारापत्ति ही समापत्ति है । यह समापत्ति क्रम से पहले स्थूल विषयक होती है तत्पश्चात सूक्ष्म विषयक होती है । अतः ग्रहीत्रादि का क्रम कृष्णवल्लभाचार्य ने ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ इस प्रकार से निश्चित किया है[3] ।

इन्होंने वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत सवितर्क, निर्वितर्क समाधि माना है और विचारानुगत के अन्तर्गत सविचारा, निर्विचारा-समाधि माना है । आनन्द और अस्मितानुगत का अवान्तर भेद नहीं किया है । इस संबन्ध में अन्य वर्णन भाष्यानुसार है ।

- -

1 - " देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु सूक्ष्मविषयेषु शब्दवाच्या या समापत्तिर्जायते सा सविचारात्मेति ।"

— भास्वती पृ0 119 ।

2 - " समाधिप्रज्ञा यदा शब्दव्यवहारजविकल्पशून्या स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्भासाभवति तदा निर्विचारेत्युच्यते ।"

—— वही पृ0 119 ।

3 - अभ्यासवैराग्याभ्याम् उपायान्तरैर्वा क्षीणराजसतामस प्रमाणादिवृत्तेः स्वभावस्वच्छस्य चित्तस्य ग्रहीतृषु ग्रहणेषु - ग्राह्येषु च पदार्थेषु, तत्स्थता, तदेकाग्रता, तदञ्जनता - तदाकारत्वमिति ।" —— स्व0ना0भा0 पृ0 145

व्यासभाष्य

भाष्यकार के अनुसार मधुभूमिक योगी ऋतम्भरप्रज्ञा वाला होता है । योगी की चार अवस्थाएँ होती है । (1) प्रथमकल्पिक (2) मधुभूमिक (3) प्रज्ञाज्योति (4) अतिक्रान्तभावनीय । प्रथम पाद के 48वें और इसी पाद के 49वें सूत्र के भाष्य में भी ऋतम्भरा का वर्णन किया गया । इसमें 'तस्मिन्' शब्द का अर्थ 'निर्विचार-वैशारद्य' है । 'वैशारद्य' का अर्थ है 'स्वच्छ होना' । निर्विचारसमापत्ति में चित्त रजो, तमो मल से रहित होकर स्वच्छ तथा निर्मल हो जाता है चित्त का इस प्रकार से स्वच्छ होना ही 'वैशारद्य' है । इस 'वैशारद्य'[1] की स्थिति में चित्त की जो प्रज्ञा प्राप्त होती है उसे 'अध्यात्मप्रसाद' कहा गया है । यह 'अध्यात्मप्रसाद' ही 'ऋतम्भराप्रज्ञा' है[2] । यह ऋतम्भराप्रज्ञा उत्कृष्टतमसमाधि-प्रज्ञा है । यह सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा होती है । इसीलिए इसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है । ऋतम्भरा-प्रज्ञा में भ्रान्ति ज्ञान का लेशमात्र या गन्धमात्र भी नहीं होता है ।

तत्त्ववैशारदी

बुद्धि का यथार्थस्वरूप प्रकाशात्मक है । रजोगुण और तमोगुण रूपी आवरण से आवृत्त होकर बुद्धि का अपना यथार्थ स्वरूप छिप जाता है । जब अभ्यास और वैराग्य द्वारा रजोगुण, तथा तमोगुणयुक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब मल रूपी आवरण समाप्त हो जाता है और बुद्धि निर्मल होकर अपने यथार्थ प्रकाशात्मक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है इस समय बुद्धि को प्रज्ञाज्योति प्रस्फुटित हो जाती है । जिससे बुद्धि को अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पदार्थों का युगपद्ज्ञान प्राप्त हो

- -

1 - " यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थ विषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । "
— व्यासभाष्य पृ0 125 ।

2 - " तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । "
— वही पृ0 126 ।

जाता है । यह ज्ञान ही 'अध्यात्मप्रसाद' है । जिसको 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' नाम से अभिहित किया गया है । 'अध्यात्म प्रसाद' निर्विचारसमापत्ति के निर्मल होने पर ही होता है ।

'ऋतम्भराप्रज्ञा' पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराती है । ऋतम्भराप्रज्ञा से पदार्थों का सूक्ष्म तथा विशेष ज्ञान प्राप्त होता है । आगम और अनुमान प्रमाण से पदार्थों का सामान्यज्ञान तो प्राप्त हो जाता है परन्तु उनके अन्तरतम का ज्ञान 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' से ही प्राप्त होता है अतः 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' आगम और अनुमान ज्ञान की तुलना में 'विशेष ज्ञान' वाली प्रज्ञा है ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति

अन्य समापत्तियों की फलस्वरूप निर्विचारासमापत्ति है और निर्विचारा समापत्ति का फल 'अध्यात्मप्रसाद' है । अर्थात 'अध्यात्मप्रसाद' और 'निर्विचारा समापत्ति' में कार्यकारण का संबन्ध है । 'निर्विचारासमापत्ति' ही कारण है जिसका कार्य रूप फल 'अध्यात्मप्रसाद' है । 'अध्यात्मप्रसाद' का ही 'ऋतम्भराप्रज्ञा' की संज्ञा दी गई है ।

निर्विचारासमापत्ति के निर्मल होने पर आत्मा अर्थात् बुद्धि को वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव प्राप्त होता है क्योंकि इस समय बुद्धि रजोगुण तथा तमोगुणयुक्त मलों से अपेत रहती हुई केवल सात्त्विक वृत्ति से युक्त रहती है । सात्त्विक वृत्ति प्रसन्नता की द्योतक तथा उत्पादक है अतः इस समय बुद्धि में प्रसन्नता का ही

- -

1 - "निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते। चित्तं क्लेशवासनारहितं स्थितिप्रवाहयोग्यं भवति । एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत्स्थितौ दार्ढ्यम् ।"

— रा०मा० वृ० पृ० 119 ।

प्रादुर्भाव होता है। निर्मल, शुद्धसात्त्विक प्रसन्नचित्त में ही समाधि स्थिर तथा दृढ़ होती है। इस एकाग्र तथा दृढ़ चित्त में योगी को सभी पदार्थों का यथार्थ तथा सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है। पदार्थों का यथार्थदर्शन ही 'ऋतम्भराप्रज्ञा' है। इसी आधार पर इस प्रज्ञा को सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा कहा जाता है।[1]

'ऋतम्भरा प्रज्ञा' एक विशिष्ट प्रज्ञा है। इसमें मिथ्याज्ञान या अविद्या का लेशमात्र भी सम्पर्क भी नहीं होता। यह पदार्थों के सूक्ष्म और यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराती है। अतः यह आगम और अनुमान ज्ञान से विशिष्ट कही जाती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण यह प्रज्ञा विलक्षण है।

विवरण

रजोगुण और तमोगुण से अनभिभूत चित्त को निर्विचार-समापत्तिकाल में वैशारद्य प्राप्त होता है। स्वच्छ और शुद्ध चित्त का सात्त्विक प्रवाह ही उसका 'वैशारद्य' है।[2] इस 'वैशारद्य' के उत्पन्न होने पर ही योगी को 'अध्यात्मप्रसाद' होता है। 'अध्यात्मप्रसाद' का अर्थ 'आत्मविज्ञानविवेक' किया गया है; अर्थात् पुरुष और प्रकृति का विविक्त ज्ञान ही 'अध्यात्मप्रसाद' है। इस अध्यात्मप्रसाद के कारण

---

1 - "ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते सा ऋतम्भराप्रज्ञा तस्मिन्सति भवतीत्यर्थः।"

— रा०मा०वृ० पृ० 121।

2 - "प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्।"

— पा०यो०सू०भा०वि० पृ० 113।

होने पर योगी को पदार्थों का यथार्थ, शुद्ध और विविक्त ज्ञान प्राप्त होता है[1]। इस ज्ञान को ही 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' की संज्ञा दी गई है । 'ऋतम्भराप्रज्ञा' का अर्थ है 'सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा' । उक्त ज्ञान सत्य को ही धारण करती है, संशय और भ्रम से सर्वथा रहित होती है इसीलिए 'अध्यात्मप्रसाद' नामक ज्ञान को ऋतम्भरा-प्रज्ञा कहा गया है[2]।

योगवार्तिक

ऋतम्भराप्रज्ञा के संबन्ध में विज्ञानभिक्षु ने बहुत सोपपत्तिक अर्थ किया है । पहले अध्याय के 48वें सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं कि सबीज समाधियों में उत्पन्न होने वाली समापत्तियाँ ही ऋतम्भरा-प्रज्ञा है और उसी का पारिभाषिक नाम ऋतम्भरा है । यथा — " पूर्वसूत्रोक्तसबीजसमाधौ जायमानः समापत्त्याख्यायाः प्रज्ञाया अन्वर्था तान्त्रिकी संज्ञामपि यथार्थेति[3] । " इस संबन्ध में अनेक पोषक[4] तर्क भी देते हैं यथा — सभी समापत्तियों में कुछ न कुछ प्रज्ञा होती है जिसे समाधिप्रज्ञा कहते हैं । यह प्रज्ञा ही ऋतम्भरा-प्रज्ञा कही जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञानभिक्षु के अनुसार ऋतम्भरा-प्रज्ञा चारों समाधियों में होती है । इसके अतिरिक्त समाहितचित्त योगी को जो प्रज्ञा होती है उसको भी ऋतम्भरापद कह सकते हैं, क्योंकि समाहितचित्त वाले योगी की प्रज्ञा में लौकिक ज्ञान का लेशमात्र संपर्क भी नहीं होता है । इस बात को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए विज्ञानभिक्षु ने स्मृति से प्रमाण दिया है — " योगकाले प्रकृष्टा प्रज्ञा भवतीत्यत्र स्मृतिं प्रमाणयति[5] । "

- -

1 - " यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते, तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः । अत्रैव व्याख्यानं भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी परिपाटिकया यावत्सोऽशक्यमनुसन्धातुमिति क्रमाननुरोधी स्फुटं विविक्ततरं शुक्लतरत्वात् प्रज्ञालोकः प्रज्ञैवालोकः तया हि यथावस्तु जानाति । "

— विवरण पृ0 113 ।

2 - " प्रसीद प्रज्ञात्मविषयविकल्पव्यवस्था हि जायते । ज्ञानमार्ग च लिंगानामनुमीय

— वही पृ0 114 ।

3 - " द्रष्टव्य - योगवार्तिक पृ0 126 ।

4 - द्रष्टव्य - वही पृ0 127 ।

तृतीय-अध्याय के 51वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में निर्वितर्का-समापत्ति रूपी परप्रत्यक्ष ही को 'ऋतम्भराप्रज्ञा' बताया गया है । और यह भी कहा गया है कि निर्वितर्का के बाद की भूमिकाएँ प्रज्ञाज्योति नामक तृतीय कोटि के योगी के द्वारा आचरित होती हैं । इसलिए निर्विचारा समापत्ति या तज्जन्य अध्यात्मप्रसाद को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' नहीं माना जा सकता ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन व्याख्याओं में अन्य वर्णित समापत्तियों की तुलना में निर्विचारासमापत्ति को विशिष्ट माना गया है । निर्विचारा-समापत्ति में चित्त की एकाग्रता निश्चल होती है और चित्त की यह निश्चल-एकाग्रता ही इस समापत्ति का वैशारद्य है[1]। इस वैशारद्य के होने पर अध्यात्मप्रसाद होता है । 'प्रसाद' का अर्थ पूर्णता इन व्याख्याओं में 'नैर्मल्य' किया गया है । अध्यात्मप्रसाद के द्वारा साधक पुरुष का साक्षात्कार योग के साधनों के अनुष्ठान के बिना भी कर लेता है । अतः 'अध्यात्मप्रसाद' के फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार रूपा प्रज्ञा ही ऋतम्भरा प्रज्ञा है ।

भावागणेश ने सवितर्कादि समापत्तियों की प्रज्ञा को भी ऋतम्भरा-प्रज्ञा माना है क्योंकि उन समापत्तियों में जिन स्थूलसूक्ष्म विषयों का ज्ञान होता है वह सत्य ज्ञान होता है अतः उन समापत्तियों के ज्ञान को भी 'ऋतम्भराप्रज्ञा' संज्ञा देना चाहिए नागोजीभट्ट ने भी अपनी व्याख्या में ऐसा ही विवेचन किया है[2]।

---

1 - "निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम् ।"

— योगदीपिका पृ0 30 ।

2 - "तत्र अबीज योगे आद्यसामग्रया समापत्त्याख्या ऋतम्भरसंज्ञा भवति । ऋतस्य सत्यस्यैव भरणात् विषयत्वेन धारणादित्यर्थः । सवितर्कप्रज्ञायामपि विकल्पत्वेऽपि ऋतम्भरजातीयत्वेन संग्रहः ।"

— पातंजल योगसूत्रवृत्ति पृष्ठ 30 ।

मणिप्रभा

चित्त में से रजोगुण और तमोगुण के अपेत हो जाने पर स्वच्छ चित्त में केवल सात्त्विक वृत्ति का प्रवाह होता है । इस सात्त्विक वृत्ति के प्रवाह से चित्त को प्रकृतिपर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है । इस तरह का ज्ञान ही 'निर्विचारा-समाधि' का 'वैशारद्य' है ।[1]

निर्विचारा-समाधि के वैशारद्य की प्राप्ति होने पर परमाणु आदि प्रधान पर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों का एक साथ ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान आत्मनिष्ठ होता है अर्थात् सात्त्विकवृत्ति में स्थित होता है । अतः इसका नाम "अध्यात्मप्रसाद" है । अर्थात् आत्मा में रहने वाला 'प्रसाद' या 'ज्ञान' । 'अध्यात्मप्रसाद' का ही योगसम्मत नाम 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' है ।' "ऋतम्भरा-प्रज्ञा" निर्विचारा-समाधि जन्य है । यह प्रज्ञा सत्य को धारण करती है । ऋतम्भरा प्रज्ञा' आगमश्रुतानुमानादि प्रमाणों से विशिष्ट है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्त चन्द्रिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के सदृश विवेचन है अतः इनका अलग से इस प्रसंग में कोई वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

---

1 - " स्वच्छस्थितिरूप वृत्ति प्रवाहः प्रधानान्त सूक्ष्म भाद्यगोचरः यः सोऽयं निर्विचारासमाधिवैशारद्यम् । "

— मणिप्रभा पृ० 24 ।

भास्वती

निर्विचार-समापत्ति के वैशारद्यकाल में परम् निर्मल बुद्धि को एक साथ ही समस्त भूल विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है । यह यथार्थज्ञान ही ऋतम्भरा-प्रज्ञा है [1] । 'ऋतम्भराप्रज्ञा' का अर्थ है सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा । वास्तव में यह प्रज्ञा अपने नाम को सार्थक करती है अतः इस प्रज्ञा का यह नाम सर्वथा अर्थ के अनुरूप ही है ।

स्वामिनारायणभाष्य --

निर्विचार समापत्ति में बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ और मलरहित होती है । निर्मलबुद्धि में केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रवाह होता रहता है । ऐसी निर्मल बुद्धि सात्त्विकवृत्ति की एकाग्रता ही निर्विचारसमापत्ति का वैशारद्य है । 'वैशारद्य' काल में बुद्धि, पुरुष तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करती है जिसे 'अध्यात्मप्रसाद' या 'आत्मविषयकप्रसाद' कहा गया है । अध्यात्म प्रसाद से आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है । जिसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं । "ऋत" का अर्थ सत्य है अर्थात बुद्ध्यादि से भिन्न आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही "ऋतम्भरप्रज्ञा" है । बुद्धि के विषय शब्दादि हैं । शब्दादि ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय नहीं बनते । आत्मा तथा परमात्मा रूप ज्ञेय विषय ही ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय बनते हैं [2] ।

- -

1 - "निर्विचारस्य वैशारद्ये जाते सति या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा ।"

भास्वती पृ0 126 ।

2 - " अध्यात्मप्रसादे या प्रज्ञा - स्वात्मविषयकसाक्षात्कारः - प्रज्ञालोकः सा ऋतम्भरा, - ऋतं सत्यं यथार्थम् आत्मस्वरूपं बुद्ध्यादि भिन्नतया बिभर्ति विषयीकरोति सा "ऋतम्भरा" इत्युच्यते । अतो बुद्ध्यादिविषयिणी प्रज्ञा न ऋतम्भरा किन्तु स्वात्म-परमात्मविषयिण्येवेति-तत्त्वम् ।

-- स्वा0ना0भा0 पृ0 156 ।

व्यासभाष्य

क्रियायोग के द्वारा व्युत्थितचित्त वाले लोग भी समाधि की भावना कर सकते हैं। क्रियायोग से क्लेशों की स्थूलवृत्तियाँ कमजोर पड़ जाती हैं[1]। पुनः तनूकृत क्लेशों की वृत्तियों को प्रसंख्यान अग्नि द्वारा दग्ध-बीजभावता प्राप्त होती है जिसके कारण वे पुनः अंकुरित नहीं हो पाती। इस प्रकार क्रियायोग क्लेशों को नष्ट करने में बहुत उपयोगी है।

तत्त्ववैशारदी

भाष्य की तरह तत्त्ववैशारदी में भी क्रियायोग की उपयोगिता सिद्ध की गई है। क्रियायोग से क्लेश केवल तनूकृत किए जाते हैं। उनका पूर्ण निरोध प्रसंख्यान अग्नि से ही होता है[2]।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविद्यादि क्लेशों से चित्त भ्रमित तथा दुःखी होता है। अतः अविद्यादि को दुःखादि का कारण मानना चाहिए क्योंकि अविद्या ही सभी दुःखों का कारण है। इस प्रकार अविद्यादि तथा दुःखादि में कारण कार्य संबन्ध हुआ। क्रियायोग के द्वारा उस कारणकार्य के संबन्ध का निरोध किया जाता है, नष्ट नहीं किया

- -

1 - "क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति।"

— व्यासभाष्य पृ0 158

2 - "क्रियायोगस्य तनूकरणमात्रे व्यापारो न तु प्रहाणे क्लेशानाम्। प्रसंख्यानस्य तु तत्प्रहाणे। यतः समाप्ताधिकारास्समाप्तोऽधिकारः कार्यारम्भं गुणानां यथा हेतुभूतया सा तथोक्तेति।" — तत्त्ववैशारदी पृ0 140

जाता है प्रस्तुत केवल रोका जाता है । क्रियायोग के साधन या उपाय तपआदि हैं । तपआदि चित्त में व्याप्त अविद्यादि रूपी क्लेशों को शिथिल करते हैं । परिणामस्वरूप चित्त समाधि साधना के योग्य स्थिति में आ जाता है । वृत्तियों से आबद्ध चित्त भी उत्तरोत्तर क्षीण होता रहता है, जब वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं तब चित्त शान्त हो जाता है और शान्त चित्त ही एकाग्र होकर समाधिस्थ होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'क्रियायोग' से क्लेश तनु किए जाते हैं, जिनका आत्यन्तिकविनाश प्रसंख्यान अग्नि द्वारा ही होता है ।

विवरण

विक्षिप्तचित्त वाले भी समाधि के योग्य बन सकें इसी बात को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने क्रियायोग का उल्लेख किया है । 'क्रियायोग' को विवरणकार ने 'क्रियारूपो योगः' कहा है[2] । 'तप' आदि क्रियाएँ 'योग' के लिए ही की जाती हैं अतः योग के लिए किए गए तपआदि क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है । इसी तरह 'समाधि' जो चित्त का धर्म है, उसकी भी कल्पना योगप्राप्ति के लिए ही की जाती है। अतः 'समाधि' को भी 'योग' कहा गया है । इस प्रकार जिन क्रियाओं से योग की स्थिति सम्भव है उन योगार्थ क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है । 'क्रियायोग' के अन्तर्गत, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि क्रियाएँ समाविष्ट हैं ।

- -

1 - " क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्यकरणप्रतिबन्धः । तपः प्रभृतयोऽ-भ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन्क्लेशाञ्छिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते ।"

रा0मा0वृ0 पृ0 - 135 ।

2 - " तदेव क्रियारूपो योगः क्रियायोगः । तपआदि क्रिया च योगार्थत्वाद्योग इत्युच्यते। चित्तधर्मो हि समाधिर्योगः । तदर्थत्वात् क्रियायोगः । तत्साधनेन क्रियायोगेन योगीति ।"

—— विवरण पृ0 123 ।

'योग' प्राप्ति की दृष्टि से विक्षिप्तचित्त वालों के लिए क्रियायोग की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है । 'क्रियायोग' अन्य योगांगों सहित समाधि की भावना करने में सहायक हैं ।[2] क्रियायोग के द्वारा ही अविद्यादि क्लेश तनूकृत किए जाते हैं । क्रियायोग से तनूकृतक्लेश ही विवेकख्याति रूपी अग्नि से दग्ध-बीजभावता को प्राप्त कर अप्रसवधर्मी हो जाते हैं । जिसके परिणाम स्वरूप चित्त असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करने में समर्थ होता है । इस प्रकार क्रियायोग का योगसाधना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है ।

योगवार्त्तिक

क्रियायोग व्युत्थित चित्त वाले साधकों के लिए योग का द्वार है । विज्ञानभिक्षु ने क्रियायोग को 'कर्मयोग' का नाम भी दिया है । सम्यक् प्रकारेण निष्कामभाव से किया गया कर्म ही कर्मयोग है । 'कर्मयोग' से कर्म के अतिरिक्त विषयों के प्रति चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है । इस प्रकार निरुद्ध वृत्तिक निष्पाप चित्त एकाग्र हो जाता है । सत्त्वशुद्धि के द्वारा चित्त अविद्यादि क्लेशों को हल्का करके चित्त को समाधि के योग्य बनाता है । तनूकृत क्लेश सूक्ष्म साक्षात्कारवती प्रज्ञा के द्वारा समाप्त कर्त्तव्य हो जाते हैं ।

- -

1 - " इतरयोगांगसहितः समाधिं भावयति, क्लेशांश्च तनूकरोति । वक्ष्यति च - "योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः " इति । तदेतदाह - तनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानेन क्लेशतनूकरणात् संजातस्य दर्शनशीलनेन , दग्धबीज कल्पान् बीजानीव दग्धप्रसवशक्तीन् अतएव अप्रसवधर्मिणः अविद्यमानः प्रसवो येषां ते अप्रसवाः , अप्रसवाश्च ते धर्मिणश्चेत्यप्रसवधर्मिणः तानप्रसवधर्मिणः करिष्यति प्रसवशक्तिरहितान् करिष्यति ।"

— विवरण पृ0 124

2 - तेषां योगद्वारमाह । आ सम्यक् निष्कामादिरूपेण सेव्यमानः स हि स एव कर्मयोगः कर्मातिरिक्तविषयेभ्यो निरुद्धवृत्तिकं निष्पापं च चित्तं करोति ततः क्रमेण सत्त्वोद्रेकादेकाग्रमप्यापि करोति अविद्याऽऽदिकं च प्रकर्षेणानायासेन तनूकरोति ।"

— योगवा0पृ0 140

योगदीपिका

समाहितचित्त वाले साधक अभ्यास वैराग्य द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर योग प्राप्त कर लेते हैं परन्तु व्युत्थित-चित्त वाले साधकों को इन उपायों के अतिरिक्त क्रियायोग का आचरण करना अनिवार्य होता है । 'तपस्या', 'स्वाध्याय' और 'ईश्वर प्रणिधान' क्रियायोग के मुख्य साधन हैं । यमनियमासनादि भी क्रियायोग के अन्तर्गत आ सकते हैं परन्तु मध्यम श्रेणी के साधक को तपस्यादि उक्त तीन साधनों का भी सेवन करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । 'भावागणेश' ने योग के अन्य साधनों में से तपस्यादि को प्रकृष्ट साधन माना है । उनके अनुसार तपस्यादि प्रकृष्ट तथा तीव्रतर साधन हैं । केवल इन्हीं साधनों का अनुष्ठान भी 'योग' प्राप्ति के लिए सहायक हो सकता है ।[1]

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

क्रियायोग से योग के प्रतिबंधक क्लेश हल्के किए जाते हैं और चित्त एकाग्र होता है । एकाग्रचित्त में शुद्धसात्त्विकवृत्ति का प्रवाह होते रहने से ये क्लेश प्रभावहीन होकर दबे रहते हैं पुनः विवेकख्याति के द्वारा इनका आत्यन्तिक विनाश कर दिया जाता है ।[2]

मणिप्रभा

समाधिपाद में व्याख्यात योग के दो उपायों के अतिरिक्त क्रियायोग भी योग का उपाय है । क्रियायोग द्वारा चित्त की क्लेशादि वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त समाधि की साधना करने में एकाग्र हो जाता है । क्रियायोग के तीन साधनों का उल्लेख इस व्याख्या में भी किया गया है । इन तीनों साधनों से चित्त की क्लेशादि

- -

1 - " एतानि तपआदीनि क्रियारूपो योगो योग साधनत्वादित्यर्थः । यद्यपि अष्टमाङ्गा यमनियमासनादयः सर्वेऽपि क्रियायोगास्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्वं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टमन्यतः केवलैरेतैरपि तीव्रतरेण योगो भवतीति सूचयितुम् ।"

— योगदीपिका पृ० 35 ।

2 - " स क्रियायोगः योग हेतु समाधिं निर्विकल्पकमुत्पादयति अविद्यादीन् क्लेशा-न्योगप्रतिबन्धकप्रकर्षेण तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारेणेत्यर्थः ।"

— पात० योग सू० वृ० 35 ।

वृत्तियों को एकाग्र किया जाता है जिससे चित्त समाधि में स्थिर अथवा एकाग्र हो सके । समाधि लाभ होने के पश्चात् 'विवेकख्याति' के द्वारा क्लेशों को जलाकर उन्हें मूल से नष्ट कर दिया जाता है और तब चित्त निर्बीजसमाधि में लीन हो जाता है ।

'तनूकरण' का अर्थ है क्लेशों की सदैव विद्यमानता को समाप्त कर ऐसा कर देना कि वह कभी भी उदित न हो सके । 'समाधि' लाभ क्रियायोग का फल है । क्रियायोग से क्लेश जब प्रभाव हीन हो जाते हैं तब चित्त 'समाधि' में स्थित होने योग्य हो जाता है । अतः क्रियायोग को 'समाधि' स्वीकृत का कारण या उपाय कहा गया है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन दोनों व्याख्याओं में मणिप्रभा के ही सदृश 'क्रियायोग' का विवेचन किया गया है ।

भास्वती

अज्ञान ही दुःख का मूल कारण है । क्लेशों के परिणामस्वरूप ही जाति आदि वासनाओं का भोग प्राणी करता रहता है । 'व्युत्थानकाल' अर्थात् 'असमाधिकाल' में चित्त क्लेशादि वासनाओं तथा उनके विपाक, उनकी स्मृति और कर्माशयसंस्कारों से चित्त आक्रान्त रहता है । राजसी और तामसी वृत्तियाँ ही योग को अन्तराय अथवा विघ्न हैं । इन सभी विघ्नों से बाधित हुआ चित्त योग को प्राप्त करने में असफल होता है जब तक कि कोई ऐसा कर्माचरण न करें कि चित्त की सारी अशुद्धियाँ दूर हो सकें । व्युत्थित चित्त वाले क्रियायोग के द्वारा कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्धिकर अभ्यास और वैराग्य से

- -

1 - " क्रियायोगेन क्लेशविच्छेदेषु सत्स्वनन्तरः समाधिः विवेकख्यातिमुत्पाद्य समूलान् क्लेशान्दहतीतिभावः । "

— मणिप्रभा पृ० - 27 ।

समाधिनिष्ठ होने में समर्थ होते हैं[1]।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि क्रियायोग के अंग हैं । क्लेशों का सहन तथा सुख का त्याग 'तप' है । वाक्संयम ही 'स्वाध्याय' है । 'ईश्वरप्रणिधान' ही मानसिक संयम है । इन क्रियाओं के द्वारा साधक बाह्य आचरणों से निरत होकर शान्त होकर समाधि में लीन हो जाता है । इस प्रकार 'योग' के हेतु जो कार्य साधक करता है उसका आचरण ही 'क्रियायोग' है । 'क्रियायोग' योग के बाधक तत्त्वों का उन्मूलन करता है । क्रियायोग ही अविद्यादि क्लेशों को हल्का करने में समर्थ है । इन तनूकृत क्लेशों को विवेकख्याति रूपी अग्नि से जलाकर उन्हें पूर्ण रूप से निरस्त कर दिया जाता है । इस प्रकार क्लेशों की निवृत्ति के कार्य में क्रियायोग से महत्वपूर्ण सहायता मिलती है फिर भी 'क्रियायोग' योग के बहिरंग ही हैं[2]।

स्वामिनारायण-भाष्य

निष्काम भाव से आसेवित क्रियायोग से चित्त एकाग्र होता है । एकाग्र चित्त क्रमशः ध्येयविषयों में एकाग्र होता है और सम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त होता है । क्लेशों की बीजभावना को जलाकर नष्ट करने की क्षमता क्रियायोग में नहीं है अतः तत्त्वज्ञानरूपी अग्नि द्वारा क्लेशों के बीजों को दग्धबीजभावता प्राप्त कराते हैं । वृत्तियों की दग्धबीजभावता ही वृत्तियों का आत्यन्तिकनिरोध है । वृत्तियों के आत्यन्तिक निरोध के परिणामस्वरूप चित्त की क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है और चित्त असम्प्रज्ञातसमाधि में लीन हो जाता है । लीन हुआ चित्त ही अन्त में जीवन्मुक्त हो कैवल्य को प्राप्त करता है[3]।

- -

1 - " तैः साहाय्यकर्मभिरतः शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुर्भूत्वा समाध्यभ्यास समर्थो भवेत् । कर्मेरतये योगमुद्दिश्य कर्माचरणं क्रियायोगः स च कण्टकेन कण्टकोद्धारवद् योगानुकूलेन कर्मणा योगप्रतिपक्षकर्मक्लेशोन्मूलनम् । " — पातंजली पृ० 139 ।

2 - " एवं क्रियारूपाण्यपि तपआदीनि सर्ववृत्तिनिरोधस्य साक्षात्साधनत्वाभावाद् योगस्य बहिरंगतां लभन्ते । " — वही पृ० 142 ।

3 - " चित्तं च समाप्ताधिकारं निरुद्धावस्थं सत् -असम्प्रज्ञातयोगमनुभवति, जीवन्मुक्तिंगतः स योगी परमेश्वरस्वरूपे लग्न सन् यदैवेच्छति तदैव परमं कैवल्यं विन्दते । "

— स्वा०ना०भा०पृ० 164 ।

व्यासभाष्य

क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं । क्लेशों की उपस्थिति के बिना कर्माशय फलारम्भ नहीं करते ।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि कर्माशयों के विपाकारम्भ के समय क्लेशों की उपस्थिति अनिवार्य है । विपाक 3 प्रकार के हैं । (1) जन्म (2) आयु और (3) भोग । 'जन्म' के संबन्ध में कई विकल्प हैं । यथा (1) क्या एक कर्माशय एक जन्म का कारण है । (2) अथवा एक कर्म अनेक जन्म देता है (3) क्या अनेक कर्माशय अनेक जन्म देते हैं (4) अनेक कर्माशय एक जन्म देते हैं ।

उक्त विकल्पों में से कोई भी विकल्प मान्य नहीं है क्योंकि प्रथम विकल्प पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनादिकाल से बचे हुए कर्मों और इस जन्म में किए गए कर्मों के फल-क्रम का नियमन न हो सकने से लोगों में अनाश्वास फैल जायेगा । एक कर्म अनेक जन्मों का कारण नहीं हो सकता क्योंकि अनेक कर्मों में एक-एक कर्म भी जब अनेक जन्म प्रदान करने लग जायेंगे तब तो न जाने कितने कर्मों की बारी ही नहीं आ पायेगी । अतः यह मत भी अनवस्थादोष से ग्रस्त होने के कारण मान्य नहीं है । अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हों यह भी असम्भव तथा अनुचित सा है क्योंकि अनेक कर्मों से अनेकों जन्म एक साथ सम्भव नहीं होते । उक्त मतों के सदोष सिद्ध हो जाने पर अब 'जन्म' के संबन्ध में मान्य सिद्धान्त का विवेचन उचित है । जन्म से मृत्यु तक जितने भी कर्म-संस्कार एकत्र होते हैं वे सभी कर्माशय संस्कार व्यक्ति को मृत्यु के पश्चात् एकजन्मवर्ती फल देते हैं । अतः कर्माशय को एकभविक कहा गया है ।

- -

1- "सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः ।"

व्यासभाष्य पृ० 16 ।

कर्मसंस्कारों का ही नाम कर्माशय है । कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्ट जन्मवेदनीय होते हैं । दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय जन्म नहीं देते । ये कर्माशय आयु और भोग को बढ़ा सकते हैं । केवल 'भोग' नामक विपाक को देने के कारण इन्हें 'एकविपाकारम्भी' कहते हैं तथा आयु और भोग को प्रदान करने के कारण इन्हें द्विविपाकारम्भी भी कहा गया है ।

अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय तीन विपाकों वाला होता है । इसके भी दो भेद हैं (1) नियत-विपाक (2) अनियत-विपाक । नियत-विपाक कर्माशय एकभविक होता है अर्थात् एक जन्म में ही फल देने वाला होता है । अनियत-विपाक कर्माशय एकभविक नहीं होता इसकी तीन गतियाँ होती हैं । (1) बिनाफल दिए ही कर्म का विनाश (2) कर्मों का किसी प्रधान कर्म में अन्तर्भूत हो जाना । (3) नियत विपाक प्रधान कर्म के द्वारा दबे हुए कर्माशय का दीर्घ काल तक पड़ा रहना ।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अदृष्टजन्मवेदनीय-नियतविपाक कर्माशय ही एकभविक होता है[2] । और जन्म के संबन्ध में यही सिद्धान्त मान्य ठहराया गया है ।

कर्माशय और वासना में भेद है । कर्म करने से बुद्धि में बने संस्कारों को कर्माशय कहते हैं । कर्माशय के जन्म, आयु और भोग नामक तीन विपाकों के अनुभव द्वारा जो संस्कार बनते हैं उन्हें वासना संस्कार कहते हैं । वासनाओं और कर्माशयों में अन्य भेद यह भी है कि वासनाएँ विपाक नहीं उत्पन्न करती केवल उन विपाकों की स्मृति करा सकती हैं । जिस प्रकार के कर्मविपाक को प्राप्त होने को होते हैं तदनुकूल वासनाएँ कर्मफल भोग के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं । चित्त में असंख्य वासनाएँ पड़ी रहती हैं

- -

1 - " यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः कृतस्याविपक्वस्य नाशः प्रधान-कर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणा भिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति।

— व्यासभाष्य पृ0 162 ।

2 - तत्रादृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो ।"

— वही पृ0 162 ।

परन्तु अभिव्यक्त उनमें से वही होती हैं[1]। जो फलभोग के निकट हों अर्थात् जिनका फल भोग शीघ्र होने वाला हो। स्मृति और संस्कार में समानरूपता है। जैसा अनुभव होता है उसके अनुरूप ही संस्कार बनते हैं। संस्कार, कर्म और वासना के अनुरूप होते हैं[2]।

तत्ववैशारदी

तत्ववैशारदीकार ने प्रस्तुत विषय के विवेचन में भाष्यकार के साथ सहमति प्रकट की है। इन्होंने भी एकजन्म रूपी फल देने वाले एकभविक कर्माशय को स्वीकार किया है। 'एकभविक' तथा 'ऐकभविक' शब्दों की रचना को समझाने का सफल प्रयास किया है। एक भव + ठञ् से एकभविक कर्माशय बनता है जिसका अर्थ एक जन्मवर्ती फल देने वाला होता है। एकभव + ठञ् = ऐकभविक बनता है जिसका अर्थ है एकभव है जिसमें[3] अर्थात् ऐकभविक के अनुसार एक जन्म को कारण माना जाता है। वाचस्पति-मिश्र ने कर्मसिद्धान्त के संदर्भ में 'एकभविक' को ही माना है। 'ऐकभविक' पद के लिए स्पष्ट लिखा है कि यह प्रामाणिक पाठ है। इस प्रकार कर्मसिद्धान्त के संबन्ध में उनका भाष्यकार से कोई विरोध नहीं है प्रकट होता है

- -

1 - " यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः ।"

— व्यासभाष्य पृ0 406 ।

2 - " यथानुभवास्तथा संस्काराः । ते च कर्मवासनानुरूपाः, यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जाति देशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः स्मृतेश्च पुनः संस्काराः इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद्व्यज्यन्ते ।"

— वही पृ0 407 ।

3 - " एकभवोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयष्ठन् । क्वचित्पाठ ऐकभविक इति । तत्रैक भवश्च्या-नुभवार्थे ठञ्प्रत्ययः । एकजन्मावच्छिन्नमत्र भवनमित्यर्थः ।"

— त0वै0पृ0 164 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

क्लेशमूलक वासनायें ही दृष्ट और अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म रूप होती हैं । इसी जन्म में प्राप्त कर्मफल दृष्टजन्मवेदनीय होते हैं और जन्मान्तर में प्राप्त होने वाले फल अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं ।[1] कर्मफल प्राप्ति के समय क्लेशों का चित्त में वर्तमान रहना आवश्यक है क्योंकि क्लेशों के रहने पर पुण्य-पाप रूप कर्मों के जाति, आयु और भोग रूप कर्मफल प्राप्त होते हैं ।[2]

विवरण

अविद्यादि क्लेश ही जन्म के कारण हैं[3] अर्थात् इन क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय जन्म रूप फल को उत्पन्न करते हैं । यह कर्माशय दृष्ट-कर्मफल-अनुभवितव्य और अदृष्टकर्मफलअनुभवितव्य होता है ।[4] ये कर्माशय क्लेशों के होने पर ही अर्थात् क्लेश सहित कर्माशय ही विपाकारम्भी होते हैं । यह विपाक जन्मायुर्भोग के भेद से तीन प्रकार के होते हैं । दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय अनियतविपाक होते हैं । ये कभी-कभी केवल भोग रूप विपाक वाले होते हैं तो कभी-कभी भोग और आयुरूप द्विविधविपाक युक्त होते हैं । इनके विपाक के बारे में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जैसी तीव्रता कर्म में होती है वैसा ही फल उसी जन्म में प्राप्त हो जाता है ।

अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियत और अनियतविपाक वाले होते हैं । इसमें अनियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय ही त्रिविपाकों वाला होता है । अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय ही एकजन्म को करते हैं अतः अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाककर्माशय को 'एकभविक' कहा गया है ।[5]

---

1 - " यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम् । दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलभूमिः । अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः । जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः ।" — रा० मा० वृ० पृ० 159 ।

2 - " मूलभूतत्वात् क्लेशाः । तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति ।" — वही पृ० 160 ।

3 - " क्लेशा अविद्यादयो मूलं जन्मकारणं यस्य कर्माशयस्य स क्लेशमूलः कर्माशय इति ।" — विवरण पृ० 143 ।

4 - " यो दृष्टादृष्टकर्मानुभवितव्यफलः कर्माशयः स क्लेशमूल इति सूत्रार्थः ।" — वही पृ० 143 ।

5 - " ननु चादृष्टजन्मवेदनीयस्य प्रायेणैकभविकत्वम् एकमेव जन्म करोतीत्येकभविकत्वमुक्तम् । - - - - - - - तस्मान्नियतविपाक एकभविकः कर्माशयः सूत्रित एव ।" — वही पृ० 150 ।

इस प्रकार वह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है कि क्लेशों के मूल में रहने पर ही जन्मायुर्भोगरूप विपाक होते हैं । जन्म के संबन्ध में चार विकल्पों का वर्णन योगवार्तिक में भी किया गया है । पूर्व के तीन विकल्पों को निरस्त कर वार्तिककार ने चौथे विकल्प को ही सिद्धान्तित किया है । अतः जन्म के संबन्ध में इनका सिद्धान्त भी अवलोकनीय है । जन्म से मृत्युपर्यन्त निचित और निषिद्ध कर्म, संस्कार भी मिल कर एक जन्म को करते हैं । अनेक जन्म नहीं । इस प्रकार योगवार्तिककार ने भी जन्म के संबन्ध में भी एक भविकत्व के सिद्धान्त को मान्यता दी है । ऐकभविकत्व और नहीं ।

योगदीपिका

धर्म, अधर्म रूप क्लेशों के मूल में होने पर ही धर्म अधर्म रूप कर्माशयों का विपाक होता है । यह विपाक जाति, आयु और भोग रूप है । इस संबन्ध में इन्होंने वार्तिककार के साथ स्वारस्य प्रकट किया है।आर

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं । परन्तु विपाक-काल में यदि क्लेश उच्छिन्न हो जाते हैं तब भी विपाक को क्रिया होती रहती है । यही कारण है कि जीवन्मुक्त काल में भी प्रारब्ध-भोग होता रहता है ।[1]

कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्मवेदनीय होते हैं । इनमें से दृष्टजन्मवेदनीय, एकविपाकारम्भी होते हैं और द्विविपाकारम्भी भी होते हैं । अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्माशय जन्म, आयु और भोग रूप तीनों विपाकों का आरम्भ करने वाला होता है । जन्म संबन्धी अनेक सम्भावनाओं में से जन्म मरण के पश्चात पूर्वकृतकर्म समूहों एक साथ स्फुट होकर जन्म देते हैं । पूर्व कर्मों के द्वारा ही आयु और भोग रूप विपाक भी तैयार किए जाते हैं । कर्मफल के संबन्ध में यही सिद्धान्त इस व्याख्या में मान्य ठहराया गया है ।[2]

- -

1 - " अत्र विपाके विपाकारम्भः । अतो निःशेषाविद्याक्लेशेऽपि जीवन्मुक्तानां प्रारब्ध भोग उपपद्यते । " —— पात0 यो0सू0वृ0पृ0 41 ।

2 - जन्ममरणान्तरे कृतकर्मसमूहो विचित्र फलद् उद्भूतत्वाविभिः क्रमेण फलदो मरणेन कार्याभिमुख्यं नीतः युगपदेक लोलो भावापन्न एकं जन्म करोति, तेनैव कर्मणा तत्र लब्धायुष्कः भोगवांश्चेति त्रिविपाकः एकभवः अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः ।

—— वही पृ0 42 ।

मणिप्रभा

धर्म-अधर्म रूप कर्माशयों के मूल में काम क्रोधादि क्लेश रहते हैं । मूल में क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय विपाकरूप कर्मफल देते हैं ।[1] क्लेशमूलक कर्माशय दृष्ट-अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं । कृत कर्म का इसी जन्म में भोग दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय है और कृत कर्म का जन्मान्तर में भोग अदृष्टजन्मवेदनीय-कर्माशय है । कर्मफल जन्म जाति और आयु है, इन्हें विपाक भी कहते हैं । क्लेशों के मूल में होने पर ही चित्त में पड़े हुए कर्म संस्कार उक्त कर्मफल देते हैं । क्लेश जब विवेकख्यातिरूपी अग्नि द्वारा दग्धबीजभाव हो जाते हैं तब कर्माशय फलारम्भक नहीं होते अतः विपाक के लिए क्लेशों का मूल में रहना अनिवार्य है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन दोनों व्याख्याओं में क्लेश मूलक कर्माशयों को ही कर्मफल प्रदायक माना गया है । योगसिद्धान्त चन्द्रिका में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है । बिना क्लेशों के कर्माशय विपाकारम्भी नहीं होते । जिस प्रकार सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार बीजरूप कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है और बिना कारण के कार्य नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार कर्माशयों के मूल में जब क्लेश रहते हैं तभी कर्माशय कर्मफल प्रदान करते हैं ।[2] कर्मफलों का ही शास्त्रीय नाम विपाक है । ये विपाक जन्म, आयु और भोग के भेद से तीन प्रकार हैं ।

कर्माशय दृष्ट-जन्मवेदनीय और अदृष्ट जन्मवेदनीय के भेद से दो प्रकार के बताए गए हैं । अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्माशय नियत विपाक और अनियत विपाक वाले होते हैं । नियत अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्माशय ही 'एकभविक' अर्थात 'एक जन्म देने वाले' होते हैं ।[3] जन्म संबन्धी प्रचलित सभी शंकाओं का उल्लेख करते हुए 'एकभविकवाद'[4] की मान्यता इस व्याख्या में भी दी गई है ।

- -

1 - " क्लेशाख्ये 'मूले' 'सत्येव' कर्मणो 'विपाकं' फलं ददाति ।"
— मणिप्रभा पृ0 32 ।

2 - " इत्थं च सत्कार्यवादपक्षे स्वरूपतस्तेषां नाशाभावेनातोऽपि बीजाभावश्च ।"
— योगसिद्धान्तचन्द्रिका पृ0 60 ।

3 - " किञ्चैकविपाकेन शरीरे फलस्य भावः साक्षात्कारोऽयमेकभविकशब्दार्थः ।"
— वही पृ0 61 ।

4 - " इत्येकभविकपक्षे अनियतमपि नियतं दृष्टजन्मभोगफलकत्वादङ्गीकारात् ।"
— वही पृ0 59 ।

चित्तेन्द्रिय और प्राणों का व्यापार ही कर्म है।[1] कर्म द्वारा चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें 'कर्माशय' कहा जाता है। ये कर्माशय पुण्य अपुण्य रूपों वाले होते हैं। कुछ कर्म धार्मिक होते हैं और कुछ कर्म अधार्मिक होते हैं। अतः उनसे बने संस्कार धर्म, अधर्म रूप होते हैं। धर्म, अधर्म रूप कर्माशय ही पुण्य और पापरूप कर्माशय कहे जाते हैं। ये कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय प्रकार के होते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय केवल भोग रूप का होता है और अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय त्रिविपाकों वाला होता है। जन्म, आयु और भोग ये ही त्रिविपाक हैं।[2]

क्लेशों के मूल में रहने पर ही कर्माशय विपाकारम्भी होते हैं। विपाकों में प्रथम विपाक 'जन्म' है। जन्म के सम्बन्ध में भाष्य में वर्णित चारों विकल्पों में पूर्व के तीन विकल्पों को निरस्त कर चौथे विकल्प को ही न्याय संगत माना गया है। यथा बहुत से कर्म मिलकर स्थूल शरीर का मृत्युकराकर पुनः एक जन्म रूपी फल प्रदान करते हैं।[3] अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय ही एकभविक होते हैं। क्लेशों के मूल में रहने पर ही अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय फलोन्मुख होकर एकजन्मरूपी फल प्रदान करते हैं। कर्मसंस्कारों के अनुसार ही स्थूल शरीर आयु और भोग निर्धारित होते हैं। इस प्रकार अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक कर्माशय ही एकभविक सिद्ध हुए। वासनायें अनेक भवपूर्विका होती हैं अर्थात् वासनायें अनेक जन्मों से संचित होती चलती हैं जिसके कारण उन्हें अनेक भवपूर्विका कहा गया है।[4]

---

1 - " कर्म = चित्तेन्द्रियप्राणानां व्यापारः । " — भास्वती पृ0 161।

2 - " जातिरायुर्भोग इति त्रिविधो विपाकः = फलं कर्माशयस्य, जातिर्देहः आयुर्देहस्थितिकालः, भोगः सुखं दुःखं मोहश्च ।" — वही पृ0 163।

3 - " बहूनि कर्माणि मिलित्वैकमेव जन्म निर्वर्तयन्तीति सिद्धान्त एव न्यायः ।" — वही पृ0 167।

4 - " ये त्वदृष्टजन्मवेदनीया नियतविपाकाः कर्मसंस्कारास्तेभ्योऽन्याः वासनाः = स्मरणसंस्काराः सर्वथा अदृष्टसंस्कारराशयेऽ भवभेदेनार्थः अभिव्यक्तिकारणाम् ।" — वही पृ0 173।

अविद्यादिमूलक कर्माशय से ही जाति, आयु, भोग, रूप फल या विपाक उत्पन्न होते हैं।[1] यह कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय प्रकारक होते हैं। जो पुण्य और पाप से इसी जन्म में अनुभूत फल दृष्ट-जन्म वेदनीय होते हैं और सुख, दुःख आदि रूप फल जो दूसरे जन्म में प्राप्त होता है उसे अदृष्ट-जन्मवेदनीय कहा गया है।

चित्त में अनादिकाल से संचित धर्म-अधर्म रूप कर्मों के संस्कार अविद्यादि क्लेशों से युक्त होने पर जाति, आयु और भोग रूप कार्य आरम्भ करते हैं।

---

1. - भवति च - "अविद्यादिक्लेशमूलकः कर्माशयो जात्यायुर्भोगजनक इति।"
— स्वा०ना०भा० पृ० 198

गुणवृत्तिविरोध अथवा गुणानुवर्तिविरोध

व्यासभाष्य

भाष्यकार व्यास ने " गुणवृत्त्यविरोधात् " अर्थात् 'अविरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है । इस संबंध में उन्होंने अधोलिखित तर्क दिये हैं ---
सभी विषयसुख त्रिगुणात्मक हैं । सुखानुभवकाल में यद्यपि सत्त्वगुण का प्रभाव ही मुख्य होता है परन्तु उस समय ऐसा नहीं होता है कि अन्य दो गुण बिल्कुल ही नहीं रहें । ये दोनों गुण भी साथ-साथ रहते हैं अर्थात् तीनों गुण सर्वदा सभी स्थिति में साथ-साथ रहते हैं । जब सत्त्वगुण का प्राबल्य होता है तब अन्य दो गुण गौणभूत होकर रहते हैं । इसी तरह बारी बारी से जैसा विषय होता है तदनुकूल गुण प्रबल होते रहते हैं और शेष दो गुण गौणभूत रहते हैं । इस आधार पर यह सर्वथा मान्य सिद्धान्त है कि गुण परस्पर विरोधी-भाव होकर क्रियाशील नहीं होते प्रत्युत अविरोधीभाव होकर ही क्रियाशील होते हैं ।

अनुभव की स्थिति का भी यदि अवलोकन किया जाये तो भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गुणों में परस्पर अविरोधभाव होता है । जब हमें सुख का अनुभव होता है तब उसी समय मोहात्मक और दुःखात्मक वृत्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं । विवेकी पुरुष सुखात्मक विषयभोग के क्षण ही अपने विवेकज्ञान के कारण उन विषय सुखों में ही दुःख जनक तथा मोह जनक परिणाम दुःखता को देखकर ही विषय सुखों से विरक्त होना चाहता है । इस आधार पर भी गुणों का परस्पर 'अविरोध' ही परिलक्षित होता है ।

- -

1 - "एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित सुख दुःख मोह प्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुण प्रधान भावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।"

— व्यासभाष्य पृ० 174 ।

तत्त्ववैशारदी

तत्त्ववैशारदीकार ने भी विषयसुखों को त्रिगुणात्मक माना है । इनका कहना है कि सभी सुख भोगों का परिणाम अन्त में दुःख तथा मोहात्मक ही होता है । विषय सुखों की त्रिगुणात्मकता यह सिद्ध करती है कि तीनों गुण परस्पर अनुग्राहक होकर ही कार्य करते हैं । तीनों गुण सहकारी भाव से कार्य करते हैं । अतः गुणों में 'अविरोध' का सिद्धान्त ही स्वीकृत किया जाना चाहिए । तत्त्ववैशारदीकार ने गुणवृत्त्यविरोधात् पाठ को प्रामाणिक पाठ माना है ।[1]

राजमार्तण्डवृत्ति

इस व्याख्या में उक्त व्याख्याओं के विपरीत पाठ को स्वीकार किया गया है । भोजवृत्तिकार के अनुसार सत्त्वादि तीनों गुणों से उत्पन्न वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध होती हैं । सुखानुभवकाल में दुःख की अनुभूति विरोधी, अनुकूल नहीं है । क्योंकि दोनों प्रकार के अनुभवों का स्वरूप भिन्न भिन्न है । इन विरुद्ध अनुभवों का उदय भी गुणों के द्वारा ही होता है अतः गुणों में विरोध वृत्ति को स्वीकार किया जाना चाहिए । अपने इसी तर्क के आधार पर भोजवृत्तिकार ने 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है ।[2]

विवरणकार, योगवार्तिककार, योगदीपिकाकार, पातंजलयोगसूत्रवृत्तिकार और योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को ही मान्यता दी है । भाष्यकार की भाँति इन व्याख्याकारों ने भी गुणवृत्ति अविरोधात् पाठ को ही स्वीकार किया है । मणिप्रभाकार ने इन लोगों के विपरीत राजमार्तण्डवृत्तिकार के 'विरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है । भास्वतीकार ने भी गुणवृत्तियों में विरोध मानने पर ही सुख दुःखानुभव को स्वीकार किया है और इसी आधार पर इन्होंने 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है ।[3]

- -

1 - " सामान्यानि सत्त्वगुणात्मकरूपाण्यभिधायैः प्रमुदान्वृत्तिः तथाऽविरोधात्प्रवर्तन्ते इति ।" — त०वै० पृ० 176 ।

2 - " गुणवृत्तिविरोधाच्चेति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते ताभिः सर्वमेव दुःखानुविद्धमित्यर्थः ।" — रा०मा०वृ० पृ० 178 ।

3 - " गुणानां या वृत्तयः सुख दुःख मोहात्मिका विरोधादभिभाव्याभिभावकत्वात् स्वभावा-ऽव्यापि विवेकिनः सर्वमेव दुःखम् ।" — भास्वती पृ० 182 ।

स्वामिनारायणभाष्य

इस व्याख्या में 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ स्वीकृत किया गया है । परिणाम दुःख तापदुःख और संस्कार दुःख नामों से परस्पर भिन्न हैं अतः इन भिन्न नामों का अनुभव जिन कारणों से होता है वे भी एक दूसरे से भिन्न होने चाहिए । इस आधार पर गुणों में विरोध ही स्वीकार करना चाहिए[1] ।

दृश्य पदार्थों का स्वरूप

सूत्रकार ने द्रष्टा और दृश्य पदार्थों के संयोग को ही संसार का हेतु माना है । उन दो तत्त्वों में से 'द्रष्टा' पुरुष के संबंध में सभी व्याख्याकार एक मत हैं । पहले अध्याय में भी प्रसंगतः द्रष्टापुरुष के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है अतएव यहाँ 'दृश्य' के स्वरूप विवेचन के संदर्भ में विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का अनुशीलन प्रारम्भ किया जा रहा है ।

व्यासभाष्य

दृश्य अर्थात् बुद्धि त्रिगुणात्मक है[2] । सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण युक्त होने के कारण यह प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील है । त्रिगुणात्मक होने के कारण

- -

1. "परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तेषां दुःखानि, तत्सम्बन्धिदुःखानीत्यर्थः, तैः । अथ च गुणानां या वृत्तयस्तासां विरोधाच्च सर्वं दुःखमेव भवतीति ।"

— स्वा०ना०भा०पृ० 203 ।

2. " दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः । तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः ।"

— व्यासभाष्य पृ० 185 ।

ही बुद्धि को जड़ भी कहा गया है । परन्तु जब पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है तब वह चेतनवत् हो जाती है । वैसे उसका अपना स्वरूप अचेतन ही है । चेतनवत् तो वह प्रतिबिम्ब के द्वारा होती है ।

त्रिगुण ही प्रधान है । त्रिगुणों से अलग प्रधान की कोई सत्ता नहीं है । चूँकि त्रिगुण को दृश्य माना गया है अतः प्रधान भी दृश्य हुआ तथा इन्द्रिय तथा उनके विषय दृश्य ही हुए । बुद्धि परार्थ है। वह पुरुष के लिए भोग और मोक्ष का सम्पादन करती है । दृश्य का स्वरूप पुरुष के लिए ही होता है । दृश्य का स्वरूप कभी भी नष्ट नहीं होता क्योंकि यदि एक पुरुष योग द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर भी लेता है तो अन्य पुरुषों का संयोग बुद्धि से बना रहता है अतः भाष्यकार का यह कहना उचित ही है — " कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् ।[1] "

तत्त्ववैशारदी

बुद्धि जड़ है । यह चितिच्छायापत्ति पड़ने पर चेतनवत् होकर तद्-तद् विषयों का प्रतिबिम्बन करती है । शब्दादि विषय बुद्धि के धर्म हैं । बुद्धि इनके आकार से आकारित होने के उपरान्त ही चितिच्छायापत्ति पड़ने पर पुरुष के लिए भोग प्रस्तुत करती है । चितिच्छायापत्ति होने पर बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है और तभी पुरुष उस दृश्य के विषय का स्वामी बनकर भोक्ता बनता है ।[2]

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ० 250 ।

2 - " इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धेः शब्दाद्याकारेण परिणामात् दृश्यानां शब्दादयोऽपि धर्मा बुद्धेः इत्यर्थः । - - - - - - - किन्तु स्वं चैतन्याभ्यन्तरस्थं तेन प्रतिलब्धात्मकां तदाभासतदनुभव विषयः । ननु तस्य हि तत्र किञ्चिदायतते तत्तदधीनम् । तथा च न तस्य कर्तृत्वम् आह — स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्पुरुषार्थतन्त्रत्वात्परतन्त्रं पुरुषतन्त्रम् । "

— त०वै०पृ० 186 ।

तीनों गुण ही दृश्य हैं। ये तीनों गुण प्रधान में पाये जाते हैं। 'प्रधान' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की गई है — " प्रधीयते आधीयते विश्वं कार्यजातमिति व्युत्पत्तेरनद् दृश्य-मुच्यते।"[1] अर्थात् विश्व के समस्त कार्य इन्हीं गुणों द्वारा प्रधान में रखे जाते हैं अतः प्रधान भी दृश्य हुआ। गुण ही पुरुष के लिए भोग तथा अपवर्ग सम्पादित करते हैं।

राजमार्तण्डवृत्ति

'दृश्य' 'बुद्धितत्त्व' है[2]। बुद्धि के तीन गुण हैं। प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति। ये तीनों गुण बुद्धि में स्वाभाविक रूप से रहते हैं अतः[3] दृश्य का स्वरूप भी बुद्धि के स्वरूप के समान ही प्रकाशात्मक, प्रवृत्तिशील और स्थितिशील है क्योंकि बुद्धितत्त्व और दृश्य दोनों वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। 'दृश्य' पुरुष के लिए भोग सम्पादन करता है[4]। 'दृश्य' भोग्य है इसीलिए इसे 'स्वार्थिक' भी कहा गया है[5]।

विवरण

विवरणकार ने दृश्य अथवा बुद्धि को अन्तःकरण माना है[6]। बुद्धि के सभी धर्म दृश्य हैं[7]। दृश्य में अयस्कान्तमणि के सदृश आकर्षण शक्ति है। इसी शक्ति के कारण

- -

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 192, 193।

2 - " दृश्यं बुद्धितत्त्वम्।" रा०मा०वृ०पृ० 184।

3 - " तत्र प्रकाशक्रियास्थितिशीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथा स्वरूपमस्य निर्दिष्टम्।" — वही पृ० 188।

4 - " स न हि प्रधानं प्रवर्तमानमात्मनः किंचित्प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्तते किन्तु पुरुषस्य भोक्तृत्वं संपादयितुमिति।" — वही पृ० 199।

5 - " स्वार्थिकदृश्यस्य स्वभावः।" — वही पृ० 205।

6 - " दृश्या बुद्धिः अन्तःकरणं प्रत्ययरूपेण।" — विवरण पृ० 172।

7 - " बुद्ध्युपारूढाः सर्वेऽपि धर्मा दृश्याः।" — वही पृ० 172।

पुरुष इसका स्वामी बनता है और बुद्धि उसकी स्व बनती है[1]। बुद्धि जब शब्दादि आकार से आकारित होती है तब यह पुरुष के लिए भोग्य बनती है।

द्रव्य त्रिगुणात्मक होने के कारण प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वरूप है। विवरणकार ने प्रकाशादि के साथ 'शील' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इनका मत है कि 'शील' शब्द व्यापार युक्त के साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं किया जाता है[2]। अतः स्वरूप द्योतनार्थ शील का प्रयोग नहीं करना चाहिए और इसीलिए उन्होंने इनकी व्याख्या में 'शील' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है[3]।

योगवार्त्तिक

योगवार्त्तिक में भी गुणों को ही द्रव्य माना गया है। गुणों के विकार को लेकर शंका उठाई गई है कि क्या गुणों के विकार भी द्रव्य कहे जायेंगे? वार्त्तिककार ने इस शंका का समाधान बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। वे लिखते हैं — जिस प्रकार वृक्ष के 'पर्व' वाले भाग को भी वृक्ष ही कहा जाता है इसी प्रकार गुणों के विकार भी उनसे पृथक कुछ भी नहीं। प्रत्युत गुण के ही विकार हैं। अतः इन्हें भी द्रव्य कहा जाना चाहिए। गुण प्रकृति में रहते हैं अतः गुणों को प्रकृति शब्द से भी संबोधित किया जाता है[4]। प्रधान की व्युत्पत्ति को इन्होंने भी समझाया है — "प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजातमिति श्रुत्या प्रधानप्रकृत्या-विशब्देऽस्त्वन्न इत्यर्थः।"[5] अर्थात् प्रकृति में ही सभी कार्य रखे जाते हैं अतः इसे प्रधान कहा गया है। गुण पुरुष के द्रव्य हैं।

---

1 - "अयस्कान्तमणिरिव स्वं बुद्धिरस्य चितिरूपस्यागमस्य स्वामिनः।" — विवरण पृ० 173।

2 - "न हि व्यापारवन्तो व्यक्तिगीर शीलशब्दः प्रयुज्यते।" — वही पृ० 176।

3 - "तस्मान्न स्वरूपाभिप्रायेण शीलशब्दप्रयोगः।" — वही पृ० 176।

4 - "गुणा एव प्रकृतिशब्दवाच्याः न तु तदतिरिक्ता प्रकृतिरस्तीत्यवधारयति एते गुणा इति। तत्त्वार्थियो गुणा इति प्रकृति शब्द वाच्यानमिति।" — योगवार्त्तिक पृ० 194।

5 - "द्रष्टव्य - योगवार्त्तिक पृ० 194।

योगदीपिका

बुद्धि अथवा दृश्य सुख, दुःख और मोहात्मक रूप वाली है । अतः जितने भी पदार्थ सुख, दुःख और मोहरूप हैं वे सभी दृश्य हैं[1] । बुद्धितत्त्व त्रिगुण रूप से युक्त है इसीलिए उसे "दृश्य" भी कहा गया है[2] । इस संसार में स्थूल, सूक्ष्म सभी पदार्थ दृश्य रूप ही हैं । स्थूल पदार्थों से बुद्धि की स्थितिशीलता, कर्मेन्द्रियां उसकी क्रियाशीलता के और सूक्ष्मतत्त्व जैसे अन्तःकरण आदि उसकी प्रकाशशीलता के द्योतक हैं[3] । यह पुरुष के लिए भोग और मोक्ष प्रदान करता है ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

दृश्य का स्वभाव प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील है । इसके इस स्वरूप की प्रामाणिकता इन तत्त्वों के द्वारा सिद्ध होती है । स्थूलसूक्ष्म पदार्थों के द्वारा उसकी स्थितिशीलता निर्धारित होती है । स्थूल कर्मेन्द्रियों द्वारा इसकी क्रियाशीलता निर्धारित होती है और अन्तःकरणरूप सूक्ष्मेन्द्रिय से इसकी प्रकाशशीलता निरूपित होती है[4] । दृश्य पुरुष के लिए भोग मोक्ष सम्पादित करता है ।

मणिप्रभा

'दृश्य' ही बुद्धितत्त्व है । अर्थात् बुद्धितत्त्व और दृश्य दोनों एक ही तत्त्व हैं । बुद्धितत्त्व में विविध शब्दादि के आकार से आकारित होने की योग्यता है[6] । दृश्य अथवा बुद्धि ही पुरुष के लिए भोग और मोक्षसम्पादित करती है । बुद्धि जड़ है अतः उसमें दृश्यत्व की योग्यता है तभी तो वह पुरुष का 'स्व' बनती है और पुरुष उसका स्वामी बनता है ।

- -

1 - "सुखदुःखमोहात्मकाखिलदृश्याकारत्वेनाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या ।" —योगदीपिका पृ0 44

2 - "सत्त्वादि गुणत्रयं तद्रूपं पुरुष भोग्यत्वेन दृश्यशब्दवाच्यम् ।" — वही पृ0 45

3 - "दृश्यम् - योगदीपिका पृ0 45

4 - "तत्र स्थूलसूक्ष्मभूतकारणत्वेन स्थितिशीलत्वं, स्थूलकर्मेन्द्रियहेतुत्वात्क्रियाशीलत्वं, अन्तः-करण रूपसूक्ष्मेन्द्रिय हेतुत्वात्प्रकाशशीलत्वम् ।" — पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 43

5 - "बुद्धितत्त्वं हि विविधशब्दाद्याकारेणेन्द्रियादिद्वारा परिणतम् ।" — मणिप्रभा पृ0 34

6 - "भोगमोक्षप्रयोजकं 'दृश्य' मित्यर्थः ।" — वही पृ0 35

योगसूत्रार्थबोधिनी

दृश्य ही बुद्धिसत्त्व है।[1] दृश्य का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। अतः यह प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील है। 'स्थिति' की व्याख्या इस व्याख्या में इस प्रकार की गई है — 'प्रकाश' और 'क्रिया' को रोकने वाला स्वभाव ही 'स्थिति' है।[2] 'दृश्य' को 'प्रधान' शब्द से भी संकेतित किया जाता है। पुरुष के लिए 'भोग' और 'अपवर्ग' दृश्य ही प्रस्तुत करता है।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इस व्याख्या में 'दृश्य' को 'प्रधान' माना गया है।[3] प्रकाश प्रवृत्ति और स्थिति इसका आत्मा रूप है। दृश्य 'स्व' है तथा 'अहं' दृश्य है। इसीलिए इसमें 'भोग्यता' योग्यता है।

भास्वती

'दृश्य' त्रिगुणों से युक्त होने के कारण प्रधान शब्द से भी अभिहित की जाती है। दृश्य में अनुवर्तनशीलता का गुण विद्यमान है। अपने निकटस्थ पदार्थों के आकार से आकारित हो जाना दृश्य की स्वाभाविक विशेषता है।[4] यह पुरुष के लिए 'भोग' और 'मोक्ष' सम्पादित करती है।

- -

1 - "दृश्यं बुद्धिसत्त्वम् ।" — यो०सू०बो० पृ० 23।

2 - "स्थितिः प्रकाश क्रिययोः प्रतिबन्धकयोर्ज तमः ।" — वही पृ० 23।

3 - "दृश्यं प्रधानम् ।" — यो०सि०च०पृ० 63।

4 - "अनुवर्तनशीलानि एकैकाकृतयः गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति ।" — भास्वती पृ० 199

[illegible]

दृश्य ही बुद्धितत्व है । त्रिगुणात्मक होने के कारण यह द्रष्टा के लिए उपभोग का साधन है । प्रकृति के सभी कार्य यथा महत्, अहंकार इन्द्रिय, तन्मात्राएँ सभी कुछ 'दृश्य' हैं । परन्तु साक्षात् उपभोग का साधन जो बनती है वह 'दृश्य' बुद्धितत्व नाम से जानी जाती है ।[1] बुद्धितत्व प्रधान का कार्य है । पुरुषार्थसमाप्ति के पश्चात् प्रकृति में विलीन हो जाना बुद्धि का स्वभाव है अतः बुद्धि अनित्य है । बुद्धि अनेकाश्रित है, जितने भी पुरुष हैं सभी का विषय बुद्धियाँ हैं । अतः यह अनेकाश्रित है तथा अनेक भी है ।[2] यह त्रिगुणात्मक है अतः यह सावयव भी हुई और पुरुष के लिए भोग मोक्ष प्रस्तुत करती है अतः परतन्त्र हुई । पुरुष स्वेच्छा से ही अविद्यावशात् दृश्य का भोग करता है और स्वेच्छा से ही अपवर्ग प्राप्त कर दृश्य से अलग हो जाता है परन्तु दृश्य अपने आप पुरुष से संयुक्त या वियुक्त नहीं होती इसीलिए इसे "परतन्त्र" कहा गया है क्योंकि अपने कार्य के लिए यह प्रकृति की सहायता की अपेक्षा करती है । दृश्य को अविवेकी अचेतन और प्रसवधर्मी कहा गया है । इस प्रकार त्रिगुणात्मक बुद्धि ही दृश्य है और उक्त विशेषताओं से युक्त है ।

- -

1 - "सर्वेषां प्रकृतिकार्याणां मध्ये साक्षादुपभोगसाधनत्वेनाऽऽत्मना सह संयुक्तं बुद्धितत्वमत्र मुख्यं दृश्यं ग्राह्यम् ।"

— या०वा०भा०पृ० 207 ।

2 - "भवति च दृश्यं -- 'हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगं सावयवं परतन्त्रमि'ति, तत्र मूलप्रकृतेः कार्यं बुद्ध्यादेरतः प्रकृतिकारणकत्वं - हेतुमत्त्वम्, प्रतिसर्गावस्थायां बुद्धिपर्यन्तानां यावतां विकाराणां प्रकृतौ लयो भवति, अतस्तिरोभावस्वभावत्वम् - अनित्यत्वमिति, - - - - - अनेकम् - बुद्ध्यादयो हि प्रतिव्यक्तिभिन्नाः सन्ति ।"

— वही पृ० 211 ।

संयोग का स्वरूप तथा हेतु

व्यासभाष्य

पुरुष को दृश्य का ज्ञान प्राप्त होना भोग है तथा अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाना मोक्ष है । यह दोनों कार्य पुरुष का बुद्धि के साथ संयोग होने से होता है[1] । 'संयोग' क्या है ? यह यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न है । भाष्यकार ने इसका समाधान इस प्रकार से किया है । द्रष्टा का भोग प्राप्त करना अर्थात् दृश्य के उपस्थित होने पर द्रष्टा का भोक्तृत्व सम्बन्ध होना तथा अन्त में अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना ही संयोग का प्रयोजन है । अविद्या या अज्ञान से संयोग होता है अर्थात् भोग काल में पुरुष का दृश्य के साथ जो संयोग होता है वह सब अविद्या के कारण है । जब यह अविद्या रूपी अज्ञान दूर हो जाता है तब द्रष्टा को दृश्य तथा अपने स्वरूप का भेद ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसे विवेकख्याति कहते हैं ।

इस संयोग का कारण अविद्या है । विपर्यय - ज्ञान - वासना ही अविद्या है । विपर्यय ज्ञान से युक्त बुद्धि विवेकख्याति रूप अपने कार्य को नहीं प्राप्त करती । अतः बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष दृश्य[2] द्वारा प्रदत्त भोग को भोगता रहता है और अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त करता । परन्तु जब अविद्या दूर हो जाती है तब उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और अविद्याजन्य विकार से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार संयोग का कारण अविद्या है । अविद्या के नष्ट हो जाने पर संयोग का अभाव हो जाता है तथा दृश्य से अर्थात् पुरुष को कैवल्य प्राप्त हो जाता है ।

- -

1 - "पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः । दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् ।" -- व्यासभाष्य पृ० 221 ।

2 - विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना कार्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते ।" -- वही पृ० 228 ।

इस हेयहेतुभूत संयोग की कारणस्वरूपा अविद्या का स्वरूप निश्चित करने के पूर्व अविद्या के बारे में दिए गए मत विचारणीय हैं । यथा —

(1) क्या गुणों का अधिकार अर्थात् कार्यारंभ अविद्या है ?

(2) अथवा द्रष्टा को पुरुष के स्वरूप का दर्शन न कराने वाले दृश्य के विकारों की उपस्थिति ही अविद्या है ?

(3) क्या गुणों की प्रयोजनवत्ता अदर्शन है ?

(4) क्या चित्त विकार की पुनः अभिव्यक्ति का बीज अविद्या है ?

(5) क्या प्रकृति के स्थिति संस्कार का क्षय होने पर गति संस्कार की अभिव्यक्ति अविद्या है ?

(6) क्या ज्ञान शक्ति अर्थात् बुद्धि ही अदर्शन है ?

(7) अन्य सम्प्रदाय यह मानता है कि अदर्शन द्रष्टा और दृश्य दोनों का धर्म है । दृश्य का अपने में स्थित होना तथा पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्बित होना ही अदर्शन है ।

(8) क्या विषयों का ज्ञान ही अदर्शन है ? ऐसा भी कुछ लोगों का कहना है ।

इन सभी शास्त्रीय विकल्पों में से चतुर्थ विकल्प ही अविद्या का स्वरूप निर्धारित करता है । चतुर्थ-विकल्प में चित्त की पुनः अभिव्यक्ति का बीज रूप अविद्या संस्कार को ही अदर्शन कहा गया है । विपर्यय ज्ञान की वासना से वासित बुद्धि कार्य करने के सामर्थ्य से युक्त होकर पुनः पुनः अभिव्यक्त होती है । यह अविद्या ही संयोग का कारण है ।

---

1 - "अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ।"

— व्यासभाष्य पृ० 222 ।

तत्त्ववैशारदी

दृश्य पुरुष के लिए भोग प्रस्तुत करता है । पुरुष उन भोगों को भोगता हुआ स्वामी कहलाता है और दृश्य पुरुष रूप स्वामी का 'स्व' होता है । पुरुष और बुद्धि के संयोग को तत्त्ववैशारदीकार ने नित्य माना है । प्रधान नित्य है । दृश्य को प्रधान भी कहते हैं । कारण दोनों का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । गुणों से भिन्न इनका अपना अलग से कोई रूप नहीं है अतः प्रधान ही दृश्य है और दृश्य ही प्रधान है । चूँकि सांख्ययोग के अनुसार प्रधान नित्य है अतः दृश्य भी नित्य है और दृश्य का पुरुष के साथ संयोग भी नित्य हुआ ।

संयोग की स्थिति में पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप को भूला रहता है अतः यह कहा गया है कि जब पुरुष और बुद्धि का संयोग होता है तब दर्शन कार्य का अवसान होता है और जब पुरुष का बुद्धि से वियोग होता है तब पुरुष को दर्शन होता है अर्थात् पुरुष को ख्याति प्राप्त हो जाती है जिससे वह मुक्त हो जाता है ।

संयोग का कारण अदर्शन है । विपर्यय ज्ञान युक्त वासना ही अदर्शन है । अविद्या संबन्धी आठों विकल्पों की व्याख्या इन्होंने भी की है । यह व्याख्या भाष्य के ही समान है, कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है अतः अलग से इन व्याख्याओं को उद्धृत नहीं किया जा रहा है । अविद्या संबन्धी चतुर्थ विकल्प को इन्होंने भी अविद्या के स्वरूप का निर्धारक माना है ।

- -

1 - " यतो दृश्यं सर्वार्थमात्मकत्वान्नित्यमुपकार्यं भगवानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति । भवति च तद् दृश्यमस्य स्वम् । स चानयोः संयोगः शक्तिमात्रेण व्यवस्थितस्वस्वरूपोपलब्धि हेतुः । "

— त०वै०पृ० २२१

अन्त में अविद्या के विषय में लिखते हैं कि, (अविद्या) ऐसी वासना प्रकृति में हमेशा विद्यमान रहती है। अतः प्रत्येक सृष्टि में यह पुरुष के साथ संयुक्त होकर रहती है। प्रकृति या दृश्य का यह संयोग नित्य है कारण जब कोई एक पुरुष मुक्त हो भी जाता है तब उस पुरुष का बुद्धि के साथ संबन्ध विच्छेद हो जाता है परन्तु अन्य और पुरुष बंधे रहते हैं जिनके साथ बुद्धि का संयोग बना रहता है।

राजमार्तण्डवृत्ति

स्वशक्ति दृश्य है और स्वामी द्रष्टा अथवा पुरुष है। इन दोनों तत्वों में संवेद्य-संवेदक भाव का होना ही संयोग है।[1] संयोग को 'अविवेकख्याति' की संज्ञा भी दी गई है। अविवेकख्यातिरूप संयोग का कारण अविद्या है।[2] अविद्या विषयक विकल्पों का निर्देश इन्होंने नहीं किया है।

विवरण

बुद्धि और पुरुष का 'स्वस्वामिभाव' रूप की उपलब्धि ही संयोग है।[3] द्रष्टा और दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है।[4] द्रष्टा और दृश्य के बीच संयोग का कारण मिथ्या-ज्ञान या विपर्यय-ज्ञान है। क्योंकि इस संयोग का फल दुःख है।[5] जब विवेक ख्याति रूप दर्शन का आविर्भाव होता है तब अविद्या का नाश हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अविद्या संबन्धी शास्त्रीय विकल्पों का निरूपण इन्होंने भी किया है।

- -

1 - "स्वशक्तिर्दृश्यस्य स्वभावः, स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं, तयोर्द्वयोरपि संवेद्य-संवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः।"
— रा०मा०वृ० 205।

2 - "या पूर्वं विपर्ययात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता सा अस्याविवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणम्।" — वही पृ० 208।

3 - "यस्मिन् सति तयोः स्वरूपमुपलभ्यते वदन-दर्पणयोरिव, स तयोः स्वस्वामि-भावोपलब्धि हेतुः। संयोगः दृष्ट दृश्ययोः स्वरूपोपलब्ध्यर्थः इत्यर्थः।" — विवरण पृ० 1?

4 - "अविद्या द्रष्टृदृश्ययोः संयोगकारणम्।" वही पृ० 196।

5 - "दुःखनिमित्तस्त्वस्य संयोगस्य।" — वही पृ० 196।

योगवार्त्तिक

योगवार्त्तिककार ने अन्वयव्यतिरेक द्वारा अविद्या को संयोग का कारण सिद्ध किया है[1] । विपर्ययज्ञान रूपी वासना के बल से पुरुष विवेकख्याति रूप अपने चरम लक्ष्य को न प्राप्त कर बुद्धि से संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा प्रदत्त भोग में रत रहता है । 'परवैराग्य' के उदित होने पर बुद्धि का कार्य समाप्त हो जाता है और पुरुष 'ख्याति' अर्थात् विवेकख्याति को प्राप्त करता है । इस अवस्था में पुरुष अविद्या के बन्धन से मुक्त हो जाता है[2] । इस प्रकार दृश्य के संयोग से पुरुष भोक्ता बनता है और दृश्य से वियोग होने पर मुक्त हो जाता है ।

द्रष्टा और दृश्य का स्वस्वामिभाव का संयोग अनादि है । बुद्धि ही वह द्वार है जिसके द्वारा सभी भोग्यरूप दृश्य का पुरुष से संयोग होता है । दृश्य के साथ पुरुष के संयोग का कारण विपर्ययज्ञान वासना अर्थात् अविद्यारूपी वासना है 'अविद्या' विषयक आठ शास्त्रीय विकल्पों की विस्तृत व्याख्या इन्होंने भी की है । व्याख्या भाष्य के ही सदृश है अतः उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है ।

योगदीपिका

त्रिगुण पुरुष के लिए भोग सम्पादित करते हैं । इसीलिए इनको 'दृश्य' शब्द से अभिहित किया गया है[3] । दृश्य त्रिगुणात्मक है इसीलिए इसका स्वरूप सुख-दुःख और मोहात्मक है । द्रष्टा का जब दृश्य से संयोग होता है तब वह जन्मादि के बन्धन में बंध जाता है । जन्मादि का बन्धन ही दुःख का कारण है अतः द्रष्टा और दृश्य के संयोग को दुःख का कारण कहा गया है[4] ।

- -

1 - "तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां विपर्ययवासनाबुद्धिः पुरुष संयोगहेतुरिति भावः ।"
— यो०वा०पृ० 230 ।

2 - "विपर्ययज्ञानवासनाबलात् पुरुष ख्यातिरूपां कार्यनिष्ठां स्वकर्तव्यपरमावधिं न प्राप्नोति बुद्धिरतः साधिकारतया पुनरावर्तते पुरुषेण संयुज्यते, सा तु बुद्धिः पुरुषान्यताख्यातिपर्यन्तासती कार्यसमाप्तिं प्राप्नोति परवैराग्योत्पादात्, ततश्च चरिताधिकारा निष्पादितकार्या विशुद्धाविद्या सती संयोगकारणस्य कारणाभावात् न पुनः पुरुषेण संयुज्यत इत्यर्थः ।" — वही पृ० 230 ।

3 - "सत्वादिगुणत्रयं तत्कार्यं पुरुषभोग्यत्वेन दृश्यशब्दवाच्यम् ।" — यो०दी०पृ०4

4 - "सुखदुःखमोहात्मकत्रिगुणदृश्याकारतेनाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या द्रष्टुः पुरुषस्य जन्माद्यः संयोगविशेषो दुःखहेतुरित्यर्थः ।" — वही पृ० 44 ।

संयोग का प्रयोजन पुरुष के लिए 'भोग' और 'अपवर्ग' की प्राप्ति करना है[1]। संयोग का मूल कारण अविद्या है[2]। अविद्या के आठों विकल्पों का विवेचन इस व्याख्या में नहीं किया गया है।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

अखिल विषयों के आकार से आकारित दृश्य रूप बुद्धि के प्रतिबिम्ब से पुरुष का 'भोक्ता' रूप का हो जाना ही 'संयोग' है। यह संयोग जन्मादि दुःखनिमित्तक कारणों को देने वाला है। दृश्य अयस्कान्तमणि के सदृश आकर्षणशील है अतः पुरुष का उससे सान्निध्य होते ही दोनों संयुक्त हो जाते हैं। इस अवस्था में पुरुष का बुद्धि से जो अभेद सा ज्ञान होता है वह संयोग का ही परिणाम होता है[4]। जिसके फलस्वरूप पुरुष अपने को अविद्याजन्य भोक्तृत्व, द्रष्टृत्व और स्वामित्व रूप उपाधियों से युक्त समझ लेता है। संयोग का प्रभाव सर्वांश दुःखपूर्ण ही होता है क्योंकि अविद्यावशात् अपने स्वरूप को भूला हुआ पुरुष दृश्य रूप भोगों में सुख का अनुभव करता है। यह सुखादिविषयक अनुभव क्लेशकर्मादियों से युक्त होने के कारण यथार्थतः सुखदायी नहीं होते प्रत्युत उनका परिणाम दुःख ही होता है इसी लिए संयोग को दुःख रूप कहा गया है[5]।

- -

1 - "(तत्प्रवृत्तेः) प्रयोजनमाह भोगापवर्गार्थमिति।" - योगदीपिका पृ0 43

2 - "तस्य जन्माद्यस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्याविद्या मूलकारणमित्यर्थः।"
— वही पृ0 48।

3 - "सुखमोहदुःखात्मकाखिलदृश्याकारेणाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या तादृशबुद्धिप्रतिबिम्बत्वेन द्रष्टुः पुरुषस्य यः संयोगो भोक्तृभोग्यत्वनियामको जन्माद्यः स दुःखहेतुरित्यर्थः।" — पा0यो0सू0वृ0 पृ0 44।

4 - अतोऽहमित्यादि बुद्धिप्रतिपत्त्यवस्था संयोग इत्यर्थः।" — वही पृ0 48

5 - अयं हि संयोगविशेषत्वेन दुःखहेतुः सात्त्विकस्तु दुःखिते तदाकारानुरोधी दुःखित इवेति दिक्।" — वही पृ0 45।

जब पुरुष को बुद्धि और अपने स्वरूप का विविक्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब संयोग का नाश हो जाता है और पुरुष मोक्ष को प्राप्त करता है । संयोग का मूल कारण अविद्या है । अतः अविद्या का नाश होने पर ही संयोगाभाव होता है और पुरुष दृश्य के आरोपित बन्धनों से मुक्त हो जाता है । संयोग से वियोग होने पर ही मोक्ष होता है इसी लिए यह कहा भी गया है कि संयोग जहाँ एक तरफ पुरुष के लिए बन्धनकारी है दूसरी तरफ मोक्षदायक भी है ।[1]

मणिप्रभा

बुद्धि और पुरुष का परस्पर संबन्ध स्वामित्व और स्वामिशक्ति के रूप में होता है । बुद्धि जड़ है और पुरुष चेतन है । चेतन होने के कारण पुरुष में द्रष्टृत्व या भोक्तृत्व शक्ति का आरोप होता है और बुद्धि जड़ है अतः अचेतन होने के कारण यह दृश्य शक्ति है अर्थात् 'भोग्य' है । जब अविद्यावशात् दोनों का संयोग होता है तभी बुद्धि और पुरुष का दृश्य और द्रष्टा का 'स्व' और 'स्वामिभाव' का संबन्ध होता है । अविद्या के कारण दोनों का संयोग ही पुरुष का 'भोग' है ।[2] अर्थात् भोक्तृत्व सम्पन्न होना है और जब विवेकख्याति होने पर पुरुष का अपनी पृथक् सत्ता का बोध हो जाना अपवर्ग है । इस प्रकार भोग और अपवर्ग के मूल में संयोग ही है ।

अब प्रश्न उठता है कि संयोग का क्या कारण है ? उत्तर है 'अविद्या' ही संयोग का कारण है । अनादिकाल की वासना ही अविद्या है । इसके द्वारा ही द्रष्टा और दृश्य का संयोग होता है । अविद्या से संबन्धित विकल्पों का विवेचन इनकी वृत्ति में भी अनुपलब्ध है ।

- -

1 - " सम्यग्दर्शनाद्भोगकारणाविद्यानाशे भोगाभाव स्तो बन्धाभाव एव मोक्षः । अत आत्मदर्शनमपि - संयोगहेतुकमेवेति सिद्ध् । " — पा0यो0सू0वृ0पृ0 48 ।

2 - " यस्याभावे दृग्दृश्ययोः स्वरूपोपलब्धिर्न भवति यद्भावेन सम्पति स संयोगः कार्येणैवेय इत्युपदिष्ट भवति ।" — मणिप्रभा पृ0 37 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

दृक् शक्ति पुरुष है और दृश्य बुद्धितत्व है । दोनों में भ्रान्तिवश अभेद की कल्पना ही अविद्या है ।[1] दृक् शक्ति अर्थात् पुरुष में चेतनता है अतः उसमें द्रष्टृत्व की योग्यता है और दृश्य जो कि जड़ है अचेतन है उसमें दृश्य तथा भोग्य बनने की योग्यता है । जब अविद्यावशात् दोनों में अभेद की भ्रान्ति होती है तभी दोनों में संयोग होता है ।[2] संयोगकाल में पुरुष बुद्धि के साथ इतना अधिक संयुक्त हो जाता है कि वह अहमिति भोक्ता, अहमिति द्रष्टा का अनुभव करने लगता है ।[3] पुरुष और बुद्धि का यह संयोग अविवेकख्यातिपर्यन्त बना रहता है । जब विवेकख्याति उदित होती है तब पुरुष को अपने स्वरूप और बुद्धि के स्वरूप में भेद का ज्ञान होता है । यह भेद ज्ञान ही संयोग का विनाशक है तथा मोक्ष अथवा कैवल्य का जनक है ।[4]

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इस व्याख्या में 'दृश्य' को 'प्रधान' माना गया है ।[5] द्रष्टा पुरुष के लिए प्रकृति या प्रधान ही समस्त भोग अर्पित करती है । प्रकृति प्रदत्त भोगों का भोक्ता बनना ही पुरुष और प्रधान का संयोग है । इन दोनों तत्त्वों का संयोग अविवेकख्याति के कारण होता है ।[6] बुद्धिगत सुख, दुःखादि अनुभवों के आकार को अपने आप में आरोपित करना ही पुरुष का भोग है । इस भोगकाल में पुरुष को अपने चिन्मात्रस्वरूप का ज्ञान नहीं होता । वह तो अविद्या के प्रभाव कारण प्रधान

- -

1 - "दृक्-पुरुषः, दृश्यं बुद्धितत्त्वम् । तयोः संयोगोऽभेदभ्रान्तिवशोऽविद्या-कल्पितो हेयस्य दुःखस्य हेतुरित्यर्थः ।" — यो0सू0बो0पृ0 25 ।

2 - "भ्रान्तिवशात्संयोगस्य कारणमित्यर्थः ।" — वही पृ0 25 ।

3 - "अहमिति दृग्बुद्ध्योरभेदभ्रान्तिः ।" — वही पृ0 25 ।

4 - "तस्याः अविद्याया अभावात् विद्यया नाशात्तत्कार्यस्य संयोगस्य दुःखस्य हेयस्य हेतोरभावो विनाशो हानं यत्तदेव दृशेर्नित्यमुक्तस्य कैवल्यमित्यर्थः ।"
— वही पृ0 25 ।

5 - "द्रष्टा पुरुषः दृश्यं प्रधानम् ।" — यो0सि0च0 पृ0 63 ।

6 - "तयोः संयोगोऽविवेकख्यातिहेतुकः ।" — वही पृ0 63 ।

प्रधान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में निमग्न रहता है । जब पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसे अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।[1] संयोगाभाव होने पर पुरुष को सभी दुःखों और सुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । अविद्या संबन्धी विकल्पों का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं में नहीं किया गया है ।

भास्वती

'ज्ञाता; और ज्ञेय का परस्पर संकीर्ण संबन्ध ही संयोग है ।[2] संयोगावस्था में द्रष्टा और दृश्य में प्रकाश्य और प्रकाशक की भाँति स्वस्वामि-भाव का संबन्ध होता है । भोग काल में द्रष्टा अविवेकवशात् ही सुखी अहम्, दुःखी अहम् इत्यादि अनुभव करता है ।[4] जब गुणों से पृथक् हो जाता है अर्थात् विवेकख्याति हो जाती है तब द्रष्टा को अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।[5] इस प्रकार 'विवेकख्याति' अथवा 'दर्शन' द्वारा संयोग का अवसान हो जाता है । विवेकख्याति वियोग का कारण है ।[6] अदर्शन संयोग का कारण है । अदर्शन के संबन्ध में कुछ विकल्पों का निरूपण इस व्याख्या में भी किया गया है ।

- -

1 - " स्वामिस्वशक्त्योः सन्निधानमात्रस्योपलब्धिहेतुरपवर्गहेतुर्दर्शनम् । तद्धेतुः संयोग इत्यर्थः ।" — यो०सि०च०पृ० 65 ।

2 - ज्ञातुर्ज्ञेयस्य च या संकीर्णोपलब्धिस्तस्यैव साम्निध्यं स एव संयोगः ।" — भास्वती पृ० 189 ।

3 - प्रकाश्यप्रकाशकत्वाद् दृश्यद्रष्ट्रोः स्वस्वामिभावः संबन्धः, दृश्यं स्वं स्वकीयं द्रष्टा च स्वामीति ।" — वही पृ० 190 ।

4 - " संकीर्णान्तर विवेको भोग, अहं सुखी अहं दुःखीत्यात्मबुद्धेरपि यो द्रष्टा स भोक्ता ।" — वही पृ० 190 ।

5 - " गुणेभ्यः पृथक्त्वावधारणं विवेकख्यातिरित्यर्थः अपवर्गः ।" — वही पृ० 200 ।

6 - " विवेकेन दर्शनस्य परिणामप्रवाहे संयोगस्यात्यन्तावसानं स्यात् तस्माद् विवेकदर्शनं वियोगस्य कारणम् ।" — वही पृ० 225 ।

प्रधान द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में निमग्न रहता है । जब पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसे अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।[1] संयोगाभाव होने पर पुरुष को सभी दुःखों और सुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है । अविद्या संबन्धी विकल्पों का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं में नहीं किया गया है ।

भास्वती

'ज्ञाता' और ज्ञेय का परस्पर संकीर्ण संबन्ध ही संयोग है[2] । संयोगावस्था में द्रष्टा और दृश्य में प्रकाश्य और प्रकाशक की भाँति स्वस्वामि-भाव का संबन्ध होता है[3] । भोग काल में द्रष्टा अविवेकवशात् ही सुखी अहम्, दुःखी अहम् इत्यादि अनुभव करता है[4] । जब गुणों से पृथक् हो जाता है अर्थात् विवेकख्याति हो जाती है तब द्रष्टा को अपवर्ग की प्राप्ति होती है[5] । इस प्रकार 'विवेकख्याति' अथवा 'दर्शन' द्वारा संयोग का अवसान हो जाता है । विवेकख्याति वियोग का कारण है[6] । अदर्शन संयोग का कारण है । अदर्शन के संबन्ध में कुछ विकल्पों का निरूपण इस व्याख्या में भी किया गया है ।

- -

1 - " स्वामिस्वस्वरूपयोः सन्निधानात्मकस्योपलब्धिहेतुरपवर्गहेतुर्ज्ञानम् । तद्धेतुः संयोग इत्यर्थः ।" — यो०सि०च०पृ० 65 ।

2 - ज्ञातृज्ञेयस्य च या संकीर्णोपलब्धिस्तदेव सान्निध्यं स एव संयोगः ।"
— भास्वती पृ० 189 ।

3 - प्रकाश्यप्रकाशकत्वाद् दृश्यद्रष्ट्रोः स्वस्वामित्वः संबन्धः, दृश्यं स्वं स्वकीयं द्रष्टा च स्वामीति ।" — वही पृ० 190 ।

4 - " असङ्कीर्णतः विवेको नेति, अहं सुखी अहंदुःखीत्यात्मबुद्धेरपि यो द्रष्टा स भोक्ता ।" — वही पृ० 190 ।

5 - " गुणेभ्यः पृथक्त्वावधारणं विवेकख्यातिरित्यर्थः अपवर्गः ।" — वही पृ० 200 ।

6 - " विवेकेन दर्शनस्य परिसमाप्त्या संयोगस्याप्यवसानं स्यात् तस्मात् विवेकदर्शनं वियोगस्य कारणम् ।" — वही पृ० 225 ।

क्या गुणों का कार्यारम्भणसामर्थ्य ही अदर्शन है ? इस संबन्ध में शास्त्रदीपिकाकार का कहना है कि जिस प्रकार केवल ताप-मात्र ही ज्वर का पूरा लक्षण नहीं है उसी प्रकार केवल गुणों में कार्यारम्भण सामर्थ्य विद्यमान है मात्र इसके द्वारा अदर्शन का लक्षण नहीं निरूपित होता है । इसीतरह विवेक का उत्पन्न न होना ही अदर्शन है । यह लक्षण भी अदर्शन के लिए उपयुक्त नहीं है ठीक वैसे ही जैसे स्वास्थ्य का अभाव ज्वर है कह देने मात्र से ज्वर का लक्षण नहीं प्रतिपादित होता है । इस संबन्ध में तृतीय विकल्प है— क्या गुणों की अर्थवत्ता ही अदर्शन है ? इस संबन्ध में भी शास्त्रदीपिकाकार ने अपना मत दिया है कि यह लक्षण भी अदर्शन का उचित उल्लेख नहीं करता है । अदर्शन संबन्धी चतुर्थ विकल्प से सहमत होते हुए शास्त्रदीपिकाकार ने लिखा है कि 'अविद्या' संस्कार रूप में चित्त में अवस्थित और अविद्याजन्य ज्ञान को उत्पन्न करने में बीज के समान है । चतुर्थ ही विकल्प का समर्थन करते हुए अन्य और बाद के विकल्पों का निरूपण भाष्य के ही समान शास्त्रदीपिकाकार ने किया है ।

स्वामिनारायणभाष्य

बुद्धि प्रकृतिस्वरूपात्मक है । बुद्धि ही जिसे 'गुण' नाम से भी अभिहित किया गया है पुरुष के लिए साक्षात् भोग का साधन प्रस्तुत करती है । बुद्धि और पुरुष के संयोग से संसार की सृष्टि हुई है इसी लिए बुद्धि और पुरुष के संयोग को 'संसार जनक' कहा गया है[1] । इस संयोग का कारण अविद्या है । इन दोनों का संयोग परस्पर सापेक्ष तथा परस्पर उपकार्योपकारकभावयुक्त है क्योंकि पुरुष कैवल्य के लिए प्रकृति की अपेक्षा करता है और प्रकृति अपने भोग एवं गुण के दर्शनार्थ पुरुष की अपेक्षा करती है । इस तरह प्रकृति पुरुष की भोग्य हुई और पुरुष प्रकृति का भोक्ता हुआ ।[2] प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्व अनादि हैं अतः दोनों के बीच संयोग का प्रवाह भी अनादि है ।[3]

- -

1 - "तादृशयोर्बुद्धिपुरुषयोर्यः संसारजनकः संयोगः ।" —स्वा०ना०भा०पृ०207

2 - "स च परस्परसापेक्ष एवेति भवति, निरपेक्षयोर्भिन्नपदार्थयोः संयोगाऽनवकाशात्, अपेक्षा च भवति परस्परमुपकार्योपकारकभावेन, तत्र च पुरुषः कैवल्यार्थं प्रकृतिमपेक्षते प्रकृतिश्च स्वस्या - उपभोगार्थं - दर्शनार्थं पुरुषमपेक्षते, अतएव प्रकृतेर्भोक्ता पुरुषस्य च भोग्यतेति ।" — वही पृ० 208 ।

3 - "तदेवं द्वयोः संयोगस्य प्रवाहोऽनादिरेव ।" — वही पृ० 208 ।

बुद्धि और पुरुष का सान्निध्य ही संयोग है[1]। संयोग के संबन्ध में कई शंकाएँ उठती हैं यथा — क्या यह संयोग नित्य है ? क्या यह संयोग संयोगजन्य है ? क्या यह संयोग कर्मजन्य है ? इन तीनों शंकाओं का समाधान इस प्रकार से किया गया है। संयोग को नित्य नहीं माना जा सकता क्योंकि विवेकख्याति के द्वारा इसका नाश हो जाने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है[2]।

संयोग को संयोगजन्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि त्रिगुण द्रव्य के अवयव हैं जिनका द्रव्य रूप अवयवी से घनिष्ठ संबन्ध है। इन अवयवों का पृथक्-पृथक् संबन्ध पुरुष से नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा माना जायेगा तो पुरुष में भी त्रिगुणों की कल्पना करनी पड़ेगी जो कि नितान्त असंगत सम्भावना है। तीसरी शंका यह है " क्या संयोग कर्मजन्य है ? का समाधान करते हुए कहा गया है कि "संयोग कर्मजन्य भी नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष निष्क्रिय है/और बुद्धि भी जड़ है। बुद्धि पर जब पुरुष प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी वह चेतनवत् होती है। अतः यह संयोग कर्मजन्य भी नहीं हो सकता[3]।

अतः अब यह विचारणीय है कि वस्तुतः संयोग क्या है ? बुद्धि और पुरुष का संयोग दोनों में अभेद का भ्रम हो जाता है। यथार्थतः पुरुष का बुद्धि से संयोग नहीं होता प्रत्युत पुरुष के प्रतिबिम्ब का ही बुद्धि से संयोग होता है। बिना पुरुष प्रतिबिम्ब के न संयोग होता है और न ही दोनों में अभेदमूलक भ्रान्ति होती है यथा - दर्पण गत प्रतिबिम्ब का ही दर्पण से संबन्ध होता है। उस व्यक्ति विशेष का नहीं। इसी प्रकार पुरुष प्रतिबिम्ब का ही बुद्धि से संयोग होता है और भ्रान्ति तथा अविद्या वशात् इस संयोग को पुरुष और बुद्धि का संयोग कहा जाता है[4]।

- -

1 - ''संयोगो नाम - सान्निध्यम् ।'' — स्वा०मा०भा० पृ० 208 ।

2 - " न हि तस्य विवेकख्यात्या मुक्तावस्थायां बुद्धि वियोगे सति नाशात् नित्यत्वं संभवति ।" — वही पृ० 208 ।

3 - " द्रष्टव्य - स्वा०मा०भा० पृ० 208 ।

4 - " किन्तु सान्निध्यमात्रात् तत्प्रतिबिम्बं बुद्धावुपगतं तदेव संयुक्तमिति, प्रतिबिम्ब-द्वारेण संयोगेन योऽविवेकस्तद्वशाच्च भोगाः बिना प्रतिबिम्बं न संयोगो न चाऽविवेको न च संसार इति व्यतिरेकस्य मुक्तेषु दर्शनात्, अतएव दर्पण प्रतिबिम्बस्य दृष्टान्तं युक्तं भवति। तत्र दर्पण सान्निध्यावस्थितोऽपि पुरुषो न संयुक्तो भवति दर्पणेन सह, किन्तु तदन्तर्गतं तत्प्रतिबिम्बमेव संयुक्तं भवति ।"

बुद्धितत्त्व और पुरुष का संयोग सप्रयोजन है । प्रथम प्रयोजन इन दोनों तत्त्वों के संयोग का यह है कि संयोग होने पर ही पुरुष बुद्धि द्वारा प्रदत्त भोग का 'स्वामी' बनता है और बुद्धि उसका 'स्व' बनती है । दोनों के मध्य 'स्व' 'स्वामी' भाव की उपलब्धि संयोग से ही होती है । संयोग का दूसरा प्रयोजन है पुरुष को अपने स्वरूप की उपलब्धि । बुद्धि से वियुक्त होने पर ही पुरुषस्वरूपा-वस्थित होता है । इस स्वरूपावस्थिति का मूल कारण विवेकख्याति है ।[1]

बुद्धि और पुरुष के संयोग का मूल कारण क्या है ? इस संबन्ध में कुछ विकल्पों का वर्णन किया गया है । कुछ लोगों ने गुणों के अन्दर निहित कार्यारम्भ की शक्ति को ही संयोग का कारण कहा है । कुछ लोगों ने संयोग में 'भोग' और 'अपवर्ग' को ही संयोग का प्रयोजन माना है । कुछ दूसरे लोगों ने चित्त में स्थित सृष्ट्यारम्भक संस्कारों को ही संयोग का कारण माना है । कुछ और लोगों ने बुद्धि तत्त्व को ही संयोग का कारण माना है । कुछ लोगों ने विवेकख्याति को न उत्पन्न होने देने वाली बुद्धि की शक्ति को ही संयोग का कारण माना है । कुछ ने प्रकृति को संयोग का कारण माना परन्तु आचार्यों ने संयोग का हेतु अविद्या को माना है । इस संबन्ध में इन आचार्यों का यह मत है कि सृष्टि के आरम्भकाल में बुद्धि तत्त्व अविद्यायुक्त होकर अविद्यामय वासना से प्रेरित होने पर पुरुष का सान्निध्य प्राप्त करती है । बुद्धितत्त्व में पुरुष प्रतिबिम्ब पड़ने पर बुद्धितत्त्व भोगादि का आरम्भ करती है इस प्रकार अविद्या द्वारा ही बुद्धि और पुरुष का संयोग होता है ।[2]

- -

1 - "स्वशक्तिः - दृश्यं बुद्धितत्त्वम्, स्वामिशक्तिः - भोक्ता पुरुषः, ययो दृश्यं पुरुषस्यैव - असकृज्जनितमुपकारं भजमानः पुरुषस्तस्य स्वामी भवति, भवति च दृश्यमस्य पुरुषस्य स्वम्, स चाऽनयोः संयोगो द्वयोः स्वरूपोपलब्धि-हेतुरिति ।"
— सा०ना०भा० पृ० 219 ।

2 - "पुनः सृष्ट्यारम्भकाले - बुद्धितत्त्वं साऽविद्यकं आविर्भवति, अनाद्यविद्या-ऽविद्यावासना प्रेरितं रजसा प्रवृत्तं च बुद्धितत्त्वं पुरुषसन्निधिमुपगतं भवति, तेन प्रागेव बुद्धितत्त्वे पुरुषप्रतिबिम्ब समपतति, प्रतिबिम्बेन संयुक्तं बुद्धितत्त्वं भोगादि-कमारभते, अतः पुरुषप्रतिबिम्बस्य बुद्धितत्त्वस्य च यः संयोगस्तस्य पारम्पर्येण कारणं तत् - अविद्येवेति ।"
— वही पृ० 219 ।

अविप्लवा विवेकख्याति

व्यासभाष्य

अविप्लवा-विवेकख्याति ही कैवल्य का उपाय है। अविप्लवा का अर्थ है जिसमें विप्लव न हो अर्थात् मिथ्या ज्ञान रहित विवेकख्याति। निरन्तर विवेकख्याति ही अविप्लवाविवेकख्याति है। यह विवेकख्याति किसी भी परिस्थिति में खण्डित नहीं होती है अतः उसे अविप्लवा कहा गया है।[1] कैवल्य जैसे अमोघ स्थिति की प्राप्ति के लिए उक्त विशेषण सम्पन्न विवेकख्याति ही अभीष्ट है।

तत्ववैशारदी

विप्लव का अर्थ मिथ्याज्ञान है। श्रुत-ज्ञान से विवेक ग्रहण कर उचित रूप से उस विवेक ज्ञान का दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर अभ्यास ही निर्विप्लवा-विवेकख्याति है।[2] यह निर्विप्लवा-विवेकख्याति मिथ्याज्ञान की वासना से सर्वथा रहित होती है।

विशेष उल्लेख इस संबन्ध में तत्ववैशारदी का यह है — इस सन्दर्भ में श्रुति और आगम ज्ञान का उल्लेख किया है। इनका कहना है कि श्रुतज्ञान द्वारा विवेक ग्रहण कर युक्तिपूर्वक विचार कर उस ज्ञान का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करने पर प्रकृष्ट साक्षात्कारवती प्रज्ञा प्राप्त होती है, जो मिथ्याज्ञान रहित होती है। यह प्रज्ञा ही निर्विप्लवा विवेकख्याति है।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविप्लव का अर्थ है "न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः सा विप्लवा।"[3] अर्थात् विवेकख्याति के मार्ग में व्युत्थान रूप विघ्न के न आने

- -

1. "विप्लुत क्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति। स विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः।"
— व्यासभाष्य पृ० 232।

2. "विप्लवो मिथ्याज्ञानं तद्रहिता। ---- दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवित- या भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्याति निर्वर्तितमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति।" — त०वै० पृ० 232।

3. द्रष्टव्य - राजमार्तण्डवृत्ति पृ० 211।

अविप्लवा विवेकख्याति
[illegible]

व्यासभाष्य

अविप्लवा-विवेकख्याति ही कैवल्य का उपाय है । अविप्लवा का अर्थ है जिसमें विप्लव न हो अर्थात् मिथ्या ज्ञान रहित विवेकख्याति । निरन्तर विवेकख्याति ही अविप्लवाविवेकख्याति है । यह विवेकख्याति किसी भी परिस्थिति में खण्डित नहीं होती है अतः उसे अविप्लवा कहा गया है ।[1] कैवल्य जैसे अमोघ स्थिति की प्राप्ति के लिए उक्त विशेषण सम्पन्न विवेकख्याति ही अभीष्ट है ।

तत्त्ववैशारदी

विप्लव का अर्थ मिथ्याज्ञान है । श्रुत-ज्ञान से विवेक ग्रहण कर उचित रूप से उस विवेक ज्ञान का दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर अभ्यास ही निर्विप्लवा-विवेकख्याति है ।[2] यह निर्विप्लवा-विवेकख्याति मिथ्याज्ञान की वासना से सर्वथा रहित होती है ।

विशेष उल्लेख इस संबन्ध में तत्त्ववैशारदी का यह है — इस सन्दर्भ में इन्होंने श्रुति और आगम ज्ञान का उल्लेख किया है । इनका कहना है कि श्रुतज्ञान द्वारा विवेक ग्रहण कर युक्तिपूर्वक विचार कर उस ज्ञान का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करने पर प्रकृष्ट साक्षात्कारवती प्रज्ञा प्राप्त होती है, जो मिथ्याज्ञान रहित होती है । यह प्रज्ञा ही निर्विप्लवा विवेकख्याति है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

अविप्लव का अर्थ है 'न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः सा विप्लवा ।'[3] अर्थात् विवेकख्याति के मार्ग में व्युत्थान रूप विघ्न के न आने

- -

1. " विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः ।" — व्यासभाष्य पृ० 232 ।
2. " विप्लवो मिथ्याज्ञानं तद्रहिता । .... दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितभावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समाधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्यातिर्निवर्तितमिथ्याज्ञाना निर्विप्लवा हानोपाय इति ।" — त०वै० पृ० 232 ।
3. द्रष्टव्य - राजमार्तण्डवृत्ति पृ० 211 ।

से निरन्तरविवेकख्याति होती रहने वाली विवेकख्याति को ही अविप्लवा-विवेकख्याति कहा गया है । यह विवेकख्याति ही कैवल्य के लिए उपयोगी है ।

विवरण

विवेकख्याति को 'विवरण' में 'सम्यक्ख्याति,' कहा गया है । विवेकख्याति में 'सत्त्व' और पुरुष के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है अतः "सम्यक्ख्याति" यह नाम भी सर्वथा उचित है[1] । इसमें दोनो तत्त्वों के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है जिसके द्वारा रागादिमल दग्धबीज भावना को प्राप्त कर वन्ध्यप्रसव हो जाते हैं । अर्थात् उनकी कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है । इस प्रकार की विवेकख्याति अविप्लवा-विवेकख्याति होतीहै और मिथ्याज्ञान को दग्ध-बीज भावता प्राप्त कराने वाली यह अविप्लवाविवेकख्याति ही मोक्ष को प्राप्त कराती है[2] ।

योगवार्त्तिक

अविप्लवाविवेकख्याति निर्मल तथा मिथ्याज्ञान रूपी कलुषता से रहित होती है[3] । यह परमसाक्षात्काररूपिणी मोक्ष का उपाय है । विवेकख्याति से सभी मिथ्या ज्ञान दग्धबीज-भावना को प्राप्त हो जाते हैं और चित्त पर वैशारद्य को प्राप्त करता है । विवेकख्याति का यह प्रवाह जब निरन्तर होता रहता है तब अविप्लवाविवेकख्याति होती है ।

- -

1 - "सम्यक्ख्यातौ सत्यामविद्या निवृत्तिरिति ज्ञानमवस्थापि प्राप्यमित्युपचर्यते ।"
— विवरण पृ० 204 ।

2 - " मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमादेव । सा च तादृशी विवेकख्याति — मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इत्यर्थः ।"

— वही पृ० 205 ।

3 - " विवेकख्यातिप्रवाहो निर्मलो मिथ्याज्ञानाकलुषितो भवति । अतः सा विवेकख्यातिरविप्लवोच्यते, सा परमसाक्षात्काररूपिणी हानोपाय इत्यर्थः ।"
— योगवार्त्तिक पृ० 232, 233 ।

मणिप्रभा

द्रष्टा और दृश्य का विविक्त ज्ञान होना ही विवेकख्याति है । "विप्लव" मिथ्या ज्ञान को कहते हैं । अतः उस मिथ्या ज्ञान रूपी विप्लव का हनन कर परवैराग्य द्वारा प्रारब्ध कर्माशयों का आत्यन्तिक निवृत्ति कर देने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । संक्षेप में यही 'अविप्लवा विवेकख्याति' का स्वरूप है ।[1]

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

दृग्दृश्य में भेद का ज्ञान प्राप्त हो जाना विवेकख्याति है । विवेकख्याति में गुणों और पुरुष के स्वरूप का पार्थक्य ज्ञान होने से दोनो तत्वों की भिन्नता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है ।[2] मिथ्याज्ञान से रहित यह विवेकख्याति साक्षात् रूप से कैवल्य प्रदान करने वाली होती है । इस विवेकख्याति द्वारा ही दुःखों से आत्यन्तिक छुटकारा मिल जाता है ।[3] विवेकख्याति द्वारा प्रथमतः अज्ञान का नाश होता है । अज्ञान का नाश होने के बाद गुणों की कार्यारम्भण शक्ति की निवृत्ति हो जाती है तत्पश्चात् त्रिगुणात्मक चित्त प्रधान में विलीन हो जाता है । चित्त का लय हो जाने से चित्त और चितिशक्ति के संयोग का नाश हो जाता है । संयोग का नाश हो जाने पर पुरुष स्वरूपावस्थिति को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है ।[4]

- -

1 - " मिथ्याज्ञानं निरस्य " विप्लवा " सती परवैराग्यपूर्वकनिरोधेन संस्कारशेषस्य कृतकृत्यस्य प्रारब्धविपाके आत्यन्तिकनिवृत्तिद्वारा भाविदुःखहानस्य मोक्षस्योपाय इत्यर्थः ।

— मणिप्रभा पृ0 38 ।

2 - दृग्दृश्ययोर्भेदोविवेकस्तस्य ख्यातिः - अन्ये गुणाः, अन्यः पुरुष इत्याकारकं ज्ञानम् । "

— यो0सि0चं0 पृ0 66 ।

3 - " न विद्यते विप्लवो मिथ्याज्ञानजन्यवासनाभिरन्तराविप्लवो यस्याः सा साक्षात्कारस्था हानोपायः । आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूपमोक्षस्य उपाय इत्यर्थः । "

— वही पृ0 66 ।

4 - " प्रथमं तो ज्ञानाद्ज्ञाननाशः । पश्चात् प्रधानस्याधिकारनिवृत्तिः । ततश्चित्तस्य लयः । ततः संयोगनाशः । ततो पुरुषानुस्वरूप इति । क्रमश्चायमभिन संक्षिप्तः । "

— वही पृ0 66 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

मिथ्याज्ञान-रहित बुद्धि में केवल होना ही अविप्लवा-विवेकख्याति है । विवेकख्याति जो आगमप्रमाण द्वारा होती है वह परोक्ष विवेकख्याति होती है । अतः वह अविद्या को नष्ट नहीं करती ।[1] परन्तु जो विवेकख्याति उत्कृष्ट ध्यान के बाद अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधि की पराकाष्ठा होने पर उत्पन्न होती है । वह विवेकख्याति साक्षात् विवेकख्याति होती है और अपने ज्ञानाग्नि से यह ख्याति मिथ्या ज्ञान का नाश करती है इसलिए इस साक्षात्कार रूपा विवेकख्याति को अविप्लवा कहा गया है । इसके द्वारा ही दुःख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है और साधक को कैवल्य की प्राप्ति होती है ।[2]

भास्वती

अविप्लवा-विवेकख्याति ही 'हान; अर्थात् 'कैवल्य' की प्राप्ति का उपाय है । बुद्धितत्त्व और साक्षी पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं इस प्रकार की अनुभूति ही विवेकख्याति है ।[3] विवेकख्याति प्राप्त पुरुष में बुद्धि के प्रति कोई अहंत्वमय भावना नहीं रह जाती है। वह निरन्तर विवेकख्याति में तन्मय रहता है विपर्ययज्ञान से रहित विवेकख्याति को ही 'अविप्लवा-विवेकख्याति' कहा गया है । 'अविप्लवा-विवेकख्याति' की व्याख्या इस प्रकार की गई है 'प्लवते; यदा विपर्यासि-संस्कारजाज्मिथ्याज्ञानं न स्थानवसरं भवति - विपर्ययप्रत्ययान् न प्रसूत इत्यर्थः ।'[4] अर्थात् अविप्लवा-विवेकख्याति में विपर्यय ज्ञान उदित नहीं होते, उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है,।[5] यह ख्याति परवैराग्य तथा जन्य परावस्था में होती है ।

- -

1 - " प्रथमतो ह्यागमात् सामान्यतो विवेकख्यातिरस्त्येति सा नाविद्यां नाशयति परोक्षत्वात् ।" — सूत्रार्थबोधिनी पृ0 25 ।

2 - " यदा तु ध्यानप्रकर्षजा विवेकख्यातिरप्लवती साक्षात्काररूपा सवासनमिथ्याज्ञानं नाशयतीत्यविप्लवा सती हानस्य दुःखस्य आत्यन्तिकस्योपायभूतेत्यर्थः ।" — वही पृ0 25

3 - " बुद्धितत्त्वमधिगम्य ततो न्यस्तथापि साक्षी पुरुष इत्येतन्मात्रानुभूतिर्विवेकख्यातिः ।" — भास्वती पृ0 236 ।

4 - " द्रष्टव्य —— भास्वती पृ0 236, 237 ।

5 - " तथा च परवशीकारसंज्ञायां वशीकार वैराग्यस्य परावस्थायामित्यर्थः ।" — वही पृ0 237 ।

स्वामिनारायणभाष्य

अविद्यादि के लेश मात्र से भी रहित विवेकख्याति ही अविप्लवा विवेकख्याति होती है । यह विवेकख्याति ही दुःखत्रय के आत्यन्तिक विनाश का परम् साक्षात्कारण है । केवल विवेकख्याति को हान का साक्षात्कारण कहा गया है और अविप्लवा-विवेकख्याति को हान का परमसाक्षात्कारण कहा गया है । विवेकख्याति जो शास्त्रीय श्रवण-जन्य होती है उसमें साक्षात्कारवती प्रज्ञा होतीहै अर्थात् उसमें प्रकृति पुरुष का भेदज्ञान होता है । जब यही विवेकख्याति दीर्घकाल तक निरन्तर होती रहती है तब यह विवेकख्याति की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है । जिसमें सभी मिथ्या ज्ञान नष्ट हो चुके होते हैं ऐसी विवेकख्याति ही 'अविप्लवाविवेकख्याति' होती है जो कैवल्य रूप हान का उपाय है ।

- -

1- " विवेकख्यातिरियं यथा साक्षात्कारवती, तथाऽऽगमाऽनुमानाभ्यामपि सुसाध्या भवति, यथा शास्त्र श्रवण जन्येन अनेन प्रकृतिपुरुषादिविवेकं गृहीत्वाऽनुमानादि- युक्ति निर्धार्य स्थाप्य दीर्घकालाऽऽदरनैरन्तर्यसत्कारसेवितया भावनया परमकाष्ठावधिं प्राप्ता साक्षात्कारवती प्रत्यस्तमितसवासनमिथ्याज्ञानाविद् विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय इति तात्पर्यम् ।"

— स्वा०ना०भा० 224 ।

व्यासभाष्य

अविप्लवा विवेकख्याति से युक्त योगी की प्रज्ञा प्रत्ययान्तरों को उत्पन्न न करने वाली होने के कारण प्रकृष्ट कही गई है । उसकी उत्कृष्ट-प्रज्ञा सात-प्रकार की होती है । जिसका उल्लेख भाष्यकार ने इस प्रकार से किया है । (1) हेय का ज्ञान हो गया अब कुछ भी हेय नहीं बचा । (2) हेय के हेतु क्षीण हो गए अब कुछ क्षीण करने योग्य नहीं बचा । (3) निरोध-समाधि द्वारा मोक्ष का साक्षात्कार हो गया । (4) विवेकख्याति रूप ज्ञान का उपाय सिद्ध हो गया । ये चार बुद्धि की विमुक्ति है । चित्तविमुक्ति के तीन भेद किए गए हैं यथा — (5) बुद्धि पुरुषार्थ प्राप्त कर चुकी है । (6) गुण अपने कारण प्रकृति में लीन हो गए । (7) गुणों के संबन्धों से रहित होकर अपने स्वरूप के प्रकाश से केवली पुरुष प्रकाशित होता रहता है । इस प्रकार उक्त सात-प्रकार की उत्कृष्ट प्रज्ञा विवेकख्याति प्राप्त पुरुष का प्राप्त होतीहै ।

तत्ववैशारदी

चित्त के मलों का आत्यन्तिक नाश हो जाने के उपरान्त ही चित्त को मिथ्या-ज्ञान रहित अविप्लवा-विवेकख्याति होती है । अविप्लवा विवेकख्याति प्राप्त योगी की प्रज्ञा प्रकृष्ट अंतों वाली होती है । यह प्रज्ञा सात प्रकार की होती है ।

- -

1 - "सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनोभवति ।" — व्यासभाष्य पृ० 233 ।

इन सातों प्रज्ञाओं के विषय पृथक्-पृथक् होते हैं । अतः इनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार का होता है ।

सात प्रकार की प्रज्ञाभूमियों में से प्रथम चार भूमियों को 'कार्य-विमुक्ति' की संज्ञा दी गई है । बाद की तीन भूमियों को 'चित्त विमुक्ति' कहा गया है । 'कार्यविमुक्ति' के अन्तर्गत प्रज्ञाओं में से प्रथम प्रज्ञाभूमि का वर्णन इस प्रकार है । जितने भी विषय हैं सब प्रधान-मय हैं । अर्थात् सभी की उत्पत्ति प्रधान से ही है । अतः सभी विषय त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणात्मक होने के कारण ये विषय परिणाम, ताप और दुःख देने वाले हैं । अतः इनका परित्याग कर दिया गया है । इस भूमि की प्रान्तता को दिखाते हुए लिखते हैं — इस भूमि में सभी तत्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो चुकता है अतः अब और कुछ परिज्ञेय नहीं बचता । दूसरी प्रज्ञाभूमि वह है जिसमें हेय के कारणों का क्षय हो चुका है । इस भूमि की प्रज्ञा का प्रकृष्ट अन्त यह है — अब पुनः कुछ क्षेतव्य नहीं रहा । तृतीय प्रज्ञाभूमि में सम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा अभिमुख किया गया निरोध-समाधि का साक्षात्कार हो जाता है । चतुर्थ भूमिका में विवेकख्यातिरूप हान का उपाय प्राप्त हो जाता है । इन चारों प्रकार की प्रज्ञाओं को 'कार्य विमुक्ति' कहा गया है क्योंकि इन चारों भूमिकाओं में गुणों से तथा गुणों के कार्य विषयों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है ।

बाद की तीन प्रान्त-भूमियों का उल्लेख इस प्रकार से किया जा रहा है । इसमें प्रथम विमुक्ति है चित्त का भोग और अपवर्ग रूप कार्य को प्राप्त कर लेना दूसरी विमुक्ति है — गुणों का अपने कारण प्रधान में लीन हो जाना । तीसरी विमुक्ति है गुणों और चित्त से विमुक्त पुरुष का जीवन्मुक्त हो जाना और स्वस्थावस्थिति को प्राप्त हो जाना । इस प्रकार ये उक्त सात-प्रकार की प्रज्ञायें अविप्लवविवेकख्यातिनिष्ठ योगी की है जिनकी प्रज्ञा की भूमियाँ प्रकृष्ट अन्त वाली होती हैं ।

- -

१ - "निर्विप्लवविवेकख्यातिनिष्ठामापन्नस्य सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति । शिष्यप्रबोधनार्थमेव । प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्तथोक्ताः । यतः पर-मस्ति न प्रकर्षः । प्रान्तभूमयः प्रज्ञाः प्रज्ञाया विवेकख्यातेः सा तथोक्ता ।"

— तत्त्ववै0पृ0 233 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

विवेकख्यातिप्राप्त योगी की प्रज्ञा ज्ञातव्य तथा प्रकृष्ट भूमियों वाली होती है।[1] यह प्रज्ञा सभी सालम्बन-समाधिपर्यन्त सात-प्रकार की होती है। उनमें से कार्यविमुक्तिरूपा प्रज्ञा भूमि चार-प्रकार की होती है। पहली-भूमिका में ज्ञेय का ज्ञान हो गया होता है अन्य ज्ञातव्य कुछ भी नहीं अवशिष्ट रहता। दूसरी-भूमिका में समस्त क्लेशों का क्षय हो जाने के उपरान्त अन्य कोई क्लेश क्षेतव्य नहीं बचता। तीसरी-भूमिका में ज्ञान की प्राप्ति होती है और चौथी-भूमिका में विवेकख्याति प्राप्त हो जाती है। इसी अवस्था में कार्य विषयक निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। चित्तविमुक्ति तीन-प्रकार की होती है। प्रथमतः बुद्धि और गुण का कार्यारम्भ समाप्त हो जाता है और यह सत्व प्रधान में लीन हो जाते हैं। जिससे पुनः इनकी स्थिति नहीं रह जाती है। प्रधान में लीन हो जाने से इनका आत्यन्तिक लय हो जाता है। अस्तंगा-भाव को प्राप्त गुण पुनः उदित नहीं होते। यह चित्तविमुक्ति का दूसरा-प्रकार है। तीसरे-प्रकार में पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है। इस प्रकार की सात-प्रज्ञा भूमियों वाला योगी पुरुष 'कुशल' कहा जाता है।[2]

विवरण

सम्यक्दर्शन से उत्पन्न ज्ञान सात-प्रकार की भूमियों वाला होता है। इन सातों प्रकारों का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है। सभी प्रकार के दुःख हेय हैं उन सभी दुःख रूप हेय का ज्ञान हो चुका है अब और ज्ञातव्य कुछ नहीं बचा। हेय के हेतु क्लेश कर्मादि हैं। सम्यक्दर्शन रूपी अग्नि द्वारा इन सब को दग्ध-बीज-भावना प्राप्त हो जाने पर अब और हेतव्य नहीं बच पाता। निरोध-समाधि ही ज्ञान है क्योंकि निरोध-समाधि द्वारा ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। चतुर्थ-भूमि में इसी समाधि की प्राप्ति होती है जो कैवल्य को देने वाली है। चित्त-विमुक्ति की प्रथम-भूमिका में विवेकख्यातियुक्त चित्त के गुणों का चित्त के साथ ही आत्यन्तिक लय हो जाता है। चित्त विमुक्ति की द्वितीय-भूमि में पुरुष के प्रति बुद्धि का भोग सम्पादन

- -

1- "तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकल सालम्बन समाधि भूमिपर्यन्ते सप्त-प्रकारा भवति।"

— रा० मा० वृ० पृ० 215।

2- "तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः कुशलः इत्युच्यते।"

— वही पृ० 215।

सब कार्य समाप्त हो जाता है । और अन्त में गुणों के संबन्ध से रहित होकर पुरुष 'स्वरूपमात्रज्योति' स्वं केवली और शुद्ध रह जाता है । इस प्रज्ञा को प्राप्त करने वाला पुरुष कुशल कहा जाता है ।

योगवार्त्तिक

अविप्लवा-विवेकख्याति-रूपहानोपाय की प्रज्ञा प्रकृष्टअन्त वाली होती है । इस प्रज्ञा को 'प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा' कहा गया है[1]-जो सात-प्रकार की है । यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि यह सात-प्रकार की प्रज्ञा एक ही प्रज्ञा के प्रकार हैं[2] और वह प्रज्ञा है 'अविप्लवाविवेकख्यातिरूपप्रज्ञा ।'

प्रज्ञा के सात-प्रकारों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है । प्रज्ञा का प्रथम प्रकार यह है -- जिसमें मुमुक्षुओं के द्वारा समस्त हेय पदार्थों का साक्षात्कार हो गया होता है और अन्य कुछ भी हेय नहीं अवशिष्ट रहता । दूसरा प्रकार है -- जिसमें हेय के कारण अविद्यादि, विवेकसाक्षात्कार के द्वारा क्षीण हो जाते हैं । तीसरा-प्रकार है जिसमें हेय तथा हेय के कारणों के क्षीण हो जाने पर भावीमोक्ष का साक्षात्कार हो जाता है । चतुर्थ-प्रकार वाली प्रज्ञाभूमि में विवेकख्यातिरूपी हानोपाय निष्पन्न हो जाता है । ये चारों प्रकार तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी हैं । क्योंकि इनसे कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाती है । कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाने के उपरान्त ही जीवनमुक्ति की स्थिति का लाभ होता है । अतः जीवनमुक्ति की दृष्टि से इन प्रज्ञाप्रकारों का महत्त्व-पूर्ण स्थान है ।

अन्त की तीन प्रज्ञाप्रकारों से चित्तविमुक्ति होती है । चित्तविमुक्ति को परम मुक्ति कहा गया है । यह चित्तविमुक्ति स्वाभाविक होतीहै इसके लिए किसी साधन विशेष की अपेक्षा नहीं होती इसमें प्रथम प्रकार की चित्तविमुक्ति में बुद्धि भोग और अपवर्ग को समाप्त कर चुकती है । इस भूमिका को चित्त के नष्ट होने की प्रारम्भिक भूमिका कहा गया है । संसार के सुख-दुःख के कारण त्रिगुण हैं । दूसरी भूमिका में ये गुण

- -

1 - "तस्य विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य-प्रान्त-भूमिकारूपिणी प्रज्ञा सप्तधेत्यर्थः ।"
-- यो०वा०पृ० 234 ।

2 - "एकस्या एव प्रज्ञायाः सप्तप्रकारत्वम् ।" -- वही पृ० 234 ।

बुद्धि या चित्त के साथ प्रधान में लीन हो जाते हैं । इसके पश्चात् पुनः उनका उद्भव नहीं होता । वे अपने पुरुषार्थ को समाप्त कर ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं । अतः अब केवल पुरुषमात्र अवशिष्ट बच रहता है । गुणों के संबन्ध से शून्य पुरुष स्वरूप मात्र स्थिति में स्थित हो जाता है । पुरुष की यह स्थिति सभी प्रकार की मलिनताओं से हीन केवली मात्र की होती है अर्थात् पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है । यही अन्तिम तथा चरम् भूमिका है ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में प्रस्तुत विषय का वर्णन योगवार्तिक की ही भाँति किया गया है । किन्हीं विशेष बातों का उल्लेख न होने के कारण इन व्याख्याओं का विवेचन नहीं उद्धृत किया जा रहा है ।

मणिप्रभा

मणिप्रभा में अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का विवेचन बहुत उपयुक्त, स्पष्ट तथा व्युत्पत्तिनिमित्तक है । सर्व प्रथम इस व्याख्या में 'प्रान्त' शब्द की व्याख्या की गई है । यथा प्रकृष्ट अवसान रूप अन्त वाली जो है वही 'प्रान्त' अथवा 'चरम्' है[1] । 'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' किया गया है[2] । 'अविप्लव-विवेकख्याति' का अर्थ 'स्थिरात्मख्याति' किया गया है[3] । इस प्रकार पूरी व्याख्या यह हुई - स्थिरात्मख्याति होने पर योगी की प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रकृष्टअन्तयुक्त चरम भूमियों वाली होती है ।

प्रथम-भूमि में समस्तज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान हो चुका होता अतः अब अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं बचता । द्वितीय-भूमि में बन्धन के सभी कारणों का नाश हो जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं अवशिष्ट रहता । तृतीय-भूमि में कैवल्य प्राप्ति के पश्चात्

- -

1 - " प्रकृष्टोऽन्तोऽवसानं फलत्वेन यासां ताः प्रान्तायचरमा इति यावत् ।" — मणिप्रभा, पृ0 38, 39 ।

2 - " प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्याः सा प्रज्ञा 'प्रान्तभूमिः' ।" — वही पृ0 39 ।

3 - " स्थिराविप्लवात्मख्यातेर्विवुधः ।" — वही पृ0 39 ।

कुछ भी प्राप्तव्य नहीं बचता । चतुर्थ में विवेकख्याति प्राप्त हो जाने के उपरान्त कुछ भी और कर्त्तव्य नहीं शेष बचता । इन चारों भूमियों को कार्यविमुक्ति की संज्ञा प्रदान की गई है । अब चित्त विमुक्ति का वर्णन किया जाता है । बुद्धिसत्त्व का कृतार्थ हो जाना अर्थात् अपना कार्य समाप्त कर लेना प्रथमचित्त विमुक्ति है । गुणों का आत्यन्तिक लय जिससे वे पुनः उदित न हो सकें द्वितीय चित्त विमुक्ति है । चित्त का गुणातीत होकर स्वरूपमात्र अवस्थित हो जाना ही तृतीय चित्त विमुक्ति है । ये सात प्रज्ञा की अवस्थाएँ हैं । इनका अन्य प्रकार से नामाभिधान इस प्रकार से किया गया है । जिज्ञासा, जिहासा, प्रेप्सा, चिकीर्षा, शोक भयविकल्पाभावता इति सप्त प्रकार की प्रज्ञा भूमियाँ मानी जानी चाहिए ।[1]

योगसूत्रार्थ बोधिनी

स्थिर विवेकख्यातिप्राप्ति जीवन्मुक्त के ज्ञान का केवल सात-प्रकार की प्रान्तभूमियों वाला है । शेष वर्णन शब्दशः मणिप्रभा के समान है ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इस व्याख्या में सात प्रान्तभूमियों वाली प्रज्ञा को विवेकख्याति का स्वरूप कहा गया है । शेष वर्णन इस व्याख्या का भी मणिप्रभा के समान है ।

भास्वती

अविप्लवविवेकख्याति प्राप्त योगी को प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रकृष्ट अन्त वाली होती है । हेय के अभाव में जब प्रज्ञा समाप्त हो जाती है तब उस प्रज्ञा को प्रान्तभूमिक प्रज्ञा कहा जाता है जो[2] सात-प्रकार की होती है । यथा — हेय का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर तत् विषयक प्रज्ञा भी निवृत्त हो जाती है अर्थात् हेय के विषय में जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह विषय त्याज्य है, हेय है तब उस विषय से संबन्धित प्रज्ञा भी

- -

1. " जिज्ञासाजिहासाप्रेप्साचिकीर्षाशोकभयविकल्पाभावलक्षणाः सप्त प्रज्ञाभूमयः प्रान्तदक्षतया इत्यर्थः ।" — मणिप्रभा पृ0 39 ।

2. " प्रक्षेयाभावात्, यत्प्रज्ञा परिसमाप्ता भवति तथा सा प्रान्तभूमिप्रज्ञेत्युच्यते ।" — भास्वती पृ0 238 ।

नष्ट हो जाती है । यह लक्षण प्रथम-भूमिका का है । अब दूसरी-भूमिका का वर्णन किया जा रहा है — हेयक्षय विषयक प्रज्ञा की निवृत्ति होने पर जो ज्ञान प्राप्त हो वह ज्ञान ही दूसरी-भूमिका की प्रज्ञा हुई । तृतीय-भूमिका में निरोध समाधि द्वारा प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है । चौथी-भूमिका में यह भावना उदित हो जाती है कि हानोपाय रूप विवेकख्याति निष्पादित हो चुकी है । इस प्रकार से चारों प्रयत्न निष्पाद्य विमुक्ति हुई ।

चित्तविमुक्ति में चित्त से ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों की निवृत्ति हो जाती है । कार्यविमुक्ति के सिद्ध हो जाने पर चित्त विमुक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है । बुद्धि में कार्यारम्भ की शक्ति होती है जब बुद्धि की यह शक्ति निष्पन्न हो चुकी है तब कार्यारम्भात्मिका की समाप्ति हो जाती है । यह चित्त विमुक्ति की प्रथम भूमिका है । चित्त विमुक्ति की द्वितीय भूमिका में गुण चित्त के साथ अस्त हो जाते हैं और पुनः बुद्धि में उदित नहीं होते । इस विमुक्ति की तृतीय-भूमिका में गुणों से हमेशा के लिए मुक्त हुआ पुरुष दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर जीवनमुक्त हो जाता है । गुणों के संबन्ध से मुक्त पुरुष को विदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है ।

स्वामिनारायणभाष्य

विवेकख्यातिप्राप्त जीवनमुक्त की प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रान्तभूमियों वाली होती है ।[1] प्रज्ञा का अर्थ 'संविद्' किया गया है । यह संवित् या ज्ञान प्रकृष्ट अन्त युक्त भूमियों वाला है ।[2] 'प्रकृष्ट' इसलिए कहा गया है क्योंकि इन भूमियों से श्रेष्ठ अन्य कोई भूमियाँ नहीं हैं । सभी सालम्बन समाधियों की भूमियों में यह सप्त-प्रकार की प्रज्ञा होती है । इन सात-प्रकार की प्रान्तभूमिकप्रज्ञा में से चार-प्रकार की प्रान्त भूमियाँ कार्यविमुक्ति रूपा हैं और अन्त की तीन भूमियाँ चित्तविमुक्ति रूपा हैं ।

- -

1 - " तत्राद्यायाः स्वरूपं बुद्धिपरिच्छिन्नविकाराः = यतोऽथा बुद्धिनिष्पन्नार्थेऽनुपलब्धिः ।" — भास्वती पृ० 239 ।

2 - " विवेकख्यातिमतो योगिनः सप्तप्रकारा प्रज्ञा - संविद् भवति, सा च 'प्रान्त' भूमिः - प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनामवस्थानां तास्वपेक्षता, यतः परं नास्ति सः प्रकृष्टः ।" — स्वा०ना०भा० पृ० 224 ।

कार्यविमुक्तिरूपा प्रथम-भूमि में प्रकृति, आत्मा तथा सभी वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है । जितने भी विषय हैं सभी गुणविरोध के कारण परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कारदुःखों से युक्त होते हैं । ऐसा ज्ञान हो जाने पर उन्हें हेय समझकर उन सब का परित्याग कर देना ही प्रथमभूमि की प्रज्ञा है । जब विवेकख्याति द्वारा हेय के कारण क्लेशादि का क्षय हो जाता है तब पुनः कुछ हेतव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है । यह द्वितीय-भूमिका वाली प्रकृष्ट प्रज्ञा है । अविद्यादि क्लेशों के क्षीण हो जाने पर निरोध समाधि द्वारा ज्ञान अर्थात् कैवल्य की प्राप्ति सुगम हो जाती है । कैवल्य प्राप्त कर लेने के उपरान्त अन्य कोई ज्ञान का विषय नहीं रह जाता है यह तृतीय-भूमिका की प्रज्ञा है । चौथी-भूमिका में विवेकख्याति के निष्पन्न हो जाने पर कुछ अन्य निष्पाद्य नहीं अवशिष्ट रहता क्योंकि विवेकख्याति से चित्त के समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं और कुछ भी हेय, हातव्य रूप का नहीं अवशिष्ट रहता । केवल विवेकख्याति होती रहती है जिसके द्वारा ही अन्त में कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है ।

अब चित्त विमुक्ति का वर्णन किया जा रहा है । चित्त विमुक्ति नामक भूमियाँ तीन प्रकार की बताई गई हैं । बुद्धि से भोग और अपवर्ग के समाप्त हो जाने पर कार्यारम्भण शक्ति भी समाप्त हो जाती है । इस प्रकार चित्त के नष्ट होने की यह प्रथम-भूमिका है । द्वितीय भूमिका में चित्त तथा त्रिगुण दोनों ही अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार अपने कारण में लीन बुद्धि का पुनः प्ररोह या उदय सम्भव नहीं होता । बुद्धि और गुणों की समाप्ति के बाद पुरुष को अपने सत् चित् आनन्द रूप का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान विवेक कैवल्य के चरम् भूमिका मानी गई है । इन्हीं तीनों भूमिकाओं की भावना करने से योगी जीवन्मुक्त हो जाता है । अब इन सात-प्रकारों वाली प्रज्ञा से युक्त पुरुष केवली तथा मुक्त कहा जाता है ।[1] 'कैवल्य' का अभिप्राय अपने स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ।

- -

१ - "तदेवं सप्तविधत्वात् सप्तप्रकारा प्रज्ञा व्याख्याता, तद्वाप्रकालान् पुरुषः केवली मुक्त इत्युच्यते, केवलत्वं चास्य स्वात्मस्वरूपमात्रप्रतिष्ठितत्वादिति बोध्यम् ।"

— स्वा०मा०भा०पृ० २२३ ।

योग के आठ अङ्ग

व्यासभाष्य

विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है । विवेकख्याति की सिद्धि के लिए अष्टांगयोगरूप साधन का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है । बिना इन आठों साधनों का अभ्यास किए विवेकख्याति सिद्धि को नहीं प्राप्त करती । योगांगों के अनुष्ठान से पाँच पर्वों वाली अविद्या रूपी अशुद्धि का नाश हो जाता है । अविद्या के नष्ट हो जाने से चित्त को सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है । सम्यक्ज्ञान का अर्थ है वास्तविक ज्ञान । इस प्रकार इन अष्टांगों के द्वारा शनैः-शनैः सभी प्रकार की अशुद्धियों का क्षय हो जाता है और चित्त में ज्ञान का भरपूर प्रकाश होता है । योगांगों का उपयोग दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । (1) अशुद्धि को क्षय करने में (2) विवेकख्याति प्राप्त कराने में । यम, नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि ये योग के आठ अंग हैं ।

तत्त्ववैशारदी

योग के आठ अंगों को ही योगांग कहते हैं । इन योगांगों का मुख्य प्रयोजन विपर्ययज्ञान, जाति, आयु, भोग इत्यादि अशुद्धियों को नष्ट करना है ।[2] योगांगों के अनुष्ठान से ही विवेकख्याति की भी प्राप्ति होती है ।[3] योगांगों के अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धियों का उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार कुल्हाड़ी से काटे जाने पर वृक्ष अपने मूल से अलग हो जाता है । योगांगों के आठ भेदों का उल्लेख तत्त्ववैशारदीकार ने भी अपनी व्याख्या में किया है ।

- -

1 - " योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् ।" – व्यासभाष्य पृ0 236 ।

2 - " योगाङ्गानि हि यथायोगं दृष्टादृष्ट द्वारेणाशुद्धिं क्षिण्वन्ति ।" – ता0वै0 237 ।

3 - " तथा योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः प्राप्तिकारणं नान्येन ।" – वही पृ0 237 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

योगाङ्ग आठ-प्रकार के हैं। इनका अनुष्ठान या अभ्यास करने से चित्त की अशुद्धियों का नाश हो जाता है तथा विवेकख्याति पर्यन्त चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है। यह ज्ञान का प्रकाश ही विवेकख्याति का कारण है।[1] यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

विवरण

विवेकख्याति की सिद्धि का साधन योगाङ्ग हैं (जिनके अनुष्ठान से विवेकख्याति रूपी ज्ञान का प्रकाश होता है।[2] योगाङ्गों के द्वारा ~~के द्वारा~~ क्लेशों का क्षय हो जाता है और प्रकृष्ट ज्ञान का प्रकाश होता है। योगाङ्गों के द्वारा मन स्थिर पद को प्राप्त करता है और चित्त में ज्ञान के आलोक का प्रकाश होता है। क्लेशादि विकारों को दग्धबीज-भावता प्राप्त होती है। इस प्रकार योग प्राप्ति के लिए योगाङ्गों का महत्त्वपूर्ण कार्य है। समाधि के भेद से योगाङ्गों के आठ-प्रकारों का उल्लेख किया गया है।

योगवार्त्तिक

विज्ञानभिक्षु ने योगाङ्गों को विवेकख्याति का उपाय माना है। साधना की दृष्टि से इन्होंने साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। (1) उत्तम अधिकारी (2) मध्यमअधिकारी (3) मन्द-अधिकारी। उत्तम-अधिकारी अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग-सिद्धि करता है। मध्यमअधिकारी क्रियायोग में बताए गए तपआदि के द्वारा योग सिद्धि प्राप्त करता है। मन्दअधिकारी समाधि योग के आठ अंगों द्वारा योगसिद्धि प्राप्त करता है।

योगाङ्गों का प्रयोजन अशुद्धि का नाश करना तथा विवेकख्याति की प्राप्ति

1- "योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानाज्ज्ञानपूर्वकादभ्यासादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षयः यः ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः।" — रा०मा० पृ० 219।

2- "योगाङ्गानुष्ठानात्तु भवत्येव विवेकख्यातिसिद्धिरिति।" — विवरण पृ० 208।

करना है । अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान दोनों अधिकारियों को करना पड़ता है ।

योगदीपिका, पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में भी अष्टांग-योग का वर्णन वार्तिक की ही भाँति किया गया है ।

मणिप्रभा

योगांगों का अनुष्ठान करने से क्लेश कर्म रूप अशुद्धियों का विनाश हो जाता है और विशुद्ध ज्ञान उदित होता है । अशुद्धियों का क्षय और विशुद्ध ज्ञान का उदय क्रम से होता है । 'विशुद्ध-ज्ञान' शब्द 'विवेकख्याति' के लिए प्रयुक्त हुआ है । विवेकख्याति में लेश मात्र भी अशुद्धियाँ नहीं रहती हैं । अतः इस ज्ञान को विशुद्ध ज्ञान कहा गया है । योग के इन अंगों के लिए 'साङ्गयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है ।[2] साङ्गयोग के अनुष्ठान से प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है । अष्टांग योग के आठ अंगों का उल्लेख मणिप्रभा में भी किया गया है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

योगांगों का अनुष्ठान करने से क्लेशादि रूप अशुद्धियों का नाश हो जाता है और ज्ञान की विशुद्ध ज्योति का प्रकाश होता है जिससे अविप्लव विवेकख्याति होती है ।[3] इस प्रकार अष्टांगयोग का अनुष्ठान ज्ञान का साधन कहा गया है । अष्टांग-योग के लिए 'साङ्गयोग' शब्द का प्रयोग इस व्याख्या में भी किया गया है ।

- -

1 - " पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगस्य साधनमुक्तं, तत्र मध्यमाधिकारिणां तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतस्यां वक्तव्यानि, अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसक्त्येत्यधीन-स्वरूपम् । "
— यो०वा० पृ० 239 ।

2 - " साङ्गयोगानुष्ठानाशुद्धिक्षयद्वारा ज्ञानसाधनमिति । " ~~— स्वामी मणिप्रभा~~
-- मणिप्रभा पृ० 40 ।

3 - " योगाङ्गानां यमादीनामनुष्ठानादशुद्धेः क्लेशादिरूपायाः क्षये जायमाने ज्ञानस्य दीप्तिर्विशुद्धिः अविप्लवा अविवेकख्यातिपर्यन्तम् । "
— यो०सू०बो० पृ० 26, 27 ।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

योग के आठों अंगों का बार-बार अभ्यास करने से चित्त की अशुद्धियों तथा चित्त की चंचलता का क्षय हो जाता है । चित्त की अशुद्धियों का क्षय हो जाने पर ही ज्ञान का प्रकाश या विवेकख्याति उदित होती है । अष्टांगों का अज्ञान का नाश और ज्ञान का प्रकाश करने में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहता है । समाधि की दृढ़ता के लिए अष्टांगों का अनुष्ठान परमावश्यक है[2] ।

भास्वती

योगांगों से अशुद्धियों का क्रमशः नाश हो जाता है और उसी क्रम से ज्ञान के प्रकाश का आविर्भाव होता है । ये योगांग आठ प्रकार के बताये गए हैं । इन आठों योगांगों से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है और चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है । इन अंगों में प्रथम पांच तो समाधि के अंतिमअंग माने गए हैं और बाद के तीन अंगों को सम्प्रज्ञातसमाधि का चरमांग माना गया है ।

- -

1 - " योगस्य अष्टाङ्गानाम् च अनुष्ठानात् पौनःपुन्येनाभ्यासाद् अशुद्धिक्षये चित्तस्याविवेकक्लेशादि लक्षण पापक्षये सति ज्ञानदीप्ति राविवेकख्यातेः ।"

— यो०सि०च० पृ० 68 ।

2 - " योगाङ्गानां - - - - - - अनुष्ठानाद् दृढ़ाभ्यासाज्ज्ञानदीप्तिः ।"

— वही पृ० 68 ।

3 - " यमादीनां सर्वेषां चित्तस्थैर्यकरत्वाच्चित्तनिरोधरूपस्य योगस्य साक्षादङ्गानि तत्राप्यसम्प्रज्ञातस्य बहिरङ्गाण्येव इति । यथा — पंचाङ्गस्य प्राणवायुमयस्य ' प्राण' संज्ञया निर्दिष्टं तथा योगाख्यस्य समाधेरपि चरमांगं समाधि शब्देन निर्दिशतीति।"

— भास्वती पृ० 247 ।

स्वामिनारायण भाष्य

योगांगों का सत्कारपूर्वक, आदरसहित और निरन्तर अभ्यास करने से शान्ति प्राप्त, और योग का उत्पन्न करने वाले अविद्यादि क्लेशों का क्षय हो जाता है । जैसे-जैसे साधनों का अनुष्ठान किया जाता है वैसे ही वैसे अशुद्धियाँ क्षीण होती चलती हैं और ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है । यह ज्ञान की दीप्ति विवेकख्यातिपर्यन्त बढ़ती जाती है । योग के आठों अंगों का कार्य अविद्यादि का नाश करना है और विवेकख्याति को प्राप्त कराना है ।

- -

1 - "यथा यथा साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथाऽशुद्धिस्तनुत्वमाप्नोति, यथा यथा च शुद्धिः क्षीयते तथा तथा ज्ञानस्य दीप्तिः अभिवर्धते। सा प्रवृद्धा विवेकख्यातिपर्यन्तं विवर्धते, तथा च योगांगाऽनुष्ठानम् अविद्याक्षयस्य कारणम्, तत्त्वज्ञानस्य चोत्पत्तेः कारणम् । "

— स्वा०ना०भा०पृ० 225 ।

उक्त आठ योगांगों में से यम नियमों के स्वरूप और उनकी उपयोगिता के संबन्ध में सभी व्याख्याकार एक मत और भाष्य के शब्दों का यथावत् उपयोग करते हैं । 'आसन्' के संबन्ध में विविध व्याख्याओं के मतभेद उल्लिखित किए जा रहे हैं ।

व्यासभाष्य

शरीर की वह स्थिति जो स्थायी सुख देने वाली हो उसे 'आसन' कहते हैं । आसन काल में शरीर के अंगों में कोई व्यापार नहीं होता और न ही शरीर में कोई कम्पन होता है । आसन जय के द्वारा साधक आकुलिकशीत, उष्णादि से पीड़ित नहीं होता है । एकाग्र चित्त होकर योगसिद्ध करने में सफल होता है । स्थिर सुख देने वाला आसन 'स्थिर-सुख-आसन' है । स्थिर सुख का अर्थ यथासुखम् है अर्थात् जिसमें सुख का अतिक्रमण न होने पावे वह अनतिक्रम सुख ही स्थिर सुख है । यहाँ स्थिर सुख में कर्मधारय-समास है ।

तत्त्ववैशारदी

"स्थिरं निश्चलं यत्सुखं सुखावहं तदासनमिति सूत्रार्थः ।"[2] निश्चल सुख देने वाले प्रकार का आसन स्थिर-सुख-आसन है । 'यथासुखं' शब्द का अर्थ नहीं लिया गया है । यहाँ बहुव्रीहि समास के अर्थ में स्थिर सुख का प्रयोग हुआ है यथा = स्थिरं सुखं येन तत् ।

- -

1 - "स्थिरसुखं यथासुखं वेत्येवमादीनि ।" – व्यासभाष्य पृ0 26 ।

2 - "स्थिरं निश्चलं यत्सुखं सुखावहं तदासनमिति सूत्रार्थः । आस्यतेऽत्र आस्ते बहोनेत्यासनम् ।" – त0वै0पृ0 26 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

जिस प्रकार से बैठा जाये वही 'आसन' है । अर्थात् 'आसन' बैठने के प्रकार को कहा गया है ।[1] जिस प्रकार बैठने में स्थिर-सुख की प्राप्ति होती है उस बैठने के प्रकार को "स्थिरसुखआसन" कहा गया है । 'स्थिर' शब्द का अर्थ इस व्याख्या में 'निष्कम्प' किया गया है ।[2]

विवरण ।

जिस प्रकार के आसन में मन तथा शरीर के अंग स्थिर रहते हैं अर्थात् मन और शरीर दोनों में स्थिरता आती हो तथा जो सुखदायक हो, जिसके करने में अंगों को दुःख नहीं होता हो उसी आसन का अभ्यास करना चाहिए । इस प्रकार के बैठने की विधि को ही "आसन" कहा गया है ।[3]

योगवार्तिक

बैठने के प्रकार को 'आसन' कहा गया है । जिस आसन में निश्चल सुख प्राप्त हो उसे स्थिरसुख आसन कहा गया है । स्थिरसुख आसन का विशेषण है । अतः यहाँ कर्मधारय समास है । स्थिरसुखं की व्याख्या यथासुखं की गई है ।[4]

- -

1 - "आस्यतेऽनेनेत्यासनम् ।" — रा0मा0वृ0पृ0 255 ।

2 - "तदुपदास्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ।"
— वही पृ0 255 ।

3 - "स्थिरं सुखं चासनम् । यस्मिन्नासने स्थितस्य मनोगात्राणामुपजायते स्थिरत्वम्, दुःखं च येन न भवति तदभ्यसेत् ।"
— विवरण पृ0 255 ।

4 - "स्थिरं सुखं च सूत्रोपात्तम्, तस्य व्याख्यानं यथासुखमिति ।"
— यो0वा0पृ0 262 ।

योगबोधिका

बैठने के प्रकार को "आसन" कहा गया है ।[1]

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति

जो आसन स्थिर तथा सुखदेने वाला हो वही "आसन" सेवनीय है ।[2]

मणिप्रभा

बैठने के प्रकार को "आसन" कहा गया है । जो आसन निश्चल तथा सुख देने वाला हो वही योग का अंग रूप आसन है ।[3]

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्रार्थबोधिनी

बैठने के प्रकार को "आसन" कहा गया है । अतः जो आसन स्थिर हो, निष्कम्प हो और सुखकर हो उसे ही आसन कहा गया है ।[4]

- -

1 - " आस्यतेऽनेन प्रकारेणेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ।" - यो0बो0 पृ0 55 ।

2 - " यदेव स्थिरं सुखकरं च तदेवासनं कार्यमित्यर्थः ।" - पा0यो0सू0वृ0 पृ0 55।

3 - " निश्चलं सुखावहं च यदासनं तद्योगाङ्गमित्यर्थः । आस्यते नेनेत्यासनम् ।"

— मणिप्रभा पृ0 46 ।

4 - " स्थिरं निश्चलं सुखकरं च यत्तदासनम् । आस्यते आस्ते वाऽनेन प्रकारेणेत्या-सनमित्यर्थः ।"

— यो0सि0च0 पृ0 82 ।

भास्वती

स्थिर सुख देने वाला 'आसन' ही योगांग में वर्णित 'आसन' है ।[1]

स्वामिनारायणभाष्य

बैठने की विधि को 'आसन' कहा गया है । जिस प्रकार बैठने में शरीर की वृत्तियाँ स्थिर रहती हैं तथा जिस तरह बैठने में स्थिर-सुख प्राप्त होता है उसे ही 'आसन' कहा गया है ।[2]

- -

1 - " स्थिरं सुखं सुखावहंच यथासुखमित्यर्थः भवति तदा योगांगमासनं भवति । "

— भास्वती पृ० 266, 267 ।

2 - " आस्यते - अनेनेत्यासनं, तल्लक्षणन्तु 'स्थिरसुखमिति' सुखयतीति - सुखं तादृशं - - - सत् स्थिरं यत्, तथा च "सुखप्रदत्वे सति शरीरवृत्तिस्थिरत्वम् - आसनत्वमिति ।

— स्वा०ना०भा० पृ० 241 ।

प्राणायाम

व्यासभाष्य

आसनसिद्धि होने के पश्चात् श्वास तथा प्रश्वास की गति का अभाव प्राणायाम है । प्राणायाम के चार प्रकार हैं (1) बाह्य (2) आभ्यन्तर और तीसरा स्तम्भ वृत्तिप्राणायाम है । ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या द्वारा परीक्षित किए जाते हैं । तीनों प्रकार के प्राणायामों का परीक्षण देश के अनुसार करने पर यह मालूम होता है कि ये प्राणायाम अधिक देश तक हैं या कम देश तक हैं । इसी प्रकार काल द्वारा परीक्षण करने पर प्रत्येक प्राणायाम कितने क्षण तक रहे इसका ज्ञान होता है । संख्या द्वारा परीक्षण करने पर मात्रा के अनुसार श्वास और प्रश्वास के उद्घातों की तीन श्रेणियाँ दी गई हैं । कम मात्रा तक के उद्घात को मृदु-उद्घात, उससे अधिक मात्रा तक वाले उद्घात को मध्यम-उद्घात और सबसे अधिक उद्घात को तीव्र-उद्घात कहा गया है । इन तीनों रीतियों से परीक्षित प्राणायाम का अभ्यास करने पर वह दीर्घ अर्थात् अधिक समय तक रहने वाला तथा सूक्ष्म अर्थात् देह के अन्दर रहने वाला होता है ।

चतुर्थ-प्राणायाम का भाष्यकार ने कोई नाम नहीं दिया है । इसके बारे में केवल यह कहा है कि बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम का अतिक्रमण करने वाला चतुर्थ-प्राणायाम है । रेचक और पूरक की भूमियों के सिद्ध होने पर दोनों का पूर्ण निरोध इस चतुर्थ-प्राणायाम में होता है । चतुर्थप्राणायाम में और तृतीय स्तम्भ-प्राणायाम में भेद यह है कि स्तम्भ-प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों को देश काल और संख्या द्वारा बिना देखे ही एक बार के प्रयत्न से जो गति निरोध होता है वह स्तम्भ-प्राणायाम है । इसमें आलोचन प्रवृत्त रहता है । इसके विपरीत चतुर्थ-प्राणायाम में श्वास, प्रश्वास के विषयों का आलोचन कर, तथा क्रमशः भूमिकाओं का जय प्राप्त कर लेने के उपरान्त आक्षेपपूर्वक बाह्य, आभ्यन्तर प्राणों की गति का पूर्ण निरोध ही

चतुर्थ-प्राणायाम है । चतुर्थ-प्राणायाम में आलोचन हो चुका रहता है ।

तत्ववैशारदी

सामान्यतः श्वास, प्रश्वास की गति विच्छेद को 'प्राणायाम' कहते हैं । रेचक पूरक और कुम्भक प्राणायाम के भेद हैं । रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों प्राणायामों का परीक्षण देश काल और संख्या द्वारा होता है । संख्या द्वारा परीक्षण करते समय उद्घात के वर्णन में कुछ मत भेद हैं ।

जानुमण्डल को हाथ से तीन बार छूकर एक चुटकी बजाने पर जितना समय लगता है वह एक मात्रा है । उतने मात्रा काल में 36 बार श्वास प्रश्वास की टकराहट को प्रथम-उद्घात कहा है । इसके दुगुने अर्थात् 72 बार को द्वितीय-उद्घात कहा गया है । इसके तिगुने अर्थात् एक सौ आठ (108) बार को तृतीय-उद्घात कहा गया है । चौथे-प्राणायाम का लक्षण भाष्यकार की ही भाँति इन्होंने भी किया है । तृतीय से चतुर्थ का वैशिष्ट्य बतलाते हुए लिखते हैं -- तृतीय में देश कालादि द्वारा देखे बिना एक बार के ही प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति को अवरुद्ध किया जाता है । चतुर्थ-प्राणायाम में आलोचन पूर्वक अधिकप्रयत्न से रेचक पूरक का पूर्ण निरोध होता है ।

राजमार्तण्डवृत्ति

आसन के स्थिर होने पर ही प्राणायाम नामक योगांग का अनुष्ठान किया जाता है । बाह्य वायु जिसे ग्रहण किया जाता है उसे श्वास कहते हैं और अन्दर की वायु जिसे निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं । श्वास और प्रश्वास की गति को रोक लेना ही प्राणायाम है ।

प्राणायाम के चार भेद किए गए हैं । (1) रेचक (2) पूरक (3) कुम्भक (4) केवलकुम्भक । बाह्यवायु को रोकना रेचक-प्राणायाम है । आभ्यन्तरवायु को रोकना पूरकप्राणायाम है । अन्दर की वायु को स्तम्भित किए रहना अर्थात् रोके रहना कुम्भक है । कुम्भक 'घड़े' को कहते हैं । जिस प्रकार जल घड़े में पानी भरकर उसमें ही रहने देते हैं, उसे निकलने नहीं देते हैं, उसी प्रकार अन्दर की वायु अर्थात् प्रश्वास को निकलने नहीं देना उसे रोके रहना कुम्भक प्राणायाम है । [1]

---

1 - " बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः अन्तरवृत्तिः प्रश्वासः पूरकः । अन्तस्तम्भ वृत्तिः कुम्भकः ।" -- रा० मा० वृ० पृ० 26 । ।

ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा देखे जाने पर 'दीर्घ' और 'सूक्ष्म' की संज्ञा को प्राप्त करते हैं। नासिका के आस पास का स्थान ही देश कहलाता है। इस देश, काल और संख्या द्वारा प्राणायाम का आलोचन किया जाता है। मात्राओं के काल से प्राण निरोध की प्रक्रिया को काल द्वारा आलोचन कहते हैं। कितने बार प्राणायाम किया गया यह संख्या से मालूम होता है। इस संबन्ध में योगिकाख्य 'उद्घात' का प्रयोग भोज ने भी किया है। उद्घात का स्पष्ट अर्थ है — नाभि के मूल से प्रेरित वायु का सिर से टकराना। जितनी बार वायु सिर से टकराती है उतने ही उद्घात बनते हैं।[1]

केवलकुम्भक प्राणायाम में 'रेचक' और 'पूरक' प्राणायाम का देशकालादि पूर्वक आलोचन करने के पश्चात् सहसा इन दोनों प्राणायामों का निरोध कर दिया जाता है।

उक्त चारों प्राणायामों से सात्त्विक चित्त के ऊपर आवृत्त क्लेश रूपी आवरण क्षीण हो जाते हैं और चित्त ध्येय विषय में स्थिर हो जाता है। वृत्तिकार भोज ने रेचक, पूरक, कुम्भक और केवल कुम्भक प्राणायाम में प्रत्येक नाम के साथ 'वृत्ति' शब्द को संयुक्त किया है। उद्घात शब्द की व्याख्या इन्होंने ही स्पष्ट किया है। भाष्य की तुलना में ये दो विशेषताएं प्रस्तुत वृत्ति में ही उपलब्ध हैं।

विवरण

बाह्यवायु को नासिकापुटों से अन्दर खींचना श्वास है और कोष्ठ की वायु को बाहर निकालना प्रश्वास है। प्राण वायु का इन दोनों गतियों का विच्छेद ही प्राणायाम है।[2] प्राणायाम के तीन प्रकार हैं। (1) बाह्यवृत्ति (2) आभ्यन्तरवृत्ति और (3) स्तम्भवृत्ति। बाह्य-वायु का अन्दर प्रविष्ट होना बाह्य-वृत्ति है।[3] इसे ही अन्य व्याख्याकारों ने 'पूरक' प्राणायाम नाम भी दिया है।

- -

1 - " उद्घातो नाम नाभिमूलप्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम्। "
— रा0मा0वृ0 पृ0 26।

2 - " बहिर्वायुराकृष्यते, स पूरकर्म श्वासः। प्राणवृत्ति संबन्धी हि कौष्ठ्यो वायुः तस्य बहिर्निःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेदः। उभयाभावः प्राणायामः।"
— विवरण पृ0 227।

3 - " बाह्यस्य वायोरन्तः प्रवेशनं प्रतिवृत्तिः यस्य स बाह्यवृत्तिः। तस्मात् स बाह्यः। बाह्यमन्ये पूरकं व्याचक्षते।" — वही पृ0 227।

आभ्यन्तर वायु को बाहर निकालना आभ्यन्तरवृत्ति है । जिसे अन्य व्याख्याकारों ने 'रेचक' प्राणायाम नाम दिया है[1] । वायुग्रहण और निःसारण दोनों प्रक्रियाओं को एक बार के प्रयत्न में ही रोक देना स्तम्भवृत्ति है[2] ।

इन तीनों प्राणायामों का देश काल और संख्या के द्वारा परीक्षण किए जाने पर इन प्राणायामों के देश, काल और संख्या विषयक व्यवस्था का ज्ञान होता है । बाह्यवृत्ति अर्थात् आध्मायमान वायु का नासिकाग्र से लेकर पादाङ्गुष्ठ तक होना देशव्याप्ति है[3] । अन्तःवृत्ति का पादाङ्गुष्ठ से लेकर नासिकाग्र तक व्याप्त रहना अन्तःवायु की देशव्याप्ति है[4] । स्तम्भ वृत्ति में मस्तक से पादतल तक व्याप्त होना स्तम्भ वृत्ति की देशव्याप्ति है[5] ।

काल द्वारा परीक्षण किए जाने पर कितने क्षण तक प्राणायामों की स्थिति रही का ज्ञान होता है । संख्या द्वारा परिदृष्ट किए जाने पर तीनों प्राणायामों के अतीतकालीन स्थिति का पता चलता है । संख्याओं के द्वारा परीक्षित करने पर इतनी संख्या तक श्वासप्रश्वास की क्रिया करने पर प्रथम-उद्घात होता है जिसको मृदु-उद्घात् नाम भी दिया गया है । इसी तरह द्वितीय-उद्घात या मध्यम-उद्घात और तृतीय या तीव्र-उद्घातों के प्राणायामों की मन्दस्थिति, मध्यमस्थिति और तीव्र स्थिति का पता चलता है ।

- -

1 - "आभ्यन्तरस्य वायोर्बहिर्निःसारणं प्रति वृत्तिर्यस्य स आभ्यन्तरवृत्तिः । तं च रेचक इत्याचक्षते ।" — विवरण पृ० 226 ।

2 - "सकृत्प्रयत्नात् प्राणादिवृत्तयः सर्वोपशमुपपन्नमित्याह - - - द्वयोर्युगपत् गत्यभाव इति ।" — वही पृ० 228 ।

3 - "बहिर्वृत्तेरन्तरात्प्रच्यमानस्य नासिकाग्रप्रभृत्यापादाङ्गुष्ठं देशव्याप्तिः ।" — वही पृ० 228 ।

4 - "एवमन्तर्वृत्तेर्बहिर्निश्चार्यमाणस्य वायोः पादाङ्गुष्ठप्रभृत्यानासिकाग्रं देशव्याप्तिः" — वही पृ० 228 ।

5 - "स्तम्भवृत्तेरामस्तकपादतलव्याप्तिः ।" अथ — वही पृ० 228 ।

देशकाल और संख्या द्वारा परीक्षित किए जाने के उपरान्त बाह्य और आभ्यन्तर वायु का पूर्ण निरोध करने से चतुर्थ-प्राणायाम होता है । इसमें और स्तम्भ-वृत्ति में भेद है । स्तम्भ-वृत्ति में पहले श्वासप्रश्वास की गति का सकृत् प्रयत्न से अभाव हो जाता है उसके बाद देश काल संख्यादि से उसका परीक्षण होता है । इसके विपरीत चतुर्थ प्राणायाम में देशकाल, और संख्या द्वारा परीक्षित बाह्य, आभ्यन्तर वृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है ।

योगवार्तिक

श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति का निरोध प्राणायाम है । यह प्राणायाम का सामान्य लक्षण है । वार्तिककार ने सभी प्राणायामों का नाम दिया है । यथा बाह्यवृत्ति को 'रेचक,' आभ्यन्तर-वृत्ति को 'पूरक' तथा स्तम्भवृत्ति को 'कुम्भक' नाम दिया है । रेचक, पूरक और स्तम्भ प्राणायामों का वर्णन भाष्यकार से मिलता जुलता है। परन्तु कुम्भक के बारे में कुछ विशेष वर्णन किया गया है जो अन्य व्याख्याओं में नहीं उपलब्ध है । कुम्भक के बारे में यह कहा गया है कि वह रेचक और पूरक का अतिक्रमण कर स्वयमेव रहता है । इस प्रकार का प्राणायाम ही चतुर्थ-प्राणायाम है जिसे 'केवल कुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम वशिष्ठसंहिता से से लिया गया है । केवलकुम्भक-प्राणायाम बहुत व्यापक है क्योंकि यह रेचक और पूरक की भाँति न तो देश से परिच्छिन्न है न काल से परिच्छिन्न है और न ही संख्या से परिच्छिन्न है वस्तुतः अपनी इच्छा से यह मास, वर्ष, और संवत्सर तक रहता है । तृतीय प्राणायाम जिसका नाम उन्होंने 'मिश्रकुम्भक' दिया है का चतुर्थ-प्राणायाम से भेदनिरूपण भाष्य से मिलता जुलता किया गया है ।

उद्घातों का वर्णन भाष्यकार तथा वाचस्पतिमिश्र से भिन्न रूप में किया गया है । 'उद्घात' का अर्थ वायु का ऊपर टकराना है । पूरक को ही प्रथम-उद्घात माना गया है । कुम्भक को द्वितीय-उद्घात माना गया है तथा रेचक को तृतीय-उद्घात माना गया है । निमेषोन्मेषण रूप मात्रा नामक द्वारा 16 श्वास का प्रवेश 'पूरक-उद्घात' माना गया है और 64 बार श्वास के प्रवेश को कुम्भक माना गया है जिसको 'द्वितीय-उद्घात' नाम भी दिया गया है । 32 मात्रा में होने वाले रेचक को 'तृतीय-उद्घात' नाम दिया गया है ।

योग दीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन व्याख्याओं में वार्तिक की ही भाँति विवेचन है ।

मणिप्रभा

आसन के स्थिर होने पर बाह्य तथा अभ्यन्तर की वायु के गति का निरोध ही प्राणायाम है । प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख मणिप्रभा में भी उपलब्ध है ।

बाह्यवृत्ति — श्वास द्वारा गृहीत वायु का रेचन क्रिया द्वारा बाहर निकाल कर पुनः बाहर ही उसे धारण किए रहना बाह्यवृत्ति है । 'वृत्ति' का अर्थ 'बरतने-वाला' है। अतः बाहर स्थित रहने वाली वृत्ति बाह्यवृत्ति है । पूरक क्रिया द्वारा बाह्यवायु को धारण करके 'श्वास' के छिद्रों को पूरित करना पूरक है । इसमें प्राणवायु अन्दर स्थित रहती है अतः इसे 'आभ्यन्तरवृत्ति' कहते हैं । रेचन और पूरक प्रयत्नों के बिना केवल विधारक प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति का निरोध 'स्तम्भवृत्ति' है । इसी को 'कुम्भक' भी कहा गया है । कुम्भक नाम इसलिए दिया गया है कि जैसे घड़े में भरा जल निश्चल होकर पड़ा रहता है उसी प्रकार स्तम्भ-वृत्ति में प्राणवायु सकृत्प्रयत्न से ही निश्चल हो अन्दर पड़ी रहती है । 'रेचक' और 'पूरक' की गति का अभाव बिना प्रयत्न के ही हो जाता है । अत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्राणवायु अन्दर स्थित रहती है । देश, काल, और संख्या द्वारा तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूक्ष्मता का आलोचन किया जाता है । देश, काल और संख्या की व्याख्या तत्त्ववैशारदी की ही भाँति किया गया है ।

चतुर्थ-प्राणायाम को भी इस व्याख्या में 'स्तम्भवृत्ति' या 'कुम्भक' नाम दिया गया है । दोनों के स्वरूप में भेद का निरूपण इस प्रकार से किया गया है । स्तम्भवृत्ति में बिना प्रयत्न के ही रेचक और पूरक का एकसाथ निरोध हो जाता है और चतुर्थ-प्राणायाम में बहुत बार प्रयत्न करने के बाद प्राणवायु का निरोध होता है । 'स्तम्भवृत्ति' में देश, काल और संख्या द्वारा आलोचन प्राणवायु के निरोध के पश्चात्

- -

1. - कोष्ठस्य वायोः रेचनेन बहिर्गतस्य बहिरेव धारणं बाह्यवृत्तिः स च रेचकः बाह्यवायोः पूरणेनान्तर्गतस्यान्तर्धारणमाभ्यन्तरवृत्तिः स च पूरकः । रेचन पूरण प्रयत्नं विना प्राणस्य केवलं विधारकप्रयत्नेन गतिविच्छेदः स्तम्भवृत्तिः स च कुम्भकः ।

— मणिप्रभा पृ0 47 ।

होता है और चतुर्थ प्राणायाम में पर्यालोचन वाले हो तो चुका रहता है।[1] 'उद्घात' का उल्लेख मणिप्रभा में नहीं किया गया है।

<u>योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका</u>

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के ही सदृश वर्णन किया गया है।

<u>भास्वती</u>

श्वासप्रश्वास की स्वाभाविक गति से चित्त स्थिर नहीं हो पाता है। योग के लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता अनिवार्य है। चित्त की एकाग्रता के लिए 'प्राणायाम' का महत्वपूर्ण कार्य है।[2] प्राणायाम से श्वास प्रश्वास की गति का निरोध होने से चित्त में स्थिरता आती है। अतः प्राणायाम को भी चित्तवृत्ति निरोध का साधन कहा जाना चाहिए। प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख भास्वती में भी प्राप्त है।

बाह्यवायु जिसे धारण किया जाता है उसे बाहर ही स्थित रखने देने से चित्त की वायु धारण करने की क्रिया का निरोध होता है। अतः बाह्यवृत्ति प्राणायाम में केवल प्राणवायु की गति का ही निरोध नहीं होता प्रत्युत निरोध की प्रक्रिया को करने वाली शक्ति की क्रिया का निरोध होता है। इसी लिए भास्वतीकार ने यह कहा है कि न केवल रेचनमात्र ही प्राणायाम है प्रत्युत रेचकान्त निरोध <u>बाह्यवृत्ति प्राणायाम</u> है।[3] पूरक का अन्त तक निरोध ही पूरक प्राणायाम है।[4] आभ्यन्तरवृत्ति वाले प्राणवायु का भी निरोध करने पर चित्त की वृत्ति का निरोध हो जाता है और इस प्राणायाम से चित्त स्थिर, निश्चल होकर योग को प्राप्त करता है। रेचक और पूरक की अपेक्षा न करते हुए सकृत् प्रयत्न से श्वास, प्रश्वास की गति का सहसा अभाव ही स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। यह रेचक, पूरक का सहकारी नहीं

- -

1 - "रेचकपूरकयोरभ्यासेन जितबाह्याभ्यन्तरविषयनिश्चयं विनैव सकृत्प्रयत्नमात्रेण स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः। तन्निश्चयपूर्वक स्तम्भवृत्ति- र्द्वयदत्तात्वाश्चतुर्थ इति बेलक्षण्यमिति।"
— मणिप्रभा पृ0 48 ।

2 - "प्राणायामो योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधस्य साधकत्वादिति बोद्धव्यम्।"
— भास्वती पृ0 269 ।

3 - " यो बाह्यो बहिरेव धार्य तथा वायुधारणप्रयत्नेन सह चित्तस्यापि बन्धः स बाह्यवृत्तिः प्राणायामः, नायं रेचनमात्रः किन्तु रेचकान्त निरोधः।
— भास्वती पृ0 269 ।

4 - "पूर्ववत् प्रयत्नविशेषात्, पूरणपूर्वको गत्यभावः = वायोरन्तर्धारणं चित्तस्यापि बन्धः

होता । स्तम्भ वृत्ति में श्वास, प्रश्वास की गति का सर्वथा अभाव हो जाने से चित्त भी अपने ध्येय विषय में स्थित हो जाता है ।

उक्त तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूक्ष्मता का निर्णय देश, काल और संख्या के द्वारा किया जाता है । संख्या द्वारा निर्णय करने में उद्घातों का वर्णन भास्वती में भी उपलब्ध है । 12 मात्रा तक को प्रथम या मृदु-उद्घात, 24 मात्रा तक को द्वितीय अर्थात् मध्यम-उद्घात और 36 मात्रा तक को तृतीय अथवा तीव्र-उद्घात कहा गया है ।

देश, काल और संख्या द्वारा बाह्यवृत्ति प्राणायाम तथा आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम का आलोचन करने के पश्चात् दोनों का क्रम से अभाव हो जाने पर चतुर्थ प्राणायाम होता है । स्तम्भ वृत्ति में सकृत् अभाव होता है तथा देशादि द्वारा आलोचन निरोध के बाद होता है । चतुर्थ में बाह्याभ्यन्तर प्राणायाम का क्रम से अभाव होता है तथा निरोध के पूर्व उनकी दीर्घता तथा सूक्ष्मता का निर्णय देश, काल और संख्या द्वारा हो जाता है । अतः चतुर्थ-प्राणायाम को स्तम्भवृत्ति से विशेष प्राणायाम मानना चाहिए ।

स्वामिनारायणभाष्य

श्वास और प्रश्वास की गति का प्रतिबन्ध ही प्राणायाम है । इसके चार भेद किए गए हैं । (1) बाह्यवृत्तिनामकरेचक प्राणायाम (2) आभ्यन्तरवृत्तिनामक पूरक प्राणायाम (3) स्तम्भवृत्तिनामक कुम्भक प्राणायाम (4) केवलकुम्भकप्राणायाम ।

प्रश्वासपूर्वक गति का अभाव रेचक है । कोष्ठ की वायु की निःसारण क्रिया को प्रश्वास कहते हैं । जब प्रश्वास की गति का निरोध हो जाता है तब रेचक प्राणायाम होता है । साधारण स्थिति में प्राणवायु का आगमन और निःसारण ये दोनों क्रियायें स्वाभाविक रूप से स्वतः ही होती रहती है । परन्तु जब आसन में स्थिर होने के

- -

स आभ्यन्तरवृत्तिः प्राणायामः पूरकान्तप्राणनिरोधो न पूरणमात्रः ।"

— भास्वती पृ० 269 ।

। - " तत्पूर्वकः = दीर्घसूक्ष्मतापूर्वको भूमिजयात् दीर्घसूक्ष्मोभयगमस्य भूमिजयात् -, क्रमेण = क्रमतः, न तु तृतीयस्तम्भवृत्तिवत्सकृत्, उभयोः = बाह्याभ्यन्तरयोः, गत्यभावः = स्तम्भवृत्ति विशेषरूपः, चतुर्थः प्राणायाम इति ।"

— भास्वती पृ० 273 ।

पश्चात् प्राणवायु की दोनों गतियों को रोका जाता है तब उस प्रतिबन्ध की प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं । 'रेचक' में प्रश्वास अर्थात् अन्तस्थ वायु को निकालने से रोका जाता है । बाहर की वायु का आचमन करना आभ्यन्तरवृत्ति है । जिसका नाम पूरक भी है । बाह्य वायु को ग्रहण करने की गति को निरुद्ध करना पूरक-प्राणायाम है । जब विधारकप्रयत्न द्वारा रेचक, पूरक की गति का अभाव हो जाता है तब स्तम्भवृत्ति होती है ।[1]

इन तीनों प्राणायामों की दीर्घता तथा सूक्ष्मता देश, काल और संख्या द्वारा देखी जाती है । देश, काल के बारे में विवेचन वेदान्तटीकाकार के समान ही किया गया है । 'संख्या' के विवेचन में मात्राओं का क्रम निर्धारित किया गया है । 12, 24, 36 मात्राएँ हैं । इनमें 12 मात्राकाल तक रहने वाला प्राणायाम मृदु-प्राणायाम है, 24 मात्रा वाला मध्यम और 36 मात्रा वाला तीव्र-प्राणायाम होता है ।

रेचक और पूरक का अतिक्रमण कर केवल स्वयमेव ही रहने वाला प्राणायाम केवल-कुम्भक-प्राणायाम है ।[2] यह प्राणायाम उक्त प्राणायामों की अपेक्षा अधिक व्यापक है । व्यापकता के ही कारण केवल-कुम्भक-प्राणायाम का परीक्षण देश, काल और संख्याओं से नहीं होता । क्योंकि केवल-कुम्भक-प्राणायाम मास, संवत्सरादि काल तक रहने वाला होता है ।

प्राणायामों का योग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसकी महत्ता को ही ध्यान में रखकर यह कहा गया है कि 'प्राणायाम' 'तपस्या' से भी बढ़कर है ।[3]

- -

1 - " पूरकः श्वासपूर्वकोगत्यभावः ।"
" स्तम्भवृत्तिर्नाम - कुम्भकः, यत्रोभयोः श्वासप्रश्वासयोरभावो विधारकप्रयत्न-मात्रादेव भवति न तु तत्र रेचक-पूरकप्रयत्नावपेक्ष्यते ।"
--- भा०ना०भा०पृ० 252 ।

2 - " रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वैकेवलकुम्भकः ।" --- वही पृ० 255 ।

3 - " उक्तं चाऽऽगमिभिः - 'तपो न परं प्राणायामात्' ।"
--- वही पृ० 256 ।

योग के विभिन्न साधनों की व्यवस्था

योगसाधना के प्रधान उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं । अभ्यास द्वारा चित्त स्थिरता को प्राप्त कर एकाग्र हो जाता है । एकाग्रचित्त ही समाधि साधना के योग्य होता है अतः अभ्यास का समाधि-साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसी तरह 'वैराग्य' की भी उपयोगिता समाधि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वैराग्य-भावना के उदित होने पर चित्त ऐहिक,पारलौकिक सभी प्रकार के विषयों के प्रति अनासक्त भाव होकर समाधि के योग्य हो जाता है । अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त योग के अन्य और भी साधनों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा- क्रियायोग, और यमनियमादि अष्टांगयोग । इन साधनों के अभ्यास से व्युत्थित चित्त वाले साधक भी योग-सिद्धि के योग्य हो जाते हैं परन्तु अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान इन्हें भी करना पड़ता है । सम्भवतः इसी लिए अभ्यास और वैराग्य को योग का प्रमुख साधन माना गया है । इन साधनों के बीच संबन्ध भाव को देखकर सभी व्याख्याकारों ने अपनी अपनी व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं । जिनका उल्लेख अलग-अलग किया जा रहा है ।

व्यासभाष्य

योग के लक्षण के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय का वर्णन प्रथमपाद तथा द्वितीय-पाद दोनों में ही किया गया है । द्वितीय-पाद में 'क्रियायोग' नामक उपाय का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि अभ्यास और वैराग्य नामक उपायद्वय से समाहित चित्त वाले साधक योगप्राप्त करते हैं और व्युत्थित चित्त वालों के लिए पहले क्रियायोग का आचरण करना आवश्यक होता है । तत्पश्चात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा उन्हें योगसिद्धि प्राप्त होती है । साधनपाद में ही अष्टांगयोगों का भी वर्णन किया गया है जिन्हें योग का साधन बतलाया गया है । अष्टांग योग किस प्रकार के अधिकारी के लिए है ऐसा कुछ भी उल्लेख भाष्य में नहीं प्राप्त होता है ।

समाहित चित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करके सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करते हैं । व्युत्थितचित्त वाले साधक भी योग प्राप्त कर सकते हैं परन्तु उनके चंचल चित्त को स्थिर करने के लिए पहले उन्हें तपस्या, स्वाध्यायादि क्रियायोग के उपायों का अनुष्ठान करना पड़ता है । क्रियायोग द्वारा क्लेशस्तोमल हल्के हो जाते हैं । इन तनुभाव प्राप्त क्लेशादि को विवेकख्याति रूपी अग्नि द्वारा दग्ध-बीज-भावता प्राप्त कराकर अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग को प्राप्त करते हैं । योग प्राप्त करने का तृतीय साधन या उपाय अष्टाङ्ग योग है । यम, नियम , आसन , प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं । इन अङ्गों का सेवन करने से भी अधिकारी योगप्राप्त करते हैं ।

'योग' प्राप्ति की दृष्टि से उक्त तीनों उपायों में 'अभ्यास' और 'वैराग्य' का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि क्रियायोग तथा अष्टांगयोग के पश्चात् सफलता प्राप्त करने के लिए अन्त में अभ्यास और वैराग्य नामक उपाय का सेवन सभी अधिकारियों को करना पड़ता है । अष्टांगयोग में प्रारम्भ के पांच साधनों के उपरान्त धारणा, ध्यान और समाधि तो अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही साध्य हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि अभ्यास और वैराग्य का योग के प्रत्येक साधनों से घनिष्ठ संबन्ध है ।

तत्ववैशारदी

तत्ववैशारदीकार ने भी केवल यही कहा है कि प्रथम-पाद में बताए गए उपाय समाहितचित्त वालों के लिए हैं और क्रियायोग नामक उपाय व्युत्थितचित्त वालों के लिए हैं । अष्टांगयोग को लेकर किसी विशेष अधिकारी का नामोल्लेख इस व्याख्या में भी नहीं किया गया है । समाहित-चित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग प्राप्त करते हैं । समाहितचित्त का तात्पर्य है अविक्षिप्त चित्त अर्थात् जिन साधकों का चित्त चंचल नहीं होता प्रत्युत सरलता से एकाग्र हो जाता है उन्हें ही समाहितचित्त कहा गया है ।

व्युत्थित-चित्त वाले भी योग प्राप्त कर सकें इस बात को ध्यान में रखते हुए 'क्रियायोग' का उपदेश किया गया है । व्युत्थितचित्त वाले साधक के लिए पहले क्रियायोग का आचरण आवश्यक है उसके पश्चात् अभ्यास और वैराग्य नामक उपायों से योगसिद्धि प्राप्त होती है । असिद्ध लोग भी योग को प्राप्त कर सकते हैं ।

इसके लिए 'अष्टांगयोग' का उल्लेख किया गया है । यम, नियम, आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं । इनमें प्रारम्भ के पाँच साधनों को योग का बहिरंग साधन कहा गया है । धारणा, ध्यान और समाधि में चित्त अभ्यास और वैराग्य के फलस्वरूप ही अनुगत होता है ।

इस प्रकार तत्ववैशारदीकार की व्याख्या से भी यही निर्धारित होता है कि अभ्यास और वैराग्य दोनों साधनों के मध्य सामान्य तथा अनिवार्य उपाय हैं । बिना अभ्यास और वैराग्य के योग-सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति

वृत्तिकार भोज ने भी योग के साधनों का वर्णन करते हुए उन साधनों से संबन्धित साधकों के बारे में विशेष वर्णन नहीं किया है । समाहित-चित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । व्युत्थित चित्त वालों को अभ्यास और वैराग्य नामक योग के साधन का अनुष्ठान करने के लिए सर्वप्रथम क्रियायोग द्वारा क्लेशों को शिथिल करना चाहिए तदुपरान्त ही वे अभ्यास और वैराग्य के अनुष्ठान द्वारा योग को प्राप्त कर सकते हैं । क्लेशों से उत्पन्न अशुद्धियों को नष्ट करने के लिए योगांगों का अनुष्ठान करना चाहिए । ये योगांग आठ प्रकार के हैं जिनके पालन से क्लेश रूपी अशुद्धियों का नाश हो जाता है और चित्त शुद्ध सात्त्विकवृत्ति में स्थित हो ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होता है । योगांगों का वर्णन करते समय भोजवृत्तिकार ने योगांगों के साधक विशेष का उल्लेख नहीं किया है । भाष्यकार की ही तरह ये भी इस विषय पर मौन हैं ।

विवरण

कैवल्य का साधन सम्यक्दर्शन है । सम्यक्दर्शन के अन्तर्गत सम्प्रज्ञात-समाधिगत-ज्ञान और विवेकख्याति रूप सम्यक्ज्ञान आते हैं जिनसे चित्तवृत्तियों का निरोध होने के पश्चात् प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का सम्यक् अर्थात् ठीक-ठीक ज्ञान

1- " व्युत्थित चित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः स्थास्यम् उपायाः तीनि तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह ।"

प्राप्त होता है । परन्तु यह सम्यक् ज्ञान कैसे होता है ? इसके उत्तर में सम्यक्ज्ञान प्राप्ति के साधनों का उल्लेख साधन-पाद में किया गया है । विवरणकार की व्याख्या के अनुसार साधनपाद में प्रतिपादित योग के साधन ही योगसंबंधित विशिष्ट साधन हैं । इन साधनों का प्रतिपादन मुख्य रूप से इसी पाद में किया गया है । इसीलिए इस पाद का नाम साधन पाद है ।[1]

साधन के अभाव में कोई भी सिद्धि नहीं होती । अतः समाधि तथा हानोपाय की सिद्धि के लिए साधनों की अपेक्षा होती है । ये साधन हैं क्रियायोग और यमनियमादि । समाधिपाद में वर्णित समाधियों की सिद्धि के लिए समाहितचित्त वाले साधक अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान करते हैं और इन्हीं साधनों के अभ्यास द्वारा वे समाधि की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु व्युत्थित-चित्त वाले साधकों का चित्त (क्रियायोग) के आचरण तथा तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान द्वारा समाधि के योग्य बनता है[2] और इसके पश्चात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा वे साधक भी योग को प्राप्त करते हैं ।[3]

साधनपाद में वर्णित योग के आठों अंगों की उपयोगिता विवेकख्याति के लिए कही गई है ।[4] विवरणकार ने योगवार्तिककार की भाँति साधकों की श्रेणियों के अनुसार इन साधनों की उपयोगिता नहीं सिद्ध की है प्रत्युत इन्होंने साधना के अनुसार साधनों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है ।

- -

1 - " योगसाधनानि च योगद्वारेण सम्यग्ज्ञानसाधनान्येव । तानि च प्राधान्येनास्मिन्पादे प्रतिपाद्यन्त इति साधन पाद इत्युच्यते ।"
— विवरण पृ0 121 ।

2 - " अनभ्यस्तयुक्तेर्विरक्तस्य कुतः समाधिः इति समाधेर्नाय च तपस उपादानम् ।" — वही पृ0 124 ।

3 - " इतरयोगाङ्गसहितः समाधिं भावयति ।" — वही पृ0 124 ।

4 - " योगाङ्गानुष्ठानात्तु यत्नेन विवेकख्यातिसिद्धिरिति ।"
— वही पृ0 208 ।

योगवार्तिक

विज्ञानभिक्षु ने योग के साधनों का क्रमबद्धवर्णन किया है । इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन श्रेणियों में अधिकारियों को विभक्त किया है और अधिकारियों के स्वभाव के अनुकूल साधना के मार्ग को भी निश्चित् किया है । उत्तम अधिकारी अभ्यास और वैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञातयोग और असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करते हैं । मध्यम अधिकारी तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि साधनों के द्वारा योग प्राप्ति के योग्य बनता है । क्रियायोग के उल्लिखित साधनों का अनुष्ठान करने के पश्चात् इनके लिए अभ्यास और वैराग्य का अनुष्ठान भी आवश्यक है । क्रियायोग को विज्ञानभिक्षु ने 'कर्मयोग' कहा है । क्योंकि स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि उपायों में कर्मयोग के ही सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं । क्रियायोग द्वारा साधक अपने चित्त के मलों को हल्का करके उन्हें प्रसंख्यान अग्नि द्वारा दग्ध-बीज-भाव-सा प्राप्त कराकर अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग को प्राप्त करता है । परं मन्दअधिकारी चूँकि उक्त दोनों अधिकारियों की तुलना में मन्द है अतः इन्हें परंमन्द अधिकारी कहा गया है । इनका चित्त व्युत्थितचित्त वालों से भी अधिक व्युत्थित होता है । अतः योग के लिए इन्हें अधिक प्रयत्न करना पड़ता है । परंमन्दाधिकारी के लिए योग के सभी उपायों का आचरण करना पड़ता है । यम, नियमादि योग के आठ साधनों का प्रथमतः अनुष्ठान करने के उपरान्त क्रियायोग तथा अभ्यास और वैराग्य का भी आचरण करने पर ही इन्हें योगसिद्धि प्राप्त होती है ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन दोनों व्याख्याओं में व्याख्याकार वार्त्तिककार के विवेचन से प्रभावित हैं । इन व्याख्याकारों ने भी वार्त्तिककार की ही भाँति साधकों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर के उनकी साधना का उल्लेख किया है ।

- -

1 - " क्रियायोगस्य मोक्षानाविव्यापारकथनात्कर्मयोगो ज्ञानादि साधनत्वात् ज्ञानाद्व्यवधानेन न साक्षान्मोक्षहेतुरिति सिद्धान्त इति । "

— यो०वा० पृ० 142 ।

मणिप्रभा

मणिप्रभाकार के अनुसार योग के साधनों का उल्लेख द्वितीय-पाद में ही है । मणिप्रभाकार ने इन साधनों को लेकर साधकों का उल्लेख नहीं किया है । अभ्यास और वैराग्य चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय है अतः इसके अनुष्ठानकर्ता को कोई विशेष संज्ञा इन्होंने नहीं दी है । अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त स्थिति के योग्य हो जाता है । सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नामक द्विविध योगों की प्राप्ति के साधनों का उल्लेख द्वितीयपाद में किया गया है । क्रियायोग और अष्टांगयोग ही योगप्राप्ति के साधन हैं ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग के अंग हैं इनका आचरण करने से क्लेशों को हटाकर समाधि की भावना की जाती है । अष्टांगे द्वारा चित्त की क्लेश और कर्मरूपी अशुद्धियों का क्षय होता है तथा चित्त में ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे विवेकख्याति प्राप्त होती है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के बहिरंगसाधन हैं । धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्तचन्द्रिका

इन व्याख्याओं में मणिप्रभा के विचारों का ही समर्थन किया गया गया है ।

भास्वती

योग को प्राप्त करने का साधन मन है । मन का निरोध करने पर ही योग की प्राप्ति होती है । अभ्यास और वैराग्य समाधि के उपाय हैं । जिनके द्वारा सिद्ध सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातसमाधि को प्राप्त कर अन्त में कैवल्य को प्राप्त हो जाता है । अभ्यास और वैराग्य नामक योग के उपाय समाहित चित्त वाले

- -

1- " मनः प्रधानसाधनानि स्यादभ्यासेन वैराग्येण च सिद्धस्य समाधे-रवान्तर वैशारद्यप्रभूतं कैवल्यहेति योगः प्रथमे पादे उद्दिष्टः ।"

— भास्वती पृ0 137 ।

योगी के लिए ही उपयुक्त है । व्युत्थित-चित्त वाले व्यक्तियों का चित्त चंचल रहता है । चंचल चित्त अभ्यास और वैराग्य रूप साधन नहीं कर सकता अतः उसके लिए पहले उन्हें क्रियायोग द्वारा चित्त की अशुद्धियों को दूर करना पड़ता है तत्पश्चात् योग को ध्येय मानकर योगानुकूल आचरण करना पड़ता है । चित्त की अशुद्धियों को हटाने के लिए यम-नियमादि योग के पाँच बहिरंगसाधनों का अनुष्ठान करने से ही साधक शान्तचित्त होकर योगाभ्यास के लिए समर्थ हो पाता है ।[1]

भास्वतीकार ने तृतीय साधन से संबन्धित साधक की कोई अन्य संज्ञा नहीं दी है । व्युत्थित-चित्त वाले साधकों के लिए ही उक्त दोनों साधनों का उपयोग बताया है ।

स्वामिनारायण-भाष्य

अभ्यास और वैराग्य द्वारा उत्तमसाधक योग प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु व्युत्थितचित्त वाले साधक के लिए यह मार्ग अत्यन्त दुःसाध्य है । व्युत्थितचित्त वाले के लिए ही द्वितीय-पाद में क्रियायोग तथा अष्टांगयोग नामक योग के साधनों का विवेचन किया गया है ।[2] व्युत्थितचित्त वाले साधकों में पुनः कोई वर्गीकरण इन्होंने भी नहीं किया है । व्युत्थितचित्त वालों के लिए आरुरुक्षु संज्ञा इन्होंने दी है । 'आरुरुक्षु' अर्थात् व्युत्थितचित्त वालों का चित्त बहिर्मुखी होता है । अतिचंचल चित्त को योगसिद्धि के योग्य बनाने के लिए क्रमशः क्रियायोग तथा अष्टांगयोग का आचरण करना आवश्यक होता है ।

- -

1 - " एभिर्बाह्यकर्मविरतः शान्तो दान्त उपरतनिखिलवृत्तिर्भूत्वा समाध्यभ्याससमर्थो भवेत् ।" — भास्वती पृ० 139 ।

2 - " समाहितयोगाभ्यासचित्तस्योत्तमाऽधिकारिणोऽभ्यासवैराग्यात्मकसाधनेनैव पूर्वपादे योगः क्रियायोगादिसकलांग निरपेक्षः प्रदर्शितः । अभ्यासवैराग्ये चाऽनिकृष्टेन न गर्वेणा- प्रतिगतेव भवतः । तस्माद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य योगाऽऽरम्भोः केनोपायेन कथं योगसिद्धिः स्यात् । तदर्थं क्रियायोगं सकर्माष्टाङ्गादिसापेक्षं सपरिकरं विधेयमिष्यन् ।" — स्वा०ना०भा० पृ० 160 ।

धारणा, ध्यान और समाधि तीनों सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरङ्ग साधन हैं और असम्प्रज्ञात के बहिरंग । कैसे ?

व्यासभाष्य

धारणा, ध्यान, समाधि, सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग साधन हैं । भाष्यकार ने अन्तरंग शब्द की कोई विशेष व्याख्या नहीं की है । केवल इतना कह कर व्याख्या समाप्त कर दी है कि यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि योग के साधनों में से धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग साधन हैं । ये अन्तरंग साधन ही असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिरंग साधन हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातसमाधि में इन तीनों का अभाव होना है । 'तदभावे-भावात्' अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि तब प्रारम्भ होती है जब धारणा, ध्यान और समाधि का निरोध परवैराग्य के द्वारा हो चुकता है । इसके विपरीत सम्प्रज्ञातसमाधि की सिद्धि धारणा ध्यान और समाधि के उपस्थित न रहने पर नहीं होती । ये तीनों एक विषय में किए जाने पर संयम कहे जाते हैं । सम्प्रज्ञातसमाधि संयम की ही परावस्था है । संयम के अभाव काल में सम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति नहीं होती । इसीलिए सम्प्रज्ञात की स्थिति के लिए इन तीनों साधनों की आवश्यकता होती है ।

तत्ववैशारदी

धारणा ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग सिद्ध करने के लिए व्याख्याकार लिखते हैं कि धारणादि को तदनन्तर स्वीकार करने पर इसमें व्यभिचारदोष की आपत्ति होती है क्योंकि तदनन्तरत्व के कारण धारणादि की स्थिति ईश्वरप्रणिधान में होती है क्योंकि समाधि के अनन्तर ईश्वरप्रणिधान नामक योग का अंग आता है । अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक तदनन्तरत्व नहीं हो सकता और यदि समानविषयत्व को अन्तरंगत्व का प्रयोजक माना जाये तो धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग सिद्ध होते हैं ।

- -

1 - " तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरंगं सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पंचभ्यः साधनेभ्य इति ।" — व्यास भाष्य पृ0 284 ।

2 - " तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरंगं भवति । कस्मात् ? तदभावे-भावादिति ।" — वही पृ0 285 ।

3 - " तदिदं सूत्रत्रयं (धारणा) ध्यानस माधयः) सूच्य समान विषयत्वे मान्तरम्, न तेषां यमादिनः ।" — त0वै0पृ0 284 ।

क्योंकि धारणा, ध्यान, समाधि में जो ध्येय (विषय) होता है उसी ध्येय (विषय) का साक्षात्कार सम्प्रज्ञात-समाधि में प्राप्त होता है । इस प्रकार सम्प्रज्ञातसमाधि तथा धारणादि का विषय समान होता है । अतः अन्तरंगत्व का प्रयोजक तत्त्ववैशारदीकार के अनुसार समानविषयत्व होता है । असम्प्रज्ञातसमाधि पर-वैराग्य के अनन्तर होती है, अतः इस समाधि के लिए धारणादि भी पाँच अंगों के समान बहिरंग सिद्ध हुए ।[1]

राजमार्तण्डवृत्ति

धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञातसमाधि के स्वरूप का निष्पादन करते हैं। अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग कहा गया है ।[2] अन्तरंगत्व का प्रयोजन इनके इस व्यवस्था के अनुसार स्वरूप का निष्पादन करना है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, समाधि के लिए परम्परया सहायक हैं । निर्बीज-समाधि के लिए धारणा ध्यान और समाधि भी परम्परया ही सहायक हैं अतः यह तीनों निरालम्ब समाधि के लिए अन्तरंग नहीं हैं । प्रत्युत बहिरंग है ।[3]

विवरण

इस व्याख्या में अन्तरंग 'योग' के साधनस्वरूपत्व के रूप में ग्रहण किया गया है ।[4] धारणात्रय 'योग' की स्थिति के लिए परमावश्यक अंग हैं । इन तीनों साधनों के द्वारा ही 'योग' की प्राप्ति होती है । बिना इन साधनों के योग सर्वथा असम्भव है इसी लिए इन साधनों को योग का आवश्यक अंग तथा चित्त की संपत्ति कहा गया है ।[5] "योग" शब्द में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों योग अन्तर्भूत हैं । इनमें से धारणात्रय सम्प्रज्ञातयोग के ही अन्तरंग माने जाते हैं। असम्प्रज्ञात योग निर्बीज है, अतः इस योग में इन साधनों को अन्तरंग नहीं माना जाता है । ये असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिरंग हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातयोग 'परवैराग्य' द्वारा प्राप्त होता है । इस समाधि में इन सबीज साधन-त्रयों का सर्वथा अभाव रहता है ।[6]

- -

1 - "(असम्प्रज्ञातसमाधेः) तस्य निर्बीजतया तैः सह समान विषय... सन्निकर्षः न तु तदनन्तरभावस्तस्य बहिरंगे परप्रापितनवोलितया सर्वोपनिधापित् स्थिति सव्यभिचार... तदनन्तरभावित्वमस्य नास्ति ।" — त०वै० 286 ।

2 - "धारणादि योगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरंग समाधिस्वरूपनिष्पादनात् ।" — रा०मा०वृ० पृ० 286 ।

3 - "निर्बीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि त्रयं बहिरंगं पारम्पर्येणोपकारकत्वात् ।" — वही पृ० 287 ।

4 - "तदन्तरंगत्वं पूर्वसाधनापेक्षयान्तरंगत्रयं... ।" — विवरण पृ० 237 ।

5 - "धारणादित्रयेण विना न योगः सम्भवति कदाचित् । ... योगस्य चित्तसम्पत्तिरूपत्वा-त् ।" — वही पृ० 238 ।

6 - "तच्च सबीजान्तरंगसाधनत्रयस्याभावेऽपि पुरुष... निर्बीजयोगस्य

योगवार्तिक

धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात्-कारण हैं । साक्षात्कारण होने के कारण ही धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग तथा 'बीज' कहा गया है । [1] धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ध्येय में ही होने लगें तब उन्हें 'संयम' कहा जाता है । यह सम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात्कारण है । सम्प्रज्ञातसमाधि में उक्त संयम के ध्येय विषय का साक्षात्कार होता है उससे भिन्न विषयों का कोई ज्ञान नहीं होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धारणा, ध्यान, समाधि, सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरंग हैं । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच चित्त की स्थिरता के लिए उपयोगी हैं तथा सम्प्रज्ञातसमाधि के लिए ये परम्परया सहायक होते हैं । साक्षात् नहीं ।

असम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीजसमाधि भी कहते हैं । इस समाधि के लिए धारणादि तीनों अन्तरंग नहीं होते । अपितु उक्त पाँचों बहिरंग साधनों की भाँति ये भी परम्परया सहायक होते हैं । [2] असम्प्रज्ञातसमाधि परवैराग्य से प्राप्त होती है अतः असम्प्रज्ञातसमाधि निरालम्बन होती है । विदेह तथा प्रकृतिलीन उपासक भी असम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति केवल वैराग्य द्वारा करते हैं । सालम्बन संयम की अपेक्षा उक्त उपासकों को भी नहीं हुआ करती है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि असम्प्रज्ञातसमाधि के लिए धारणादि-त्रय की अपेक्षा नहीं होती । इसलिए धारणादि-त्रय जो सालम्बन अभ्यास है, असम्प्रज्ञात में साक्षात्कारण नहीं बनते । इसलिए ये असम्प्रज्ञात के अन्तरंग कारण नहीं माने जाते ।

योगदीपिका

योग के आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार सम्प्रज्ञात योग के बहिरंग हैं और धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अन्तरंग हैं । [3] असम्प्रज्ञात-समाधि निर्बीज-समाधि कही जाती है क्योंकि इस समाधि में ध्येय रूप बीज का अभाव होता है । ध्येय रूप बीज का अभाव यह सिद्ध करता है कि धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग नहीं प्रत्युत परम्परया सहायक होने के कारण बहिरंग हैं ।

- -

भावात् बहिरंगत्वम् ।" विवरण पृ० 238 ।

1 - "अन्तरंगत्वे च बीजभूतं यद्ध्येयतत्तिरिफलवृत्तिनिरोधस्ते सम्पद्यते ध्येयसंयमः साक्षादेव कारणं विषयान्तरासंचार स्येत्यात् ।" — यो०वा०पृ० 284 ।

2 - "निर्बीज योगस्यासम्प्रज्ञातस्य तदपि त्रयं बहिरंगमेव, विपुरुषख्यातिपरवैराग्य द्वारा परम्परया हेतुत्वेनावाधकत्वा भावादित्यर्थः ।" — वही पृ० 286 ।

3 - "पूर्वेभ्यः पूर्वोपादोक्त पञ्चाङ्गेभ्यः, यमादिभ्यः पादोक्तं धारणात्रयं योगस्य सम्प्रज्ञातस्यान्तरङ्ग भवति ।" यो०दी०३०८ ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

धारणा ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है। सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय स्वरूप सम्यक्प्रकारेण भासित होता रहता है। धारणादि-त्रय में भी ध्येय सर्वदा विद्यमान रहता है। इस प्रकार 'साध्य' विषय दोनों में एक ही होते हैं और बिना साध्य रूप ध्येय के सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं हो सकती। ये धारणादित्रय आवश्यक रूप से इस समाधि में विद्यमान रहते हैं। अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है[1]। असम्प्रज्ञातसमाधि में इन सभी का चित्तनिरोध हो जाता है और चित्त सर्वज्ञानशून्य, ध्येयशून्य निर्बीज-समाधि में अवस्थित हो जाता है। सम्प्रज्ञात-समाधि, विवेकख्याति आदि असम्प्रज्ञातसमाधि की परम्परया सहायता करते हैं। इन सब का परवैराग्य द्वारा निरोध कर दिया जाता है तब असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होती है। परम्परया सहायक होने के कारण सम्प्रज्ञातसमाधि तथा उसके अन्तरंग धारणा त्रय भी असम्प्रज्ञातसमाधि के बहिरंग सिद्ध हुए[2]।

मणिप्रभा

धारणा, ध्यान, और समाधि सम्प्रज्ञातयोग के लिए साक्षात् रूप से उपकारक हैं। अतः इन्हें सम्प्रज्ञात-योग का अन्तरंग कहा गया है[3]। अन्तरंग का प्रयोजन मणिप्रभाकार के अनुसार "समानविषयता" से है अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि जब एक ही ध्येय में टिक जाते हैं तब संयम होता है। सम्प्रज्ञातसमाधि में उसी ध्येय विषय का सम्यक्ज्ञान होता है। ध्येय-विषय दोनों में समान होते हैं अतः अन्तरंग का प्रयोजन यहाँ समानविषयता ही है। धारणात्रय सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरंग निरूपित किए गए हैं। असम्प्रज्ञातयोग के लिए ये तीनों भी बहिरंग हैं क्योंकि

- -

1 - " साध्यसमानविषयत्वेन हि सम्प्रज्ञातं प्रत्यन्तरंगत्वम्।"
— पा०यो०सू०वृ० पृ० 62।

2 - " अथ निर्बीजस्य तस्य मध्यत्रमाहित। तेषु चित्तनिरूद्धेषु परवैराग्यानन्तर-मुत्पादाच्च।"
"तदपि त्रयं निर्बीजस्यासम्प्रज्ञातस्य बहिरंगमेवेत्यर्थः।" वही पृ० 62।

3 - " धारणाऽऽदित्रयं त्वगिनः समानविषयतया साक्षात्स्वरूपोपकारकत्वा-दन्तरंगम्।"
— मणिप्रभा पृ० 52।

असम्प्रज्ञातयोग में धारणादि के साथ समानविषयता का संबन्ध नहीं होता है। सम्प्रज्ञातयोग के परिपक्व हो जाने पर, पर-वैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञात का भी निरोध होने पर असम्प्रज्ञातयोग रूप निर्बीज-योग होता है। अतः असम्प्रज्ञातयोग में उक्त धारणादि भी परम्परा रूप से सहायक होते हैं। अतः असम्प्रज्ञातयोग के लिए यह साधन-त्रय बहिरंग हैं।

योगसूत्रार्थबोधिनी

धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात् उपकारक होने के कारण सम्प्रज्ञात-समाधि रूप अंगी के अन्तरंग हैं[1]। और निर्बीज-समाधि के लिए ये तीन भी बहिरंग हैं, क्योंकि सम्प्रज्ञातयोग के परिपक्व हो जाने पर परवैराग्य द्वारा सम्प्रज्ञातयोग का भी निरोध होने पर निर्बीज-समाधि होती है। अतः यहाँ परम्परया ये तीनों सहायक होते हैं। इसलिए असम्प्रज्ञातयोग के लिए धारणात्रय भी बहिरंग है।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

धारणात्रय को सम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग माना गया है। अन्तरंग का अर्थ है 'साक्षात्रूप से सहायक या उपकारक'। यम नियमादि पाँचों परम्परया सम्प्रज्ञातसमाधि के सहायक हैं। धारणादि-त्रय साक्षात् रूप से सम्प्रज्ञातसमाधि के सहायक हैं अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का 'अन्तरंग' कहा गया है[2]। ये ही धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के लिए बहिरंग हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातयोग का अन्तरंगसाधन 'परवैराग्य' है, धारणादि असम्प्रज्ञातयोग के लिए परम्परया सहायक है; अतः ये असम्प्रज्ञातयोग के बहिरंग साधन हैं।

- -

1 - "धारणात्रयमन्तरंगम्। अंगिसमानविषयतया साक्षात्स्वरूपोपकारकत्वात्। अतएव तत्सङ्ग्रमेषु विनियोगार्थमत्र निरूपितमित्यर्थः।" — सू०बो० पृ० 39 ।

2 - "धारणाध्यानसमाधयः, अन्तरंगम् अंगिसमानविषयतया साक्षात् स्वरूपोपकार-कमित्यर्थः।" — यो०सि०च० पृ० 109 ।

भास्वती

धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तरंग हैं । इस संबन्ध में इस व्याख्या में कोई वर्णन नहीं किया गया है । केवल 'सुगमं भाष्यम्' लिख दिया गया है । इससे यह अनुमान किया जाता है कि भास्वतीकार ने इस विषय के संबन्ध में भाष्य के ही विचारों, तर्कों का अनुमोदन किया है । असम्प्रज्ञातसमाधि के लिए ये साधनत्रय क्या हैं? इस संबन्ध में अति संक्षिप्त विवेचन प्राप्त है । वह इस प्रकार है :- असम्प्रज्ञातसमाधि निर्बीज है, क्योंकि इसमें धारणादितीनों साधनों का अभ्यास नहीं किया जाता है । धारणादित्रय ध्येययुक्तत्वेन सबीज हैं । इन सबीज साधनों से रहित होने के कारण असम्प्रज्ञातसमाधि को ही निर्बीज कहा गया है । असम्प्रज्ञातसमाधि का अन्तरंग 'परवैराग्य' है क्योंकि 'परवैराग्य' ही के द्वारा असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति होतीहै । बिना इसके यह योग नहीं प्राप्त होता है ।[1]

स्वामिनारायणभाष्य

धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात्सम्पादक हैं । अतः इन्हें सम्प्रज्ञात-समाधि का अन्तरंग कहा गया है ।[2] क्योंकि साक्षात् रूप से जो अंग जिसकी सहायता करें उसे उस अंगी का अन्तरंग कहा जाता है ।[3] एक ही ध्येय-विषय में धारणा, ध्यान और समाधि का होना 'संयम' है । यह 'संयम' ही सम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात् सम्पादक है ।[3] क्योंकि जब ध्येय-विषय का ही सम्यक् ध्यान, धारणा और समाधि होती है तब सम्प्रज्ञातसमाधि होतीहै । बिना ध्येय-विषय का सम्यक्ज्ञान हुए सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं होती । इस प्रकार ये तीनों अंग साक्षात् सम्प्रज्ञातरूपी अंगी के साक्षात् सहायक सिद्ध हुए और इसीलिए इन्हें सम्प्रज्ञात-समाधि का अंतरंग कहा गया है। असम्प्रज्ञात-समाधि के लिए ये अंग बहिरंग हैं क्योंकि ये अंग साक्षात् रूप से असम्प्रज्ञात-समाधि का सम्पादन नहीं करते प्रत्युत परम्परया असम्प्रज्ञातसमाधि की सहायता करते हैं । अतः इन्हें असम्प्रज्ञातयोग के संदर्भ में बहिरंग कहा गया है[4] ।

- -

1 - "धारणाऽऽदिसबीजाभ्यासस्याभावे निवृत्तौ निर्बीजस्य प्रादुर्भावात्, परवैराग्यमेव तस्यान्तरंगमुक्तम् ।" — भास्वती पृ० 288, 289 ।

2 - " धारणादियोगांगत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरंगमित्युच्यते साक्षात् समाधिस्वरूप सम्पादकत्वादिति ।" — स्वा०ना०भा० पृ० 269 ।

3 - " यतः संयमो यथा सम्प्रज्ञातयोगस्य साक्षात् सम्पादकस्तथा नाऽसम्प्रज्ञातयोगस्य ।" — वही पृ० 269 ।

4 - " किन्तु सम्प्रज्ञातयोगद्वारेणेति, बहिरंगत्वं परम्परया सम्पादकत्वेनसत्त्वात्-मिति ।" — वही पृ० 269 ।

योगसाधनाकाल में होने वाले चित्त के परिणामों का वर्णन

व्यासभाष्य

गुणों की निरन्तर परिणमनशीलता के कारण त्रिगुणात्मक चित्त भी परिणामशील है तथा प्रत्येक क्षण चित्त में कुछ न कुछ परिणाम हुआ करता है । योग साधना-काल में चित्त में जो परिणाम होते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं । (1) निरोधपरिणाम (2) समाधिपरिणाम (3) एकाग्रतापरिणाम ।

निरोधपरिणाम :— चित्त के व्युत्थान-संस्कारों का दब जाना तथा निरोध-संस्कारों का उदित होना निरोध-परिणाम है । व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । योगकाल से भिन्न समय में चित्त की वृत्तियाँ जब सांसारिक विषयों से आबद्ध होतीहैं तब जो संस्कार चित्त में बनते हैं उन्हें व्युत्थान-संस्कार कहा गया है । निरोध प्रक्रिया से बने संस्कार-निरोध संस्कार कहलाते हैं । ये संस्कार भी चित्त के ही धर्म हैं । निरोध-संस्कारों से ही व्युत्थान-संस्कार दबते हैं । इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं । यही चित्त का निरोध-परिणाम है ।[1]

समाधिपरिणाम :— चित्त में सर्वार्थता का अभाव तथा एकाग्रता का आविर्भाव होना चित्त का समाधिपरिणाम है । सर्वार्थता चित्त का धर्म है । सर्वार्थता का अर्थ है — चित्त का अनेकों विषयों से आबद्ध होना । समाधिकाल से भिन्न स्थिति में सर्वार्थता चित्त का स्वाभाविक धर्म है । यही चित्त जब एकाग्र हो जाता है तब

- -

1. " व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः। निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः । तयोरभिभवप्रादुर्भावौ व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते । निरोधक्षणं चित्तमन्वेति । तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः । तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ व्याख्यातम् । "

— व्यासभाष्य पृ० 286 ।

शनैः-शनैः सर्वार्थता का तिरोभाव होने लगता है और चित्त में एकाग्रता का उदय होने लगता है । चित्त का क्षीयमाणसर्वार्थता तथा उदीयमान एकाग्रता नामक दो धर्मों से अन्वित होना ही चित्त का समाधिपरिणाम है । क्रमशः सर्वार्थता का क्षय होता है और क्रमशः ही एकाग्रता का उदय होता है । इसलिए एकाग्र दोनों से अन्वित कहा जा सकता है ।[1]

एकाग्रतापरिणाम :- समाधि में लीन चित्त में एक ही प्रकार के ज्ञान का शान्त होना तथा उदित होना चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है । चित्त समाधिपर्यन्त एकाग्र रहता है। इसलिए इस एकाग्रचित्त में हुए परिणामों को एकाग्रता परिणाम कहा गया है । इस समय चित्त में जो ज्ञान शान्त तथा उदित होते हैं वे ध्येय-विषयक ज्ञान होते हैं । इस समय यह आवश्यक है कि जिस प्रकार के ज्ञान उदित होकर शान्त हो गये हों पुनः तत सदृशज्ञान ही चित्त में उदित होते रहें । एकाग्रचित्त में एक ही प्रकार के ज्ञान का अस्त होना तथा उदित होना एकाग्रता-परिणाम है ।[2]

भाष्यकार के उक्त विवेचन से 'निरोधपरिणाम' असम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत आता है और 'समाधिपरिणाम' अंगभूतसमाधि में तथा 'एकाग्रतापरिणाम' सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत आता है ।

तत्त्ववैशारदी

व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का आविर्भाव चित्त का निरोध-परिणाम है । निरोधपरिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि में होता है । व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का आविर्भाव क्रमशः होता है । अतः निरोध-परिणाम में चित्त इन दोनों धर्मों से अन्वित रहता है ।[3] चित्त में निरोधकालिक

- -

1 - " सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम् । तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ।" — व्यासभाष्य पृ0 289 ।

2 - " समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः । समाधि चित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवा समाधिभ्रेषादिति । स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।" — वही पृ0 290 ।

3 - " तयोर्व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ । तत्र व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवो निरोध संस्कारस्याविर्भावस्तयोर्धर्मिणो निरोधक्षणस्य निरोधावसरस्य व्युत्थानयोरन्वयः ।" — त0वै0पृ0 287 ।

परिणामों से निरोधसंस्कार बनते हैं । जिनकी आवश्यकता व्युत्थानसंस्कारों के निरोध के लिए होती है । क्योंकि जिस प्रकार क्लेशों को दूर करने के लिए क्लेशों के मूलकारण अविद्या को नष्ट किया जाता है उसी प्रकार व्युत्थानसंस्कारों का निरोध , निरोधसंस्कारों से ही होता है.। वृत्तियों के निरोध से व्युत्थानसंस्कार नहीं निरुद्ध होते हैं । इसी लिए परवैराग्यरूप निरोधसंस्कार से सम्प्रज्ञात एवं व्युत्थानसंस्कारों का निरोध करने पर निरोधरूप असम्प्रज्ञातयोग की प्राप्ति योगी को होती है[1] । इस अवस्था में योगी के चित्त में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं । व्युत्थान-संस्कार दबे रहते हैं ।

<u>समाधिपरिणाम</u> --- समाधिपरिणाम सम्प्रज्ञातकाल में अथवा योग के प्रारम्भिककाल में होता है[2] सर्वार्थता का क्षय होने पर तथा एकाग्रता का उदय होने पर समाधिपरिणाम होता है ।'सर्वार्थता ' का अर्थ'विक्षिप्तता ' किया गया है अर्थात चित्त का विक्षिप्त होकर विषयों में भटकना ही 'सर्वार्थता' है । चित्त की इस विक्षिप्तता का तिरोभाव होना अर्थात् सर्वार्थता का अत्यन्ताभाव न होना अपितु क्रमशः तिरोहित होना तथा एकाग्रता का उदय होने पर चित्त का आत्मभूत होकर समाधि में लीन हो जाना ही 'समाधिपरिणाम' है । इस अवस्था में चित्त की पूर्वकालिक तथा पश्चात्कालिक घटनाओं का नाश हो जाता है और आत्मभूत चित्त समाधि में स्थित हो जाता है ।[3]

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> --- परिनिष्ठित सम्प्रज्ञातसमाधि में एकाग्रतापरिणाम होता है । समाहितचित्त में सदृशज्ञान का उदित होकर शान्त होना तथा पुनः तत् सदृश प्रत्यय का ही उदित होना चित्त का 'एकाग्रतापरिणाम' है ।[4] एकाग्रचित्त में ही समाधि होती है । इस अवस्था में चित्त की एकाग्रता समाधिपरिणाम की अपेक्षा उच्चकोटि की होती है । इस समय हुई सम्प्रज्ञातसमाधि को ही परिनिष्ठित-सम्प्रज्ञातसमाधि कहा गया है ।

- -

1 - " निरुध्यन्ते येनेतिनिरोधा ज्ञानप्रसादः परं वैराग्यम् ।"-- त0वै0पृ0 287 ।

2 - " सम्प्रज्ञातसमाधिपरिणामावस्थां चित्तस्य दर्शयति ।" -- वही पृ0 289 ।

3 - " आत्मभूतयोः सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ अपायोपजनौ सर्वार्थतायाः अपाय एकाग्रतायाः उपजननं तयोरनुगतं चित्तं समाधीयते पूर्वापरीभूतमध्यमानं समाधिविशेषो भवतीति ।"
--- वही पृ0 229 ।

4 - " समाधेः पूर्वापरीभूतायां अवस्थायां निवृत्तो यश्च शान्तोदितावतीतवर्तमानौ तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ चेति तुल्यप्रत्ययौ । एकाग्रतायां तु द्वयोः सादृश्यम् ।"
--- वही पृ0 290 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

चित्त का स्वरूप त्रिगुणात्मक है । गुणों की विशेषता उनकी चंचलता है अतः चित्त सर्वथा चंचित गुणयुक्त है । परन्तु जब चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ नामक व्युत्थानभूमियों का निरोध हो जाता है तब चित्त में केवल सात्विकवृत्ति अवशिष्ट रह जाती है । 'निरोध की प्रक्रिया चित्त की सात्विक वृत्ति का ही परिणाम है ।[1] निरोध-काल में चित्त व्युत्थान और निरोध इन उभयवृत्तियों से अन्वित रहता है ।[2] अर्थात् चित्त की व्युत्थानवृत्तियाँ चित्त से एकाएक सभी समाप्त नहीं हो जातीं । जिस क्रम से उनका क्षय होता है उसी क्रम से दूसरी वृत्ति उदित होती है इस प्रकार चित्त में निरोधवृत्ति के उदय काल के समय व्युत्थानवृत्ति से भी चित्त अन्वित रहता है ।

निरोधपरिणाम ---- क्षिप्त विक्षिप्त और मूढ़ चित्त की व्युत्थान भूमियाँ हैं । उन व्युत्थान भूमियों में चित्त में जो वृत्तियाँ बनती हैं उन्हें व्युत्थानवृत्तियाँ कहते हैं । व्युत्थानवृत्तियों से बने संस्कार व्युत्थान-संस्कार कहलाते हैं । व्युत्थान-संस्कारों का निरोध, निरोधसंस्कारों से ही होता है । निरोध-संस्कार निरोधवृत्तियों से बनते हैं । इस प्रकार व्युत्थान संस्कारों का तिरोहित होना तथा निरोध संस्कारों का प्रादुर्भूत होना ही निरोध परिणाम है । इस समय चित्त में केवल सात्विक वृत्तियों का प्रवाह होता रहता है । अतः यद्यपि सात्विकवृत्तियों का प्रवाह चित्त में होता रहता है फिर भी चित्त के इस अवस्था को 'स्थिरचित्त' कहा गया है । सम्भवतः इसका हेतु यह हो सकता है कि इस समय चित्त में अन्य कोई परिणाम नहीं होते । केवल सात्विकवृत्ति में ही चित्त का स्थित होना उसकी स्थिरता का द्योतक है ।

समाधिपरिणाम :- चित्त का अनेक प्रकार के अर्थ को ग्रहण करना सर्वार्थता है । सर्वार्थता को चित्त का विक्षेप कहा गया है क्योंकि सर्वार्थता के कारण चित्त विषय

- -

1 - " निरोधः प्रकृष्टसत्वस्यांगितया चेतसः परिणामः ।" - रा० मा० वृ० पृ० 288 ।

2 - " तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तिस्त्वादन्वयी यः स निरोध परिणाम उच्यते ।
- वही पृ० 289 ।

3 - " चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथाऽपि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते ।" - वही पृ० 289 ।

मुन में ही भटकता रहता है । एकाग्र नहीं हो पाता । जब चित्त से 'सर्वार्थता का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है तब चित्त में एकाग्रता का उदय होता है और एकाग्रचित्त किसी एक ध्येयालम्बन में स्थित होकर समाधिस्थ हो जाता है । इस प्रकार सात्त्विक चित्त का एकाग्रचित्त में होना ही समाधिपरिणाम है । निरोधपरिणाम की तुलना में समाधिपरिणाम[1] में विशिष्टता यह है कि निरोधपरिणाम में व्युत्थान संस्कारों का अत्यन्ताभाव नहीं होता है प्रत्युत उनका अभिभाव होता है ।[2] अर्थात् उनका प्रभाव कम हो जाता है इसके विपरीत समाधि परिणाम में सर्वार्थता का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है और एकाग्रतारूप धर्म की उत्पत्ति होती है । समाधिपरिणाम का लक्षण देखते हुए इसे सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तर्गत मानना चाहिए ।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> :- समाहितचित्त की एकाग्रता तीनों कालों में बनी रहती है । जिस तरह की वृत्ति अतीतकाल में बनती है तत्सदृश ही वृत्ति वर्तमान तथा भविष्यत् काल में बनती है । कहने का तात्पर्य यह है कि चित्त अपने ध्येय रूपी आलम्बन में इतना एकाग्रनिष्ठ होता है कि उसकी वृत्तियाँ तीनों कालों में समान रूप की होती हैं । इस प्रकार तीनों कालों में समान वृत्तियों का ही उदित होना चित्त का एकाग्रतापरिणाम है ।[3] जब चित्त एकाग्र रहेगा तभी एक तरह की वृत्तियाँ उदित होंगी और शान्त होंगी । यह एकाग्रता समाहित-चित्त वाले योगी के चित्त में ही हो सकती है । अन्य चंचलवृत्तियों वाले चित्त में नहीं ।

राजमार्तण्डवृत्ति के आधार पर ये तीनों परिणाम एकाग्र शुद्धसात्त्विक चित्त में ही होते हैं । सात्त्विक और एकाग्र चित्त सम्प्रज्ञातसमाधि की विशेषता है । अतः सम्प्रज्ञातसमाधि में इन तीनों परिणामों की स्थिति माननी चाहिए ।

- -

1 - '' सर्वार्थता लक्षणस्य धर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभव एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावो ऽभिव्यक्तिश्चित्तस्योद्भूततया स्यान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते ।''
— रा०मा०वृ० पृ० 292 ।

2 - '' तत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य व्युत्थान संस्कार रूपस्य न्यग्भावः ।''
— वही पृ० 292 ।

3 - '' समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययोवृत्तिविशेषः शान्तोऽतीतमथानं प्रविष्टः ।''
— वही पृ० 294 ।

विवरण

चित्त त्रिगुणात्मक है । गुणों के परिणाम से चित्त भी परिणमनशील है अतः जब चित्त में निरोध रूप परिणाम होता है तब चित्त उस परिणाम से ही अनुगत होता है ।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्त पुरुष की तरह कूटस्थ नित्य नहीं है ।[2] यह सर्वथा परिणमनशील है । जिस प्रकार की वृत्तियों का प्रवाह होता है उसी प्रकार के आकार से चित्त आकारित होता है । व्युत्थान-काल में जिन वृत्तियों से चित्त आकारित होता है उन्हें व्युत्थानवृत्तियाँ कहा गया है । व्युत्थानवृत्तियों से ही चित्त में व्युत्थानसंस्कार बनते हैं । ये व्युत्थान-संस्कार चित्त के धर्म हैं । ये ज्ञानात्मक नहीं होते ।

'निरोध-संस्कार' भी चित्त के धर्म होते हैं । प्रत्ययों का निरोध करने से बने संस्कार निरोध-संस्कार कहलाते हैं । ये व्युत्थान-संस्कारों का निरोध करते हैं । जब चित्त में वे व्युत्थान-संस्कारों की कार्यक्षमता शान्त हो जाती है अर्थात् व्युत्थान-संस्कार शान्त होने लगते हैं तब उनका अभिभव होता है और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है ।[4] इस प्रकार शक्तिशाली निरोध-संस्कारों के बल से व्युत्थान-संस्कारों[5] से हीन चित्त में जो परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहा गया है । निरोध-परिणाम 'प्रत्ययात्मक नहीं है अतः यह असम्प्रज्ञातसमाधि का ही परिणाम हो सकता है । निरोध-परिणाम की अवस्था में चित्त की सभी बाह्यवृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी होती हैं । चित्त में केवल संस्कार शेष रह जाते हैं ।

- -

1 - " निरोधस्य (क्षणं) सर्वे हि निरोधधर्मसम्बोध्यमानं चित्तं निरुध्यते । यथा गुणवृत्तं गौणं चित्तं गुणवृत्तं चलम् इति अवश्यंभावी तथा बाह्यवृत्तिभ्यो निरुध्यमान-चित्तस्य परिणामः ।" — विवरण पृ0 239 ।

2 - " न ह्यपरिणममानस्य चित्तस्य पुरुषवत् कौटस्थ्ये निरोध उपकल्प्यते ।" — वही पृ0 239 ।

3 - " तथा निरोधजन्मा संस्कारः अप्रत्ययात्मकः चित्तस्यैव धर्मः ।" — वही पृ0 239 ।

4 - " प्रत्ययनिरोधाच्च निरोधजः संस्कारः संजायते । तयोः व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः धर्मिणि चित्ते वर्तमानयोः अभिभव प्रादुर्भावौ भवतः ।" — वही पृ0 239 ।

5 - " व्युत्थानसंस्काराणामपि हीयमानतया सत्यपि संबन्धे प्रादुर्भूतता निरोधेनैव बलवत्वात् निरोधपरिणाम इति समाख्यातम् । " — वही पृ0 239 ।

<u>समाधिपरिणाम</u> — सर्वार्थता चित्त का धर्म है। सर्वार्थता का अर्थ है चित्त में 'भोग' और 'अपवर्ग' की योग्यता का होना।[1] क्योंकि अविद्यमान का विनाश नहीं हो सकता और न ही अविद्यमान का आविर्भाव हो सकता है।[2] चित्त में सर्वार्थता भी रहती है और सर्वार्थता से मुक्ति पाने की भी योग्यता रहती है। इसलिए 'सर्वार्थता' और 'एकाग्रता' दोनों को चित्त का धर्म कहा गया है।[3] द्रष्टा का दृश्य से उपरक्त होकर शब्दादि के आकार को ग्रहण करना ही सर्वार्थता है।[4] और निरुद्ध चित्त में एक ही प्रकार के प्रत्यय का शान्त होना तथा उदित होना 'एकाग्रता' है। इस प्रकार समाधि के योग्य चित्त की 'सर्वार्थता' के क्षय हो जाने पर या तिरोहित हो जाने पर, और 'एकाग्रता' के उदित हो जाने पर, चित्त का इन 'क्षय' और 'उदय' रूप परिणामों से अनुगत होना समाधि-परिणाम है।[5] यह सम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था में होता है।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> :— समाधिकाल में ही एकाग्रता परिणाम भी होता है। समाहितचित्त की जब सभी बाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा समाधिस्थ चित्त में एक ही प्रकार के प्रत्यय शान्त होते हैं और पुनः वैसे ही उदित होते हैं तब चित्त में जो परिणाम होता है उसे 'एकाग्रतापरिणाम' कहा गया है।[6] उक्त परिणाम त्रय के द्वारा साधक को अतीत अनागत का ज्ञान होता है।

- -

1 - " सर्वार्थता भोगापवर्गार्थयोग्यताविचित्रता चित्तधर्मा।"
— विवरण पृ0 241।

2 - " न हि किञ्चिद्विद्यमानं विनङ्क्ष्यति, नाविद्यमानमुत्पद्यते।"
— वही पृ0 241।

3 - " तयोः क्षयोदययोः धर्मित्वेनानुगतं चित्तम्।"
— वही पृ0 241।

4 - " द्रष्टा पुरुषो दृश्यं शब्दादि ताभ्याम् उपरक्तं चित्तं सर्वार्थं पुरुषस्य भोगापवर्गार्थं भवति।"
— वही पृ0 356।

5 - " योऽसौ चित्तेन सर्वार्थतैकाग्रताक्षयोदययोरनुगमः स समाधिपरिणामः।"
— वही पृ0 241।

6 - " समाहितचित्तस्य निरुद्धबाह्यवृत्तेः पूर्वः प्रत्ययः शान्तः तिरोभूतः। उत्तरस्तत्सदृश उदितः प्रादुर्भूतः। समाधिचित्तं समाधानविशिष्टं समाध्यवस्थम्। समाधिचित्तमुभयोः शान्तोदितयोः प्रत्यययोः अनुगतम्।"
— वही पृ0 241।

असम्प्रज्ञात और सम्प्रज्ञात दोनों समाधियों में निरोधपरिणाम होता है।[1] सम्प्रज्ञात में भी चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। अतः इस समाधि में निरोधपरिणाम होता है और असम्प्रज्ञात में तो सम्प्रज्ञात का भी निरोध हो जाता है तथा केवल निरोध-संस्कार बचे रह जाते हैं। अतः इसमें भी निरोधपरिणाम होते हैं। चित्त की स्थिरता के लिए निरोधपरिणाम का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्प्रज्ञातकाल में भी निरोधपरिणाम होता है, इसके पक्ष में तर्क देते हैं कि यदि सम्प्रज्ञातयोग को भी निरोधपरिणाम के अन्तर्गत नहीं स्वीकार करते हैं तो इसे योग की कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि योग का स्वरूप ही है — 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगः' और चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञातसमाधि में भी होता है अतः सम्प्रज्ञातसमाधि में भी निरोध की प्रधानता सिद्ध होती है।[2] व्युत्थानसंस्कारों का अभिभव और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव क्रमशः होता है। व्युत्थानसंस्कारों का क्रम से ह्रास होता है नाश नहीं। इसी प्रकार निरोधसंस्कारों[3] की क्रमशः वृद्धि होती है, चित्त की इस अवस्था को ही निरोधपरिणाम कहा गया है।

<u>समाधिपरिणाम</u> — योगाङ्गभूतसमाधि की प्रारम्भिक अवस्था में समाधिपरिणाम होता है।[4] चित्त की विक्षिप्तता क्रमशः कम होती है और क्रमशः ही चित्त एकाग्र भी होता है।[5] इस प्रकार क्रम से चित्त का विक्षिप्तता से एकाग्रता की ओर प्रवृत्त प्राप्त होने पर चित्त समाहित होता है। समाहितचित्त की इस अवस्था को ही समाधिपरिणाम कहा गया है।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> :- परिनिष्ठित योगाङ्गसमाधि में एकाग्रतापरिणाम होता है।[6] सर्वार्थता का पूर्ण क्षय हो जाने पर एक ही प्रकार के ज्ञान का उदित होना तथा शान्त होना तथा पुनः वैसे ही ज्ञान का उदित होना एकाग्रतापरिणाम है। तुल्य का अर्थ यहाँ 'सजातीय' किया गया है[7]।

- -

1 - "तथा च व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारण एवात्र प्रकृतः, केवलस्यासम्प्रज्ञात-स्यनिरोधस्याग्रे असम्प्रज्ञातनिरोधस्य परिणामकथनान्न्यूनता चेति।" — यो०वा०पृ० 287।

2 - "तेन सम्प्रज्ञातस्यापि निरोधस्य संस्कारजनकत्वेऽपि तत्कालीनप्रज्ञाजन्यसंस्कारस्यैव निरोधसंस्कारत्वमुपपन्नमिति।" — वही पृ० 288।

3 - "व्युत्थानसंस्काराश्चित्तस्य क्रमेण ह्रासो न तु नाशः, निरोधसंस्कारप्रादुर्भावश्च क्रमेण वृद्धिः, सैव निरोधपरिणामो निरोधकालीनपरिणामः।" — वही पृ० 287।

4 - "योगाङ्गसमाधिकार्यं परिणामं दर्शयति।" — वही पृ० 289।

5 - "सर्वार्थताया अत्यन्तोच्छेद एकदा न भवति, नापि एकाग्रताया निष्पत्तिरेकदा भवति, किं तु क्रमेणैवातः क्रमेणेत्यर्थः।" — वही पृ० 289।

6 - "सर्वार्थतैकाग्रतयोर्धर्मयोरपायकाल उपजनकाले चानुगतं यच्चित्तं समाधीयते स समाधिपरिणाम इत्यर्थः।" — वही पृ० 289।

7 - "इदानीमुक्तसमाधावेव परिणामान्तरमुक्तं परिणामकालीनमाह।" — वही पृ० 290।

इस व्याख्या में भी 'व्युत्थान' और 'निरोध' का अर्थ 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' योग के अर्थ में किया गया है।[1] 'अभिभव' और 'प्रादुर्भाव' का क्रमशः 'ह्रास' और 'वृद्धि' अर्थ किया गया है। इस प्रकार 'सम्प्रज्ञातरूप' व्युत्थान-संस्कार का ह्रास और असम्प्रज्ञातयोग रूप निरोध-संस्कारों की वृद्धि जिस समाधि में होती है उसे 'निरोधपरिणाम' कहा गया है।[2] एकाग्र तथा स्थिर चित्त में जब इस तरह का परिणाम प्रतिक्षण अर्थात् निरन्तर होता रहता है तभी निरोध-परिणाम होता है।[3] केवल एक बार यदि एक व्युत्थानवृत्ति का ह्रास और निरोध-संस्कार का उदय होता है तो उसे निरोध-परिणाम नहीं कहा जा सकता। जब प्रतिक्षण यह क्रिया स्थिर चित्त में होती रहती है ~~और~~ तभी निरोध-परिणाम होता है। सम्भवतः इसीलिए इस व्याख्या में क्षय के लिए ह्रास तथा प्रादुर्भाव के लिए वृद्धि शब्द का प्रयोग हुआ है। लगातार क्षीयमाण को ही ह्रास कहा जा सकता है और लगातार बढ़ते रहने को वृद्धि कहते हैं।

समाधिपरिणाम :-- अंग-समाधि की अवस्था में ही समाधि-परिणाम होता है।[4] सभी विषयों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना ही विक्षिप्तता है। विक्षिप्तावस्था में साधक सांसारिक उपकरणों के प्रति आकृष्ट हो उन्हीं में सुख की कल्पना करके उनको प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहता है। परन्तु जब किसी तरह साधक को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि विक्षिप्तता का परिणाम दुःख है तो वह उससे विमुख

- -

1 - "व्युत्थानं निरोधश्च योगव्यवसायात्मकमेवात्र ग्राह्यम्।" -- यो०दी० पृ० 62।

2 - "तथा च व्युत्थानसंस्कारस्य ह्रासो वृत्ति निरोध संस्कारस्य वृद्धिर्निरोध-कालीनः परिणामः।" -- वही पृ० 62।

3 - "स च निरोधक्षणेष्वेकस्मिन्नेव स्थिरे चित्ते इत्यन्वयिचित्तस्थैर्यप्रतिपादनाय विशेषणम्। निरोधस्य प्रतिक्षणमेतादृशपरिणामसत्त्वाय निरोधक्षणेष्वित्युक्तम्।" -- वही पृ० 62।

4 - "अंगसमाधेरवस्थायां विशेषमाह।" -- वही पृ० 63।

हो समाधि के लिए यत्न करने लगता है । जब सर्वार्थता अर्थात् विक्षिप्तता का प्रतिक्षण तिरोभाव होने लगता है और एकाग्रता का आविर्भाव होने लगता है तब उस समय चित्त की जो स्थिति होती है उसे "समाधिपरिणाम" कहा गया है ।[1]

एकाग्रतापरिणाम – अंग-समाधि का ही उत्तरकालीन परिणाम एकाग्रता-परिणाम है[2]। जब सर्वार्थता का पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है और चित्त में समानाधि-करण ही शान्त होते हैं तथा उदित होते रहते हैं तब जो परिणाम चित्त में होता है उसे "एकाग्रतापरिणाम" कहा गया है[3]।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

निरोधपरिणाम असम्प्रज्ञातयोग का कार्य रूप है । असम्प्रज्ञातसमाधि की तुलना में सम्प्रज्ञातसमाधि व्युत्थानरूप है, असम्प्रज्ञातसमाधि में सम्प्रज्ञातसमाधि का भी निरोध हो जाता है और चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं । जब सभी क्षणों में केवल निरोध-संस्कार ही चित्त में रहें तब निरोध-परिणाम होता है अर्थात् असम्प्रज्ञात का भी चित्त के परिणाम का ही "निरोधपरिणाम" कहा गया है[4]।

समाधिपरिणाम – अंगभूतसमाधि की अवस्था में चित्त में समाधिपरिणाम होता है । सर्वार्थता का अर्थ इस व्याख्या में भी विक्षिप्तता किया गया है । विक्षिप्तता का प्रतिक्षण निरोध और एकाग्रता का आविर्भाव होने पर चित्त में जो परिणाम होता है उसे समाधिपरिणाम कहते हैं[5]।

एकाग्रतापरिणाम – अंगभूत-समाधि की ही परिनिष्ठित दशा एकाग्रता-परिणाम है । इस समाधि में सर्वार्थता का अशेष क्षय हो जाता है और चित्त में जब समानाधि प्रत्यय ही उदित तथा नष्ट होते रहते हैं तब एकाग्रतापरिणाम होता है[6]।

- -

1 - " सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयस्तिरोभावो भवति । एकाग्रताया-विर्भावो भवति । अयं समाधिकालीनचित्तपरिणाम इत्यर्थः ।"

— योगदीपिका पृ0 63 ।

2 - " अंगसमाधेरेवोत्तरपरिणामानन्तरकालीनं परिणामान्तरमाह ।" — वही पृ0 63

3 - " ततः सर्वार्थतायां निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्य प्रत्ययावेकाकार प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः परिणामो भवति ।" — वही पृ0 63 ।

4 - " सम्प्रज्ञातोऽप्यत्र व्युत्थानम् । तत्र व्युत्थानकालिकसंस्कारलोप तत्र चित्तस्य परिणामः । सर्वक्षणेषु च निरोधलक्षणस्य तत्स्वरूपस्यैव चित्तस्य तदाभव इत्यर्थः ।"

— पा0यो0सू0वृ0पृ0 62

5 - " सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयः तिरोभावः एकाग्रताया आवि-र्भावो भवति । अयं समाधिकालीनचित्तपरिणाम इत्यर्थः ।" — वही पृ0 63 ।

6 - " ततः सर्वार्थतायां निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्य

मणिप्रभा

मणिप्रभाकार सम्प्रज्ञातसमाधि को व्युत्थान मानते हैं । इस व्युत्थान-समाधि का निरोध परवैराग्य से होता है । परवैराग्य से सम्प्रज्ञातसमाधि का निरोध होने के उपरान्त असम्प्रज्ञातसमाधि का आविर्भाव होता है ।

चूँकि सम्प्रज्ञातसमाधि व्युत्थान रूप है अतः इस समाधि में बनी हुई वृत्तियाँ तथा उनके संस्कार व्युत्थान-संस्कार हुए । परवैराग्य व्युत्थानरूप सम्प्रज्ञातसमाधि का निरोधक है अतः परवैराग्य रूप निरोधक से बने संस्कार निरोधसंस्कार हुए । इस प्रकार सम्प्रज्ञातकालिक व्युत्थानसंस्कारों का परवैराग्य रूप निरोध संस्कारों से निरोध होने पर चित्त में निरोध-परिणाम होता है । यह निरोध-परिणाम चित्त की निर्बीज-समाधि में होता है ।[1]

समाधिपरिणाम — चित्त की विक्षिप्तभूमि में चित्त सभी विषयों के प्रति आसक्त होकर उन्हीं को प्राप्त करने में व्यस्त रहता है । इस प्रकार की वृत्ति ही सर्वार्थता कहलाती है । चित्त में यह वृत्ति भी रहती है अतः इसे चित्त का धर्म कहा जाता है । एकाग्रता भी चित्त का ही धर्म है । एकाग्र अवस्था में चित्त की राजस, तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है और चित्त में प्रकृष्ट सात्त्विक वृत्ति शेष रह जाती है जो ध्येयार्थमात्र में एकाग्र हो जाती है और परिणामतः स्थिर चित्त समाधिस्थ हो जाता है ।

चित्त के उक्त दोनों धर्मों का क्रम से क्षय और उदय ही समाधि-परिणाम है । 'क्षय' का अर्थ 'तिरोभाव' किया गया है । उदय का अर्थ 'प्रादुर्भाव' अर्थात्[2] न तो सर्वार्थता का विनाश होता है और न ही एकाग्रता की उत्पत्ति होती है ।

- -

प्रत्ययो एकाकारप्रत्ययो चित्तस्यैकाग्रताकालिकः परिणाम इत्यर्थः । सजातीय एको भवति अपर उत्पद्यते इत्येवंरूपेत्यर्थः पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिरेव परिणाम इति भावः
— पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ० 63 ।

१ - "व्युत्थानं सम्प्रज्ञातः । स निरुध्यते येन तत्परवैराग्यं निरोधः । तत्र यदा परवैराग्यरूपवृत्त्या सम्प्रज्ञातवृत्तिजन्यसंस्कारस्य अभिभवो तदा परवैराग्यसंस्कार एवाभिव्यक्तः । स निर्बीज "निरोधपरिणाम" इति भावः ।" — मणिप्रभा पृ० 53 ।

२ - "चित्तस्य सर्वार्थता नानाऽर्थाकारत्वं विक्षिप्तत्वरूपो धर्मः । एकाग्रता ध्यानमात्रो धर्मः । तयोर्यथाक्रमं 'क्षयोदयौ' तिरोभाव प्रादुर्भावौ, न ततो विनाशो नातः उत्पत्तिरस्ती ।" समाधिपरिणाम " इत्यर्थः ।" — वही पृ० 54 ।

ये दोनों चित्त के धर्म हैं । जो चित्त में हमेशा विद्यमान रहते हैं । एकाग्र अवस्था में सर्वार्थता दब जाती है, तिरोहित हो जाती है और एकाग्रता प्रकट हो जाती है । इस प्रकार सर्वार्थता का तिरोहित होना और एकाग्रता का आविर्भूत होना ही समाधि-परिणाम है । समाधिपरिणाम की स्थिति के विवेचन के आधार पर इस परिणाम को सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ही होना चाहिए ।

__एकाग्रतापरिणाम__ -- निरन्तर एक ही प्रकार की वृत्ति का उदित होना शान्त होना पुनः उदित होना चित्त की एकाग्रता का द्योतक है । अतः इस तरह का परिणाम एकाग्रतापरिणाम है । यह एकाग्रतापरिणाम सम्प्रज्ञातयोग में होता है ।[1]

__योगसूत्रार्थबोधिनी__

सम्प्रज्ञातसमाधि को असम्प्रज्ञातसमाधि की तुलना में 'व्युत्थान' माना गया है । 'परवैराग्य' द्वारा सम्प्रज्ञातसमाधि का भी निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञातसमाधि होती है ।[2] इस प्रकार व्युत्थान-संस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होने पर ही निरोध-परिणाम होता है । यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस समय चित्त में दोनों क्रियायें साथ-साथ होती रहती हैं अतः इस समय चित्त व्युत्थान-वृत्तियों के अभिभव तथा निरोध-संस्कारों के प्रादुर्भाव से अन्वित रहता है ।[3] अर्थात् दोनों क्रियायें साथ-साथ होती है । ऐसा नहीं कि एक की समाप्ति हो जाने पर दूसरे का आविर्भाव हो । जब सभी व्युत्थान संस्कारों का अभिभव हो जाता है तब चित्त में केवल निरोध-संस्कार ही स्थिर रूप में विद्यमान रह जाते हैं । चित्त की इस अवस्था को ही __निरोध-परिणाम__ कहा गया है ।[4] यह असम्प्रज्ञातकालीन अथवा निर्बीजसमाधि का परिणाम है ।

- -

1 - " चित्तस्य नैरन्तर्येण वृत्तिद्वयमेकविषयमेकाग्रताऽऽख्यः परिणाम इत्यर्थः ।"
— मणिप्रभा पृ0 54 ।

2 - " व्युत्थानसंप्रज्ञातः । स निरुध्यते येन तत् परं वैराग्यं निरोधः ।"
— यो0सू0बो0 पृ0 36 ।

3 - " तत्र यथा व्युत्थानाऽभिभवो निरोधप्रादुर्भावश्च भवतस्तथानिरोधसंस्कारका-संप्रज्ञातस्य क्षणेनान्तरेण युक्तं चित्तं भवति ।" — वही पृ0 36 ।

4 - " सर्वात्मना व्युत्थान संस्काराभिभवे सति निरोधस्थैर्यमाह ।"
— वही पृ0 36 ।

<u>समाधिपरिणाम</u> — विक्षिप्तावस्था में चित्त अनेक प्रकार के विषयों में आसक्त रहता है । चित्त की इस प्रकार की प्रवृत्ति का क्रम से क्षय अथवा तिरोहित हो जाना और चित्त में एकाग्रता का प्रादुर्भाव होना 'समाधिपरिणाम' है।[1] समाधि-परिणाम सम्प्रज्ञातसमाधि का ही परिणाम है ।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> — एकाग्र मन में एक ही प्रकार की वृत्तियों का निरन्तर उदित होना तथा शान्त होना एकाग्रतापरिणाम है । एक ही प्रकार की वृत्ति के उदय और शान्त होने से चित्त की एकाग्रता बनी रहती है । अतः इस प्रकार की स्थिति को एकाग्रतापरिणाम कहा गया है ।[2]

<u>योगसिद्धान्तचन्द्रिका</u>

निरोधपरिणाम निर्बीजसमाधि कालीन परिणाम है । चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त के भेद से तीन प्रकार की व्युत्थानभूमियाँ कही गयी हैं । असम्प्रज्ञात की तुलना में सम्प्रज्ञात भी व्युत्थान रूप है ।[3] निर्बीज-समाधि में उन तीनों व्युत्थान-भूमियों का निरोध करने के साथ-साथ सम्प्रज्ञातकालीन अवस्था का भी निरोध किया जाता है । क्षिप्तादि तीनों भूमियों का दाह हो जाता है अर्थात् उनका समूल विनाश हो जाता है और सम्प्रज्ञातकालीन व्युत्थान-संस्कारों का निरोध 'ह्रास' रूप का होता है ।[4] अर्थात् वे धीरे धीरे क्षीण होती चलती हैं । व्याख्याकार ने 'अभिभव' का 'दाह' और 'ह्रास' दोनों अर्थ किया है । इस प्रकार इन व्युत्थानवृत्तियों तथा संस्कारों का दाह और ह्रासरूप अभिभव होने के साथ परवैराग्यजनित निरोध संस्कारों का आविर्भाव होना ही <u>निरोध-परिणाम</u> है ।[5] निरोधकाल में अभिभव और प्रादुर्भाव की क्रिया क्रम से वृद्धि

- -

1 — "चित्तस्य सर्वार्थता नानार्थकारत्वं विक्षिप्तत्वरूपो धर्मः । एकाग्रतात्वरूपमपरो धर्मः । तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ तिरोभावप्रादुर्भावौ समाधिपरिणाम इत्यर्थः ।" — सू०बो०पृ० 36 ।

2 — "तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य नैरन्तर्येण वृत्तिद्वयमेकविषयमेकाग्रताख्य परिणाम इत्यर्थः ।।" — वही पृ० 36 ।

3 — "क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं व्युत्थानम् । असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातस्य निरोधः परवैराग्यं सम्प्रज्ञातो निरुध्यते येनेति व्युत्पत्तेः ।" — यो०सि०च०पृ० 110

4 — "अभिभवः क्षिप्तादित्रयस्य दाहः संप्रज्ञातस्य तु ह्रासः ।" — वही पृ० 11

5 — "एतौ यदा क्रमेण वर्धेते निरोधपरिणामः ।" — वही पृ० 110 ।

प्राप्त करती है । इस प्रकार व्युत्थान-संस्कारों के त्याग तथा निरोध-संस्कारों का लाभ होने से निरोध-परिणाम रूप वर्तमान अवस्था की प्राप्ति होती है[1] । निरोध-परिणामकाल में चित्त निरोध-परिणामों से अन्वित होता है, क्योंकि यह परिणाम उसी चित्त में ही होता है । अतः चित्त का तत्कालीन निरोध-परिणाम से अन्वित होना स्वाभाविक है । योगकाल में चित्त स्थिर तथा एकाग्र होता है । चित्त अन्य परिणामों से अयुक्त रहता है[2] ।

<u>समाधिपरिणाम</u> — "योगांगसमाधि" का परिणाम 'समाधिपरिणाम' है । विषयों को ग्रहण करने की बलवती इच्छा ही सर्वार्थता या विक्षिप्तता है । चित्त का एक विषय में निष्ठ होना एकाग्रता है । इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का क्रम से क्षय और उदय ही चित्त का समाधिपरिणाम है[3] ।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> — सर्वार्थता का पूर्ण रूपेण क्षय हो जाने पर एक-वस्तु विषयक सदृश प्रत्यय का ही उदित होना तथा शान्त होना चित्त का एकाग्रता परिणाम है[4] । 'एकाग्रतापरिणाम' अंगसमाधि की परिनिष्ठित अवस्था का परिणाम है ।

- -

1 - "व्युत्थानत्यागेन निरोधसंस्काररूपधर्मस्य लाभात् । तथा धर्मस्य वर्तमानावस्थाप्राप्तेश्च ।" — योगसिद्धान्त चन्द्रिका पृ० 110 ।

2 - "निरोधकालीनः परिणामः । स च निरोधक्षणचित्तान्वयः । निरोधक्षणेषु कथंचित् स्थिरे चित्तेऽन्वितः इत्यर्थः ।" — वही पृ० 110 ।

3 - "सर्वार्थताबलवत्त्वान्नानाविधार्थग्रहणरूपा विक्षिप्तता एकाग्रता एकमात्रविषयता-तयोर्यथा क्रमं क्षयोदयौ तिरस्कारविर्भावप्रादुर्भावौ चित्तस्य योगांगसमाधिकालीन परिणाम इत्यर्थः ।" — वही पृ० 111 ।

4 - "एतौ शान्तोदितौ त्यज्यमानौ तुल्यप्रत्ययौ एकवस्तुविषयकत्वेन सदृशौ प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः पुनः परिणामो भवति । शान्तोदितः एकः प्रत्ययो नश्यति, अन्योऽन्यस्योत्पद्यत इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः ।" — वही पृ० 111 ।

भास्वती

चित्त की अवस्था जिसमें असम्प्रज्ञात एवं व्युत्थान-संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोध-संस्कारों की वृद्धि होती है उस निरोधवृद्धि एवं चित्त के परिणाम को 'निरोधपरिणाम' कहते हैं।

चित्त की विक्षिप्त तथा एकाग्र भूमियों में चित्त में जो संस्कार बनते हैं उन्हें व्युत्थान-संस्कार कहते हैं। इन व्युत्थान-संस्कारों का निरोध परवैराग्य एवं निरोधक प्रयत्न द्वारा होता है। व्युत्थान-संस्कारों का निरोध तथा निरोध-संस्कारों की वृद्धि ही 'निरोधपरिणाम' है।[1] इस समय चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं। इस अवस्था में चित्त में कोई ज्ञानात्मकवृत्ति नहीं बनती। फलतः ज्ञान संस्कारों का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार निरोधपरिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि की ही अवस्था विशेष है।

समाधिपरिणाम — इन्द्रियों का एक साथ ही विषयों की तरफ संचरणशील होना सर्वार्थता है। सर्वार्थता का क्षय तथा एकाग्रता का उदित होना ही समाधि-परिणाम है। समाधि-परिणाम सम्प्रज्ञातसमाधि में होता है।[2] 'सर्वार्थता' शब्द का अर्थ भास्वतीकार ने युगपद् अर्थात् एक साथ ही सभी इन्द्रियों का विविध विषयों को ग्रहण करने के लिए क्रियाशील होना किया है।

एकाग्रतापरिणाम — एकाग्रतापरिणाम समाधिकाल में होता है। इस समय चित्त के विसदृश प्रत्यय उत्पादक धर्म का क्षय हो जाता है और सदृश प्रत्ययोत्पादक धर्म का उदय होता है।[3] इस समाधि में सर्वार्थतारूप प्रत्ययों के संस्कारों का क्षय होता है तथा एकाग्रतारूप प्रत्यय वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

- -

1 - "निरोधप्रत्ययाभावात् संस्कार धर्माभिमतस्य परिणाम एकस्य धर्मिणश्चित्तस्येति विक्।"

— भास्वती पृ० 291

2 - "प्रत्यय धर्मिणां संस्कार धर्माणामन्ययाभावः, सर्वार्थताहीन समाधिस्वभावेन समाधिप्रज्ञा च चित्तस्यापि संस्कारः सम्प्रज्ञानाख्यः समाधिपरिणाम इति विक।"

— वही पृ० 292

3 - "विसदृशप्रत्ययोत्पादधर्मस्य क्षयः सदृशप्रत्ययोत्पादधर्मस्योपजन इत्ययं चित्तस्यान्यथाभावः, - - - - - समाधौ - विसदृशप्रत्ययानां सदृशीकरणं तादृश एकाग्रतापरिणामस्य समाधिर्भवति।"

— वही पृ० 293

स्वामिनारायणभाष्य

श्रीकृष्णवल्लभाचार्य के अनुसार चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त तथा एकाग्र-भूमियाँ व्युत्थानरूप हैं । एकाग्र-भूमि को भी व्युत्थान इस लिए मानते हैं क्योंकि एकाग्र भूमि में होने वाली सम्प्रज्ञातसमाधि असम्प्रज्ञात की तुलना में व्युत्थानरूप है । अतः सम्प्रज्ञात काल में चित्त में बने संस्कार व्युत्थान-संस्कार हुए । इन व्युत्थान-संस्कारों का क्रम से अभिभव तथा असम्प्रज्ञातकालीन निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव ही 'निरोधपरिणाम' है ।[1] 'अभिभव ' का प्रयोग इन्होंने तनुभावता के अर्थ में किया है । अर्थात् जब व्युत्थान-संस्कारों का प्रभाव हल्का होने लगे तब व्युत्थान-संस्कारों की इस तनुभावता को उनका अभिभव प्राप्त होना कहते हैं । 'प्रादुर्भाव ' का अर्थ वर्तमान काल में अभिव्यक्त होना किया है ।[2] अतः दोनों का सम्मिलित अर्थ हुआ, व्युत्थानसंस्कारों के तनु होने पर, हल्के पड़ जाने पर निरोधसंस्कारों का अभिव्यक्त होना ही चित्त का "निरोध" परिणाम है । निरोध परिणाम की अवस्था में चित्त में केवल निरोधसंस्कार शेष रह जाते हैं । निरोधपरिणाम के लक्षण के आधार पर यह परिणाम असम्प्रज्ञातसमाधि में होता है । निरोधावस्था में चित्त स्थिर रहता है ।[3]

समाधिपरिणाम

क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भूमियों में ही चित्त विषयों के प्रति आसक्ति रखता हुआ चंचल रहता है । इसलिए तीनों भूमियों में चित्त की चंचलता ही सर्वाधिक है । जब क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्तभूमियों का क्षय हो जाता है और चित्त एकाग्र भूमि में स्थित हो सम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठ हो जाता है तब चित्त की इस अवस्था के परिणाम को समाधिपरिणाम कहते हैं । समाधिपरिणाम और सम्प्रज्ञातसमाधि दोनों ही चित्त की

- -

1 - " व्युत्थानं - क्षिप्तमूढविक्षिप्तमिति चित्तभूमिकात्रयम्, तथा सम्प्रज्ञातयोगस्यैकाग्रभूमिकाऽपि व्युत्थानं, तस्या असम्प्रज्ञातयोगाऽपेक्षया व्युत्थानत्वादिति । निरोधो नाम पंचमी चित्त-भूमिका । " — स्वामिनारायण-भाष्य - पृ0 270 ।

2 - " अभिभवोनाम तनुभावतया, प्रादुर्भावोनाम वर्तमानावस्थायामभिव्यक्तितया ऽऽविर्भावः । " — वही पृ0 270 ।

3 - " यावत्कालं निरोधावस्था तावत्कालमेवं नियमतोऽवतिष्ठति इति । " — वही पृ0 270 ।

एकाग्रभूमियों में घटित होते हैं अतः समाधिपरिणाम को सम्प्रज्ञातसमाधि भी कहा जा सकता है।

<u>एकाग्रतापरिणाम</u> :- समाहितचित्त में तुल्यवृत्तिविशेष का उदित होना तथा शान्त होना चित्त का एकाग्रतापरिणाम है; अर्थात् एकाग्र चित्त में केवल सात्त्विकवृत्ति का प्रवाह बना रहता है। उस समय जब सजातीय प्रत्यय-विशेष भी शान्त होकर पुनः उदित होते रहें तब जो परिणाम होता है उसे 'एकाग्रता-परिणाम' कहते हैं।[2] चित्त की एकाग्रता वृत्ति विशेष के उदित होने तथा तिरोहित होते समय समान भाव से बनी रहती है। उसकी एकाग्रता में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि वृत्तियाँ भी एक ही समान होती हैं।

- -

1 - "एकाग्रतायाश्चतुर्भूमिकाया उदयो भवति तदा चित्तस्य समाधि-परिणामो भवति, चित्तं समाधिकं जायते, सोऽयमेकाग्रतावस्थात्मकत्वेनातः सम्प्रज्ञात-समाधि परिणाम इत्युच्यते।"

— स्वामिनारायण-भाष्य पृ० 270।

2 - "उपशान्तवृत्तिविशेषो ऽन्यश्चैव चित्तमेकाग्रं भवति तत् चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते।" — वही पृ० 270।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त का विवेचन

व्यासभाष्य

निर्माण का साधारण अर्थ प्राकृतिक रूप बनाना है । परन्तु निर्माणकाय और निर्माणचित्त दोनों के प्रसंग में 'निर्माण' को पूर्णतया इसी अर्थ में नहीं लिया गया है यहां निर्माण का अर्थ है - चमत्कार के द्वारा भौतिक शरीर से भिन्न शरीर या शरीरों का निर्माण करना । जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्ध अपने पूर्व शरीर को त्याग कर सिद्धजन इच्छित, नूतन शरीर को धारण कर सकते हैं । इन सिद्धियों के फलस्वरूप निर्मित इन्हीं शरीरों और चित्तों के लिए क्रमशः "निर्माणकाय" और 'निर्माणचित्त' नामक संज्ञायें हैं ।

सिद्धलोग अपनी सिद्धियों के द्वारा पूर्व शरीर को त्याग कर नूतन इच्छित शरीर का निर्माण कर लेते हैं । शरीरेन्द्रिय का निर्माण प्रकृत्यापूर से होता है । "प्रकृत्यापूर" का तात्पर्य है प्रकृति के तत्त्वों का अनुप्रवेश । शरीरेन्द्रिय का निर्माण प्रकृति के ही तत्त्वों से हुआ है अतः नए शरीर के निर्माण में भी प्रकृति के तत्त्वों का अनुप्रवेश होता है तभी नए शरीरेन्द्रिय का निर्माण होता है । पंच महाभूतों से स्थूल शरीर का निर्माण होता है और अस्मितातत्त्व से इन्द्रियों का निर्माण होता है इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न विकारों से शरीरेन्द्रियों का निर्माण होता है ।

सिद्धयोगी के शरीरेन्द्रियों के निर्माण के समय योगजसंस्कार निमित्तकारण बनते हैं । योगी के अधर्मसंस्कारों से प्रकृति में जो प्रतिबन्ध लगा रहता है, उन प्रतिबन्धों को धर्म संस्कार ही दूर करते हैं । योगजसंस्कार निर्माणकाय में प्रकृति के प्रयोजक या प्रेरककारण नहीं बनते प्रत्युत निमित्त कारण ही बनते हैं । क्योंकि,

- -

। - पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति । कायेन्द्रिय प्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ।"

--- व्यासभाष्य पृ0 397 ।

योगजसंस्कार चित्त के कार्य हैं अतः योगजसंस्कार प्रकृत्यापूर में प्रयोजक न बनकर निमित्तकारण बनते हैं । अस्मितारूप प्रकृति, चित्त का कारण है । अतः योगजसंस्कार प्रकृति के प्रेरक न हो कर निर्माणकाय और निर्माण-चित्त की रचना में निमित्तकारण की भूमिका अदा करते हैं ।

प्रत्येक निर्माण-काय सचित्त होते हैं । जितने शरीर का निर्माण सिद्ध लोग करते हैं उतने ही चित्त का भी निर्माण करते हैं ।[1] अनेकों निर्मित चित्तों का प्रेरक प्रमुख चित्त होता है । यह प्रमुख चित्त ही अन्य निर्माण-चित्तों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है । जन्म, औषध, मंत्र, तपस्या से निर्मित चित्त कर्माशय युक्त हैं अतः ये कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं हैं । योगज चित्त ही अनाशय है अतः योगजचित्त ही कैवल्य के लिए उपयोगी हैं ।

तत्ववैशारदी

वाचस्पतिमिश्र ने जन्म से ही सिद्धि प्राप्त वैवादि देह को निर्माणकाय नहीं माना है । निर्माण-काय का अर्थ है अपने शरीर को त्याग कर नया शरीर निर्माण करना या उसी के रहते हुए अन्य शरीर का निर्माण करना । भाष्यकार से पृथक विचार रखते हुए इन्होंने पाँच प्रकार की सिद्धियों से पाँच प्रकार के निर्माण-काय नहीं स्वीकार किया है । ये निर्माण-काय और निर्माणचित्त चार प्रकार का ही मानते हैं ।[2] औषध, मन्त्र, तपस्या और समाधि से ही शरीरेन्द्रिय का अन्य जातीयक परिणाम होता है । एक शरीर का अपाय होने पर पुनः नए शरीर का निर्माण पूर्व शरीर के अवयवों से ही नहीं हो जाता अतः प्रकृत्यापूर का महत्व यहाँ स्वीकार किया गया है । प्रकृति के

- -

1 - "अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति । ततः सचित्तानि भवन्तीति ।" — व्यासभाष्य पृ० 401 ।

2 - " अथ जन्मसु सिद्धयश्चौषधादिसाधनासु तेषामेव कायेन्द्रियाणां जात्यन्तर-परिणतिरिष्यते ।" — त०वै० पृ० 398 ।

तत्वों का अनुप्रवेश आकस्मिक रूप से नहीं होता है प्रत्युत एक शरीर का अपाय होने पर दूसरे शरीर के निर्माण के लिए प्रकृति के तत्वों का अनुप्रवेश होने पर ही निर्माणकाय बनते हैं।[1]

सभी निर्माण-काय सचित्त होते हैं। चित्त को यहाँ 'मन' भी कहा गया है। प्रत्येक निर्माणकाय का अलग-अलग मन होता है। इन सभी निर्माण चित्त या मन का एक नायक मन होता है जो निर्माणमन को निर्देश देता रहता है। तात्पर्य यह है कि एक नायक मन ही अन्य सभी निर्माणकायों में प्रमुख रूप से व्याप्त रहता है।[2] क्योंकि निर्माण कायों के निर्माणचित्त भी नायक चित्त के ही निर्देशानुसार कार्य करते हैं अतः परोक्षरूप से नायक चित्त की सत्ता सभी निर्माण कायों में व्याप्त है ऐसा मानना चाहिए

राजमार्तण्डवृत्ति

जितनी सिद्धियों का सूत्र में उल्लेख है सभी अनेकों प्रकार के 'जन्म' को देने वाली हैं।[3] साधक को जितनी भी सिद्धियाँ इस जन्म में प्राप्त होती हैं वे सभी पूर्वजन्म में किए गए समाधि के अभ्यास का परिणाम है अर्थात् पूर्व अभ्यस्त समाधि से ही साधक को अगले जन्म में पाँच सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। जिनके द्वारा सिद्ध अपनी इच्छानुसार वर्तमान जन्म में ही अन्य जात्यन्तर शरीर धारण कर लेते हैं। जात्यन्तर परिणाम प्रकृत्यापूर से होता है। पिछले जन्म की प्रकृति ही इस जन्म में विकारों को आपूरित कर लेती है।[4] सिद्धलोग एक साथ ही अनेकों प्रकार के कार्यों का

---

1 - "कायस्य हि प्रकृतिः पृथिव्यादीनि भूतानि, इन्द्रियाणां च प्रकृतिरस्मिता तदवयवानुप्रवेश आपूरस्तस्माद्भवति।" — भ0वे0 पृ0 398।

2 - "तस्मादेकमेव चित्तं प्रदीपवद्विसारितया बहूनपि निर्माण कायान्व्याप्नोतीति आह — निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।" — वही पृ0 401।

3 - "तत्र याः पूर्वभूताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादि कारणप्रतिपादन-द्वारेणैव बोधयति।" — रा0मा0वृ0पृ0 420।

4 - "पाषाणस्था एव हि प्रकृतयोऽनुप्रविशन्त्यो विकारानापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणमयन्ति।" — वही पृ0 423।

फल भोग करने के लिए अनेक शरीर धारण कर लेते हैं । प्रत्येक निर्मित शरीर के लिए अलग-अलग निर्माण-चित्त होते हैं । निर्माण-चित्तों की रचना अस्मितातत्व से होती है । जिस प्रकार सिद्ध लोग इच्छानुसार अनेकों निर्माण कायों का निर्माण करते हैं उसी प्रकार अस्मितातत्व से उतने ही निर्माण-चित्तों का भी निर्माण करते हैं । इन अनेक चित्तों के व्यापार भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु उनका संचालन एक मुख्य सिद्ध चित्त द्वारा होता है जिसे प्रेरक चित्त कहा गया है ।

विवरण

योगी अपने योगबल से तथा सिद्ध लोग सिद्धियों के बल से बहुत से शरीरों की रचना कर लेते हैं । इस प्रकार से निर्मित किए शरीर को ही निर्माण-काय कहा गया है । निर्माण-कायों की रचना दो प्रकार से होती है । एक तो पूर्व शरीरेन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर शरीरान्तर की उत्पत्ति होती है । दूसरे प्रकार का निर्माण-काय तब होता है जब सिद्ध, शरीर के रहते हुए अन्य जातीयक शरीर धारण कर लेता है । इस प्रक्रिया को ही आत्यन्तर परिणाम कहा गया है । यह आत्यन्तर परिणाम प्रकृत्यापूर के द्वारा ही सम्भव होता है । शरीरेन्द्रिय की रचना प्रकृति के अवयवों से हुई है अतः जब योगी को शरीर की रचना अपेक्षित होती है तब शरीर निर्माण के अनुकूल प्रकृति के विकारों का अनुप्रवेश होता है । तभी निर्माण-कायों की रचना होती है । निर्माण काय जिस परिमाण के होते हैं उतने ही परिमाण में उनके बनाने वाले तत्व अनुप्रविष्ट होते हैं । यदि अल्प शरीर धारण करना होता है तो अल्पपरिमाण में ही प्रकृत्यापूर होता है और यदि दीर्घशरीरधारण करना होता है तो अधिक परिमाण में प्रकृत्यापूर होता है ।

प्रकृत्यापूर के अन्य धर्मादि निमित्त बनते हैं । इनका कार्य प्रकृति के

- -

1 - "योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तुल्यकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत्परिणमन्ति ।" -रा0मा0वृ0पृ0 429 ।

2 - "जन्मसिद्धौ तु पतितपूर्वोपार्जित कार्यकरणस्य शरीरान्तरमुपादीयमान इति नास्ति तत्र संशयः । अपतित शरीरस्य तु आत्यन्तरपरिणामे किं तदेव कार्यकरणमुपादानमुतान्यदपीति - तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजाति परिणामानां - आत्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्"

— विवरण पृ0 304 ।

अवयवों को प्रेरित करना नहीं है प्रत्युत शरीर निर्माण के मार्ग में उपस्थित बाधाओं को दूर करना है।[1] अधर्म रूपी आवरण के हट जाने पर निर्माण के अनुकूल प्रकृति के अवयव स्वयमेव ही अनुप्रविष्ट हो जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक निर्माण कायों के लिए योगी अनेक निर्माण चित्त की रचना करता है या एक ही मन से सभी निर्माण कायों का कार्य चलता है ? इसका उत्तर इस प्रकार से दिया गया है। चित्तेन्द्रिय के अभाव में शरीर मृतप्राय और निरर्थक है।[2] बिना चित्त के शरीर में क्रिया शक्ति का संचार नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जितने निर्माण काय हैं उन सभी निर्माणकायों के लिए पृथक्-पृथक् चित्तों की स्थिति अनिवार्य है। एक चित्त जिसे "विभु" कहा गया है वही प्रधान चित्त है। वह सभी निर्मित शरीरों के संचालन का कार्य नहीं कर सकता। वह अनेक निर्मित चित्तों का नियंत्रण अवश्य करता है परन्तु उनके स्थान पर निर्माणकायों का चित्त नहीं बनता अतः प्रत्येक निर्माण काय के लिए अलग अलग निर्माण चित्त की रचना योगी करता है।[3]

जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि द्वारा निर्मित निर्माणचित्त पाँच प्रकार के होते हैं। इन निर्माणचित्तों का नायक एक प्रधान चित्त होता है। प्रधान चित्त को 'योगजन्यचित्त' भी कहा जाता है। यह चित्त अनाशय अर्थात् आशयों से रहित होता है इसके मूल में क्लेशादि नहीं रहते अतः यही चित्त अपवर्गभागीय होता है। अन्य निर्माण चित्त, आशययुक्त होते हैं, क्योंकि निर्माण चित्त कर्मसंस्कारों और प्रयोजन-वशात् निर्मित होते हैं। अतः वे चित्त अपवर्गभागीय नहीं होते।[4]

- -

1 - " धर्मो प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति । धर्मश्चाधर्मोऽपि किमस्यावरणम् ।"
— विवरण पृ0 319 ।

2 - " चित्तेन्द्रियाभावे च मृतदेहवत् कायो निरर्थकः स्यात् ।" — वही पृ0 32

3 - " एकचित्तत्वे तु गुणप्रधानभावः प्रवृत्तिभेदश्च नोपकल्प्यते । तत्र विभुत्वादेक-देशत्वेऽपि बहुकार्यारम्भत्वमुपपद्यते । गुणप्रधानानेकप्रवृत्ति-वैचित्र्यं तु कस्यचिद् एकस्य ।"
—– वही पृ0 320 ।

4 - " पंचविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिसाधनैर्निर्मितम् । तत्र तेषु यदेव ध्यानजं चित्तं तदेव अनाशयं क्लेशकर्माशयापवर्जितम् ।"

— वही पृ0 321 ।

पंचविध सिद्धियों से सिद्ध लोग 'निर्माणकाय' बनाते हैं । 'निर्माणकाय' के प्रसंग में विज्ञानभिक्षु ने एक विशेष विचार प्रकट किया है ।[1] जात्यन्तरपरिणाम गज, तुरंग या अन्य प्रकार के वैभव से भी संबन्धित हो सकता है अर्थात् सिद्ध लोग अपनी सिद्धियों के द्वारा जब जैसे शरीर का निर्माण करना चाहें कर लेते हैं । इसके अतिरिक्त अपने ही शरीर को बढ़ा, घटा भी सकते हैं । सभी प्रकार के 'निर्माणकाय' केवल संकल्पमात्र से नहीं बनते । संकल्प के साथ-साथ प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश होने पर ही निर्माणकाय बनते हैं ।

सभी निर्माणकाय अपने अपने निर्माणचित्तों से युक्त होते हैं ।[2] सिद्ध के संकल्प द्वारा अस्मितातत्त्व से निर्माणचित्तों की रचना होती है । निर्माणचित्तों को निर्माणमन भी कहा जा सकता है ।[3] मन कहने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है निर्माणमन की रचना के साथ ही बुद्धि और अहंकार का भी निर्माण हो जाता है । प्रकृति के ही तत्त्वों से बुद्धितत्त्व का निर्माण होता है । पुनः बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार निर्माणकाय, निर्माणमन, बुद्धि और अहंकार का भी निर्माण सिद्ध लोग करते हैं ।[4] उक्त विवेचन केवल योगवार्त्तिक में ही उपलब्ध है अतः भाष्यकार तत्त्ववैशारदीकार तथा भोजवृत्ति की तुलना में इनका विवेचन विशिष्टतापूर्ण है और उचित भी है क्योंकि निर्माणकाय और निर्माणमन की रचना होने पर बाकी मध्यान्तर तत्त्वों की रचना भी आवश्यक है ।

निर्माणचित्तों के संदर्भ में एक प्रमुखनायक चित्त की स्थिति को इन्होंने भी स्वीकार किया है ।[5] निर्माणचित्तों की संख्या सिद्धियों की संख्या के अनुसार पाँच है । इन चित्तों में केवल ध्यानजचित्त ही कैवल्य भागीय होता है अन्य निर्माणचित्त कषाययुक्त होते हैं । अतः ये मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं होते ।

- -

1 - "मनुष्यादिजातिरूपेण पूर्वपरिणतस्य चित्तस्य कायेन्द्रियाणां कामरूपताख्यायां यो देवतिर्यगादिजाति परिणामः स प्रकृत्यापूरादेव भवति न तु संकल्पमात्रादित्यर्थ इति व्याख्यान्तरम् । अणिमादिरूपपरिणामविशेषश्च प्रकृत्यापूरादित्यपि बोध्यम् । अत्र च जात्यन्तरशब्देन योगिनां गजतुरंगादिवैभवं तथा कायव्यूहात्मकमपि ग्राह्यम् । अपूरशब्देनापि प्रकृतीनां संहननमपि ग्राह्यम् ।" — यो०वा० पृ० 398 ।

2 - "स्वसंकल्पेन निर्मितचित्तानि निर्माणचित्तान्युच्यन्ते, तानि बहूनि निर्माणदेहवदसंख्यानि भवन्ति ।" — वही पृ० 401 ।

3 - "अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची अहंकारप्रकृतिकत्ववचनात् ।" — वही पृ० 401 ।

4 - "बुद्ध्यहंकारा अपि अनेके स्वप्रकृतिप्रधानबुद्ध्यापूरात्स्वयमेवोत्पाद्य इति मन्तव्यम् युक्तिसाम्यादिति" — वही पृ० 403 ।

5 - "पूर्वोक्तमेव योगिचित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं करोति ।" — वही पृ० 403 ।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

सिद्धियाँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं[1]। इनमें से अणिमादि सिद्धियाँ देवताओं को जन्म से ही प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों के द्वारा देवादि आवश्यकतानुसार अपने शरीर को घटा, बढ़ा सकते हैं। शरीरनिर्माणकार्य प्रकृति के अवयवों के उपचय से होता है। देहेन्द्रिय के निर्माणार्थ प्रकृति के महाभूतों का अनुप्रवेश अनिवार्य है। महाभूतों के आपूरण से ही जात्यन्तर परिणाम होते हैं ऐसा व्यास, वाचस्पतिमिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोजवृत्तिकार तथा मणिप्रभाकार मानते हैं। योगदीपिकाकार ने 'सत्वादि' के उपचय से शरीर निर्माण होता है ऐसा माना है। सत्वादि का तात्पर्य है प्रकृति के तीनों गुण सत्व, रज और तमोगुण। इनके द्वारा ही शरीररचना सम्भव है[2]।

सांख्ययोग में प्रकृति का स्वरूप त्रिगुणात्मक है अतः उसके विकार भी त्रिगुणों से ही युक्त होंगे अतः स-त्वादि या 'महदादि' शब्द के प्रयोग से अर्थ में कोई भिन्नता नहीं आती। 'जात्यन्तर' पद अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियों का द्योतक है। इन सिद्धियों से जो निर्माण काय बनते हैं उनमें प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश होता है तभी निर्माणकाय तैयार होते हैं[3]। निर्माण की इस प्रक्रिया में धर्मसंस्कार निमित्त कारण बनते हैं ये प्रकृत्यापूर में प्रयोजक नहीं बनते प्रत्युत ये अधर्मादि की निवृत्ति करते हैं।

जितने भी निर्माण काय होते हैं सभी के लिए निर्माण चित्तों का निर्माण सिद्ध अपनी संकल्पशक्ति के द्वारा 'अस्मिता' नामक तत्व से करता है। 'निर्माण' चित्तों के लिए निर्माणमन भी प्रयुक्त हो सकता है ऐसा योगदीपिकाकार भी मानते हैं। इन सभी निर्माणचित्तों का एक प्रयोजक अथवा प्रेरक चित्त होता है जिसे, 'निर्मातृचित्त' कहते हैं[4]। 'निर्मातृचित्त' के संकल्प से ही उनचित्तों का सारा कार्य व्यापार होता है।

- -

1- "देवादीनामणिमादिसिद्धयो जन्म मात्रजा इत्येवं पंचप्रकाराः सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः।" —योगदीपिका पृ0 86

2 - "देहेन्द्रियकारणसात्त्विकाद्यवयवोपचयाद्भवति।" — वही पृ0 86

3 - "जात्यन्तरपदं च महिमाद्यखिलसिद्ध्युपलक्षणं प्रकृत्यापूरस्यापगमव्यापु-धकः।" — वही पृ0 86

4 - "निर्मातृचित्तसंकल्पेनैव तेषामखिलव्यापार इत्यर्थः।" — वही पृ0 88

मणिप्रभा

जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि नामक पाँच प्रकार की सिद्धियों से सिद्ध लोग अपने संकल्प से स्वेच्छित शरीर धारण कर लेते हैं । ये सिद्धियाँ पूर्व जन्म में योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होती हैं ।[1] जिनके द्वारा सिद्ध लोग अपनी इच्छानुसार जन्मादिग्रहण कर लेते हैं । 'पृथ्वीपर्यन्त प्रधान की सत्ता व्याप्त है । मनुष्य के स्थूल सूक्ष्म शरीर का निर्माण प्रधान के ही विकारों से हुआ है अतः नर अन्य जातीयक शरीर का निर्माण भी प्रकृति के ही विकारों के अनुप्रवेश से सम्भव है ।[2] देहादि की रचना में धर्मादिनिमित्त कारण बनते हैं प्रयोजक नहीं ।

निर्माणकायों के साथ निर्माणचित्तों की भी रचना आवश्यक रूप से होती है । जिस प्रकार प्रकृत्यापूर से योगी निर्माणकायों की रचना करता है उसी प्रकार प्रकृति के अहंकार नामक विकार से निर्माणचित्त का निर्माण होता है ।[3] ये निर्माणचित्त विभिन्न भोगों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं । निर्मित चित्तों का एक नियामक चित्त भी होता है । इस नियामक चित्त में योग की शक्ति होती है अर्थात् यह चित्त योगसिद्ध कर चुका होता है इसीलिए यह निर्माण चित्तों का नायक चित्त होता है ।[4] जन्मादि सिद्धियों के भेद से निर्माणचित्त भी पाँच प्रकार के होते हैं ।

- -

1 - " पूर्वजन्माभ्यस्तयोगप्रा एव जन्मादिनिमित्तेन अनुभवते ।" -
— मणिप्रभा पृ0 74 ।

2 - " प्रधानावयवः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्त्वान्तरादिदेहावयवेषु तासामापूरादनुप्रवेश निमित्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशा'त्जात्यन्तरपरिणामो' युज्यते ।"
— वही पृ0 75 ।

3 - " योगप्रभावान्निर्मीयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसंकल्पाधीनं प्रकृत्यापूरात्कायवदहंकारात्प्रकृतेर्जायन्त इत्यर्थः ।"
— वही पृ0 76 ।

4 - " निर्मितचित्तानां योगी स्वभोगानुकूल प्रवृत्तिविशेष नियामकं चित्तं निर्मिमीते योगबलात्त 'चित्तं' तेषां नायकं भवति ।"
— वही पृ0 76 ।

पृथ्वी पर्यन्त जितने भी पदार्थ हैं सभी प्रधान या प्रकृति के के सत्वादिगुणों से ही निर्मित है । अतः पंचविधसिद्धियों के फलस्वरूप जात्यन्तर परिणाम भी प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही होता है[1]। प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश के लिए यहाँ 'प्रकृत्यापूर' पद का प्रयोग किया गया है । प्रकृत्यापूर के समय धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा होती है । धर्मादि यहाँ प्रयोजक या प्रेरक नहीं बनते क्योंकि कार्य कभी कारण को प्रवर्तित नहीं कर सकता[2]। धर्मादि योगजसंस्कार हैं जिनका कार्य केवल प्रकृत्यापूर के समय मार्ग में आयी हुई बाधाओं को दूर करना है । धर्मादि के द्वारा प्रकृत्यापूर के विरोधी तत्वों का निरोध हो जाता है जिससे जात्यन्तर-परिणाम के समय प्रकृति के अवयवों का अनुप्रवेश स्वयमेव हो जाता है[3]। इस प्रकार प्रकृत्यापूर से ही योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है जिन्हें 'निर्माणकाय' कहा गया है । अब प्रश्न उठता है कि क्या अनेक निर्माण काय अनेक मन वाले होते हैं या एक ही मन द्वारा सभी निर्माण काय संचालित होते हैं[4]।

इस शंका का समाधान इस प्रकार से किया गया है - जिस प्रकार योगी संकल्पद्वारा प्रकृत्यापूर से अनेक शरीरों का निर्माण करता है उसी प्रकार योग के प्रभाव से अहंकार तत्व द्वारा अनेक चित्तों का निर्माण करता है जिन्हें 'निर्माणचित्त' कहा गया है[5]। निर्माण चित्त सिद्धियों के अनुसार पाँच प्रकार के स्वीकार किए गए हैं । निर्माणचित्तों की रचना योगी भोगानुकूल करता है[6]। इन निर्मित चित्तों का एक नायक

---

1. " प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्वादिदेहावयवेषु तासामापूराद् धर्मादिनिमित्तानुरोधेनावयवाऽनुप्रवेशाज्जात्यन्तरपरिणामो युज्यते ।" -यो०सू०बो०पृ० 50 ।

2. " न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति, न कार्येऽपिकारणं प्रवर्त्यत इति ।" — वही पृ० 51 ।

3. " तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति । तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति ।" — वही पृ० 51 ।

4. "ननु यदा योगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवति अथवा ऽनेकमनस्का इति ।" — वही पृ० 51 ।

5. " योगप्रभावान्निर्मीयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसंकल्पाधीनं प्रकृत्यापूरात् कायवदहंकारात् प्रकृतेर्जायन्ते ।" — वही पृ० 51 ।

6. "निर्मितचित्तानि योगी स्वभोगानुकूलप्रवृत्तिविशेषनामकं निर्मिमीते ।" — वही पृ० 52 ।

चित्त होता है जो उनके ऊपर नियंत्रण रखता है।[1] यह नायक चित्त उन चित्तों से उत्कृष्ट कोटि का होता है। यह योग-बल से उत्कृष्टता प्राप्त कर के ही उन अनेक चित्तों का नायक बनता है। इसे ही ध्यानज तथा अनाशय चित्त भी कहा गया है। यह अनाशय चित्त ही कैवल्यभागीय होता है।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

प्रकृति के अवयवों से ही शरीरेन्द्रिय की रचना हुई है। अतः अन्य इच्छित शरीरादि का निर्माण प्रकृति या प्रधान के तत्वों के अनुप्रवेश से ही होता है। योगी अपनी इच्छानुसार देवता, पशु, आदि अन्य जातीय शरीर को धारण करने में समर्थ होता है। यह शरीरधारण 'प्रकृत्यापूर' अर्थात 'प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही संभव होता है। अपनी इच्छानुसार शरीर को बड़ा करना तथा अपनी इच्छानुसार शरीर को छोटा करना यह सब कार्य प्रकृति के तत्वों के अनुप्रवेश तथा अपगम से ही सम्भव होता है।[2] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जात्यन्तरपरिणाम में धर्मादिनिमित्त बनते हैं। निमित्त का अर्थ 'अनुरोधक' किया गया है। केवल इतना ही वर्णन इस व्याख्या में प्राप्त है।

भास्वती

मनुष्य के शरीर की रचना प्रकृति के ही अवयवों से हुई है। इन्द्रियादि से मनुष्य-शरीरेन्द्रिय का निर्माण हुआ है जिन्हें मानुषप्रकृतिक या करण-शक्ति कहा गया है। इस करण शक्ति में उन करणों से अविच्छिन्न परिणाम की प्रकृति अन्तर्निहित है जिसके फलस्वरूप ही सिद्धलोग सिद्धियों के बल से तथा, योगी योगबल से एकजातीयक शरीर से अन्य जातीयक शरीर धारण कर लेते हैं। एक जाति से अन्य जातीयक परिणाम को जात्यन्तर परिणाम कहा गया है। यह जात्यन्तरपरिणाम प्रकृति

- -

1 - "योग बलात् अचित्तं तेषां नायकं भवति।" - या०सू०वै० पृ० 52।

2 - " प्रधानादिपृथिव्यादयन्ता: कार्येन्द्रियादिप्रकृतयः। तासाम् आपूराद् धर्माद्यनुरोधेन मनुष्यादिदेहावयवेषु अनुप्रवेशात् कामरूपतावाप्यां वैपरीत्यगादिरूप जात्यन्तर-अणोर्महदाद्यश्च भवति। एवं महतोऽणुभावः प्रकृत्यपगमादित्यपि बोध्यम्।"
- यो०सि०च० पृ० 142।

के तत्वों के अनुप्रवेश से होता है।[1] ये प्रकृतियाँ द्विविध हैं। प्रथम तो अनुभूतपूर्व कर्माशय व्यंग्य हैं, द्वितीय अननुभूतपूर्व। प्रथम के अनुसार शरीर में परिवर्तन, पूर्वसंचित पूर्वानुभूत कर्माशयों के फलोपभोग के उन्मुख होने पर होती है। द्वितीय के अनुसार योगी ध्यानज सिद्धि द्वारा अननुभूत शरीरादि की रचना करता है।[2] जात्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूर से ही होता है। जात्यन्तरपरिणाम के समय धर्मादि निमित्त बनते हैं। यहाँ 'धर्मादि' को प्रकृति का अपना धर्म इस रूप में ग्रहण किया गया है।

ये धर्मादि प्रकृति को करणप्रवृत्ति को प्रेरित नहीं करते प्रत्युत अनुप्रवेश के समय उपस्थित बाधाओं को या बाधक गुणों को रोकते हैं जिससे कि प्रकृत्यापूर अपने आप हो जाये।[3] योगी जिस प्रकार स्वेच्छा से एक से अनेक शरीरों को धारण करता है उसी प्रकार स्वेच्छा से ही अनेक चित्तों का भी निर्माण करता है जिन्हें निर्माणचित्त कहा गया है। ये निर्माणचित्त ही सिद्धचित्त कहलाते हैं।[4] इन निर्माणचित्तों से योगी किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव नहीं करता।[5]

निर्मित अनेक चित्तों की प्रवृत्तियों में भेद होता है। इनका संचालन करने के लिए ही एक प्रधान चित्त का निर्माण किया जाता है जो एक साथ ही सभी निर्मित चित्तों की देख रेख करता है।[6] ये निर्माण चित्त जन्म, मन्त्र, औषधि, तपस्या और ध्यान से निर्मित होते हैं। इनमें से ध्यानजनित योगसाधना से उत्पन्न होता है। यह चित्त अनाशय होने के कारण ही कैवल्य भागीय होता है।

- -

1 - " त्रिविधो कायेन्द्रियाणामन्यजातीयः परिणामो दृश्यते, स च जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरेण भवति, प्रकृतिः = कायेन्द्रियाणां पृथ्वीक जात्यवच्छिन्नं यद् = सन्निवेशं लब्ध मूलीभूताः शक्तियथा संस्तत्कायेन्द्रियाणां स्मृत्यभिव्यक्तिः ।" --- भास्वती पृ0 393 ।

2 - " तत्र द्विविधा प्रकृतयः कर्माशयव्यङ्ग्या अनुभूतपूर्वा वासनाख्यास्तथाऽननुभूतपूर्वा अव्यपदेश्याश्च, तत्राद्यया प्रकृत्यनुभवजाता वासनारूपा प्रकृतिरनुभूतपूर्वा, ध्यानजसिद्धिप्रकृतिस्तु अननुभूतपूर्वाऽनुभूयमानस्य विशेषस्य प्रकाशस्यान्निमित्तात् सोऽभिव्यक्ता भवति। आपूरः। --- वही पृ0 393 ।

3 - " धर्मादि निमित्तं न प्रकृतिं कार्यान्तरजननाय प्रयोजयति विकारकत्वात्, स्वोपयोगिनिमित्तात् स्वानुप्रवेशार्थानिमित्तभूता गुणास्तराश्च तस्मिन् ततः प्रकृतिः स्वयमेवानुप्रविशन्ति ।" --- वही पृ0 395 ।

4 - " निर्माणचित्तमत्र सिद्धचित्तम् ।" --- वही पृ0 399 ।

5 - " स्वेच्छयैकमनेकं वा चित्तं कार्यं च निर्मिमीते । स्वेच्छयाऽस्योत्थानं निरोधश्च ततो न निर्माणचित्तं बन्धहेतुः ।" --- वही पृ0 397

6 - "बहुचित्तानां प्रवृत्तिभेदेऽपि सर्वेषां यथा प्रवृत्तिप्रयोजकमेकं प्रधानचित्तं निर्मिमीते तच्चित्तं युगपदेव तदङ्गभूतेष्वप्रधानचित्तेषु संचरत् तानि स्वस्वविषयेषु प्रवर्तयति।" --- वही पृ0 398 ।

स्वामिनारायणभाष्य

जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि से उत्पन्न सिद्धियों से सिद्धजन स्वेच्छित शरीर धारण कर लेते हैं। प्रकृति के विकारों से ही शरीर की रचना हुई है अतः नव शरीर का धारण भी प्रकृति के तत्वों के अनुप्रवेश से ही होता है। पंचमहाभूतों से शरीर की रचना तथा अहंकार नामकतत्व से इन्द्रियों की रचना होती है।

देवताओं को जन्म से ही अणिमादिसिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं। विष्णुभगवान का वामन अवतार अणिमा सिद्धि का ही द्योतक है। देवादि अथवा सिद्धजन जितने भी निर्माण कार्य करते हैं, सभी निर्माणकार्य प्रकृति के अवयवों के अनुप्रवेश से ही बनते हैं। एक साथ अनेकों कर्मों का फल भोग करने के लिए सिद्ध लोग अनेक शरीर धारण करते हैं। शरीर धारण प्रकृत्यापूर द्वारा होता है, धर्मादि इसमें निमित्त कारण बनते हैं।

योगी के संकल्प से जात्यन्तर परिणाम होते हैं। अतः यहाँ पर यह शंका होती है कि योगी के संकल्प से प्रकृति की स्वतंत्रता बाधित हो सकती है। इस शंका का समाधान करते हुए व्याख्याकार ने यह विवेचन किया है कि – योगी का संकल्प प्रकृति की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता प्रत्युत प्रकृति की कार्यशक्ति का उद्बोधक होता है। इस कार्य जनन क्रिया में धर्मादि निमित्त कारण बनते हैं, इन का काम शरीरेन्द्रिय निर्माण कार्य के समय अनपेक्षित अधर्म को दूर करना या हटाना है। इस प्रकार प्रकृत्यापूर तथा धर्मादि निमित्त की सहायता से सिद्ध लोग स्वेच्छित शरीर का निर्माण कर अपने पूर्व जन्म के कर्मों के फल का भोग करते हैं। जितने निर्माण-कार्यों की रचना होती है उतने ही निर्माण चित्तों की भी रचना करनी पड़ती है। निर्माण चित्तों की रचना अहंकार से होती है। ये निर्माण-चित्त पाँच प्रकार के होते हैं। (1) जन्मजसिद्धियुक्त (2) औषधिजसिद्धियुक्त (3) मन्त्रजसिद्धियुक्त (4) तपोजन्यसिद्धियुक्त और (5) समाधिजन्यसिद्धियुक्त। इनमें से पाँचवां - समाधिजन्य चित्त ही कैवल्य के लिए उपयोगी होता है क्योंकि इस चित्त में वासनायें नहीं होतीं।

धर्ममेघसमाधि

व्यासभाष्य

निरन्तर विवेकख्याति होती रहने पर जो समाधि होती है उसे धर्ममेघ-समाधि कहा गया है । धर्ममेघसमाधि में प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का भिन्न-भिन्न ज्ञान होता रहता है जिसके फलस्वरूप साधक को 'सर्वभावत्व' नामकसिद्धि की उपलब्धि होती है परन्तु धर्ममेघसमाधि निष्ठ साधक 'प्रसंख्यान' के प्रति भी रागरहित रहता हुआ किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता ।[1] इस अवस्था में प्रत्ययजन्य संस्कारों का भी नाश हो जाता है । संस्कारों का नाश हो जाने से एक प्रकार से बीज का ही नाश हो जाता है फलस्वरूप चित्त में पुनः कोई व्युत्थानात्मक संस्कार नहीं उत्पन्न होते ।[2] इस समाधि में स्थित साधक के चित्त के अविद्यादि क्लेशों का समूल नाश हो जाता है अतः क्लेशों और कर्मों से विनिर्मुक्त साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की अवस्था का अनुभव करता है अर्थात स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाता है ।[3]

तत्त्ववैशारदी

विवेकख्याति प्राप्त चित्त को जब निरन्तर विवेकख्याति होती रहे उस समाधि रूपा स्थिति को धर्ममेघ-समाधि कहते हैं । धर्ममेघ-समाधि के सम्बन्ध में सूत्र है — " प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः "। इस सूत्र के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने धर्ममेघ-समाधि की विवेचना की है । धर्ममेघ समाधिनिष्ठ योगी को अन्य किसी भी प्रत्यय का ज्ञान नहीं होता उसे सर्वथा विवेकख्याति होती रहती है । अन्त में एक ऐसी भी स्थिति आती है जब कि योगी का चित्त विवेकख्याति के प्रति भी

- -

1 - " प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते ।" -- व्यासभाष्य पृ0 454।

2 - " तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते ।" -- वही पृ0 454 ।

3 - " तत्नाशादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति । - - - - क्लेश कर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान्विमुक्तो भवति ।" --- वही पृ0 455 ।

विरक्त हो जाता है और तब तत्त्वज्ञान के प्रति भी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। उस समय योगी जीवित होता हुआ भी मुक्त अर्थात् जीवनमुक्त कहा जाता है।

शंका होती है कि जीवित होता हुआ मुक्त किस प्रकार से हो सकता है ? वाचस्पतिमिश्र ने इस शंका का निदान 30वें सूत्र के आधार पर इस प्रकार किया है। जब धर्ममेघ-समाधि में योगी की स्थिति हो जाती है तब उसके चित्त के समस्त विकार, सारे क्लेश तथा कर्माशय दग्धबीज हो जाते हैं। त्रिगुणों का भी परिणमन-रूपकार्य समाप्त प्राय हो जाता है जिसके फलस्वरूप चित्त के समस्त आवरण रूप मल अपेत हो जाते हैं और चित्त नितान्त निर्मलभाव से समाधि में लीन हो जाता है और उसे निरन्तर विवेकख्याति होती रहती है। इस विवेकख्याति के प्रति भी लिप्साभाव के समाप्त हो जाने से योगी को परवैराग्य प्राप्त होता है और योगी जीवन्मुक्त कहा जाता है।

उक्त धर्ममेघसमाधि की पराकाष्ठा ज्ञान के अनन्त विस्तार में होती है। जैसा कि व्याख्याकार ने कहा है — "धर्ममेघस्य पराकाष्ठा ज्ञान प्रसाद मात्रम्।"[1] अर्थात् धर्ममेघ-समाधि में ज्ञान का अनन्त विस्तार हो जाता है जिसके समक्ष ज्ञेय का स्वरूप अल्प हो जाता है। ज्ञान के अनन्त प्रसार से परवैराग्य को प्राप्त कर योगी व्युत्थान-संस्कारों का समूल नाश करता है इस प्रकार धर्ममेघ-समाधि में अवस्थित योगी के समस्त विकार दूर हो जाते हैं तथा योगी कैवल्य प्राप्त करता है। तत्त्ववैशारदीकार ने धर्ममेघ-समाधि की शाब्दिक व्याख्या इस प्रकार से की है — "सर्वान्धर्मान्मिहति सिञ्चति वर्षति प्रकाशनेनेति धर्ममेघः इत्युच्यते।" 'मिहसेचने' धातु से मेघ शब्द की निष्पत्ति होती है और 'धृञ् धारणे' धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति होती है। उक्त समाधि भी विवेकख्यातिरूपधर्म की वर्षा करती है अतः इसका नाम 'धर्ममेघ-समाधि' उचित ही है। इस धर्ममेघ समाधि के उदित होने से पुरुष के भोगापवर्ग को सम्पादन करने वाले गुणों का परिणाम क्रम भी समाप्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप गुणों को कैवल्य प्राप्त हो जाता है और वे प्रधान में लीन हो जाते हैं। पुरुष भी अपने स्वरूप में स्थित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है जिसे कैवल्य भी कहा गया है।

---

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 457 ।

राजमार्तण्डवृत्ति

निरन्तर[1] विवेकख्याति होते रहने पर जो समाधि होती है उसे धर्ममेघ-समाधि कहा गया है । विवेकख्याति को ही 'प्रसंख्यान' भी कहा गया है । जितने भी परस्पर विलक्षण स्वभाव वाले तत्त्व हैं उनका यथाक्रम विशिष्टज्ञान ही प्रसंख्यान अथवा विवेकख्याति है । विवेकख्यातिनिष्ठ साधक जब विवेकख्याति से प्राप्त होने वाली सिद्धियों रूप फल के प्रति 'अकुसीद' अर्थात् रागरहित होता है तब उसे निरन्तर विवेकख्याति ही होती रहती है जिससे परम प्रकृष्ट 'धर्ममेघ-समाधि' की स्थिति होती है ।

'प्रसंख्यान' से प्राप्त फलों का नाम निर्देश वृत्तिकार भोज ने नहीं किया है परन्तु 'फल' शब्द से 'सर्वज्ञत्व' और 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' नामक दोनों सिद्धियों का ही ग्रहण होता है । इन दोनों सिद्धियों के प्रति अनासक्ति होने पर साधक निरन्तर विवेकख्याति में निमग्न होकर धर्ममेघ-समाधि में स्थित हो जाता है । धर्ममेघ-समाधि काल में चित्त में अन्य ज्ञानात्मक प्रत्यय नहीं उदित होते । धर्ममेघसमाधि में प्रज्ञा अत्यन्त उत्कृष्ट होती है जिससे अविद्यादि क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है और चित्त को अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है

विवरण

इस व्याख्या में 'धर्ममेघसमाधि' का विवेचन उक्त सभी व्याख्याओं से भिन्न रूप में किया गया है । 'अकुसीद' का अर्थ इस व्याख्या में 'अवृत्तिक' दिया गया है ।[2] विवेकख्यातिरूप प्रसंख्यान के प्रति अन्तःकरण की प्रवणशीलता की वृत्ति का न होना तथा 'प्रसंख्यान' के प्रति भी विरक्ति हो जाने पर केवल विवेकख्याति का होना ही 'सर्वथा-विवेकख्याति' है जिसे 'धर्ममेघसमाधि' कहा गया है ।[3] ।

- -

1 - " सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति ।"
— रा० मा० वृ० पृ० 30। ।

2 - " अकुसीदः अवृत्तिकः भवति ।" — विवरण पृ० 363 ।

3 - " प्रसंख्यानप्रसवं विशेषावधिकं न किंचित् प्रार्थयते । अपिशब्दात् प्रसंख्यानेऽपि न प्रार्थना । तत्रापि प्रसंख्याने विरक्तः । सर्वथा सर्वेण प्रकारेण विवेकख्यातिर्यस्य स सर्वथाविवेकख्यातिरेव भवति ।" — वही पृ० 363 ।

यह समाधि कैवल्य नामक परम् धर्म की वर्षा करती है । इसीलिए इसको 'धर्ममेघ' की संज्ञा दी गई है । यह समाधि सम्यक्दर्शन रूप है क्योंकि इस समाधि में ही सर्वथा विवेकख्याति होने के कारण प्रत्येक पदार्थ का सम्यक्ज्ञान प्राप्त होता है तथा विपर्यय-रूपमिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है । इस समाधि में क्लेशकर्मादि से निवृत्त विद्वान पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है ।[2]

योगवार्त्तिक

योग के विघ्नों का अभाव हो जाने पर सर्वथा विवेकख्याति होती रहने पर जो समाधि होती है उसे 'धर्ममेघसमाधि' कहा गया है । यह समाधि सम्प्रज्ञातयोग की ही पराकाष्ठा है ।[3] इस समाधि में प्रकृतिपुरुष के यथार्थ-स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है जिसे 'विवेकसाक्षात्कार' कहा गया है ।[4] इस 'विवेक' 'साक्षात्कार' के ही द्वारा साधक को दो प्रकार की सिद्धियों की उपलब्धि होती है । ये सिद्धियाँ हैं -- सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' । 'धर्ममेघसमाधिनिष्ठ' योगी इन दोनों प्रकार के सिद्धियों के प्रति 'अकुसीद' रहता है अर्थात् दोनों में से किसी भी सिद्धि को अपनाने की इच्छा नहीं करता हुआ, निरन्तर प्रसंख्यान रूप विवेकख्याति में ही लीन रहता है ।

यह धर्ममेघसमाधि 'क्लेशकर्मादि' का समूल विनाश करती है और धर्म की वर्षा करती है ।[5] इसी आधार पर इस समाधि का नाम 'धर्ममेघ-समाधि' दिया गया है । इस समाधि में क्लेश, कर्म और संस्कारों का आत्यन्तिकदाह हो जाने के कारण साधक जीवित रहता हुआ भी मोक्ष की दशा का अनुभव प्राप्त करता है । इस अनुभव के ही कारण उसे जीवन्मुक्त भी कहा गया है ।[6] जीवन्मुक्त साधक के ज्ञान का प्रकाश 'अनन्त' तथा 'विभु' होता है । अतः उस अनन्त ज्ञान के प्रकाश के समक्ष 'ज्ञेय' अल्प

---

1 - " कैवल्याख्यं परं धर्मं वर्षतीति धर्ममेघः इति संज्ञा ।" -- विवरण पृ0 363

2 - " मूलैः क्लेशैः सहोच्छिन्ना भवन्ति ।" -- वही पृ0 363 ।

3 - " सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद्धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।" -- यो0वा0पृ0 455 ।

4 - " प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारः ।" -- वही पृ0 455 ।

5 - " क्लेशकर्मादीनां निःशेषोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ।" -- वही पृ0 455 ।

6 - " अत्र जीवन्मुक्तस्य सवासनक्लेशात्यन्तदाहनिर्णयाद् ।" -- वही पृ0 456 ।

भासित होता है अर्थात् उसके लिए अब और कुछ ज्ञेय नहीं रह जाता ।[1] 'धर्ममेघ-समाधि' में 'सर्वज्ञातृत्व' नामक सिद्धि के प्रति भी परवैराग्य द्वारा वैराग्योदय होने पर ही असम्प्रज्ञात एवं 'कैवल्य' दायक योग की प्राप्ति होती है।[2] इस प्रकार धर्ममेघ-समाधि का कैवल्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है ।

योगदीपिका

धर्ममेघसमाधि सम्प्रज्ञातसमाधि की ही पराकाष्ठा है । इस समाधि में योग के विघ्नों का सर्वथा अभाव हो गया होता है और निरन्तर विवेकख्याति का उदय होता रहता है ।[3] इस समाधि का 'धर्ममेघ' नाम क्यों रखा गया है, इस संबन्ध में योगदीपिकाकार ने लिखा है -- ' इस समाधि में उत्तम योग के धर्म की वर्षा होती है अतः इस समाधि का नाम 'धर्ममेघ' है ।[4]

'धर्ममेघसमाधि' में साधक को प्रकृति, पुरुष के स्वरूप का विविक्तज्ञान प्राप्त होता है, जिसे 'विवेकसाक्षात्कार' कहा गया है । विवेकसाक्षात्कार के साथ ही उसे 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' नामक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं । परन्तु जब साधक इन सिद्धियों के प्रति किसी भी प्रकार से आसक्त नहीं होता है तब उसे 'अकुसीद' कहा जाता है । साधक जब सिद्धियों के प्रति 'अकुसीद' होकर उनकी उपेक्षा करता हुआ निरन्तर 'विवेकख्याति' में ही लीन रहता है तब धर्ममेघसमाधि होती है ।

'धर्ममेघसमाधि में' क्लेश, कर्माशयों का निःशेष नाश हो जाता है अतः वे पुनः चित्त में उदित नहीं होती और साधक उनसे विनिर्मुक्त हुआ केवल विवेकख्यातियुक्त धर्ममेघसमाधि में स्थित होकर जीवन्मुक्त की दशा का अनुभव करता है । इस समय साधक के ज्ञान के अनन्त प्रकाश के समक्ष 'ज्ञेय' 'अल्प' भासित होता है । अर्थात् इस समाधि में साधक का ज्ञान अनन्त तथा व्यापक होता है ।

- -

1 - " ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्यानन्त्यादिति विशुद्धात् ज्ञेयं प्रकाश्यमल्पं तदपेक्षया भवतीत्यर्थः ।" -- यो०वा०पृ० 457 ।

2 - " यथोक्तसार्वज्ञ्यातुपरवैराग्योदयेनासम्प्रज्ञातपरमराजयं प्रारब्धयोगसमाप्तिजयं वा तृतीयं मुख्यमाह - ।" -- वही पृ० 458 ।

3 - " योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद्धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः ।" -- यो०दी०पृ० 100 ।

4 - " उत्तमं योगजधर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ।" -- वही पृ० 100 ।

पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इस व्याख्या में इस विषय का प्रतिपादन योगवार्तिका के ही सदृश किया गया है । व्याख्या की पंक्तियाँ अक्षरशः मिलती हैं । अतः इस व्याख्या के अनुसार भी 'धर्ममेघ समाधि' का स्वरूप वही हुआ जैसा योगवार्तिका में प्रतिपादित है ।

मणिप्रभा

सांख्ययोग में प्रतिपादित 26 वों तत्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर बुद्धि और पुरुष का विविक्तज्ञान ही विवेकख्याति है । इस विवेकख्याति से सर्वज्ञता तथा सर्वाधिष्ठातृ-त्वादि रूप फलों की प्राप्ति होती है परन्तु जब साधक को इन फलों के प्रति कोई राग नहीं होता तब वह उन्हें नहीं अपनाता है और निरन्तर विवेकख्याति में ही निष्ठ होने पर धर्ममेघसमाधि को प्राप्त करता है । विवेकख्याति से प्राप्त फलों के प्रति रागरहित होना ही अकुसीद है । अकुसीद यहाँ विवेकख्यातिनिष्ठ साधक का विशेषण है । प्रसंख्यान के प्रति वैराग्य होने पर ही 'धर्ममेघसमाधि' होती है । धर्ममेघसमाधि के प्रति परवैराग्य होने पर प्रसंख्यान का भी निरोध हो जाता है और तब चित्त निर्बीज या असम्प्रज्ञातसमाधि में स्थित हो जाता है ।

धर्ममेघसमाधि के उदित होने से क्लेशादि समूल विनष्ट हो जाते हैं । अतः धर्ममेघ समाधि का कैवल्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

'धर्ममेघसमाधि' सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है[2] । निरन्तर विवेकसाक्षात्कार का होना ही धर्ममेघसमाधि है । साधक को इस समाधि के प्राप्त ज्ञान के प्रति किसी भी प्रकार का राग नहीं होता अर्थात् वह विवेकसाक्षात्कार के प्रति आसक्ति-रहित होता हुआ, अपनी समाधि में स्थित रहता है । इस समाधि में अविद्यादिक्लेश तथा संस्कार सभी कुछ भी न

- -

1 - "बुद्धिसत्त्वपुरुषान्यतालोचयतः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्या जायते सर्वाधिष्ठातृत्वाद्यवा-न्तरफला तत् प्रसंख्यानम् तत्र 'अकुसीदस्य' फलितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः तद्रहितस्य सर्वात्मना विवेकख्यातिरेव सन्ततिरूपो 'धर्ममेघसंज्ञ' 'समाधिः' भवति ।"
— मणिप्रभा पृ० 89 ।

2 - "समाधिः धर्ममेघनामा सम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा इत्यर्थः ।"
— यो०सू०बो० पृ० 60 ।

के बिना ही नष्ट हो जाते हैं और साधक जीवित रहता हुआ भी, हर्ष, अमर्ष से विमुक्त होकर जीवन्मुक्त की दशा का अनुभव करता है।

विवेकख्यातिस्थ जीवन्मुक्त का ज्ञान अनन्त प्रकाश के कारण इतना अधिक व्यापक हो जाता है कि उस व्यापक और अनन्त ज्ञान के सामने 'ज्ञेय' अल्प हो जाता है।

भास्वती

विवेकख्याति से प्राप्त होने वाली सिद्धियों के प्रति रागरहित होना 'अकुसीद' है। विवेकज सिद्धियों को जब साधक कुत्सित मानकर उनके प्रति आसक्ति रहित होकर केवल विवेकख्याति में ही लीन रहता है तब उसे धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। निरन्तर विवेकख्याति होते रहने वाली समाधि को धर्ममेघसमाधि की संज्ञा इसलिए दी गई है क्योंकि इस समाधि में कैवल्य रूपी धर्म की वर्षा होती है। जिस प्रकार वर्षा से तालाब इत्यादि बिना किसी प्रयत्न के जल से परिपूर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार धर्ममेघसमाधि के द्वारा बिना किसी अन्य प्रयत्न के ही साधक को कैवल्य का लाभ प्राप्त होता है। धर्ममेघसमाधि से सभी क्लेशकर्मादि समूलविनष्ट हो जाते हैं और साधक जीवन्मुक्त हो जाता है।

भास्वतीकार ने विवेकख्याति से प्राप्त सिद्धियों का नाम निर्देश नहीं किया है। केवल 'सिद्धियाँ' लिखा है अतः यह विचार किया जाता है कि यदि कोई नई बात कहनी होती तो व्याख्याकार अवश्य ही लिखते, यहाँ केवल 'सिद्धियाँ' शब्द से भाष्यकार द्वारा वर्णित सिद्धियाँ ही समझनी चाहिए।

- -

1- " उत्तमाभ्यासकारात् क्लेशाः संस्कारा अविद्यादयः क्लेशः रागम् । एवं कर्मप्रारब्धभिन्नं तथा च भोगं विनैव नाश - - - - जीवन्नेव हि विद्वान् हर्षामर्षाभ्यां विमुक्तो भवतीति ।"

— यो०सु०वी० पृ० 60 ।

परस्पर विलक्षण जितने भी पदार्थ हैं सभी का क्रम से अवस्थित ज्ञान ही 'तत्त्वज्ञान' है । इस 'तत्त्वज्ञान' के लिए ही दूसरा शब्द 'प्रसंख्यान' प्रयुक्त किया गया है । 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा साधक को 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञातृत्व' नामक दो प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । परन्तु जब साधक इन सिद्धियों के परिणामदोष का दर्शन कर उनके प्रति विरक्त हो जाता है तब सर्वथा 'विवेकख्याति' ही होती रहती है । यह विवेकख्याति दृढ़ भूमिवाली होती है, इसमें अविद्यादि क्लेशों और संस्कार रूप बीजों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । इस प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न समाधि ही 'धर्ममेघसमाधि'[1] कही गई है । इस समाधि में विवेकख्याति रूपी धर्म की वर्षा होती है ।[2] धर्ममेघसमाधि में क्लेशकर्मों का आंशिक और समूल विनाश हो जाने के कारण शुक्ल, कृष्ण अशुक्ल कृष्णादि भेद से युक्त त्रिविध कर्मों से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाता है और साधक जीवनमुक्त हो जाता है । जीवनमुक्त की दशा में साधक का ज्ञान अनन्त विस्तार वाला होता है । इस समय वह सारे जगत को हस्तामलक की भांति देखता है ।[3]

- -

1 - " सर्वथा विवेकख्यातिरेव दृढभूमिर्भवति, विवेकख्यातिकारणीभूतं तत्त्वज्ञानं च निष्पद्यते, विवेकख्यातिमतस्तस्य संस्काररूपस्य बीजस्याऽऽत्यन्तिकनाशात्पुनरेव व्युत्थानरूपाणि न जायन्ते तदा धर्ममेघसमाधिस्तस्य भवति । "

— स्वा॰ना॰भा॰पृ॰ 321 ।

2 - " क्लेशकर्मादीनां निःशेषोन्मूलनं विवेकख्यात्यात्मकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघ इति । "

— वही पृ॰ 321 ।

3 - " एवंविधे तत्त्वप्रकाशे सति यद्यपि योगी समष्टिं व्यष्टिं वा यद्यद् विज्ञातुं समभिलषति तत् तत् सर्वं गाधिपकथनावच्छेदेन हस्तामलकवत् पश्यति ।"

— वही पृ॰ 322 ।

व्यासभाष्य

क्षणों की निरन्तरता अर्थात् क्षणों का निरन्तर बिना किसी बाधा के प्रवाहित होते रहना ही 'क्रम' है।[1] दो क्षणों की साथ स्थिति असम्भव है, उनके बीच क्रम का होना अनिवार्य है। पहले वाले क्षण के समाप्त होने पर पश्चात् क्षण का अनन्तर रूप से आविर्भाव क्षणों से ही होता है। क्रम का स्वरूप न तो पूर्वक्षण में होता है न पर-क्षण में होता है। यह पूर्व क्षण के नष्ट होने और पश्चात् क्षण के आने के बीच निरन्तरता रूप का है। अर्थात् क्षणों का नैरन्तर्य ही क्रम है। क्रम का ज्ञान क्षणों के परिणाम के अन्त से होता है।[2] इसको स्पष्ट करने के हेतु भाष्य का उदाहरण वाक्य बहुत ही सार्थक है। यथा – जिस प्रकार नया वस्त्र एकाएक पुराना नहीं हो जाता, जिस जिस क्षण वह खरीदा जाता है उसी क्षण से क्रमशः उसमें पुरातनता आने लगती है। इस प्रकार वस्तु के 'नवीपन' नामक परिणाम क्रम की समाप्ति होने पर ही उसके पूर्व के क्षणों से संबंधित 'क्रम' का अनुमान कर लिया जाता है।

'क्रम' नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में होता है। अनित्य पदार्थों में क्रम की समाप्ति देखी जा सकती है यथा बुद्ध्यादि विकारों में परिणाम के अन्त से ज्ञात होने वाले क्रम की समाप्ति देखी जाती है अर्थात् जब बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियादि प्रकृति के विकारों का अन्तर्भाव प्रकृति में हो जाता है तब उनके परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

नित्यता दो प्रकार की होती है।[3] (1) परिणामिनित्यता (2) कूटस्थ-नित्यता। परिणामिनित्यता गुणों में होती है। त्रिगुण का स्वभाव प्रतिक्षण परिणमित होते रहना है। प्रतिक्षण परिणमनशील होने पर भी गुणों का यथार्थस्वरूप नष्ट नहीं होता अतः इन्हें परिणामिनित्य की संज्ञा दी गई है। परिणामिनित्य में क्रम की समाप्ति

---

1 - " पूर्वस्मात् उत्तरभाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः।" – व्यासभाष्य पृ0 383

2 - " क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः।" – वही पृ0 459

3 - " द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थ नित्यता पुरुषस्य। परिणामिनित्यता गुणानाम्।" – वही पृ0 459 f

नहीं होती क्योंकि त्रिगुण कभी भी नष्ट नहीं होते । त्रिगुणों का परिणमन 'सदृश' और 'विरूप' प्रकारक होता है। विरूप परिणाम द्वारा ही बुद्ध्यादि विकारों की रचना होती है । अतः जब बुद्ध्यादि प्रलयभाव को प्राप्त हो जाते हैं, और गुणों के कृतकार्य हो जाने पर गुणों के विरूपपरिणाम की अविरतधारा समाप्त हो जाती है, तब सरूपपरिणाम की धारा विद्यमान रह जाती है । गुणों के संबन्ध में यह ज्ञातव्य है कि उनकी स्वरूप-परिणमनशीलता कभी भी नष्ट नहीं होती । अतः परिणामिनित्य में भी क्रम की समाप्ति नहीं होती ।

अपरिणामिनित्य अथवा कूटस्थनित्य में परिणामों का क्रम नहीं होता क्योंकि क्रम परिणामों के अन्त में होता है, पुरुषतत्व कूटस्थनित्य है उसमें परिणाम नहीं होता अतः उसमें क्रम का ग्रहण नहीं किया जा सकता । मुक्त पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित स्थिति को एकाएक नहीं प्राप्त कर लेते । निरन्तर प्रयत्नों के फलस्वरूप ही उन्हें अपने अन्दर स्थित कूटस्थनित्य-स्वरूप का बोध होता है । यह बोध निरन्तर साधना के द्वारा ही प्राप्त होता है । यह स्वरूप-अस्तिता रूप बोध क्रमशः ही प्राप्त होता है अतः पुरुषों में भी 'क्रम' विकल्पित किया जाता है । परन्तु पुरुषों में क्रम की कल्पना मात्र की जा सकती है यथार्थतः उनमें क्रम का ग्रहण कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष की सत्ता त्रिगुणों से भिन्न है और इनमें किसी भी प्रकार का परिणाम कभी भी घटित नहीं होता है ।

तत्त्ववैशारदी

क्रम क्षण-समूह पर आश्रित होता है । एक क्षण में क्रम नहीं होता एक क्षण के पश्चात् अनन्तरता से दूसरे क्षणों का होते रहना ही क्रम है । इसीलिए क्रम को क्षणसमूहाश्रयी कहा गया है ।[1] परिणाम का पर्यवसान होने पर क्रम लक्षित होता है। इसीलिए क्षणों की परिणाम धारा के पौर्वापर्य को ही क्रम कहा गया है ।

1- "परिणामक्रमः क्षणप्रतियोगी, क्षणः प्रतिसंबन्धी यस्य स तथोक्तः । क्षणप्रचयाश्रय इत्यर्थः । न जातु क्रमः क्रमवन्तमन्तरेण शक्यो निरूपयितुम् । न चैकस्य क्षणस्य क्रमः । तस्मात्क्षणप्रचयाश्रयः परिशिष्यते ।" — त०वै०पृ० 459 ।

क्रम का स्वरूप स्थापक नहीं प्रकाश में आता प्रत्युत परिणाम का पर्यवसान होने पर ही क्रम का स्वरूप लक्षित होता है । इस सम्बन्ध में भाष्य में उपयुक्त उदाहरण का इन्होंने भी समर्थन किया है । अनित्य पदार्थों में परिणमक्रम दिखाई पड़ता है परन्तु नित्य पदार्थों में परिणामक्रम होता है या नहीं इस विषय का विवेचन प्रस्तुत करने के लिए पहले नित्यता के ऊपर विचार किया गया है । नित्यता दो प्रकार की बताई गई है । कूटस्थ नित्यता और परिणामिनित्यता । कूटस्थनित्यता का अर्थ है "जो अपने स्वभाव से कभी भी नहीं हटे अर्थात् जो सदैव स्थित रहे उसे ही कूटस्थनित्य कहा गया है ।[1] पुरुष ही कूटस्थनित्य है, वह अपरिणामी है अतः इसमें "परिणामक्रम" नहीं हो सकता ।

'प्रधान' परिणामिनित्य है । यद्यपि प्रधान भी नित्यतत्व है परन्तु इसमें निरन्तर रूप से परिणामों का क्रम चलता रहता है क्योंकि यह त्रिगुणात्मक है । त्रिगुण सर्वदा परिणमनशील होते हैं अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति भी 'परिणामक्रम' युक्त हुई । परन्तु इसमें परिणामक्रम की कभी भी समाप्ति नहीं होती है, क्योंकि गुणों में परिणाम के क्रम की कभी भी समाप्ति नहीं होती ।[2] प्रकृति जब साम्यावस्था में रहती है तब भी गुणों में परिणाम होता रहता है अतः प्रधान अथवा गुणों में परिणामक्रम की समाप्ति नहीं देखी जा सकती ।

राजमार्तण्डवृत्ति

काल का सबसे छोटा भाग क्षण है । अनुभूत क्षणों में ही क्रम का ज्ञान होता है । अननुभूत क्षणों में क्रम का ज्ञान नहीं होता । अनुभूतक्षणों की निरन्तरता बुद्धि द्वारा ग्रहण करने पर ही 'क्रम' का ज्ञान होता है । क्रम का ग्रहण क्षणों के अन्त से होता है अर्थात् एक क्षण का अवसान होने पर दूसरे क्षण का अविच्छिन्न क्रम से ही होता है । 'क्रम' के संबन्ध में कुल इतना ही विवेचन राजमार्तण्डवृत्ति में उपलब्ध है । इस व्याख्या में परिणामिनित्य तथा कूटस्थनित्यादि का वर्णन नहीं किया गया है । क्रम के स्वरूप के संबन्ध में परिणामों के 'पौर्वापर्य' भाव की अनिवार्यता को भी नहीं स्वीकार किया गया है । इस वृत्ति में क्रम के संदर्भ में 'पौर्वापर्य' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है ।

- -

1- " तत्र कूटस्थ स्वभावादप्रच्युतमस्तु नित्यम् ।" — त०वै०पृ० 460 ।

2- " प्रधानस्य तु परिणामक्रमो न समाप्यपर्यवसानः ।"
" गुणेष्वसमाप्यपर्यवसानः परिणामक्रम इत्युक्तम् ।"
— वही पृ० 460 ।

विवरण

'क्रम' क्षणों के साथ रहने वाला होता है।[1] क्षणों के मध्य आनन्तर्य का होना ही 'क्रम' है। इस प्रकार क्षणसमूह में अन्वित रहने वाला 'क्रम' क्षणों का आनन्तर्यरूप है।[2] क्रम के अस्तित्व का अनुमान अनित्य पदार्थों यथा वस्त्रादि में सरलता से चरितार्थ हो जाता है।[3] परन्तु नित्य पदार्थों यथा पुरुष जो कूटस्थनित्य है उसमें क्रम का अस्तित्व नहीं होता। पुरुष अपरिणामि नित्य है, कूटस्थ नित्य है अतः उसमें क्रम नहीं होता है।[4] इसके विपरीत गुण जो नित्य होते हैं उनमें परिणामक्रम दृष्ट होता है। उनमें परिणाम क्रम का अवसान नहीं होता। गुणों के धर्म यथा महदादि में परिणामक्रम का अन्त लब्ध होता है अर्थात् उनमें परिणाम-क्रम 'लब्ध-पर्यवसान' होता है।

योग वार्त्तिक

क्षणों की अनन्तरता ही क्रम है। विज्ञानभिक्षु ने परिणामधारा के पौर्वापर्य को क्रम के लिए महत्वपूर्ण नहीं माना है। अविरत परिणामधारा में ही क्रम का अनुमान किया जाता है।[5] अनित्य पदार्थों में ही क्रम की समाप्ति का अनुमान किया जा सकता है प्रधान में नहीं, क्योंकि प्रधान परिणामशील होते हुए भी नित्यतत्व है।[6] इसके विपरीत

- -

1 - "क्षणं प्रति युज्यत इति क्षणप्रतियोगी।" — विवरण पृ0 365।

2 - "तथा क्षणस्य प्रवाहः प्रबन्धः अविच्छेदो नैरन्तर्यं तथा यदि तु इतरं यस्य क्षणस्य प्रवाहविच्छेद वाचिनः क्षणस्य यत् आनन्तर्यं सः क्षणस्य क्रमः।" — वही पृ0 309

3 - "तत्रानित्येषु वस्त्रादिषु क्रमो दृष्टः।" — वही पृ0 366।

4 - "परमार्थतः पुरुषेष्वपरिणामित्वान्नास्ति क्रम इत्यर्थः।" — वही पृ0 367

5 - "क्षणप्रतियोगी क्षणाव्यवधानस्य विरोधी क्षणेनाप्यन्तरित इति यावत्। एवंरूपोऽत्र क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यं मात्रमिति विशेषणार्थः।" — यो0वा0 पृ0 461।

6 - "नश्वरपदार्थेष्वनित्येष्वेव क्रमः सिद्धो न तु प्रधानेऽपि, तस्य चरमावस्थाया अभावात्।" — वही पृ0 461।

बुद्धि आदि में क्रम की समाप्ति देखी जाती है क्योंकि बुद्ध्यादि अनित्य है।[1] इनका पर्यवसान भी होता रहता है। इस प्रकार यह सर्वथा निश्चित है कि परिणाम-क्रम की समाप्ति अनित्य पदार्थों में ही होती है, नित्य पदार्थों में नहीं। परन्तु पुरुष में तो परिणाम-क्रम भी नहीं होता कारण वह 'अपरिणामी' तथा 'कूटस्थनित्य' है। वस्तु-चित्त-पुरुष में परिणाम का अध्यासमात्र होता है, वस्तुतः वह भी परिणामक्रम से अछूता ही रहता है।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

प्रारंभिक क्षण के पश्चात दूसरे क्षण का अनन्तरत्व से आते रहना ही क्रम का स्वरूप है। क्षणों की अनन्तरता ही क्रम का स्वरूप है। क्रम के स्वरूप में पौर्वापर्य को नहीं स्वीकार करना चाहिए।[2] ऐसा 'योगदीपिकाकार' का मत है। क्रम का ज्ञान परिणामों के पर्यवसान तथा उनकी उत्पत्ति से होता है। क्रम की समाप्ति अनित्य पदार्थों में देखी जाती है। अनित्य पदार्थों 'वस्त्र' और 'सुवर्ण' का उदाहरण दिया गया है। इनमें आरम्भ से अन्त तक क्रम दृष्ट होता है। जगत की सृष्टि का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है अतः इसमें भी परिणाम को अविच्छिन्न धारा का अनुमान किया जाता है। सृष्टि की प्रक्रिया गुणों के परिणामस्वरूप ही होती है। चूंकि गुणों को परिणामिनित्य कहा गया है अतः त्रिगुणात्मक जगत में भी यद्यपि परिणाम-क्रम दृष्ट होता है परन्तु उनका नाश कभी भी नहीं होता। क्योंकि सृष्ट्यादि के प्रवाह का अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता।

योगदीपिकाकार ने नित्यता का विवेचन नहीं किया है। साथ ही परिणाम-क्रम की समाप्ति को भी नहीं स्वीकार किया है। इस व्याख्या के अनुसार अनवच्छिन्न-परिणामधारा का ही अनुमान किया जाना चाहिए। पातंजलयोगसूत्रवृत्तिकार की व्याख्या योगदीपिका की भाँति है अतः उस व्याख्या में प्रतिपादित विवेचन को यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

- -

1- "बुद्ध्यादिषु महदादिषु लब्धपर्यवसानो विनाशित्वादित्यर्थः।"
— योगवार्तिक 462 पृ

2- "क्षणप्रतियोगी क्षणस्याव्यवसरस्य विरोधि-क्षणेनाव्यवधानेन इति यावत्। एवं रूपोऽयं क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यमात्रमिति विशेष्यबलार्थः। परिणामस्य पूर्वधर्माव्यये धर्मान्तरोत्पत्तिरित्युक्तम्।"

— यो०दी०सू० 102 पृ

'क्रम' क्षणसमूह पर आश्रित रहने वाला होता है । क्षणों के परिणामों का पौर्वापर्य ही क्रम है । 'क्रम' क्या है ? इसका स्पष्टीकरण इस व्याख्या में इस प्रकार से किया गया है । यह पूर्वक्षण है और यह उत्तरक्षण है इस प्रकार पूर्व और उत्तर रूप क्षणों का पौर्वापर्य ही 'क्रम' है[2] । इस क्रम में संयम करने से सूक्ष्म पदार्थों का भेदज्ञान या विवेकख्याति होती है । यहाँ यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि 'क्रम' 'क्षण' को नहीं कहा जा सकता प्रत्युत क्षणसमूह के मध्य क्रमिकता या अनन्तरता ही 'क्रम' है । अब प्रश्न उठता है कि यह 'क्रम' क्या 'नित्य' पदार्थों में रहता है या 'अनित्य' पदार्थों में रहता है ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से दिया गया है । नित्यता दो प्रकार की बताई गई है । (1) कूटस्थ-नित्यता (2) परिणामि नित्यता । कूटस्थनित्य पुरुष है और परिणामिनित्य गुण हैं । मणिप्रभाकार ने भी बुद्धि आदि को अनित्य माना है । उनके अनुसार परिणाम क्रम सावधिक और निरवधिक होता है । बुद्धि आदि अनित्य पदार्थों में यह परिणाम क्रम 'सावधिक' होता है । 'परिणामिनित्य' गुणों में यह परिणाम-क्रम 'निरवधिक' होता है । सावधिक का अर्थ है एक निश्चित अवधि के पश्चात् परिणाम की समाप्ति का होना । निरवधिक शब्द का अर्थ है – जिसके परिणाम-क्रम की समाप्ति ही न हो । परिणामिनित्य में परिणामक्रम की समाप्ति नहीं होती और 'बुद्धि' के परिणाम-क्रम की समाप्ति पुरुषसाक्षात्कार प्राप्त हो जाने के पश्चात् हो जाती है । अतः एक निश्चित अवधि के पश्चात् परिणाम-क्रम की समाप्ति देखी जा सकने के कारण ही बुद्धि के संदर्भ में परिणाम-क्रम को सावधिक कहा गया है[3] । कूटस्थ पुरुष में 'क्रम' का अस्तित्व नहीं होता है । बुद्धि आदि से संबद्ध पुरुष में भ्रमवश क्रम का आरोप भले कर लिया जाये परन्तु वस्तुतः पुरुष क्रम से सर्वथा रहित है क्योंकि वह अपरिणामी है तथा कूटस्थनित्य है[4] ।

- -

1 - "क्षणो प्रतियोगी निरूपको यस्य स क्षणप्रतियोगी ।"
"'क्षणप्रतियोगी' 'क्रम' इति स्वरूपनिर्देशः ।" – मणिप्रभा पृ० 91 ।

2 - "तत्र यस्मात्पूर्वक्षणोऽयमुत्तरक्षण इति क्षणानां, तेषां क्रमस्य, पौर्वापर्यस्य संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो विवेकजो भवति ।" — वही पृ० 71 ।

3 - "तत्रानित्येषु बुद्ध्यादिषु धर्मिषु रागादि-परिणामक्रमस्य पूर्वान्तभावेऽप्यपरान्तः पुरुषसाक्षात्कारेऽवसीयत इति क्रमः तेषु सावधिकः, गुणेषु परिणामिनित्येषु परिणामक्रमो निरवधिकः ।" — वही पृ० 92 ।

4 - "कूटस्थनित्येषु पुरुषेषु बुद्ध्यादिपरिणामभेदारोपात्कल्पितः क्रमो न वास्तव इति सर्वमवदातम् ।" — वही पृ० 92 ।

योगसूत्रार्थबोधिनी, योगसिद्धान्त चन्द्रिका

'क्रम' के स्वरूप का निर्वचन इस व्याख्या में 'मणिप्रभा' के ही सदृश किया गया है ।

भास्वती

'क्रम' क्षणों का प्रतियोगी है[1] अतः इसे क्षणसमूह पर आश्रित रहने वाला कहा गया है । क्रम का ज्ञान परिणामों के पौर्वापर्यरूप में होता है[2] अर्थात् क्षणों में अविच्छिन्न परिणामधारा का नैरन्तर्य ही 'क्रम' है[3] । किसी भी अनित्य नवीन पदार्थ में पुराणता परिणामक्रम से ही देखी जाती है । परिणामक्रम नित्यपदार्थों में भी पाया जाता है । नित्य पदार्थ दो प्रकार के बताए गए हैं । (1) परिणामिनित्य (2) कूटस्थनित्य । परिणामिनित्य में परिणामों की अविरलधारा प्रवाहित होती रहती है अतः इसमें परिणामक्रम स्वाभाविक रूप से पाया जाता है । कूटस्थनित्य गुणों से परे है । यह शाश्वतनित्य सत्ता है । इसमें क्रम का अनुमान कल्पना से किया जाता है ।

परिणामिनित्य का स्वरूप सत्व, रज और तमोगुणयुक्त होता है अर्थात् प्रकाश क्रिया और स्थितिशीलता ही गुणों का स्वभाव है । त्रिगुण सर्वदा परिणमनशील रहते हैं अतः इन्हें परिणामिनित्य कहा गया है । इनके स्वरूपगत परिणाम का कभी भी अन्त नहीं होता है अतः इनमें क्रम की समाप्ति नहीं देखी जाती है । 'कूटस्थनित्य' में परिणाम नहीं होता फिर भी कल्पना के आधार पर कूटस्थनित्य में भी क्रम के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है । चूँकि पुरुषतत्व कूटस्थनित्य है अतः इसमें कल्पनया आरोपित 'क्रम' का भी अन्त नहीं देखा जाता । पुरुष में शाब्दी-कल्पना के द्वारा आरोपित 'क्रम' से इसकी कूटस्थ-नित्यता की किञ्चिन्मात्र भी हानि नहीं होती ।

अतः पर्यवसान की व्याख्या भास्वतीकार ने उक्त व्याख्याकारों के भिन्न रूप में किया है । त्रिगुण नित्यतत्त्व हैं । उनका स्वरूप सत्त्व, रज और तमोगुणयुक्त है । सत्त्वगुण प्रकाश का द्योतक रजोगुण क्रियाशीलता का द्योतक और तमोगुण जड़ता का द्योतक है ।

- -

1 - "क्षणानां सर्वापेक्षा क्षणावसरव्यापीत्यर्थः ।" — भास्वती पृ0 449 ।
2 - "परिणामस्याविरल प्रवाहः क्रम इत्यर्थः ।" — वही पृ0 450 ।
3 - "क्षणव्यापिनां परिणामानां नैरन्तर्यमेव क्रम इत्यर्थः ।" — वही पृ0 450 ।

ये तीनों गुण कभी भी नष्ट नहीं होते । इनका परिणाम सरूप और विरूप भेदों वाला होता है । विरूप-परिणाम से ही सृष्टि की प्रक्रिया होती है । 'विरूप' परिणाम का अन्त होने पर भी सरूपपरिणाम उनमें होता रहता है । अतः इन्हें परिणामिनित्य कहा गया है । पुरुषतत्व में भी प्रकाश, क्रिया और स्थिति का उत्कर्ष शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है परन्तु पुरुषतत्व का यह स्वरूप त्रिगुणात्मक नहीं होता । पुरुष का यह स्वरूप प्रकृष्टसत्व से युक्त होता है । प्रकृष्टसत्व के द्वारा पुरुषकी कूटस्थता में कोई बाधा नहीं पड़ती ।

स्वामिनारायणमत

क्रम क्षणसमूह पर आश्रित होता है[1] । क्रम का ज्ञान सभी परिणामों के अन्त से होता है । एक परिणाम का अन्त होने पर तुरन्त नवीन परिणाम का आ जाना अर्थात् परिणामों की अविच्छिन्न धारा को ही क्रम कहा जाता है[2] । जिस प्रकार दीपक में अविच्छिन्न ज्योति अविच्छिन्नपरिणामधारा को प्रकट करती है उसी प्रकार नित्य पदार्थों में भी क्रम की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है । नित्यता दो प्रकार की होती है (1) कूटस्थनित्यता (2) परिणामिनित्यता । कूटस्थनित्यता पुरुष में व्याप्त है और परिणामिनित्यता गुणों में तथा प्रधान में व्याप्त है ।

कूटस्थनित्य में स्वरूपास्तित्व का ज्ञान क्रम से ही होता है । यहाँ क्रम का आरोप व्यावहारिक ज्ञान के लिए किया गया है । अर्थात् पुरुषतत्व गुणों से पृथक तत्त्व है । परिणामों की अविच्छिन्नधारा इसमें नहीं होती अतः इसमें क्रम का ग्रहण नहीं हो सकता परन्तु 'स्वरूपास्तिता' का ज्ञान क्रम से ही होता है अतः इस क्रमिक ज्ञान के कारण पुरुष-तत्व में भी क्रम का आरोप किया जा सकता है । 'पुरुषतत्व' शाश्वत, नित्यसत्ता है अतः इसमें क्रम का भी अन्त नहीं देखा जा सकता है ।

अब परिणामिनित्य में क्रम का स्वरूप देखिये । गुणों को 'परिणामिनित्य' कहा गया है । गुणों का स्वभाव ही नित्यपरिणमनशील होते रहना है अतः गुणों को नित्य-परिणामी कहा गया है । नित्य होने के कारण इनमें भी क्रम की समाप्ति नहीं देखी जाती है । गुणों के विकार यथा - बुद्धि, इन्द्रिय, अहंकारादि तिरोभूत होते रहते हैं अतः इनमें परिणाम क्रम की समाप्ति देखी जाती है ।

- -

1 - "क्षणविलक्षणत्वे सति क्षणप्रचयाऽऽश्रय इति यावत् ।" - स्वा०न०भा० पृ० 323

2 - " परिणामस्य क्रमो नाम - परिणामस्याविच्छिन्नत्वेनधारा ।"

— वही पृ० 323 ।

कैवल्य का स्वरूप

व्यासभाष्य

पातंजलयोगदर्शन में 'कैवल्य' के स्वरूप का विवेचन चारों अध्यायों में प्राप्त होता है । प्रथम-अध्याय के तीसरे सूत्र के भाष्य में सबसे प्रथम विवेचन कैवल्य के संबन्ध में प्राप्त होता है । यहाँ पर भाष्यकार ने कैवल्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है । कैवल्य की स्थिति में पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहता है । इस अवस्था में पुरुष को वृत्ति-सारूप्य नहीं होता है । इसी अध्याय के 51वें सूत्र के भाष्य में निर्बीजसमाधि के स्वरूप का उल्लेख किया गया है । निर्बीजसमाधि में चित्त में केवल निरोधसंस्कार शेष रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कारयुक्त चित्त ही कैवल्य के योग्य है । कैवल्य प्राप्त योगी अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है । जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तथा केवल निरोध संस्कार ही शेष रह जाते हैं तब ये निरोध-संस्कार चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं और तब चित्त को कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् चित्त मुक्त हो जाता है और इस अवस्था में पुरुष अपने आप में ही अवस्थित हो जाता है ।

द्वितीय-अध्याय के 22वें सूत्र के भाष्य में जीवनमुक्त तथा विदेह मुक्त के विषय में विवेचन प्राप्त होता है । जीवनमुक्त तथा विदेहमुक्त का दृश्यरूप बुद्धि से संबन्ध नहीं रह जाता क्योंकि उक्त अधिकारी कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं अतः बुद्धि का इनके साथ कोई संबन्ध नहीं रह जाता । 23वें सूत्र के भाष्य में भोग और अपवर्ग का उल्लेख किया गया है । द्रष्टा और दृश्य के संयोग की दशा का नाम भोग है। इसके विपरीत द्रष्टा जब अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है तब अपवर्ग की स्थिति को प्राप्त करता है । इस प्रकार केवल अविद्या का न होना अर्थात् केवल दर्शन ही साक्षात मोक्ष का कारण नहीं है अपितु अदर्शन का अभाव होने पर संयोग का अभाव हो जाना ही मोक्ष है ।

- -

1 - " तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।" — यो०सू० 1/3 ।

विवेकख्याति होने पर बन्धन के कारण अदर्शन का नाश होता है । अतः विवेकज्ञान को कैवल्य का कारण कहा गया है । 25वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य का सर्वाङ्गीण विवेचन प्राप्त होता है । अविद्या का अभाव होने पर पुरुष और बुद्धि का संयोग जो अविद्याजन्य है, उसका आत्यन्तिक नाश हो जाता है अर्थात् त्रिकालों में कभी भी पुनः यह संयोग नहीं होता इसे ही हान कहा गया है । पुरुष का बुद्धि से अलगाव होने पर गुणों से युक्त बुद्धि का कैवल्य होता है । जब कारण ही समाप्त हो जाता है तब पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । बुद्धि और पुरुष दो पृथक् पृथक् तत्व हैं । इन तत्वों का भेद ज्ञान ही विवेकख्याति है । विवेकख्याति प्राप्त योगी की प्रज्ञा शुद्ध तथा निर्मल होती है । निरन्तरविवेकख्याति होती रहने से कैवल्य प्राप्त होता है अतः अविप्लवा विवेकख्याति को हान का उपाय कहा गया है ।

द्वितीय-अध्याय के 18वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य के लिए अपवर्ग शब्द आया है । अपवर्ग का विश्लेषण इस प्रकार किया है — भोक्तुः स्वरूपावधारणं अपवर्गः, अर्थात् भोक्ता के स्वरूप का अनुभव ही अपवर्ग है । यहाँ पर बन्धन तथा 'मोक्ष' का विवेचन भी प्राप्त होता है । बुद्धि जब तक पुरुष के लिए भोग का संपादन करती रहती है तब तक पुरुष और बुद्धि बंधे रहते हैं । अतः इस अवस्था में पुरुष बद्ध रहता है, बुद्धि से संबद्ध रहता है और जब बुद्धि कृतकार्य हो जाती है तब पुरुष का बुद्धि से संयोग समाप्त हो जाता है और पुरुषमोक्ष प्राप्त करता है । इसी अध्याय के 27वें सूत्र के भाष्य में मुक्तपुरुष के संदर्भ में जीवन्मुक्त का विवेचन भी प्राप्त होता है । विवेकख्याति-प्राप्त योगी की प्रज्ञा उत्कृष्टतम अन्त वाली होती है । उस समय योगी की स्थिति केवल अनुभव करने वाली होती है । इस स्थिति में योगी की प्रज्ञा सात प्रकार की होती है, (1) हेय का अर्थात् त्याज्य का ज्ञान हो चुका है अब पुनः कुछ भी हेय नहीं रह गया । (2) अविद्या ही हेय है इस हेय के कारण का क्षय हो चुका है अतः पुनः कुछ भी क्षेतव्य नहीं है । (3) निरोध समाधि द्वारा हान रूप कैवल्य का साक्षात्कार हो चुका है । (4) विवेकख्यातिरूप हान के उपाय की भावना कर ली गई है । ये चार विमुक्तियाँ बुद्धि की कार्यविमुक्तियाँ हैं । बुद्धि इस समय कोई कार्य नहीं करती है केवल अनुभव करने की स्थिति में रहती है । कार्य विमुक्ति के पश्चात् चित्त विमुक्ति का वर्णन है । चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की है । (5) बुद्धि का कार्य समाप्त हो चुका है, (6) अतः त्रिगुण अपने कारण में चित्त के साथ अस्त हो जाते हैं, (7) पुनः इन गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता क्योंकि गुणों का प्रयोजन भोग तथा अपवर्ग सिद्ध हो चुका है । इस अवस्था में

पुरुष का गुणों से कोई संबन्ध नहीं रह जाता है । वह केवली ही अपने ज्योति-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तृतीय-अध्याय के 18वें सूत्र के भाष्य में जैगीषव्य मुनि की उक्ति देते हुए मोक्ष में सबसे उत्तम सुख की कल्पना की है । विषय सुख की अपेक्षा संतोष अधिक श्रेष्ठ सुख है परन्तु मोक्ष में जो सुख मिलता है वह संतोषसुख से भी उत्तम है । अतः मोक्ष के अतिरिक्त जितने भी सुख हैं सब दुःख रूप ही हैं ।

26वें सूत्र के भाष्य में विदेह और प्रकृतिलय के स्वरूप का विवेचन किया है । इनको न तो वस्तुतः मुक्तावस्था है और न सक्रिय लौकिक स्थिति ही होती है । ये चित्त से कैवल्यपद का सा अनुभव करते हुए भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञातसमाधि में लीन रहते हैं ।

50वें और 55वें सूत्र के भाष्य में विवेकख्याति रूपी अग्नि से क्लेशों का दाह हो जाने पर दग्ध-बीज तुल्य क्लेशों के बीज चित्त में रह जाते हैं जो अन्त में चित्त के साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं । चित्त जब प्रकृति में लीन हो जाता है तब पुरुष त्रिगुणात्मक बुद्धि से मुक्त हो जाता है । गुणों से पुरुष का आत्यन्तिक वियोग ही कैवल्य है । कैवल्य की अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में ही अवस्थित हो जाता है ।

चतुर्थ-अध्याय के 34वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य का वर्णन आता है । महदादि प्रकृति के विकार हैं । ये सभी विकार त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाने पर ये प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार गुण कृतार्थ हो जाते हैं । इससे पुरुष गुणों के सान्निध्य से रहित केवल अपने स्वरूप में स्थित होता है । पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित रहना ही उसका कैवल्य है । पुरुष कैवल्य के लिए अपने आप कोई प्रयत्न नहीं करता । जब गुण कृतकार्य होकर प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब वह स्वयमेव ही प्रतिष्ठित होता हुआ केवली हो जाता है । वस्तुतः वह कैवल्य प्राप्त नहीं करता और न ही इसके लिए कोई यत्न करता है क्योंकि वह तो स्वभाव से ही स्वरूपप्रतिष्ठित है । उपाधियों का तो आरोप मात्र उसपर किया जाता है। अतः जब उपाधियों से रहित हो जाता है तब वह अपने शाश्वत् केवली रूप में अवस्थित हो जाता है अतः कैवल्य की प्राप्ति गुणों को होती है । पुरुष के संदर्भ में कैवल्य का अर्थ बुद्धि आदि उपाधियों से रहित सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहना है । इस प्रकार वास्तव में कैवल्य बुद्धिरूपिणी प्रकृति को होता है उसके बाद ही पुरुष अकेला रह जाता है अतः उसके लिए भी कैवल्य प्राप्त हुआ ऐसा कथन कर दिया जाता है ।

चितिशक्ति शुद्ध तथा अनन्त है अतः सुख दुःख नामक अशुद्धियाँ पुरुष में नहीं होती परन्तु जब बुद्धि के ऊपर चितिशक्ति का संवेदन होता है तब बुद्धि तत्-तत् विषय के आकार की हो जाती है । व्युत्थान दशा में बुद्धि के तदाकाराकारित होने पर चितिशक्ति भी बुद्धि के संयोग द्वारा उसी रूप की दिखती है । पुरुषार्थवती बुद्धि ही पुरुष का विषय है । विवेकख्याति तथा विषय का भोग बुद्धि का पुरुषार्थ है । कैवल्य की अवस्था में दोनों का निरोध हो जाता है और पुरुष अपने अनौपाधिक चैतन्य-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । पुरुष का कोई रूप नहीं होता । रूप तो उसके ऊपर आरोपित किया जाता है । आरोपित होने पर ही वह शान्त, घोर, मूढ़ आदि रूपों में देखा जाता है । जब कि यथार्थतः पुरुष का कोई भी रूप नहीं होता । वह अनौपाधिक तथा कूटस्थनित्य है । चितिशक्ति की नित्यता निरोधकाल तथा व्युत्थानकाल दोनों में बनी रहती है परन्तु व्युत्थान काल में बुद्धि के सम्बन्ध के कारण पुरुष भी विषयों के रूप का ही भासित होता है । जब ज्ञानोपाय-रूप-विवेकख्याति उदित होती है तब संयोग का निरोध होता है और चितिशक्ति अपने शाश्वत् स्वरूप में अवस्थित हो जाती है । चितिशक्ति की इसी दशा को कैवल्य कहा गया है ।

प्रथम-पाद के 51वें सूत्र के भाष्य में कैवल्य निरूपण के प्रसंग में निर्बीज-समाधि का वर्णन किया गया है । निरोध-संस्कारों से प्रज्ञाकृत संस्कारों का भी निरोध हो जाता है । सभी प्रकार के ज्ञान संस्कारों का निरोध हो जाने पर निर्बीज-समाधि होती है । ज्ञान संस्कारों में ही ऋतम्भरा प्रज्ञा भी सम्मिलित है । ऋतम्भरा-प्रज्ञा का भी निरोध हो जाने पर निर्बीज-समाधि होती है । यह निर्बीज-समाधि केवल समाधिजान् प्रज्ञा का ही निरोध नहीं करती प्रत्युत उसके संस्कारों का भी निरोध करती है । समाधिजान् प्रज्ञा का अर्थ ऋतम्भरा प्रज्ञा किया गया है । निर्बीज-समाधि परवैराग्य के द्वारा निरोध का कार्य करती है । चित्त में निरोध-संस्कारों की स्थिति का ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है । निरोधजसंस्कार की अनुभूति योगी को निरोध के क्षण में होती है । निरोध की अवस्था में आपन्न चित्त में केवल निरोध-संस्कार शेष रह जाते हैं । सम्प्रज्ञात-समाधि से उत्पन्न संस्कारों का भी निर्बीज-समाधि में निरोध हो जाता है क्योंकि सम्प्रज्ञातसमाधि को निर्बीज की अपेक्षा व्युत्थान माना गया है अर्थात् कैवल्य की दृष्टि से निर्बीज-समाधि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसीलिए भाष्यकार ने लिखा है कि –

'कैवल्य भागीया निरोधजाः संस्कारा इत्यर्थः ' ।[1]

द्वितीय-पाद के 18वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में भोग और अपवर्ग के विषय में यह बताया गया है कि ये दोनो पुरुष में आरोपित किए जाते हैं पुरुष का इनसे कभी भी सम्बन्ध नहीं होता है । पुरुष न तो भोक्ता है और न ही वह मोक्ष प्राप्त करता है । वह तो सर्वदा ही मुक्त है अतः बन्धन और मोक्ष का उसमें व्यपदेश मात्र किया जाता है । बुद्धि का पुरुषार्थयुक्त रहना बन्धन है और प्रकृति और पुरुष का अलगाव जिसके द्वारा हो वही कैवल्य या अपवर्ग है । यथा —'अवबुद्ध्यवसानेनेतापवर्गः'[2]।

25वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए कैवल्य के विषय में यह बताया गया है कि कैवल्य के लिए अविद्या का अभाव होना परम आवश्यक है । अविद्या ही संयोग का कारण है अविद्या का अभाव होने पर संयोगाभाव होता है और यही हानि अर्थात पुरुष का कैवल्य है । वैसे महाप्रलय में भी संयोगाभाव होता है परन्तु यह संयोगाभाव आत्यन्तिक नहीं है क्योंकि पुनः सृष्टि होने पर ये गुण प्रकट हो जाते हैं । कैवल्य की स्थिति में संयोग का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है । कैवल्य तथा महाप्रलयकाल के संयोगाभाव में यही अन्तर है । जीवन्मुक्त के स्वरूप का विवेचन तत्त्ववैशारदीकार ने भाष्यकार के ही सदृश किया है ।

चतुर्थपाद के 34वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कैवल्य का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है । गुण जब अपना कार्य समाप्त कर चुकते हैं तब वे प्रधान में लीन हो जाते हैं । इस प्रक्रिया का प्रारम्भ इस प्रकार होता है । व्युत्थान-संस्कारों का निरोध हो जाने के उपरान्त चित्त में केवल निरोध संस्कार शेष रह जाते हैं । ये निरोध-संस्कार चित्त में ही विद्यमान रहते हैं और चित्त के साथ ही ये अव्यक्त में लीन हो जाते हैं । चित्त के लिए तत्त्ववैशारदीकार ने 'मन' शब्द का प्रयोग किया है । मन अस्मिता में लीन होता है, अस्मिता लिंग में और लिंग का पर्यवसान अलिंग में होता है । यही कैवल्य की प्रक्रिया है जिससे गुण कैवल्य प्राप्त करते हैं । इस दशा में प्रधान का पुरुष से अलगाव हो जाता है जिसे प्रधान का पुरुष के प्रति मोक्ष कहा गया है । पुरुष इस समय अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । स्वरूप-प्रतिष्ठित होना ही पुरुष का कैवल्य है । परन्तु महाप्रलयकाल में पुरुष का अकेले होना, स्वरूपप्रतिष्ठित होना, कैवल्य नहीं है । कारण महाप्रलय के पश्चात पुनः सृष्टि क्रिया के प्रारम्भ होने पर पुरुष बुद्धि से संबद्ध हो जाता है । कैवल्य प्राप्त पुरुष का पुनः गुणों से कोई सम्पर्क नहीं होता है वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है ।

---

1 - द्रष्टव्य - त0वै0 पृ0 133।
2 - द्रष्टव्य - वही - पृ0 193।

राजमार्तण्डवृत्ति

जब बुद्धि के परिणामों का अवसान हो जाता है तब चित्त कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो जाता है । इस समय आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है । आत्मा का स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है । कैवल्य के प्रसंग में निर्बीज-समाधि का महत्वपूर्णस्थान है । सम्प्रज्ञातसमाधि का भी निरोध हो जाने पर संस्कारमात्र वृत्ति रह जाती है पुनः संस्कार रूप वृत्ति का भी जब निरोध हो जाता है तब निर्बीज-समाधि होती है । निर्बीज-समाधि में निरोध की क्रिया पूर्ण हो चुकी रहती है और आत्मा अपने रूप में अवस्थित रह जाता है । इस समय आत्मा की स्थिति केवली-भाव की स्थिति होती है । आत्मा का केवली हो जाना ही कैवल्य है ।

विवेकख्याति द्वारा अविद्या का अभाव होने पर द्रष्टा और दृश्य का संयोगा-/भाव हो जाता है । संयोग का अभाव होना ही कैवल्य है । पुरुष नित्य केवली है परन्तु जब दृश्य के संयोग का अभाव हो जाता है तब कैवल्य का व्यपदेश नित्यमुक्तपुरुष में कर दिया जाता है । यहाँ यह तात्पर्य है कि दृश्य का द्रष्टा से संयुक्त होकर रहना भोग है । यह भोग अविद्या के ही कारण है । अतः जब अविद्या का विनाश हो जाता है तभी कैवल्य की दशा आती है । कैवल्य की स्थिति विवेकख्याति द्वारा आती है । अतः विवेकख्याति को हान अथवा कैवल्य का परम उपाय स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । विवेकख्याति के संदर्भ में यह बताया गया है कि अविप्लवा विवेकख्याति ही हान का उपाय बन सकती है । विप्लव का अर्थ व्युत्थान है । व्युत्थान रूपी विघ्न जिस विवेकख्याति में नहीं विद्यमान होते ऐसी विवेकख्याति ही अविप्लवा-विवेकख्याति कही गई है जो कैवल्य का उपाय है । राजमार्तण्ड वृत्तिकार ने भी जीवनमुक्त के स्वरूप का विवेचन भाष्यकार के ही समान किया है ।

तृतीय-पाद के 26वें सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने विदेह और प्रकृतिलीन साधकों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु भोजवृत्तिकार ने अपनी व्याख्या में इन साधकों के स्वरूप का कोई उल्लेख नहीं किया है । इसी पाद के 50वें सूत्र की व्याख्या में आत्यन्तिकदुःखनिवृत्ति को कैवल्य कहा गया है । पुरुष के प्रति गुणों की कार्यसमाप्ति हो जाने पर पुरुष अकेला अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । पुरुष की यह स्वरूपा-वस्थिति ही उसका कैवल्य है । 55वें सूत्र की व्याख्या में चित्त का अपने कारण प्रधान में प्रविष्ट हो जाने को कैवल्य कहा गया है । यहाँ चित्त अपने कार्य को समाप्त कर अपने कारण में लीन हो जाता है अतः चित्त को भी कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और पुरुष

अकेला बच रहता है । पुरुष का यह अकेलापन ही उसके कैवल्य की स्थिति है ।

विवरण

चित्तवृत्तियों से निवृत्ति ही मुक्ति है ।[1] जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब वृत्तिशून्य चित्त ही समाधि के योग्य होता है और समाधिस्थ चित्त ही अन्त में मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त करता है । अतः मोक्षप्राप्ति के लिए चित्तवृत्तियों का निरोध ही सबसे प्रमुख तथा आवश्यक उपाय है । वृत्तियों का निरोध होने पर ही चित्त अवसिताधिकार होकर अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुषतत्व स्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर 'कैवल्य' की दशा का अनुभव करता है ।

पुरुष 'अपरिणामी' तथा शुद्ध है । वह अविद्यारूपी मल से आवृत हो जाने पर ही परिणामित्व, अशुद्धियों तथा तापत्रयजन्य दोषों से युक्त विषयों में आसक्त रहता है परन्तु जब विवेकख्याति का उदय होता है तब उसे सम्यक्ज्ञान द्वारा सभी पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । विवेकख्यातिप्राप्त पुरुष इन सभी दोष रूप बीजों का समूल विनाश करके केवल विवेकख्याति में ही निमग्न रहता है । वह विवेकख्याति से प्राप्त 'सर्वज्ञत्व' और सर्वभावाधिष्ठातृत्व आदि सिद्धियों के प्रति भी विरक्त चित्त होकर केवल विवेकख्याति में ही लीन रहता है जिसके परिणाम स्वरूप पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है और गुणों से आत्यन्तिक वियोग प्राप्त कर पुरुष कैवल्य की स्थिति का लाभ प्राप्त करता है ।[2]

कैवल्य प्राप्त पुरुष गुणों से वियुक्त हो जाता है जिसे पुरुष का गुणों से 'अमिश्रीभाव' का होना कहा गया है ।[3] चितिशक्ति का बुद्धि तत्व से अमिश्रित हो जाना ही उसका केवली हो जाना अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाना है ।[4] 'केवली-भाव' को प्राप्त हो जाना ही कैवल्य है । इस प्रकार पुरुष का केवलीपन को प्राप्त हो जाना उसका कैवल्य है ।

- -

1 - " चित्तवृत्तिनिवृत्तिरेव मुक्तिः इति ।" — विवरण पृ0 119 ।

2 - " पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम् । तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुषः ।" — वही पृ0 307 ।

3 - " तत् कैवल्यं पुरुषस्य केवलत्वं गुणैरमिश्रीभावस्तदर्थः ।" — वही पृ0 369 ।

4 - " बुद्धि सत्त्वानभिसंबन्धिनी या पुरुषस्य चितिशक्तिः अमिश्रा केवला तस्याः तथा तथैव अवस्थानं केवलायाः भावः कैवल्यम् ।"

— वही पृ0 369 ।

वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध होने पर पुरुष का आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है । व्युत्थान-काल में चित्तवृत्ति को वृत्तिसारूप्य होता है परन्तु असम्प्रज्ञातकाल में तथा कैवल्य की अवस्था में चित्तगत वृत्तियों के सारूप्य से रहित केवल अपने आत्यन्तिक स्वरूप में ही अवस्थित रहता है । पुरुष की केवलता ही उसका कैवल्य है । त्रिगुण उपाधि हैं, इनसे अलग हो जाना ही कैवल्य है । कैवल्य के लिए मोक्ष तथा अपवर्ग नाम भी प्रयुक्त हुआ है । मोक्ष तथा अपवर्ग का अर्थ भी वही है जो कैवल्य का है । कैवल्य के संदर्भ में असम्प्रज्ञातयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है । चित्त के साथ वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध असम्प्रज्ञातयोग में ही सम्भव है । असम्प्रज्ञातयोग काल में चित्तवृत्तियाँ के साथ अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है । चित्त तथा वृत्तियों का लीन होना उनका अत्यन्ताभाव को प्राप्त होना है । चित्त जब अत्यन्ताभाव को प्राप्त हो जाता है तब जो स्थिति पुरुष की होती है उसे ही मोक्ष नाम से अभिहित किया गया है ।

मोक्ष की दशा में यद्यपि गुणत्रय अत्यन्ताभाव को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु वे नष्ट नहीं होते क्योंकि अभी अन्य सांसारिक पुरुष तो रहते ही हैं जिनके लिए उनकी उपस्थिति अनिवार्य है । सांख्ययोग में पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त मान्य है । इसीलिए यदि एक पुरुष मुक्त हो भी जाता है तो भी अन्य पुरुष अपनी उपाधियों से आबद्ध रहते हैं ।

पुरुष का स्वरूप वस्तुतः सदा से मुक्त है । वह मुक्त नहीं होता है । बद्ध होने तथा मुक्त होने का उस पर आरोप मात्र किया जाता है । यह आरोप भी अविद्या के कारण होता है । व्युत्थान-काल में भी पुरुष का अपना वही शुद्ध, मुक्त स्वरूप रहता है परन्तु अविद्या के कारण उस समय पुरुष का उपाधियों से संयोग दिखाई देता है जब कि उसका यथार्थस्वरूप सदा से मुक्त है ।

विज्ञानभिक्षु ने कैवल्य को परम-मोक्ष बताया है । क्योंकि इसी अवस्था में चित्तरूपी उपाधि की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है जिसके कारण दुःखादि की भी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है । जीवनमुक्ति की दशा का वर्णन करते हुए व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि जीवनमुक्ति की दशा में योगी के क्लेशादि दग्ध हो जाते हैं अतः नये भोग नहीं होते । परन्तु प्रारब्ध कर्माशयों के भोग होते रहते हैं । क्रियमाण कर्मों का विपाक नहीं होता और न ही नए कर्माशयसंस्कार बनते हैं । अतः जीवन्मुक्त की दशा में जो भोग होता है वह भोगाभास है वास्तविक भोग नहीं । निरन्तर विवेकख्याति होती रहने पर

धर्ममेघ-समाधि होती है। धर्ममेघ-समाधि में साधक की जो स्थिति होती है उसे ही जीवन्मुक्ति कहा गया है। इसके बाद पर-वैराग्य द्वारा धर्ममेघ-समाधि के प्रति भी वैराग्य हो जाने पर साधक को कैवल्य रूप परम्-श्रेष्ठ मुक्ति की दशा की प्राप्ति होती है।

कैवल्य का साक्षात् उपाय असम्प्रज्ञातयोग है। असम्प्रज्ञातयोग से ही उपाधियों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है जिससे कैवल्य की प्राप्ति होती है। कैवल्य के संदर्भ में सम्प्रज्ञातयोग परम्परया सहायक होता है अतः सम्प्रज्ञातयोग को कैवल्य का साक्षात् उपाय नहीं माना जाता है।

योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति

इन व्याख्याओं में भी कैवल्य को परममुक्ति माना गया है जिसमें पुरुष के औपाधिक रूप की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और पुरुष आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करता है। कैवल्य के लिए असम्प्रज्ञातसमाधि का बहुत महत्व है। असम्प्रज्ञात-समाधि को ही निर्बीज-समाधि भी कहा गया है। 'निर्बीज' इस लिए क्योंकि इस समाधि में वृत्तियों के बीजरूप संस्कारों का भी निरोध हो जाता है और अन्त में चित्त निरोध संस्कारों के साथ प्रकृति में लीन हो जाता है। इस प्रकार सभी प्रकार की वृत्तियों का, संस्कारों तथा चित्त का भी निरोध हो जाने से इस समाधि का नाम निर्बीज समाधि पड़ा है। इस समाधि में स्थित पुरुष स्वरूपमात्र-निष्ठ केवली होता है। इस प्रकार कैवल्य का अर्थ हुआ केवल स्वरूप मात्र में अवस्थित।

इन व्याख्याओं में भोग और अपवर्ग का विश्लेषण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। त्रिगुण ही भोग और मोक्ष के प्रेरक हैं। त्रिगुण को ही दृश्य भी कहा गया है। अतः त्रिगुणों के प्रपञ्च सुख, दुःख इत्यादि का साक्षात्कार करना ही भोग है। संसार से छुटकारा पा जाना अपवर्ग है जिसे कैवल्य भी कहा गया है।

- -

1- " भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः। अपवर्गः संसारनिवृत्तिरूपकैवल्यं तौ भोगाऽपवर्गावर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधमित्यनेन प्रयोजनमप्युक्तम्। तदिदं गुणत्रयं प्रपञ्चकारणं भोगमोक्ष-प्रयोजनकं दृश्यपदार्थ इत्यर्थः।"

— पा०यो०सू०वृ० पृ० 63 ।

चित्त की शान्त, घोर, और मूढ़ वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वाभाविक रूप में स्थित हो जाता है । पुरुष का स्वाभाविक रूप चैतन्य है । वृत्तियों का निरोध हो जाने पर वह अपने चैतन्य रूप में ही स्थित होता है और पुरुष की यह स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है । कैवल्य की स्थिति के लिए निर्बीज-समाधि का बहुत महत्वपूर्ण कार्य है । निर्बीज-समाधि से सभी प्रकार के संस्कार रूपी बीजों का निरोध हो जाता है जिससे चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है और चित्त प्रधान में लीन हो जाता है । स्व-स्वरूप पुरुष अकेला तथा बुद्धि-वृत्तियों से मुक्त होकर अपने ही रूप में स्थित रहता है ।

पुरुष को द्रष्टा भी कहा गया है । द्रष्टा चेतन स्वरूप है और दृश्य अर्थात् बुद्धि जड़ है । चेतन पुरुष ही उसकी शक्ति है क्योंकि पुरुष में उसके चेतनस्वरूप के कारण ही द्रष्टृत्व की योग्यता है । बुद्धि शब्दादि के आकार से आकारित होती है उस बुद्ध्याकाराकारित वृत्ति पर चेतन पुरुष का सान्निध्य हो जाना ही पुरुष का भोग रूप है । पुरुष को जब अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब पुरुष की जो स्थिति होती है उसे ही अपवर्ग कहा गया है ।

बुद्धि और पुरुष के संयोग का कारण अविद्या है । अतः अविद्यारूप हेय का हान ही मोक्ष है । अविद्या का अभाव ही संयोग रूप दुःख का नष्ट होना है । अभाव का अर्थ यहाँ विनाश लिया है । दुःख का कारण अविद्या ही है अतः उसका विनाश ही दृशि का कैवल्य है । दृशि नित्यमुक्त है । अविद्या के कारण वह दृश्य से संयुक्त सा प्रतीत होता है । अविद्या का विनाश होते ही वह अपने नित्यमुक्तस्वरूप में स्थित हो जाता है ।

कैवल्य का उपाय अविप्लवा-विवेकख्याति है । अविप्लवाविवेकख्याति में परवैराग्य से सभी संस्कारों का तथा भावी दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है । दुःख का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष का उपाय है । दुःख का आत्यन्तिक विनाश हो जाने पर ही साधक जीवन्मुक्त हो जाता है । जीवन्मुक्त साधक का ज्ञान प्रकृष्ट अन्त वाला होता है ।

अन्त में कैवल्य की स्थिति का प्रतिपादन करते हुए मणिप्रभाकार ने यह लिखा है कि पुरुष का यथार्थ स्वरूप सर्वथा नित्यमुक्त है, अविद्यावशात् ही उसके ऊपर भोग आदि का आरोप करके उसे बद्ध और पुनः मुक्त कहा जाता है । अतः यह कहना ठीक ही है कि उसके ऊपर अविद्याजन्य बन्धन, दुःखों का उपचार मात्र है।

यथास्थित, वह नित्यमुक्त स्वभाव वाला है ।

योगसूत्रार्थबोधिनी

इस व्याख्या में प्रथम पाद के तृतीय-सूत्र की व्याख्या में कैवल्य नाम का कहीं भी निर्देश नहीं किया गया है । चित्तवृत्ति निरोध हो जाने पर पुरुष का क्या स्वरूप होता है इसी विषय का वर्णन यहाँ प्राप्त है । यह वर्णन इस प्रकार है :— वृत्तियों का निरोध हो जाने पर पुरुष अपने स्वाभाविक रूप में रह जाता है । चैतन्य मात्र ही पुरुष का स्वाभाविक रूप है । इसी अध्याय के 51वें सूत्र की व्याख्या में भी, कैवल्य के संबन्ध में कोई विवेचन नहीं प्राप्त होता है ।

द्वितीय-पाद के 24वें, 25वें सूत्र की व्याख्या में मोक्ष का वर्णन किया गया है । यथा — अविद्या का अभाव होने पर दुःख रूप संयोग का विनाश हो जाता है । संयोग का विनाश ही पुरुष का कैवल्य है । दृश्य और दृष्य में अभेद की भ्रान्ति ही संयोग का कारण है । जब यह भ्रान्ति दूर हो जाती है तब चित्त प्रधान में लीन हो जाता है और पुरुष अपने नित्यमुक्त स्वरूप में अवस्थित हो जाता है जिसे पुरुष का कैवल्य कहा गया है । मोक्ष का कारण अविप्लवविवेकख्याति है । इस सिद्धान्त को इस व्याख्या में भी स्वीकार किया गया है । अविप्लवविवेकख्यातिनिष्ठ साधक को जीवन्मुक्ति नामक सिद्धि प्राप्त होती है जिसके कारण वह जीवन्मुक्त हो जाता है ।

कैवल्य के संबन्ध में पूर्ण एवं पर्याप्त विवेचन चतुर्थपाद के 34वें सूत्र की व्याख्या में किया गया है । यहाँ बुद्धि तथा चितिशक्ति दोनों के कैवल्य का निरूपण भलीभाँति किया गया है । पुरुषार्थ शून्य हो जाने के पश्चात् चित्त तथा उसके विकारों का प्रधान में आत्यन्तिक लय ही बुद्धि का कैवल्य है । इसी को प्रधान का भी कैवल्य कहा जा सकता है क्योंकि उस समय प्रधान अपने नित्य अवस्था में रहता है । पुरुष से असंयुक्त हो जाने के कारण प्रधान का पुरुष के प्रति अलगाव हो जाता है । अलगाव की दशा को ही प्रधान का पुरुष के प्रति कैवल्य कहा गया है । बुद्धि जब अपने कारण में लीन हो जाती है तब पुरुष बुद्धि की उपाधि से रहित अपने आप में ही अवस्थित हो जाता है । पुरुष की यह स्वरूपावस्थिति ही पुरुष का कैवल्य है ।

कैवल्य की दशा में पुरुष में आरोपमात्र-विविधता नहीं रह जाती । जब चित्त प्रधान में लीन हो जाता है तब निर्विकार चितिशक्ति अर्थात् पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है । चितिशक्ति का निर्विकार स्वरूप व्युत्थानकाल में भी रहता है परन्तु वृत्तियों के सारूप्य कारण व्युत्थानकाल में पुरुष अपने स्वरूप से भिन्न ही प्रतीत होता है ।

असम्प्रज्ञातसमाधि को 'कैवल्य-भागीय' कहा गया है । असम्प्रज्ञातसमाधि को ही 'निर्बीज-समाधि' भी कहते हैं । यह निर्बीजसमाधि ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों का निरोध करती है । निरोध की क्रिया के फलस्वरूप चित्त में केवल निरोध-संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं । यह निरोध-संस्कार प्रज्ञा संस्कारों का निरोध कर पुनः ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संस्कारों को उत्पन्न नहीं होने देते । परिणामतः चित्त जिसमें केवल निरोध-संस्कार ही शेष रह जाते हैं नित्य प्रकृति में लीन हो जाता है । इस समय पुरुष केवल अपने आप में स्थित रह जाता है । पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थित होना ही कैवल्य कहा गया है ।

पुरुष का जब बुद्धि आदि प्रकृति के विकारों से आत्यन्तिक असंयोग हो जाता है तब पुरुष कैवली हो जाता है । पुरुष का एकाकीपन ही उसका कैवल्य है । कैवल्य का अर्थ भास्वतीकार ने वृत्तिहीनता की है । तृतीय-अध्याय के 54वें सूत्र के भाष्य की व्याख्या में इसी तरह का वर्णन कैवल्य के संबन्ध में किया गया है । चतुर्थ-पाद के चौंतिसवें सूत्र में प्राप्त वर्णन इस प्रकार है । गुणों के बुद्धिप्रतिबिम्ब कार्य का हमेशा के लिए प्रकृति में लीन हो जाना गुणों का कैवल्य है । पुरुष का बुद्धि से असम्बन्ध हो जाने पर उसका स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाना ही पुरुष का कैवल्य है । इस समय पुरुष की स्थिति 'अद्वैत' रूप की होती है । अद्वैत का अर्थ यहाँ कैवल्य लिया गया है । चूंकि पुरुष इस समय बुद्धिप्रतिबिम्ब सम्बन्धों से रहित अकेला, कैवली रहता है अतः पुरुष को इस स्थिति को अद्वैत की स्थिति या कैवल्य कहा गया

स्वामिनारायणभाष्य

इस व्याख्या में पुरुष की 'स्वरूपावस्थिति' को 'परमकैवल्य' की संज्ञा दी गई है। जब द्रष्टा पुरुष अपने निर्विषयक चैतन्यमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब वह परमकैवल्य को प्राप्त हो जाता है।[1] 'परमकैवल्य' की प्राप्ति हेतु निरोध-समाधि आवश्यक होती है। जब परवैराग्य द्वारा सभी प्रकार की वृत्तियों एवं संस्कारों का निरोध हो जाता है तब असम्प्रज्ञात-समाधि का प्रादुर्भाव होता है। असम्प्रज्ञातसमाधि में केवल निरोध-संस्कार ही चित्त में अवशिष्ट रह जाते हैं, ये निरोध-संस्कार भी चित्त के साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब बुद्धि से वियुक्त पुरुष शीघ्र ही शरीर से भी वियुक्त होकर अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप में स्थित होकर महामुक्ति को प्राप्त करता है।[2]

द्वितीय पाद में कैवल्य का निरूपण करते हुए व्याख्याकार ने कैवल्य को 'परममुक्ति' कहा है। दुःख-त्रय का आत्यन्तिक अभाव ही कैवल्य है इस अवस्था में पुरुष को केवल अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव होता है, तत् पश्चात् ही पुरुष[3] परमेश्वर की उपासना के द्वारा परममुक्ति रूप कैवल्य की दशा को प्राप्त हो जाता है।

- -

1 - " द्रष्टुः - चेतनस्य पुरुषस्य । स्वस्य रूपे - निर्विषयचैतन्य मात्रे स्वात्मन्येव 'अवस्थानम् - प्रतिष्ठा - स्थितिः, विद्यते, यथा परम् कैवल्य इति ।"

— स्वा०ना०भा०पृ० 21 ।

2 - " बुद्धिवियोगे च सति शरीरवियोगस्तु सुतरामेव । तथा च नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त स्वभावः पुरुषः स्वात्मदर्शन परः परमेश्वरदर्शन परायणो वा महामुक्तो भवतीति ।"

— वही पृ० 159 ।

3 - " तत्त्वज्ञानिनो वैराग्यवतो योगिनः आत्यन्तिकदुःखत्रयाऽत्यन्ताभाव एव कैवल्य-मित्युक्तम्, इदं च कैवल्यं केवलस्वात्मस्वरूपमात्राऽनुभवरूपमिति, अतस्ततोऽपधिकं परमेश्वरोपासनया भगवच्चरण निवासरूपं कैवल्यं परमा मुक्तिरित्युच्यते ।"

— वही पृ० 220 ।

इस प्रकार पुरुष का गुणों से आत्यन्तिक वियोग हो जाना ही कैवल्य है।[1] अतः जब गुण अपना पुरुषार्थ समाप्त कर अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब चित्त के अन्य संस्कार भी अपने कारण चित्त में लीन हो जाते हैं। चित्त या मन अस्मिता में लीन होते हैं और अस्मितामहत्तत्त्व में और महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति के जितने भी कार्य होते हैं सभी अपने कारण 'प्रधान' या 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं। 'प्रकृति' में गुणों का लीन हो जाना गुणों का कैवल्य कहा गया है। गुणों से वियुक्त चितिशक्ति सभी से विनिर्मुक्त होकर केवल स्वरूप-मात्र में प्रतिष्ठित हो जाती है। चितिशक्ति का स्वरूप प्रतिष्ठित हो जाना ही उसका मोक्ष है। इस अवस्था को ही योग का परमफल तथा परमकैवल्य तथा, परममुक्ति कहा गया है।

---

1 - "तथा पुरुषस्य 'आत्यन्तिको गुणवियोगो'- कैवल्यमिति भवति।"

व्या०ना०भा०पृ० 303।

योग का लक्षण प्रतिपादित करने में सभी व्याख्याकारों ने भाष्य स्वीकृत अर्थ के साथ ही स्वारस्य प्रकट किया है । स्पष्टीकरण की प्रक्रिया और प्रतिपादन प्रकार में अवश्य थोड़ा बहुत अन्तर सभी व्याख्याओं में उपलब्ध होता है । अर्थ की दृष्टि से योग के लक्षण/संबन्ध के में प्रायः सभी व्याख्याकार एक-मत हैं । 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र के आधार पर सभी व्याख्याकारों ने चित्तवृत्तियों के निरोध को ही 'योग' स्वीकृत किया है । 'वृत्तिनिरोध' के संबन्ध में अवश्य कुछ मतभेद दिखाई पड़ता है । भाष्य में 'निरोध' का अर्थ 'रोकना' किया गया है[1] । जब कि तत्त्ववैशारदी के अनुसार 'निरोध' का अर्थ वृत्तियों का अभाव होता है[2] । राजमार्तण्डवृत्ति के अनुसार 'प्रतिलोमपरिणाम' द्वारा चित्त की वृत्तियों को उनके कारण में लीन कर देना 'निरोध' है[3] । विवरण-कार ने 'निरोध' शब्द का साक्षात् अर्थ नहीं किया है । वार्तिककार की दृष्टि में वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना ही 'निरोध' है[4] । योगदीपिका के अनुसार वृत्तियों तथा तज्जन्य संस्कारों का अत्यन्ताभाव 'निरोध' है[5] । 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' के अनुसार प्रमा तथा प्रमाकृत-संस्कारों का निःशेषतः 'निरोध' है[6] । मणिप्रभा के अनुसार वृत्तियों का अवसिताधिकार हो जाना ही निरोध का स्वरूप है । सूत्रार्थबोधिनी और योग-सिद्धान्तचन्द्रिका में मणिप्रभा के निरूपण को ही दुहराया गया है । भास्वतीकार ने निरोध के स्वरूप का निरूपण करने में राजमार्तण्डवृत्ति का अनुसरण किया है । स्वामिनारायणभाष्य में दुविध वृत्तियों के उनके कारण चित्तत्त्व में आत्यन्तिक लय को 'वृत्ति-निरोध' कहा गया है ।

इन अनेक व्याख्याओं में प्रतिपादित 'निरोध' के स्वरूप का वर्णन देखकर यह कहना उचित ही है कि 'निरोध' के स्वरूप का आकलन सभी ने किया है और किसी का विवेचन त्रुटिपूर्ण नहीं है । अब यहाँ यह देखना है कि निरोध संबन्धी उक्त व्याख्याओं में से कौन सी व्याख्या तर्क-संगत है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 1 32 ।
2 - द्रष्टव्य - त0वै0पृ0 10 ।
3 - द्रष्टव्य - रा0मा0वृ0 पृ0 8 ।
4 - द्रष्टव्य - यो0वा0पृ0 7 ।
5 - द्रष्टव्य - योगदीपिका पृ0 33 ।
6 - द्रष्टव्य - पातंजलयोगसूत्रवृत्ति पृ0 34 ।

'निरोध' के स्वरूप के संबन्ध में विचार करते समय भाष्यकार एकदम से मौन हैं। तत्त्ववैशारदीकार ने वृत्तियों के अभाव को ही निरोध माना है। तत्त्ववैशारदीकार का निरोध विषयक यह लक्षण अध्येताओं के लिए भ्रान्तिकारक हो सकता है। इस लक्षण से विषय का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट ही रह जाता है। यदि 'निरोध' का अर्थ अभाव मान लिया जाये तो संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार की समाधियों का निषेध हो जायेगा। अतः 'निरोध' की यह व्याख्या समुचित नहीं है। इसी तरह विवरणकार द्वारा प्रस्तुत की गई व्याख्या भी 'निरोध' के सही अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है। विवरणकार ने प्रज्ञा तथा प्रज्ञाकृत-संस्कारों के आत्यन्तिक लय को निरोध कहा है। यह परिभाषा 'निरोध' की न होकर 'कैवल्य' की हो सकती है क्योंकि कैवल्य में ही सभी प्रकार के ज्ञान तथा ज्ञानसंस्कारों का आत्यन्तिक लय हो जाता है और पुरुष स्वरूपावस्था में अवस्थित हो जाता है। अतः विवरणकार का 'निरोध' विषयक विवेचन अपने विषय से हट कर अन्य विषय का प्रतिपादन करता है। इसी तरह स्वामिनारायण-भाष्य में भी निरोध का विवेचन करते समय व्याख्याकार ने अन्यान्य अप्रासंगिक बातों का विस्तृत विवेचन किया है। मणिप्रभा, राजमार्तण्डवृत्ति, योगदीपिका और योगसिद्धान्तचन्द्रिका इन सभी का वर्णन पढ़ने के उपरान्त केवल योगवार्तिक में प्रतिपादित 'निरोध' का स्वरूप ही काफी हद तक विषय को स्पष्ट करने में सहायक है।

वार्तिक के अनुसार वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन हो जाना ही 'निरोध' है। अधिकरण में लीन होने के कारण वृत्तियाँ अत्यन्ताभाव को नहीं प्राप्त होतीं प्रत्युत अपने कारणरूप बुद्धि या चित्त में मौजूद रहती हैं। इस विवेचन के आधार पर सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात दोनों प्रकार के योग में किए गए वृत्तिनिरोध पर प्रकाश पड़ता है।

व्युत्थानकालिक 'वृत्तिसारूप्य' के वर्णन में भी इन सभी व्याख्याओं में पर्याप्त अन्तर है। भाष्य के अनुसार पुरुष का प्रतिबिम्ब ही बुद्धिवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करता है और चेतनरूप चितिशक्ति अपरिणामिनी तथा अप्रतिसंक्रमा होती हुई भी बुद्धिवृत्ति में जब प्रतिबिम्बित होती है तब वह बुद्धिवृत्ति से अभिन्नाकार होती हुई ज्ञान रूपी वृत्ति वाली कही जाती है।[1] तत्त्ववैशारदीकार ने इस संबन्ध में एकबिम्बवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यथा — पुरुष अपरिणामी है, उसको ज्ञान के लिए तदाकारपरिणत नहीं होना पड़ता है। वह तो अपने प्रतिबिम्बमात्र से ही बुद्धिवृत्ति को देखता है तथा

- -

1. द्रष्टव्य - व्यासभाष्य सू0 1।4

उसके ज्ञान का भोक्ता बनता है । इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र ने एक प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है ।[1] इस संबन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत उक्त दोनों व्याख्याकारों से भिन्न है । विज्ञानभिक्षु ने द्विप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को सिद्धान्तित किया है ।[2] इस सिद्धान्त के अनुसार पहले पुरुष का प्रतिबिम्ब जड़ - बुद्धि में पड़ता है जिससे बुद्धि चेतनवत् होती है । चेतनवत् बुद्धि विषय के आकार से आकारित होती है । इस विषयाकाराकारित बुद्धि का प्रतिबिम्ब जब पुरुष में पड़ता है तब पुरुष बुद्धिकृत ज्ञान का ज्ञाता, भोक्ता अथवा द्रष्टा बनता है । इस प्रकार विज्ञानभिक्षु ने पुरुषप्रतिबिम्ब और बुद्धिप्रतिबिम्ब को स्वीकार कर द्विप्रतिबिम्बवाद की स्थापना की है ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति में तत्त्ववैशारदी के ही सिद्धान्तों का अनुमोदन किया गया है । विवरण के अनुसार 'वृत्तिसारूप्य' व्युत्थानकाल में पुरुष के ऊपर आरोपित की जाती है ।[3] 'योगदीपिका' में इस विषय के संबन्ध में कुछ विशेष उल्लेख नहीं किया गया है । 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति' में विज्ञानभिक्षु के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । 'मणिप्रभा' में 'वृत्तिसारूप्य' के विषय में लिखा गया है कि वृत्तिसारूप्य होने पर ही पुरुष बद्ध होता है ।[4] परन्तु वृत्तिसारूप्य से पुरुष के यथार्थ स्वरूप पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ता । 'सूत्रार्थबोधिनी' और 'योगसिद्धान्तचन्द्रिका' में 'मणिप्रभा' में व्याख्यात मत का ही उद्घाटन किया गया है । 'भास्वतीकार' के अनुसार व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्तियों से संयोग होने पर पुरुष उन्हीं वृत्तियों के रूप का भासित होता है ।[5] 'स्वामिनारायणभाष्य' के अनुसार बुद्धि और पुरुष का संयोग होने पर ही वृत्तिसारूप्य होता है । इस संबन्ध में बिम्बप्रतिबिम्बवाद को इन्होंने भी स्वीकृत किया है । पुरुष में बुद्धि का बिम्ब पड़ने पर वह बिम्ब से असम्बद्ध होने पर भी उसका बोद्धा बनता है ।[6]

'वृत्तिसारूप्य' के संबन्ध में वर्णित सभी व्याख्याओं का अनुशीलन करने पर

- -

1 - द्रष्टव्य - पू तoवैo पृ0 20 ।
2 - द्रष्टव्य - योoवाo पृ0 21 ।
3 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 14 ।
4 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ0 4 ।
5 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ0 19 ।
6 - द्रष्टव्य - स्वाoनारायण भाष्य पृ0 46 ।

उन व्याख्याओं के पारस्परिक भेद तथा साम्य का ज्ञान प्राप्त होता है । प्रस्तुत विषय को लेकर तत्त्ववैशारदीकार और योगवार्त्तिककार के मध्य तीव्र मतभेद हैं । तत्त्ववैशारदीकार ने 'वृत्तिसारूप्य' के संबन्ध में 'एक प्रतिबिम्बवाद' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है । उनके अनुसार चितिच्छायापत्ति के कारण ही जड़ बुद्धि चेतनवत् होती है चेतनवत बुद्धि ही यथार्थाकाराकारित होकर यथार्थ-ज्ञान से युक्त होती है । इस समय पुरुष प्रतिबिम्ब उस बुद्धिवृत्ति का द्रष्टा या भोक्ता बनता है । यहाँ पर केवल चितिच्छायापत्ति रूप एक प्रतिबिम्ब ही स्वीकार किया गया है जिसे 'एकप्रतिबिम्बवाद' का सिद्धान्त कहा गया है ।

इसके विपरीत योगवार्त्तिककार ने द्विप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को माना है । उनके अनुसार चितिच्छायापत्ति के उपरान्त बुद्धिवृत्ति बनने के बाद सन्निहित पुरुषतत्त्व में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्बन होता है तब पुरुष उस ज्ञान का भोक्ता बनता है । भाष्यकार व्यास का इस सिद्धान्त के संबन्ध में विचार उक्त दोनों व्याख्याकारों से भिन्न है । भाष्यकार ने चित्त की उपमा चुम्बक से देकर 'वृत्तिसारूप्य' को समझाने का प्रयास किया है । जिस प्रकार चुम्बक में लोहे के प्रति आकर्षण होता है जिसके कारण लोहे का सान्निध्य होने पर चुम्बक स्वतः लोहे को अपनी तरफ खींचता है उसी प्रकार बुद्धितत्त्व भी सन्निधिमात्र होने पर ही पुरुष का प्रतिबिम्बन करता है । फलतः पुरुष बुद्धिवृत्त्यनुगत भोगों का ज्ञाता, भोक्ता, बनता है ।

उक्त तीनों व्याख्याकारों तथा अन्य भी व्याख्याकारों की वृत्तिसारूप्य विषयक व्याख्या को देखने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञानभिक्षु का प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक है । क्योंकि यह तो सर्वथा सिद्ध है कि बुद्धि जड़ है वह अपने आप कुछ नहीं कर सकती । जब पुरुष प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है तभी वह चेतनवत् होती है और चेतनवत् होने पर ही वह विषय का आकार ग्रहण कर विषयाकाराकारित होती है । ऐसी बुद्धि का प्रतिबिम्ब जब पुरुष में पड़ता है तब पुरुष उस बुद्धिवृत्ति ज्ञान का भोक्ता बनता है । विज्ञानभिक्षु ने बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ पौरुषेय बोध की प्रक्रिया को समझाया है । इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्य किसी की व्याख्या में नहीं किया गया है । अतः 'वृत्तिसारूप्य' का विवेचन विज्ञानभिक्षु का ही अधिक मान्य ठहराया गया है ।

समाहित-चित्त वाले साधक के लिए योग प्राप्ति के दो उपायों का निर्देश मिलता है । इन उपायों की व्याख्या लगभग सभी व्याख्याकारों ने समान रूप से किया है । कहीं

कोई मतभेद नहीं दृष्टिगोचर होता है । हाँ योग के दो भेदों का उल्लेख करते हुए सम्प्रज्ञातयोग के चौथे भेद 'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि के विषय में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है । यथा - भाष्यकार ने पुरुषप्रतिबिम्बयुक्त बुद्धि को ही 'अस्मितातत्त्व' माना है ।[1] साधक को जब 'अस्मितातत्त्व' का ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता रहता है तब अस्मितानुगत - सम्प्रज्ञातसमाधि होती है । तत्त्ववैशारदीकार ने बुद्धि में उपस्थित पुरुष प्रतिबिम्ब ही को 'अस्मितातत्त्व' माना है ।[2] योगवार्तिककार ने बुद्धि और पुरुष की एकरूपता को 'अस्मिता' माना है ।[3] बुद्धि और पुरुष की एकरूपता भी तभी होती है जब कि वह पुरुष प्रतिबिम्ब से युक्त होती है । उक्त विवेचन में यद्यपि कथन का प्रकार भिन्न है । परन्तु तीनों व्याख्याकारों ने मान्यता एक ही सिद्धान्त को दी है । 'राजमार्तण्डवृत्ति' का इस विषय के संबन्ध में सबसे भिन्न मत है । इन्होंने 'महत्-तत्त्व' को 'अस्मिता' माना है ।[4] जब चित्त में केवल महत्-तत्त्व की ही सत्ता आलम्बन रूप में रह जाती है तब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होती है ।

मणिप्रभाकार का इस संबन्ध में विचार राजमार्तण्डवृत्ति से बिल्कुल भिन्न है । इन्होंने ग्रहीतापुरुष के साथ एकीभूता बुद्धि के साक्षात्कार को 'अस्मिता' माना है ।[5] इनका यह विचार तत्त्ववैशारदी से मिलता जुलता है । योगसूत्रदीपिका में भी 'अस्मिता' का वर्णन भिन्न रूप में किया गया है । इन्होंने एक आलम्बन को ही ध्येय रूप में स्वीकार कर उसमें वितर्कानुगत, विचारानुगतादि चारों समाधियों का वर्णन किया है । जब ध्येय रूप आलम्बन में जीवेश्वर रूप पुरुष का साक्षात्कार होता है तब अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञातसमाधि होती है । पातंजलयोगसूत्रवृत्ति में भी भिन्न ही विवेचन इस संबन्ध में प्राप्त होता है । उन्होंने पुरुष के अपने यथार्थरूप के आकार से आकारित हो जाना रूप को 'अस्मिता' माना है । 'अस्मितानुगत' को ही धर्ममेघसमाधि की पराकाष्ठा कहा गया है ।[6] स्वामिनारायण-भाष्य में पुरुष और बुद्धि के संयोग की स्थिति में अभेद मानी स्थिति को ही अस्मिता माना गया है । इस स्थिति की पूर्ण साक्षात्कार को ही 'सास्मित' सम्प्रज्ञातसमाधि माना गया है ।[7]

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 54 ।
2 - द्रष्टव्य - त0वै0 पृ0 55 ।
3 - द्रष्टव्य - यो0वा0 पृ0 57 ।
4 - द्रष्टव्य - रा0मा0वृ0 पृ0 41 ।
5 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ0 9 ।
6 - द्रष्टव्य - पा0यो0सू0वृ0पृ0 13 ।
7 - द्रष्टव्य - स्वा0ना0भा0पृ0 85 ।

इन्होंने अस्मितानुगत के स्थान पर 'अस्मिता' शब्द का प्रयोग किया है । विवरणकार ने चारों समाधियों के साथ 'रूप' शब्द को संयुक्त किया है । यथा वितर्कस्वरूपानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि, विचारस्वरूपानुगत, आनन्दस्वरूपानुगत और अस्मितास्वरूपानुगत । यहाँ रूप शब्द मात्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । विवरणकार ने अस्मिता शब्द को अहंकार के अर्थ में लिया है । जब अहंकार मात्र ही चित्त में भासित होता है तब 'अस्मितास्वरूपानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि होती है ।[1] भास्वतीकार ने सभी बौद्धिक वृत्तियों में अहम् के आरोप को 'अस्मिता' माना है चित्त का अहम् वृत्ति के साथ परिपूर्ण रूप से तदाकाराकारित होना अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है ।[2]

'अस्मितानुगत' सम्प्रज्ञातसमाधि की व्याख्या सभी व्याख्याकारों ने कियाहै । इस संबन्ध में भाष्यकार की व्याख्या अतिसंक्षिप्त है । 'एकात्मिकासंविदस्मिता' केवल इतनी ही व्याख्या देकर भाष्यकार ने इस विषय का विवेचन समाप्त कर दिया है । इतनी संक्षिप्त व्याख्या से विषय का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है । भाष्य के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं का पर्यालोचन करने के उपरान्त इस विषय पर सर्वोपरिव्याख्या वार्तिककार की ही सिद्ध होती है । इनके अनुसार अस्मितानुगतसमाधि में ध्येय रूप में एक आत्मा ही रहता है । इस समय का अनुभव अस्मिताकारक होता है । इस समाधि में ही कूटस्थ चिद्बिम्बान्तरस्थ आत्मा का साक्षात्कार होता है । इस समाधि में चित्त अहं पुरुष के आकार से आकारित होता है ।[3]

इसी तरह असम्प्रज्ञात योग के दो भेदों में से किसी ने दोनों को योग माना है और किसी व्याख्याकार ने केवल 'उपायप्रत्ययअसम्प्रज्ञात' को ही योग माना है । यथा — भाष्यकार ने 'भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञात' को 'योग' नहीं माना है । तत्त्ववैशारदीकार और राजमार्तण्डवृत्तिकार ने भी 'भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि' को योगाभास माना है योग नहीं'। मणिप्रभाकार ने भी इस समाधि को योग प्राप्त करने के इच्छुक योगियों के लिए त्याज्य बतलाया है । योगसूत्रार्थबोधिनी और योगसिद्धान्तचन्द्रिका दोनों में इस समाधि को अविद्या-मय माना गया है । भावागणेश ने अपनी योगदीपिका में इस विषय पर कोई स्पष्ट विवेचन

- -

1 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 47 ।

2 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ0 54 ।

3 - " एक एवात्माऽस्मिं विषयत्वे नास्ति इत्येवंरूपास्मिता तथा योगतम् । एकत्वमेव वा चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् साक्षात्कारोऽस्मि इत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मितेत्यर्थः सा च जीवात्मविषया परमात्मविषया चेति द्विधा वक्ष्यते, तेनानुगतो युक्तो निरोधोऽस्मिता अनुगतनामा योग इति भावः । "

— यो0वा0पृ0 57 ।

नहीं दिया है । पातंजलयोगसूत्रवृत्तिकार नागोजीभट्ट के अनुसार भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि जन्मकारणक है । अतः यह समाधि 'योग' नहीं हो सकती ।[1] भामती में भी इस समाधि को कैवल्य के लिए उपयोगी नहीं माना गया है ।[2] केवल योगवार्तिककार ने ही इस समाधि को भी 'योग' माना है ।[3] इस संबन्ध में वार्तिककार ने यह तर्क दिया है कि विदेह और प्रकृतिलीन उपासक भी प्रारब्ध-भोग के पश्चात् मुक्त हो जाते हैं अतः इस समाधि को भी 'योग' के अन्तर्गत ही स्वीकार करना चाहिए ।

अन्य व्याख्याओं तथा योगवार्तिक में यहाँ भेद स्पष्ट ही परिलक्षित हो जाता है । अन्य व्याख्याओं के अनुसार प्रारब्ध-भोग के पश्चात् विदेह तथा प्रकृतिलीन पुनः जन्म लेते हैं अतः भव-प्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि योग नहीं है । योगवार्तिककार के अनुसार प्रारब्ध-भोग के अनुभव के पश्चात् ये उपासक मुक्त हो जाते हैं । इस संबन्ध में स्वामि-नारायणभाष्य का विवेचन कुछ अस्पष्ट तथा अपूर्ण है । इनके विवेचन से भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि के स्वरूप का तनिक भी स्पष्टीकरण नहीं होता है । स्वामिनारायणभाष्य के अनुसार भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों और प्रकृतिलीनों को प्राप्त होती है क्योंकि उन्हें जन्म से ही असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि प्राप्त होती है । इसके लिए उन्हें किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती है ।[4]

उक्त विवेचन से सभी व्याख्याकारों का 'भवप्रत्ययअसम्प्रज्ञातसमाधि' विषयक मत स्पष्ट हो गया । असम्प्रज्ञातयोग चित्त की संस्कारशेषावस्था का नाम है । इस समाधि में निष्ठ योगी कैवल्य प्राप्त करता है । भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञातसमाधि विदेहों और प्रकृतिलीन साधकों को होती है । ये साधक प्रारब्ध-भोग के समय कैवल्य के समान मुक्ति की सी स्थिति का अनुभव करते हैं और ज्योंहि प्रारब्ध-भोग समाप्त होता है पुनः वे संसार में जन्म ले लेते हैं । इन साधकों की इस स्थिति को देखकर इनकी समाधि को 'योग' नहीं कहा जाना चाहिए । अतः इस संबन्ध में व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी, राजमार्तण्डवृत्ति मणिप्रभा, स्वामिनारायणभाष्य और विवरणादि के सिद्धान्त ही मान्य ठहराये जा सकते हैं । इस विषय से संबन्धित योगवार्तिक का विवेचन उचित तथा सही नहीं दृष्टिगोचर होता है । 'उपायप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि के संबन्ध में सभी व्याख्याकार एकमत हैं ।

- -

1 - द्रष्टव्य - पा०यो०सू०वृ० पृ० 16 ।
2 - द्रष्टव्य - भामती पृ० 57 ।
3 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 61 ।
4 - द्रष्टव्य - स्वा०ना०भा० पृ० 86 ।

ईश्वर के स्वरूप के संबन्ध में सभी व्याख्याकारों के मत कुछ न कुछ नयी-नयी भिन्नताएँ लिए हुए हैं । "क्लेशकर्मविपाकाशयों से अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर' है "। ईश्वर संबन्धी इस विशेषता को तो सभी मानते हैं । परन्तु ईश्वर के स्वरूप के विषय में किन्हीं विशिष्ट बातों का उल्लेख भी प्राप्त होता है । यथा -- योगवार्तिककार ने ईश्वर को जगत का स्रष्टा और संहार-कर्त्ता माना है । राजमार्तण्डवृत्ति में भी ईश्वर को सृष्टि और संहारकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया है । मणिप्रभाकार ने ईश्वर को प्रकृति का प्रयोजक भी मान लिया है । ईश्वर के अन्दर इस प्रकार के गुण का विवेचन केवल मणिप्रभा में ही किया गया है । स्वामिनारायणभाष्य में भी ईश्वर के स्वरूप का वर्णन कुछ नवीनता लिए हुए है । इन्होंने ईश्वर को 'आनन्दमय' माना है । ईश्वर के लिए 'परमेश्वर' शब्द का प्रयोग भी इस व्याख्या में किया गया है । ईश्वर के अन्दर 'सर्वज्ञत्व' सर्वनियन्तृत्व और सर्वज्ञानशीलत्व इत्यादि विशेष गुणों का आधान कर इन्होंने ईश्वर को 'परमात्मा', परमेश्वर और 'उत्तमपुरुष' माना है ।[1] विवरणकार ने ईश्वर की विशेषता का निरूपण सबसे भिन्न तरीके से किया है । इनके अनुसार साक्षात्लिशय से विनिर्मुक्त, प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त पुरुषविशेष 'ईश्वर' है ।[2] ईश्वर को इस जगत का पालक, निर्माता और संहारकारक भी माना गया है । योगदीपिका तथा पातंजलयोगसूत्रवृत्ति में योगवार्तिक की ही भाँति ईश्वर के स्वरूप का निर्वचन किया गया है । भास्वती में ईश्वर का स्वरूप वर्णन भाष्य के ही सदृश किया गया है ।

ईश्वर के स्वरूप संबन्धी सभी व्याख्याकारों की व्याख्या को पढ़ने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि योग में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का वर्णन भाष्यकार ने ही किया है । तत्त्ववैशारदीकार, योगवार्तिककार, मणिप्रभाकार, राजमार्तण्डवृत्तिकार और विवरणकार आदि ने ईश्वर के स्वरूप का जो वर्णन किया है वह योग के अतिरिक्त वेदान्तादि दर्शनों से प्रभावित है । अतः यदि यह प्रश्न किया जाये कि योगदर्शन के अनुसार ईश्वर का स्वरूपवर्णन किस व्याख्या में प्राप्त है तो इसका सरल उत्तर यह है कि व्यासभाष्य में प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप ही योगसम्मत है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - स्वा0ना0भा0 पृ0 97 ।

2 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 54 ।

समापत्ति के संबन्ध में भाष्यकार ने स्पष्टतः सवितर्कादि चार प्रकार की समापत्तियों का वर्णन किया है । तत्ववैशारदीकार के अनुसार 8 प्रकार की समापत्तियाँ मानी जानी चाहिए । योगवार्तिककार ने वाचस्पतिमिश्र के समापत्तिविषयकभेदनिरूपण का ज़बरदस्त खण्डन किया है और योगवार्तिक में 5 प्रकार की समापत्तियों का उल्लेख किया गया है । समापत्तियों के पाँच प्रकारों का उल्लेख करते हुए वार्तिककार का कहना है कि ग्रहण और ग्राह्य का अन्तर्भाव सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा, निर्विचारा में हो जाता है । परन्तु ग्रहीतृ का अन्तर्भाव इन स्थूल, सूक्ष्मभूतों में नहीं हो सकता अतः इसके लिए ग्रहीतृविषयक समापत्ति की मान्यता अनिवार्य है । राजमार्तण्डवृत्ति/भी समवृत्ति के चार में ही भेदों का उल्लेख किया गया है । मणिप्रभा, योगसिद्धान्तचन्द्रिका, भास्वती, विवरण और स्वामिनारायणभाष्य में भी भाष्याभिमत समापत्ति के चार भेदों का ही वर्णन किया गया है ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी समापत्ति के चार भेद ही अधिक तर्क-संगत तथा उचित हैं । अवान्तरभेदों की कल्पना भी इन्हीं चारों में समाहित है । अतः मूलतः चार भेद ही तर्क-संगत है और इसीलिए समापत्ति के संबन्ध में भाष्यकार का निर्णय ही अधिक उचित जान पड़ता है ।

साधनपाद में वर्णित विषयों में क्रियायोग का वर्णन ही प्रारम्भिक वर्णन है । भाष्यकार तथा अन्य सभी व्याख्याकारों ने क्रियायोग के संबन्ध में यह स्पष्ट कहा है कि क्रियायोग का आचरण व्युत्थित-चित्त वालों के लिए अभिप्रेत है । "क्रियायोग" से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के विषय में सभी व्याख्याकार एक मत हैं । सभी ने यह स्वीकृत किया है कि क्रियायोग से क्लेशादि तनूकृत किए जाते हैं । क्रियायोग के संदर्भ में वार्तिककार ने साधकों को श्रेणीबद्ध किया है । इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार के साधकों की श्रेणियों का उल्लेख किया है । अभ्यास और वैराग्य उत्तम या समाहितचित्त वाले साधकों का साधन है । मध्यमश्रेणी वाले साधक प्रथमतः क्रिया-योग का आचरण करते हैं तत्पश्चात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा योग प्राप्त करते हैं । अधमाधिकारी को योग के आठ अंगों के साथ क्रियायोग तथा इसके पश्चात् अभ्यास और वैराग्य का आचरण करना अनिवार्य होता है । साधकों के बीच इस प्रकार का वर्गीकरण विज्ञानभिक्षु के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्याख्याकार ने नहीं किया है । दो प्रकार का वर्गीकरण तो सभी की व्याख्याओं में उपलब्ध है और वह है समाहितचित्त वाले साधक दूसरा व्युत्थित-चित्त वाले साधक । इन दोनों साधकों के लिए उक्त साधनों का वर्णन सभी व्याख्याओं में प्राप्त है ।

योग के साधनों का पूरा वर्णन देखते हुए साधकों को विशिष्टता का ज्ञान प्राप्त होना अनिवार्य सा लगता है । इस दृष्टि से विज्ञानभिक्षु का वर्णन अधिक सन्तोषप्रद है ।

'कर्मसिद्धान्त' के विवेचन में यद्यपि सभी व्याख्याकारों ने पृथक्-पृथक् शैली में विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु विषय का स्वरूप नहीं परिवर्तित हुआ है । इस सम्बन्ध में भाष्यकार का विवेचन पर्याप्त है । शैली की सरलता के कारण भाष्य में उल्लिखित विवेचन सुगम तथा सुबोध बन पड़ा है । भाष्यकार ने कर्मफलसिद्धान्त के सम्बन्ध में अदृष्टजन्म-वेदनीय-नियतविपाक-कर्माशय को एक जन्म रूपी फल देने वाला माना है ।

द्वितीय-पाद के 15वें सूत्र में स्थित 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पद को लेकर व्याख्याओं में मतभेद मिलता है । भाष्यकार के अनुसार चित्तसुख त्रिगुणात्मक हैं अतः यद्यपि भोग के समय सुख की अनुभूति होती है परन्तु यथार्थतः सभी विषय सुख दुःख रूप ही हैं । जब विषय सुख प्रदान करते हैं उस समय भी तीनों 'गुण' वर्तमान रहते हैं । जब विषय दुःख देते हैं उस समय भी तीनों 'गुण' वर्तमान रहते हैं । केवल 'गुणों' में 'प्रधानभाव' और 'गौणभाव' का अन्तर होता है । तीनों गुण सदा साथ रहते हैं इसी आधार पर भाष्यकार ने 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पाठ को स्वीकृत किया है । तत्त्ववैशारदीकार ने भी 'गुणों' में 'अविरोध' के सिद्धान्त को ही स्वीकृत किया है । योगवार्त्तिककार भी इसी मत से सहमत होकर 'गुणों' में अविरोध के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और इन्होंने 'गुणवृत्त्यविरोधात्' पाठ को प्रामाणिक पाठ कहा है ।

राजमार्तण्ड-वृत्ति में उक्त व्याख्याओं के विपरीत पाठ को स्वीकृत किया गया है । इनके अनुसार सत्त्व, रज और तमोगुण से उत्पन्न वृत्तियाँ परस्पर विरोधी होती हैं । अतः 'गुणों' में 'विरोधवृत्ति' को ही स्वीकार करना चाहिए । इसी आधार पर राजमार्तण्ड-वृत्तिकार ने अपनी व्याख्या में 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ को स्वीकार किया है । मणिप्रभाकार ने राजमार्तण्डवृत्ति की ही भाँति इस विषय का प्रतिपादन किया है । विवरणकार और योगसिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने भाष्य के ही समान गुणों में 'अविरोध' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । स्वामिनारायण-भाष्य में 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' पाठ स्वीकृत किया गया है ।

इस सम्बन्ध में इस व्याख्या में यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कार दुःख तीनों ही परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । अतः इन भिन्न-भिन्न भावों का अनुभव जिन कारणों से होता है वे कारण भी परस्पर भिन्न ही होंगे । अतः 'गुणों' में 'विरोध' भाव ही स्वीकार्य होना चाहिए ।

उक्त विवेचन के आधार पर 'गुणवृत्तिविरोधात्' पाठ ही अधिक तर्कसंगत जान पड़ता है अतः यही पाठ स्वीकृत भी होना चाहिए ।

दृश्य पदार्थों के संबन्ध में सभी व्याख्याकारों ने गुणों को ही दृश्य माना है । 'दृश्य' के लिए 'बुद्धिसत्त्व' शब्द का भी उपयोग किया गया है । सभी व्याख्याओं में 'दृश्य' तत्त्व का विवेचन लगभग समान रूप से ही किया गया है । योगवार्त्तिक में अवश्य कुछ विशेष उल्लेख प्राप्त होता है यथा -- 'गुण' तो 'दृश्य' हैं ही साथ में उनके विकार भी 'दृश्य' ही हैं क्योंकि जिस प्रकार 'ईख' के 'पर्व' वाला भाग भी 'ईख' ही कहलाता है उसी प्रकार गुणों का विकार भी गुणों से पृथक् कुछ भी नहीं प्रत्युत गुण के ही विकार हैं अतः इन्हें भी दृश्य कहा जाना चाहिए ।

'प्रान्तभूमि' प्रज्ञा का विवेचन करते हुए भाष्यकार ने लिखा है -- अविप्लव-विवेकख्याति से युक्त योगी की प्रज्ञा प्रत्ययान्तरों को उत्पन्न न करने वाली होने के कारण प्रकृष्ट कही गई है । उसकी उत्कृष्टता सात-प्रकार की होती है । जिसका उल्लेख भोजकार, तत्त्ववैशारदीकार, योगवार्त्तिककार, राजमार्तण्डवृत्तिकार, विवरणकार, भास्वतीकार मणिप्रभाकार तथा अन्यान्य व्याख्याकारों ने समान भाव से किया है । सभी व्याख्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त यह निश्चित किया जाता है कि मणिप्रभाकार ने अन्य सभी व्याख्याओं की अपेक्षा इस विषय का विवेचन उपर्युक्त स्पष्ट तथा व्युत्पत्तिनिमित्तक किया है । सर्वप्रथम इस व्याख्या में 'प्रान्त' शब्द की व्याख्या की गई है -- यथा प्रकृष्ट अवसान-रूप अन्त वाली जो है वह 'प्रान्त' अथवा 'चरम' है । 'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' लिया गया है । 'अविप्लवविवेकख्याति' का अर्थ 'स्थिर-आत्मख्याति' लिया गया है । इस प्रकार पूरे पद की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मणिप्रभाकार ने इस पद का अर्थ इन शब्दों में किया है । 'स्थिरआत्मख्याति होने पर योगी की प्रज्ञा सात-प्रकार की प्रकृष्ट अवस्थाओं से युक्त चरमभूमियों वाली होती है ।[2]' इस विषय के संबन्ध में शेष वर्णन भाष्य के ही सदृश है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - यो०वा०पृ० 194 ।

2 - द्रष्टव्य - मणिप्रभा पृ० 38, 39 ।

योगाङ्गों के स्वरूप और उनकी उपयोगिता के संबन्ध में सभी व्याख्याकार कुछ अंशों में एकमत हैं और भाष्य के शब्दों का यथावत् उपयोग भी करते हैं । किन्तु 'आसन' और 'प्राणायाम' के स्वरूप एवं उनके भेदों के संबन्ध में पर्याप्त मत-भेद देखने को मिलता है । भाष्यकार के अनुसार स्थायी सुख देने वाली शरीर की स्थिति विशेष ही "आसन" है ।[1] 'यथासुखं' शब्द में कर्मधारय-समास निहित है जिसका अर्थ है — जिसमें सुख का अतिक्रमण न होने पावे वह अनतिक्रम सुख ही 'स्थिर-सुख' है ।[2] तत्ववैशारदीकार ने 'स्थिर' शब्द को बहुव्रीहि-समास के अर्थ में प्रयुक्त किया है यथा — स्थिरं सुखं येन तत् ।' जिसका अर्थ इस प्रकार है । निश्चल सुख देने वाले प्रकार का आसन 'स्थिर-सुख' है ।[3] राजमार्तण्डवृत्ति में भी बैठने के प्रकार को ही "आसन" कहा गया है । जिस प्रकार बैठने में 'स्थिरसुख' की प्राप्ति होती है उस बैठने के प्रकार को 'स्थिरसुखमासन' कहा गया है । मणिप्रभा में राजमार्तण्डवृत्ति के ही सदृश व्याख्या की गई है । अन्य व्याख्याओं यथा योगदीपिका, पातंजलयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्रार्थबोधिनी, भास्वती और स्वामि-नारायण-भाष्य में 'बैठने के प्रकार' को 'आसन' कहा गया है । विवरण में इन व्याख्याओं से किंचित् भिन्न रूप में वर्णन प्रस्तुत किया गया है यथा — जिस प्रकार के आसन में मन तथा शरीर के अंग स्थिर रहते हैं अर्थात् मन और शरीर दोनों में व्याकुलता नहीं हो तथा जो सुखदायक हो उसी प्रकार के आसन का अभ्यास करना चाहिए और इसी प्रकार के बैठने को 'आसन' कहा गया है ।[4]

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो भाष्यकार और योगवार्त्तिककार ने इस विषय का वर्णन समान रूप से किया है । किन्तु तत्त्ववैशारदीकार का वर्णन इस विषय को स्पष्ट करने में अधिक सहायक बन पड़ा है ।

'प्राणायाम' की सामान्य परिभाषा देने में सभी व्याख्याकार एकमत हैं । उसके अवान्तर तत्वों की व्याख्या में अवश्य कुछ न कुछ भिन्न विचार मिलते हैं । यथा — प्राणायाम के संदर्भ में आए हुए 'उद्घात' शब्द की व्याख्या भाष्यकार ने नहीं की गई है । तत्ववैशारदीकार ने भी 'उद्घात' के विषय में कोई विवेचन नहीं किया है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - व्यासभाष्य पृ0 261 ।
2 - द्रष्टव्य - त0वै0 पृ0 261 ।
3 - द्रष्टव्य - रा0मा0वृ0पृ0 255 ।
4 - द्रष्टव्य - विवरण पृ0 225 ।

योगवार्त्तिककार ने 'उद्घात' शब्द का अर्थ इस प्रकार से किया है -- वायु का ऊपर टकराना 'उद्घात' है । इन्होंने 'पूरक' को ही 'प्रथम-उद्घात' माना है । 'कुम्भक' को 'द्वितीय-उद्घात' माना है तथा 'रेचक' को 'तृतीय-उद्घात' माना है । निमेषोन्मेषण रूप मात्रा नामक पदार्थ द्वारा 16 बार श्वास का प्रवेश 'पूरक-उद्घात' है और 64 बार 'कुम्भक' को 'द्वितीय-उद्घात' कहा गया है । 32 मात्रा में 'रेचक' को 'तृतीय-उद्घात' कहा गया है । भाष्यकार व्यास ने मात्राओं की संख्या को नहीं दिया है । केवल इतना लिखा है कि कम मात्रा तक के उद्घात को 'मृदुउद्घात' कहते हैं, उससे अधिक मात्रा वाले को 'मध्यम-उद्घात' और सबसे अधिक मात्रा वाले को 'तीव्र-उद्घात' कहते हैं । तत्त्ववैशारदीकार ने 36 बार श्वास, प्रश्वास की टकराहट को 'प्रथम-उद्घात' कहा है, 72 बार की टकराहट को 'द्वितीय-उद्घात' और 108 बार को 'तृतीय-उद्घात' कहा है । राजमार्तण्डवृत्ति में भी केवल 'उद्घात' शब्द की व्याख्या की गई है । उद्घातविषयक मात्राओं का उल्लेख नहीं किया गया है । 'उद्घात' शब्द की व्याख्या इन शब्दों में की गई है । 'नाभि के मूल से प्रेरित वायु का सिर से टकराना 'उद्घात' है ।' जितनी बार वायु सिर से टकराती है, उतने ही 'उद्घात' बनते हैं ।[2]

मणिप्रभा में 'उद्घात' शब्द का नामोल्लेख भी नहीं किया गया है । भास्वतीकार ने भी 'उद्घात' शब्द की व्याख्या नहीं की है किन्तु तीनों उद्घातों की मात्राओं का उल्लेख किया है । इन्होंने 12 मात्रा तक को प्रथम या मृदुउद्घात, 24 मात्रा तक को द्वितीय या मध्य-उद्घात और 36 मात्रा तक को तृतीय या तीव्र-उद्घात कहा है ।[3] विवरणकार ने संख्याओं के द्वारा परीक्षित करने पर इतनी संख्या तक श्वास, प्रश्वास की क्रिया करने पर प्रथम-उद्घात होता है जिसको 'मृदुउद्घातनाम' दिया है । इसी तरह द्वितीय-उद्घात या मध्यम-उद्घात और तृतीय या तीव्र-उद्घातों से प्राणायामों की मन्द स्थिति, मध्यम स्थिति तथा तीव्र स्थिति का पता चलता है ।

प्राणायामों के भेदों के सम्बन्ध में पूर्व के तीन प्राणायामों को सभी व्याख्याकारों ने सूत्र को ही भाँति स्वीकार किया है । चौथे प्राणायाम के विवेचन में थोड़ा बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है । भाष्यकार ने चतुर्थप्राणायाम का कोई नाम नहीं दिया है । इसके सम्बन्ध में केवल इतना कहा है कि बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायामों का अतिक्रमण करने वाला चतुर्थ-प्राणायाम होता है । 'रेचक' और 'पूरक' की भूमियों के सिद्ध होने पर दोनों का पूर्ण निरोध ही चतुर्थ-प्राणायाम है । स्तम्भ-प्राणायाम यानी तृतीय-प्राणायाम और चतुर्थप्राणायाम में भेद यह है कि तृतीय में आलोचन प्रवृत्त रहता है और चतुर्थ प्राणायाम में आलोचन हो चुका होता है ।

1 - द्रष्टव्य - योगवा०वृ० 262 ।
2 - द्रष्टव्य - रा०मा०वृ० पृ० 261 ।
3 - द्रष्टव्य - भास्वती पृ० 269 ।

तत्त्ववैशारदीकार ने चतुर्थप्राणायाम का विवेचन भाष्यकार की भाँति किया है । तृतीय और चतुर्थ-प्राणायाम का वैशिष्ट्य बताते हुए लिखते हैं — तृतीय में देश कालादि द्वारा देखे बिना एकबार के ही प्रयत्न से श्वास और प्रश्वास की गति को अवरुद्ध किया जाता है । चतुर्थप्राणायाम में आलोचन पूर्वक अधिक प्रयत्न से रेचक, पूरक का पूर्ण-निरोध होता है । योगवार्तिक में स्तम्भवृत्तिक-प्राणायाम को 'कुम्भक' नाम दिया गया है । रेचक, पूरक और स्तम्भ-प्राणायामों का वर्णन भाष्यकार से मिलता जुलता है परन्तु 'कुम्भक' के बारे में कुछ विशेष वर्णन किया गया है जो अन्य व्याख्याओं में अनुपलब्ध है । 'कुम्भक' के बारे में वार्तिककार ने लिखा है कि — यह रेचक, पूरक का अतिक्रमण कर स्वयमेव रहता है इस प्रकार का प्राणायाम ही चतुर्थप्राणायाम है जिसे 'केवल-कुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम 'वशिष्ठ-संहिता' से लिया गया है । केवल-कुम्भक-प्राणायाम बहुत व्यापक है क्योंकि यह 'रेचक' और 'पूरक' की भाँति न तो देश से परिच्छिन्न है न काल से परिच्छिन्न है और न ही संख्या से परिच्छिन्न है । प्रत्युत अपनी इच्छा से यह मास वर्ष और संवत्सर तक रहता है । तृतीय-प्राणायाम जिसका नाम इन्होंने 'मितकुम्भक' दिया है इससे चतुर्थ-प्राणायाम में भेद का निरूपण भाष्य से मिलता जुलता है ।

राजमार्तण्डवृत्ति में भी प्राणायाम के चार भेदों का उल्लेख किया गया है । इन्होंने प्रत्येक भेद के साथ 'वृत्ति' शब्द को संयुक्त किया है । यथा 'रेचक-वृत्ति', 'पूरक-वृत्ति', 'कुम्भकवृत्ति' और 'केवलकुम्भकवृत्ति' । मणिप्रभा में भी प्राणायामों के नाम के साथ 'वृत्ति' शब्द संयुक्त है परन्तु प्राणायामों का नाम राजमार्तण्डवृत्ति से भिन्न है । यथा — 'बाह्यवृत्ति', 'आभ्यन्तरवृत्ति', 'स्तम्भवृत्ति' और 'चतुर्थप्राणायाम' । योगसूत्रार्थबोधिनी और योगसिद्धान्तचन्द्रिका में मणिप्रभा के ही सदृश वर्णन किया गया है । स्वामिनारायणभाष्य में 'रेचक', 'पूरक', 'स्तम्भवृत्ति' और 'केवल-कुम्भक' के भेद से चार भेद प्राणायाम के किये गए हैं । विवरणकार ने भी प्राणायामों का नाम भाष्यकार की भाँति दिया है । चतुर्थ-प्राणायाम के वर्णन में भेद का निरूपण सभी व्याख्याकारों के अनुसार इस प्रकार है — भाष्यकार ने प्राण की गति के पूर्ण-निरोध को 'चतुर्थप्राणायाम' माना है । तत्त्ववैशारदीकार ने अधिक प्रयत्न से रेचक और पूरक के पूर्ण-निरोध को 'चतुर्थ-प्राणायाम' माना है और राजमार्तण्डवृत्तिकार ने रेचक, पूरक के सहसा निरोध को 'चतुर्थ-प्राणायाम' माना है । तीनों व्याख्याओं में निरोध के प्रयत्न में अन्तर स्पष्टतः परिलक्षित होता है । योगवार्तिककार ने इस प्राणायाम का वर्णन भिन्न ही शैली में किया है । इन्होंने 'रेचक' और 'पूरक' के अतिक्रमण को 'चतुर्थ-प्राणायाम' कहा है ।

भास्वतीकार ने दोनों प्राणायामों के क्रम पूर्वक अभाव को 'चतुर्थ-प्राणायाम' स्वीकृत किया है । इन्होंने 'चतुर्थ-प्राणायाम' को 'स्तम्भवृत्तिविशेष रूप-प्राणायाम' भी कहा है । विवरणकार ने भाष्य की ही भाँति विवेचन किया है । उक्त सभी व्याख्याकारों की व्याख्या का परीक्षण करने के उपरान्त योगवार्त्तिक में व्याख्यात विवेचन ही अधिक पूर्ण तथा समुचित है । वैसे विषय का निरूपण सभी व्याख्याओं में ठीक ही किया गया है परन्तु विषय का विश्लेषणात्मक निरूपण योगवार्त्तिक में ही प्राप्त होता है । इस व्याख्या में सर्वप्रथम प्राणायाम की परिभाषा दी गई है तत् पश्चात् प्राणायाम का वर्गीकरण और उसके पश्चात् उनका यथोचित विवेचन किया गया है । तृतीय प्राणायाम को 'मिश्रकुम्भक' नाम दिया गया है । यह नाम इस व्याख्या में ही उपलब्ध है अन्यत्र नहीं है ।

कुछ दृष्टियों से अन्य व्याख्यायें भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखतीं हैं । यथा -- राजमार्तण्डवृत्ति में 'उद्‌घात' शब्द की व्याख्या की गई है जब कि योगवार्त्तिक, व्यासभाष्य, भास्वती, विवरण, स्वामिनारायणभाष्य, योगदीपिकादि में 'उद्‌घात' की परिभाषा नहीं दी गई है । मात्राओं का निरूपण अवश्य भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है । तत्त्ववैशारदी और मणिप्रभा में उद्‌घात की परिभाषा दी गई है । अतः केवल योगवार्त्तिक को ही इस विषय के निरूपण के संबन्ध में सबसे ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता है क्योंकि प्रत्येक व्याख्याओं में कुछ न कुछ नयी व्याख्या प्राप्त है जिसके द्वारा सूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम का स्वरूप स्पष्ट होता है ।

धारणादित्रय को सभी व्याख्याओं में सम्प्रज्ञात का 'अन्तरंग' और असम्प्रज्ञात का 'बहिरंग' माना गया है । 'अन्तरंग' शब्द का अर्थ अवश्य कुछ व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न रूप में किया गया है । भाष्यकार ने 'अन्तरंग' शब्द की व्याख्या नहीं की है । तत्त्ववैशारदीकार ने धारणादित्रय को सम्प्रज्ञातसमाधि का 'अन्तरंग' 'समानविषयत्व' प्रयोजक के रूप में स्वीकार किया है[1] । राजमार्तण्ड वृत्ति के अनुसार 'अन्तरंग' शब्द स्वरूप का निष्पादक के रूप में प्रयुक्त हुआ है[2] । योगवार्त्तिक के अनुसार 'अन्तरंग' का तात्पर्य है 'साक्षात्कारक' अर्थात् धारणादित्रय सम्प्रज्ञातसमाधि के साक्षात्कारक हैं[3] । मणिप्रभाकार ने तत्त्ववैशारदी के ही मत का अनुसरण किया है । भास्वतीकार ने भाष्य के अनुसार ही व्याख्या की है । अतः भास्वती में ही 'अन्तरंग' शब्द का विवेचन नहीं किया गया है । योग-सिद्धान्तचन्द्रिका में

- -

1 - द्रष्टव्य - त०वै०पृ० 264 ।

2 - द्रष्टव्य - रा०मा०वृ०पृ० 266 ।

3 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 264 ।

'अन्तरंग' का अर्थ साक्षात्-रूप से सहायक या उपकारक माना गया है[1] । योगदीपिका और पातंजलयोगसूत्रवृत्ति के अनुसार धारणाविषय सम्प्रज्ञातसमाधि में सर्वथा विद्यमान रहने के कारण ही सम्प्रज्ञातसमाधि के 'अन्तरंग' कहे गए हैं[2] । स्वामिनारायणभाष्य के अनुसार साक्षात्सम्पादक के अर्थ में 'अन्तरंग' शब्द का प्रयोग हुआ है[3] । धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि का साक्षात्-रूप से सम्पादन करते हैं इसी लिए इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का 'अन्तरंग' कहा गया है । धारणादि सम्प्रज्ञातसमाधि के 'अन्तरंग' हैं इस विषय का समुचित विवेचन योगवार्त्तिक में ही प्राप्त होता है । योगवार्त्तिक में धारणाविषय को सम्प्रज्ञातसमाधि का 'बीज' कहा गया है । धारणाविषय के द्वारा ही सम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति होती है । बिना इनके सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं हो सकती । अतः इन्हें सम्प्रज्ञातसमाधि का 'मूलकारण' अथवा 'बीज' कहा गया है । ये ही धारणाविषय असम्प्रज्ञातसमाधि के 'बहिरंग' हैं क्योंकि असम्प्रज्ञातसमाधि 'निर्बीज' होती है । यह समाधि बीजशून्य-समाधि है अतः धारणादि-त्रय असम्प्रज्ञातयोग के 'बीज' अथवा 'अन्तरंग' नहीं हो सकते । ये धारणाविषय परम्परया असम्प्रज्ञातसमाधि की प्राप्ति में सहायक होते हैं अतः असम्प्रज्ञातसमाधि के 'बहिरंग' हुए[4] ।

योगसाधनाकाल में होने वाले चित्त के परिणामों के वर्णन के प्रसंग में भी व्याख्याकारों में मतभेद है । 'निरोध-परिणाम' को अधिकांश व्याख्याकारों ने असम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत स्वीकार किया है । 'समाधि-परिणाम' और 'एकाग्रतापरिणाम' के विषय में मतभेद दृष्टिगोचर होता है । भाष्यकार व्यास ने 'समाधि-परिणाम' को 'अंगभूतसमाधि' में और 'एकाग्रता-परिणाम' को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया है । तत्त्ववैशारदीकार ने 'समाधि-परिणाम' को 'सम्प्रज्ञातकाल' में अथवा 'योग' के प्रारम्भिक काल में और 'एकाग्रता-परिणाम' को 'परिनिष्ठित-सम्प्रज्ञातसमाधि' में स्वीकृत किया है[5] । राजमार्तण्डवृत्ति के अनुसार तीनों परिणाम एकाग्रसुदृढसान्त्विकचित्त में ही होते हैं । इन तीनों परिणामों की स्थिति सम्प्रज्ञातसमाधि में होती है । राजमार्तण्डवृत्तिकार का मत यहाँ सभी से पृथक तथा भिन्न है इन्होंने तीनों परिणामों को सम्प्रज्ञातसमाधि के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है ।

- -

1 - द्रष्टव्य - यो0सि0च0 पृ0 109 ।
2 - द्रष्टव्य - पा0यो0सू0वृ0 पृ0 62 ।
3 - द्रष्टव्य - स्वा0ना0भा0पृ0 पृ0 269 ।
4 - द्रष्टव्य - यो0वा0पृ0 286 ।
5 - द्रष्टव्य - त0वै0पृ0 287 ।

योगवार्त्तिक के अनुसार असम्प्रज्ञात और सम्प्रज्ञात दोनों समाधियों में 'निरोध-परिणाम' होता है ।[1] 'समाधिपरिणाम' को 'योगांगभूत-समाधि' की प्रारम्भिक अवस्था में स्वीकार किया गया है । 'परिनिष्ठित-योगांगसमाधि' में 'एकाग्रता-परिणाम' को स्वीकृत किया गया है ।[2] मणिप्रभाकार ने 'निर्बीज-रूप' 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में 'निरोधपरिणाम' को स्वीकार किया है और 'समाधिपरिणाम' को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकृत किया है । 'एकाग्रतापरिणाम' को भी 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में ही स्वीकृत किया गया है । योगदीपिकाकार ने 'निरोधपरिणाम' को 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में स्वीकृत किया है और 'समाधिपरिणाम' को 'अंगसमाधि' की अवस्था का परिणाम माना है । एकाग्रतापरिणाम को अंगसमाधि का उत्तर कालीन परिणाम माना है । पातंजलयोगसूत्रवृत्ति में योगवार्त्तिक की ही भाँति विवेचन किया गया है । नारायणतीर्थभाष्य में 'निरोधपरिणाम' 'असम्प्रज्ञातसमाधि' में स्वीकार किया गया है और 'समाधिपरिणाम' 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में तथा 'एकाग्रतापरिणाम' को भी 'सम्प्रज्ञातसमाधि' में ही स्वीकृत किया गया है ।

सूत्रार्थबोधिनी के अनुसार 'निरोध-परिणाम' 'असम्प्रज्ञातकालीन' अथवा 'निर्बीज-समाधि' का परिणाम है । 'समाधि-परिणाम' और 'एकाग्रतापरिणाम' को 'सम्प्रज्ञातसमाधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है । योगसिद्धान्तचन्द्रिका के अनुसार 'समाधिपरिणाम' 'योगांगसमाधि' का परिणाम है और 'एकाग्रतापरिणाम' 'अंगसमाधि' की परिनिष्ठित अवस्था का परिणाम है । विवरण के अनुसार 'निरोध-परिणाम' संस्कार-शेषावस्था का परिणाम है । 'समाधिपरिणाम' 'सम्प्रज्ञातसमाधि' का परिणाम है और 'एकाग्रतापरिणाम' भी समाधिस्थचित्त का ही परिणाम है ।

उक्त विवेचन का अनुशीलन करनेके उपरान्त निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि चित्त के परिणामों की स्थिति के संबन्ध में सभी व्याख्याओं में निहित विचार उचित हैं परन्तु योगवार्त्तिक के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याओं में कुछ कमी रह जाती है । वह यह है कि सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के आधार पर निरोध-परिणाम की स्थिति सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातसमाधि दोनों में ही होनी चाहिए । क्योंकि वृत्तियों का निरोध तो दोनों ही समाधियों में होता है । इस आधार पर केवल योगवार्त्तिककार का ही निरूपण सूत्रानुकूल है बाकी किसी और व्याख्याकार का नहीं । सूत्रानुकूल होने के कारण

- -

1 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 289 ।

2 - द्रष्टव्य - वही पृ० 290 ।

योगवार्तिककार का निरूपण अधिक सही प्रतीत होता है । यों तो यह सभी का मत है परन्तु दृष्टिकोण में किंचित् कमी रह गयी है जिसकी पूर्ति केवल योगवार्तिक से ही होती है ।

अब अन्त में चतुर्थपाद में वर्णित विषयों के संबन्ध में विचार किया जा रहा है ।—'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' के वर्णन के संबन्ध में सभी व्याख्याकारों का यहाँ तक एकमत है कि योगी तथा सिद्ध पंचविध-सिद्धियों से पाँच प्रकार के निर्माणकाय बनाते हैं । यहाँ तत्त्ववैशारदीकार का मत औरों से भिन्न है । तत्त्ववैशारदीकार ने जन्म से ही सिद्धि प्राप्त वैदेहविदेह को 'निर्माणकाय' नहीं माना है । वे 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' चार प्रकार का मानते हैं । 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' के संदर्भ में विज्ञानभिक्षु का विचार विशिष्टतापूर्ण है । जात्यन्तरपरिणाम गज, तुरंग या अन्य प्रकार के वेषस से भी संबन्धित हो सकता है अर्थात् सिद्ध लोग अपनी सिद्धियों के द्वारा जब जैसे शरीर का निर्माण करना चाहते हैं कर लेते हैं । प्रत्येक निर्माणकाय, सचित्त होते हैं । 'निर्माण-चित्तों' को इन्होंने 'निर्माणमन' भी कहा है । 'मन' कहने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है । निर्माणमन की रचना के साथ ही 'बुद्धि' और 'अहंकार' का भी निर्माण हो जाता है । संक्षेप में यही वार्तिककार का इस विषय से संबन्धित विशेष विवेचन है । यह विवेचन केवल योगवार्तिक में ही उपलब्ध है अतः भाष्यकार, तत्त्ववैशारदीकार तथा राजमार्तण्ड, वृत्तिकार की व्याख्याओं की तुलना में इनकी व्याख्या का विवेचन विशिष्टतापूर्ण है और उचित भी है क्योंकि 'निर्माणकाय' और 'निर्माण-मन' की रचना होने पर बाकी अवान्तर-तत्त्वों की भी रचना आवश्यक है । इस दृष्टि से इनकी व्याख्या अन्य व्याख्याओं की तुलना में अधिक उचित तथा सार्थक है । निर्माण-चित्तों के संदर्भ में एक 'नायक-चित्त' की स्थिति को सभी व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है ।

धर्ममेघ-समाधि का विवेचन भाष्यकार व्यास ने अतिसंक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप में किया है । भाष्यकार की व्याख्या को और अधिक स्पष्ट रूप से समझाने के लिए योगवार्तिक तत्त्ववैशारदी और भास्वती नामक व्याख्याओं का परिशीलन एवम् अनुशीलन आवश्यक है । 'धर्ममेघसमाधि' के संदर्भ में आये हुए 'अकुसीद' शब्द के अर्थ का सम्यक्-ज्ञान उक्त व्याख्याओं से ही प्राप्त होता है । निरन्तरविवेकख्याति होने के उपरान्त 'सर्वज्ञातृत्व' तथा 'सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि' रूप उपलब्धियों की प्राप्ति होती है किन्तु जब योगी इन सिद्धियों के प्रति अनासक्त भाव रख (अकुसीद) होकर केवल विवेकख्याति में ही लीन रहना

1 - द्रष्टव्य - यो०वा० पृ० 40 ।

है तभी धर्ममेघ-समाधि होती है । 'धर्ममेघ-समाधि' सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है । इस विषय का प्रतिपादन सभी व्याख्याकारों ने उचित तथा पर्याप्त किया है । अतः यह निश्चित करना कि कौन सी व्याख्या इस विषय के संबन्ध में सबसे अच्छी है कदाचित् बहुत दुष्कर कार्य है ।

क्रम के स्वरूप का वर्णन यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो विषयस्पष्टीकरण की दृष्टि से कई व्याख्यायें उचित जान पड़ती हैं । भाष्यकार ने इस विषय का बहुत सुन्दर तथा समुचित वर्णन किया है । भाष्य को पढ़ लेने के पश्चात् इस विषय का कोई भी अंश अस्पष्ट नहीं रह जाता है । अतः अन्य वृत्तियों की सहायता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । सभी वृत्तियों का अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाष्यकार के अतिरिक्त मणिप्रभाकार ने भी प्रस्तुत विषय का वर्णन अत्यन्तसूक्ष्मता के साथ किया है । मणिप्रभा में वर्णन की शैली बड़ी ही प्रभावपूर्ण तथा बोधगम्य है ।

अन्त में कैवल्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है । भाष्यकार ने सूत्र के आधार पर कैवल्य का विवेचन चारों पादों में किया है । समाधिपाद में कैवल्य के स्वरूप का तथा उसके साधन का वर्णन किया गया है । साधनपाद में प्रकृति, पुरुष के संयोगाभाव को कैवल्य माना गया है । तृतीय अर्थात् विभूतिपाद में कैवल्य की स्थिति का निरूपण किया गया है और चतुर्थपाद में कैवल्य का परिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है । चतुर्थपाद में गुणों की दृष्टि से कैवल्य का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि किस प्रकार 'गुण' अपने कारण 'प्रकृति' में लीन हो जाते हैं । गुणों के प्रकृति में लीन हो जाने के उपरान्त गुणों से विविक्त पुरुष ही 'कैवल्य' की स्थिति का लाभ प्राप्त करता है । इस प्रकार चतुर्थपाद में ही 'कैवल्य' का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है । भाष्यकार की ही तरह अन्य व्याख्याकारों ने भी चारों पादों में कैवल्य विषयक निरूपण प्रस्तुत किया है ।

अन्त में 'सांख्य-योग' दर्शन का संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन अपेक्षित है । 'सांख्य' और 'योग' में वस्तुतः कोई भेद नहीं है । अतः 'सांख्य' और 'योग' को अलग - अलग मानना भ्रान्तिपूर्ण तथा अविवेकपूर्ण है । इस संबन्ध में ही यह कहा गया है -- 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।' योगदर्शन को अपरा के सांख्य का 'उत्तरवर्ती' या 'उत्तरसांख्य' कहा जाये तो अनुचित न होगा । 'सांख्य-दर्शन' के 25 तत्त्वों को योगदर्शन में भी माना गया है । एक विशिष्टता और जुड़ गई है और वह है 'ईश्वर' रूप 26वें तत्त्व को भी मान लेना । 'योग' दर्शन में 'ईश्वर' को भी

थी, स्पष्टतया इससे भिन्न था । अपवर्ग, यह पारलौकिक ज्ञान की पूर्णता के द्वारा प्राप्त करने योग्य है, स्वर्ग की अपेक्षा यह बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होने वाला समझा जाता था, स्वर्ग जो कि प्रत्येक व्यक्ति की पहुंच के भीतर था, वह जो अपने परिवार के उत्तरदायित्वों को पूरा करता था[44] और त्यागों का करता था[45] उसे स्वर्ग प्राप्त हो जाता था । दण्डिन के अनुसार मृत्यु के बाद महानतम आशीर्वाद प्राप्त करने के विषय में लोगों में सन्देह था[46] फिर भी यह सत्य है कि ब्राहमण धर्म का पालन करने वालों को यह विश्वास था कि अपने वर्तमान जीवन के द्वारा अपने दूसरे संसार को सुधारा जा सकता है ।[47]

नये संसार के पूर्ण होने का विचार मुख्य रूप से जीवन और मृत्यु के कालचक्र द्वारा आत्मा के प्रवास के विश्वास पर निर्भर करता था ।[48] यह सिद्धान्त कार्य के सिद्धान्त (कर्मन) के उस भाग पर निर्भर था जो ऐसा बोलता था कि निश्चित समय में वह अवश्य सफल होना चाहिये ।[49] किसी कार्य के अदृश्य परिणाम का सम्बन्ध भाग्य अथवा दूरदर्शिता से होता था जो निश्चित रूप से किसी के वर्तमान जीवन को नियन्त्रित करता था ।[50] यहां तक चतुर विद्वान भी यह स्वीकार करते है कि दण्डिन के चरित्रों का एक चतुर भी भाग्य में लिखे हुये को मिटा नहीं सका था ।[51] लेकिन भाग्य में यह विश्वास और अन्तर्निहित भ्रम, इसके दु:ष्प्रभाव से मनुष्य आलसी तथा अकर्मण्य नहीं बनता था क्योंकि उसका विश्वास था कि मनुष्य जैसा कर्म करेगा वैसा ही फल मिलेगा । दण्डिन के एक चरित्र ने ऐसी घोषणा की थी कि संसार में उस व्यक्ति के लिये कुछ भी प्राप्त करना असंभव नहीं है जो असामान्य शक्ति, पराक्रम तथा प्रतिभा सम्पन्न हो ।[52] उसने पुन. जोर देते हुये बताया है कि भाग्य उसी का साथ देता है जो परिश्रमी होता है तथा लाज एवं आलस्य से दूर रहता है ।[53] इस प्रकार इच्छित लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये देव भाग्य तथा मानवीय प्रयास साथ-साथ चलते थे, तथा जैसा कि दण्डिन ने कहीं देखा है कि - समय पर वर्षा होने के बावजूद चट्टान पर फसल नहीं पक सकती और वर्षा के न होने पर उपजाऊ भूमि में भी फसल नहीं पक सकती ।[54]

जीव के पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने इस प्रचलित विश्वास को जन्म दिया था कि

पिछले जन्म की प्रवृत्तियाँ वर्तमान जीवन में महत्वपूर्ण होती हैं[55] तथा प्राय. पिछले जीवन की घटनाओं को कुछ स्थितियों में याद किया जाता था ।[56]

कार्य (कर्म) के सिद्धान्त से निकट सम्बन्धित सिद्धान्त पाप का सिद्धान्त था जिसका विकसित रूप दण्डिन की समकालीन स्मृतियों तथा पुराणों में दिखाई देता है । जीवन के पहलुओं पर उसका विभिन्न प्रभाव पड़ता था तथा उसके शमन के लिये अनेक कार्य किये थे । दण्डिन ने मनु के बाद, पाँच बड़े पापों का विशेष रूप से वर्णन किया है जिनके नाम इस प्रकार है :- एक ब्राह्मण की हत्या करना, उत्तेजक शराब पीना, चोरी करना, एक धार्मिक शिक्षक की पत्नी के साथ व्यभिचार करना, तथा उन लोगों के साथ रहना जो इनमें से कोई पाप करते हो, तथा अनेक पापों की अपेक्षा कुछ पाप करते हों ।[57] इन पापों से छुटकारा प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के पश्चाताप-सूचक संस्कारों, संकल्पों तथा व्रतों की व्यवस्था की गयी थी । दण्डिन ने अपनी रचनाओं में इनका उल्लेख विशेष रूप से किया है जैसे .- सोम त्याग, गो सेवा तथा अन्य, जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं, तथा विशेष [illegible] जैसे .- सन्तापन अर्थात एक दिन का उपवास, प्राजापत्य अर्थात बारह दिनों तक चलने वाला उपवास, जिसमें प्रथम तीन दिनों में प्रात. काल खाना खा लिया जाता था, उसके बाद के तीन दिनों में शाम को खाना खाया जाता था, बाद के तीन दिनों में भिक्षा द्वारा प्राप्त भोजन ग्रहण किया जाता था, तथा अन्तिम तीनो दिन उपवास रखा जाता था ; चन्द्रायन अर्थात एक दिन का उपवास, जिसमें[58] भोजन की मात्रा चाँद के घटने और बढ़ने द्वारा नियन्त्रित होती थी ।

पाप के सामान्य स्वरूप के साथ नरक का सिद्धान्त भी जुड़ा हुआ था , नरक संख्या में इक्कीस थे, जिनके विषय में कहा जाता है कि वे यम, मृत्यु के देवता तथा दक्षिणी दिशा के [illegible] के घर में स्थित थे । दण्डिन ने विभिन्न प्रकार के नरकों के विस्तृत विवेचन के साथ - साथ पाप करने वालों के परिवर्तनीय रूप का वर्णन किया है जो उनमें रहने के अप-राधी होते थे ।[59] दण्डिन ने नरक का विशेष रूप से उल्लेख किया है जैसे :- पदमा, महापदमा रौरव, महारौरव, सप्तताल, कालसूत्र तथा अंधाकारा, जिसमें मातंग को चित्रगुप्त के साथ

दिखाया गया है, यम का निजी सहायक, जो प्रत्येक व्यक्ति के अच्छे और बुरे कार्यों का विवरण रखता है ।

काली का युग दुष्टों से पूर्ण था, तथा एक गुणवान राजा इस धरती पर आकर इन दुष्टों को दूर करता था, जैसा कि एक पल्लव अभिलेख में परमेश्वरवर्मन द्वितीय तथा अवन्तिसुन्दरीकथा में रिपुंजय का उल्लेख काली युग के दंड देने वालों के रूप में किया गया है ।[80]

ब्राह्मणवादी ईश्वरज्ञान

गुप्तकाल के प्रारम्भ में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पुर्नजागरण के साथ ही लोगों के धार्मिक जीवन में पुराने वैदिक देवताओं की महत्ता पुन. स्थापित हो गई थी । किन्तु एक त्याग में ईश्वर की प्रार्थना करने अथवा धार्मिक कार्यों की अपेक्षा वे एक मन्दिर में उत्सवी पूजा करने लगे थे जहा उनके आराध्य की मूर्ति रखी रहती थी तथा प्रतिष्ठित होती थी । ब्राह्मणों की स्थिति तथा दशा में एक महान परिवर्तन आ गया था जिसका विस्तृत वर्णन तत्कालीन पुराण साहित्य में मिलता है । इस परिवर्तन से इन्द्र भगवान की स्थिति में भी परिवर्तन आ गया था जो केवल ग्रामीणों तक सीमित हो गये थे और जिनका कार्य वर्षा करना था तथा एक विशेष त्योहार इन्द्रोत्सव पर ही उनकी पूजा होती थी, अग्नि, एक नियमित ढंग से अग्नि देवता धार्मिक दान प्राप्त किया करते थे, वरूण अब समुद्र के देवता, जो कमल के रूप में माने जाते थे ।[81]

वैदिक देवताओं में विष्णु और रूद्र पुन. अस्तित्व में आ गये थे । विष्णु विश्व की रक्षा करने वाले, रूद्र विश्व के संहारक तथा ब्रह्मा सृष्टि के रचनाकर्ता माने जाते थे ।[82] ब्रह्मा को वैदिक समय के बाद के सर्जक प्रजापति के गुण भी प्राप्त थे, इस प्रकार यह तीनों देवता कट्टरपंथी धर्म की त्रिमूर्ति के रूप में प्रसिद्ध हुये जिसे सामान्यतया पौराणिक हिन्दुत्व कहा जाता था, जिसने सर्वत्र एकता पर बल दिया ।[83] दण्डिन ने कहीं-कहीं तीनों भगवान के सामूहिक पूजन का उल्लेख किया है, सामान्यतया उनको एक क्रम में विष्णु {हरि} {रूद्र} और ब्रह्मा कहा जाता था ।[84] इस क्रम का उल्लेख पांचवी और छठी शताब्दी

के कदम्ब अभिलेख में मिलता है जिसमें तीनों भगवान के सामूहिक पूजन का उदाहरण मिलता है ।[65]ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ मंदिर इन तीनों भगवानों को समर्पित थे, और जैसा कि हम जानते हैं कि एक ऐसे ही मन्दिर का निर्माण पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन प्रथम ने करवाया था ।[66]

त्रिमूर्ति का सामान्य विचार वास्तव में कट्टरपंथी व्यवस्था के विभिन्न धार्मिक संगठनों को एक करने का प्रयास प्रतीत होता है यद्यपि इसमें सन्देह है कि उस समय के धार्मिकों पर नियमित या सर्वमान्य प्रभाव डाला हो ।

ब्रह्मा .- ब्रह्मा हिन्दू त्रिमूर्ति के सदस्यों में एक थे और विश्व के सर्जक के रूप में माने जाते थे ।[67]कला और साहित्य में वे चार मुख वाले प्रदर्शित किये गये हैं[68]जो उनके चार वेदों के ज्ञान के प्रतीक हैं तथा वाणी की देवी सरस्वती, उनकी पुत्री के रूप में अनुमानित की गयी हैं ।[69]वृहत्संहिता में बताया गया है कि ब्रह्मा की प्रतिमा में चार चेहरे थे, हाथ में पानी का एक बर्तन और एक कमल की पत्ती पर बैठे हुये थे,[70]उनका सम्बन्ध बाद के वैदिक देवता प्रजापति से था वह उनके पुरखे के रूप में थे, सुनहले अंडे से पैदा हुये[71]तथा उन्हीं के द्वारा पानी में रखे गये बीज से विकसित हुये थे । ब्रह्मा ने स्वयं कहा था कि उसी ने प्रजापति को जन्म दिया था, तभी उसने सृष्टि के कार्यों को पूर्ण किया । प्रजापति से यही सम्बन्ध होने के कारण उनको पितामह अर्थात् दादा भी जाना जाता था ।[72]हर्षचरित्र में ब्रह्मा का एक सुचित्रित वर्णन मिलता है जहाँ वह एक कमल पर बैठे हुये विष्णु की नाभि से निकलते हुये दिखाये गये हैं तथा इन्द्र और अन्य देवताओं से घिरे हुये थे ।[73]यद्यपि कभी-कभी स्वयं जन्म लेने वाले के रूप में उल्लेख मिलता है, वह सामान्यतः आकारहीन देवता के रूप में अनुमानित किये जाते थे वह विष्णु की नाभि से निकले कमल से पैदा हुये थे जो पहले महासागर में सो रहे थे[74]यह विचार हिन्दू मन्दिरों में भगवान विष्णु के बढ़ते महत्व के कारण प्रत्यक्ष रूप से विकसित हुआ । एक व्यक्तिगत भगवान के रूप में उसका महत्व धीरे-धीरे कम होता गया तथा त्रिमूर्ति के अन्य दो भगवानों की तरह उसकी पृथक पूजा बहुत कम दिखाई पड़ती थी ।

श्रामण सन्यासी

उपनिषदों के बहुत समय पहले से ही सन्यास दूर - दूर तक फैला हुआ था, तथा यद्यपि यह धर्मविरुद्ध व्यवस्था के द्वारा भी एक परिवर्तित रूप में स्वीकार किया गया था, यह लोगों के धार्मिक जीवन के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में प्रसिद्ध था। यज्ञ करने वाले पुजारियों के वर्ग की अपेक्षा सन्यासियों के शरीर द्वारा धार्मिक दार्शनिक उपदेश विकसित हुये थे तथा देश के विभिन्न भागों में फैले थे। इन सन्यासियों में बहुत से घने जंगलों में रहते थे तथा तपस्या करते थे जिसमें वह बहुत प्रकार से अपने को भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी और वर्षा से कष्ट देते थे। वैसे सन्यासी, प्रत्यक्ष रूप से जनसामान्य के मस्तिष्क में प्रशंसा और सत्कार के अतिरिक्त दया और सहानुभूति के पात्र समझे जाते थे तथा 'तपस्वी' शब्द का प्रयोग एक गरीब अथवा अभागे पुरुष[75] का सूचक है जो उनके सम्मान में चरितार्थ होता है। कुछ साधु ध्यान की धार्मिक क्रियाओं का अभ्यास करते थे, जब वह अपने धार्मिक शिक्षक के अधीन अन्य कुटियों में रहते थे, तथा अपने को धार्मिक ज्ञान के अध्ययन में लगाते थे। उनमें से कुछ या तो अकेले अथवा समूह में भिक्षा मांगने तथा अपने सिद्धान्तों को दूसरे लोगों तक पहुंचाने तथा अपने विरोधियों से झगड़ा करने के लिये इधर - उधर घूमा करते थे।[76]

प्रायश्चित के अनेक रूपों में जिनका सगावेश था वह इस प्रकार है.- केवल सब्जियों अथवा फलों पर निर्भर रहना, अपने लिये एक दिन के लिये शुद्ध भोजन रखना तथा दूसरे दिन के लिये भोजन नहीं एकत्र करना; एक पत्थर से अपने लिये अनाज तोड़ना, एक ओखली की तरह दांतों का प्रयोग करना जैसे :- चूर्ण न किया हुआ अनाज खाना; कुली जमीन पर, पत्थर के एक टुकड़े पर अथवा एक पेड़ की छत पर सोना; जल में खड़े होना अथवा जल पर लेटना तथा सूर्य को देखना; पंच-अग्नि यज्ञ करना जैसे .- गर्म धूप में जलती हुई आग के पास बैठना, सिर को नीचे करके पेड़ की डाल से घंटों झूलना, बांह को सिर से ऊपर करके गतिहीन रहना, एक पैर पर खड़े रहना, शान्ति बनाये रखना तथा कठोर ध्यान का अभ्यास करना आदि।[77] कुछ संगम कृतियों में बहुत अधिक संख्या में ऐसे ही आत्म - [illegible] का उल्लेख मिलता है।[78] जो लोग प्रायश्चित करते थे वह कुछ विशिष्ट उद्देश्य

की प्राप्ति के लिये ऐसे सन्यासियों से मिलते थे, और कुछ स्थितियों में उनकी पत्नियाँ भी उनके साथ होती थीं ।

उस समय प्रायश्चित की क्षमता तथा प्रभाव को पहचाना गया था; यह विश्वास किया जाता था कि यह दैव्य घटनाओं, भूत, भविष्य अथवा दूर के सम्बन्ध में अलौकिक सुनाई देता था ।[79] जो अपनी तपस्या की उच्च व्यवस्था से हट जाता था या गिर जाता था उसके परिणामस्वरूप उसकी सुविधाओं का नाश हो जाता था ।[80] यह कहा जाता है कि तपस्या के द्वारा भगवान विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा के साथ अन्य भगवानों, उपदेवताओं तथा महात्माओं के स्वर्ग को प्राप्त किया जाता था । ऐसा भी माना जाता है कि एक भक्त तथा कठोर तपस्या पहले से घटने वाली घटनाओं की धारा ही बदल सकता है ।[81] कभी - कभी तपस्या की क्षमता में प्रसिद्ध विश्वास के कारण धूर्त लोगों के द्वारा जन सामान्य को मूर्ख बनाया जाता था तथा लोग असम्भव घटनाओं में विश्वास करने लगते थे, जैसे:- असाध्य बीमारी को दूर करने के लिये उनके द्वारा रोगी के सिर पर अपने पैर की धूल के कुछ कण छितराये जाते थे अथवा अपने पैरों को धोने के लिये प्रयोग में हुये पानी को मिर्गी से पीड़ित व्यक्ति के शरीर पर छिड़कते थे ।[82]

अनेक प्रकार के प्रायश्चितों के पालन के अनेक कारण थे, इसके अनेक रूप प्रचलित थे, धार्मिक प्रतिभा को प्राप्त करने के अतिरिक्त दूसरे संसार में परम मोक्ष को प्राप्त करने के लिये, उच्चतर शासन प्राप्त करने के लिये, लौकिक उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु जैसे :- सन्तान, विद्या तथा अधिकशक्ति और युद्ध में विजय ।[83] इन सब के लिये प्रायश्चित अथवा तपस्या की जाती थी ।

देश के विभिन्न भागों में नियमित और उचित ढंग से सुसज्जित कुटिया निर्जन स्थानों में थी तथा विशेषकर उत्तर में हिमालय की ढालों में[84] एक प्रदेश जिसे ' तपस्या की भूमि ' समझा जाता था ।[85] इन आश्रमों में साधुओं की एक सभा होती थी जिसमें प्राय: - भगवान, मनुष्य तथा विश्व से सम्बन्धित अनेक प्रकार की आध्यात्मिक कठिनाईयों पर बहस की जाती थी ।[86] वे सिद्धान्तिक दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते थे, तथा कभी -

कभी अपने आपको धर्म तथा दार्शनिक मामलों पर अपने विरोधियों से वाद -विवाद करने में व्यस्त रखते थे।[87] इस प्रकार के वाद-विवाद तथा झगड़े के प्रचलन के विषय में तत्कालीन इतिहास विशेषकर दक्षिण का इतिहास प्रमाण प्रस्तुत करता है जो कभी -कभी राजा को भी अपने धार्मिक विधान के परिवर्तन में प्रभावित करते थे।[88]

सन्यासी पवित्र और साधारण जीवन व्यतीत करते थे, वे जूड़ा धारण करते थे तथा बँधे हुये बाल कौड़ी-सपिके समान प्रतीत होते थे तथा बालों को घुमावदार चोटी§जटा§ के रूप में बाँधते थे, और कुछ स्थितियों में दाढ़ी भी बढ़ाते थे।[89] वे किसी निश्चित पेड़ की छाल को वस्त्र के रूप में पहनते थे,अथवा हिरन की खाल से अपने को छिपाये रखते थे, तथा मूंज और अन्य घासों से बनी हुयी मेखला §कमरबन्द§पहनते थे।[90] वे लकड़ी की चप्पलों §पादुका§ का प्रयोग करते थे,तथा पानी के लिये लकड़ी का बर्तन §कमण्डल§और पलाश लकड़ी की बनी हुई एक छड़ी भी अपने पास रखते थे।[91] वे अपनी धार्मिक भुनभुनाहट को निर्धारित करने के लिये माला के दानों §रूद्राक्षवलय अथवा अक्षमालिका§ को घुमाया करते थे।[92]

साधु-सन्तों की प्राचीन परम्परा को भी प्रमाण मिलता है तथा उनके विभिन्न नामों का उल्लेख किया गया है,जैसे:-राजर्षि अर्थात राजा के संत,ऋषि अर्थात सिद्धपुरुष,महर्षि अर्थात महान भविष्यदर्शी,तथा ब्रह्मर्षि अर्थात ब्रह्मा साधु अथवा जो वैदिक ज्ञान में अभ्यस्त होते थे, वे ब्रतर्षि के रूप में भी जाने जाते थे, ये चार श्रेणियाँ ऋषिपदों की चार परम्परागत अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करती थीं।[93]

कभी-कभी धार्मिक लोगों को धोखा देने के लिये सन्यासी की पोशाक का प्रयोग किया जाता था, जो मिथ्या विश्वास से अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करने में विश्वास करते थे। यह राजाओं के द्वारा भी किया जाता था जिनके चतुर गुप्तचर सन्यासी के रूप में शत्रु के शक को दूर करने के लिये घूमा करते थे।[94]

ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत कम संख्या में सन्यासियों के मठ थे,वस्तुत: धर्म-पाषाण व्यवस्था में इसको प्रोत्साहन नहीं दिया गया था,समाज में इनके सदस्यों को सम्मान और सहानुभूति नहीं प्राप्त थी। दण्डिन तथा अन्य साहित्यिक कृतियों में तपस्विनियों

का उल्लेख मिलता है, जो राजगुरु धर्मविरुद्ध व्यवस्था के निम्न व्यवसायों में व्यस्त रहते थे।[95]

वैष्णव धर्म

वैष्णव भगवान विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव तथा परात्मा के रूप में मानते थे तथा उनसे सम्बन्धी धर्म - दर्शन तथा सिद्धान्त वैष्णव धर्म कहा गया।[96] वैष्णव अनुयायियों की दृष्टि में यह विशाल विश्व उस ऐश्वर्यशाली विष्णु की ही शक्तियों की अनेकानेक अभिव्यक्ति है। हिन्दू त्रिमूर्ति में यह सद्गुण की मूर्ति और विश्व की रक्षा करने वाला था। वैष्णवों के लिये विष्णु परम भगवान, पूर्व पुरूष तथा सभी जीवित प्राणियों का स्रोत है।[97] उनकी समाधि, त्रयशरीरा[98] अर्थात एक शरीर में तीन रूप धारण करना, उनके यह तीन रूप विश्व के सृजन, पालन तथा संहार के त्रिगुण महत्व के प्रतीक थे, इसलिये वह परम भगवान के रूप में भी अनुमानित किये गये थे। प्रसिद्ध जगत सम्बन्धी पुराण कथा के अनुसार वह महासागर में हजारों सिर वाली साँप शय्या अर्थात अनंत पर अपनी पत्नी के साथ सोते हैं, इसलिये वह अनंतशायी के रूप में भी जाने जाते हैं।[99] अपनी निद्रा में उनकी नाभि से एक हजार पंखुड़ी वाला कमल निकलता है, तथा यही कमल है जो ब्रह्मा को जन्म देता है।[100] दण्डिन ने अपने ग्रन्थ अवन्तिसुन्दरीकथा में इस जगत सम्बन्धी दृश्य का पृथक रूप से सुन्दर वर्णन किया है।[101] जिसमें मामल्लपुर के निकट समुद्र तट पर अनन्तशयान स्थिति में भगवान की प्रतिमा है। पुन. भगवान को एक गहरे नीले रंग के पुरूष की तरह अपने हाथ में अपने लक्षणों शंख और चक्र लिये हुये दिखाया गया है।[102] उनकी चार भुजाओं तथा अधिक महत्वपूर्ण दो चिन्हों गदा और कमल का उल्लेख दण्डिन ने नहीं किया है यद्यपि पहले से ही उस समय अस्तित्व में था। महान बाज गरूड़ उनकी सवारी है, कश्यप और विनिता के पुत्र के रूप में उनका वर्णन किया गया है, तथा भगवान के ध्वज को उनके चिन्ह के रूप में प्रदर्शित किया है।[103] शिव से भिन्न, जो प्राय. उग्र स्वभाव वाले हैं, जबकि विष्णु पूर्णतया उदार स्वभाव वाले हैं। अपने इसी स्वभाव के कारण उन्होंने समय - समय पर पृथ्वी को राक्षसों से मुक्त करवाया तथा सच्चाई को उचित स्थान दिलवाया था। भागवत पुराण में

विष्णु के 24 अवतारों का उल्लेख मिलता है ।[104] इन अवतारों में 10 अवतार विशेष प्रसिद्ध थे । ये दस अवतार हैं - मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि । इन अवतारों में कृष्ण का नाम नहीं है, क्योंकि कृष्ण स्वयं भगवान के साक्षात स्वरूप हैं ।[105] उनके दस परम्परागत अवतारों का उल्लेख दण्डिन ने भी किया है, जिनमें वराह, नरसिंम्हा, वामन तथा कृष्ण अवतार उनके समय में पूर्ण रूप से विकसित हुये । अपने वराह रूप में भगवान अपने दांतों से पृथ्वी को विश्व समुद्र से बाहर निकालते हैं जिसमें वह विश्व की समाप्ति पर डूबती है तथा उनको शेष पर रखते हैं ।[106] अपने नृसिंह (नरसिम्हा) के रूप में, वह राक्षसों के देवता हिरण्यकश्यप को अपने तेज नाखूनों से टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे ।[107] अपने नाटे रूप में वामन की तरह, अपने तीन लम्बे पगों से तीनों संसार को नापते हुये राक्षस बलि के अभिमान को तोड़ते हैं ।[108] वासुदेव और देवकी के पुत्र कृष्ण रूप में उनका अवतार बहुत प्रसिद्ध था तथा दण्डिन ने अपनी कृतियों में इसका उल्लेख किया है ।[109] 718 ईसवी के अपराजित के उदयपुर अभिलेख में विष्णु के पर्यायवाची के रूप में कृष्ण का उल्लेख मिलता है ।[110] विश्व को तीन चरणों में नापने का कार्य करने वाले विष्णु का यह कार्य उनके अन्य अवतारों ने भी किया था किन्तु इसका सम्बन्ध कृष्ण से अधिक था, ऐसा साहित्य से प्रकट होता है ।[111] किन्तु दण्डिन ने राम के एक अवतार के रूप में उनका उल्लेख नहीं किया है । यद्यपि परम्परागत पौराणिक सूची में कृष्ण के पहले राम को प्राथमिकता प्राप्त है । ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डिन के समय में राम की पूजा पूर्ण रूप से प्रचलित नहीं हुई थी यद्यपि वह रामायण के महान नायक के रूप में स्मरण किये जाते थे ।

इस समय कृष्ण का जीवन बहुत ही प्रचलित था । वे मुख्यतः गीतों, नाटकों, मूर्तियों तथा शिलालेखों के प्रसंगों में प्रसिद्ध थे । पहाड़पुर की मूर्तियों में (छठीं से लेकर आठवीं शताब्दी तक) एक गाथाओं के झुण्ड की तरह उनके जीवन की अनेकानेक कहानियाँ चित्रित की गयी है ।[112] गौड़वहो (आठवीं शताब्दी), वेणीसंहार (सातवीं शताब्दी) और दो शिलालेखों, पहला मन्दसौर और दूसरा धारा, इन सभी में राधा का उल्लेख मिलता है । पहाड़पुर की मूर्तियों में वह सम्भवतः एक गोपी के रूप में उपस्थित थी ।[113]

अधिकतर गुप्त राजा, अनेक पल्लव शासक तथा दक्षिण में अन्य वंशज वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और दण्डिन स्वयं इस विश्वास के अनुयायी थे । गुप्तकाल में अधिकांश शासक शैव थे । तत्कालीन साहित्य में नारायण और विष्णु को समान माना है । कालिदास के अनुसार विष्णु सागर-तल पर सहस्र फणों वाले शेषनाग की शैय्या पर विश्राम करते हैं और उनके फैले हुये चरण उनके पाद- प्रदेश में बैठी हुयी लक्ष्मी की गोद में शोभायमान हैं । उनकी चार भुजायें हैं जिनमें क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभित है । उनके वक्ष पर कौस्तुभमणि शोभायमान है तथा निकट ही उनका वाहन गरूड़ सेवा के लिये खड़ा है ।[114] गुप्तकालीन अनेक अभिलेखों से भी वैष्णव धर्म सम्बन्धी अनेक संकेत प्राप्त होते हैं ।[115] कदम्ब राजकुल के नगारे के अभिलेख में वराहावतार का उल्लेख है । पूर्वी चालुक्यों का राजचिन्ह ही ' गरूड़ ' था जो उनके वैष्णव होने का प्रबल प्रमाण था । उनके अधिकांश अभिलेखों का प्रारम्भ वराह की वन्दना से होता है ।[116] वराहावतार की सबसे महत्वपूर्ण मूर्ति उदयगिरि गुहा की दीवार पर विशालकाय रूप में उभारी गई है जिसमें पृथ्वी की रक्षा करते हुये वराह-रूपी भगवान को चित्रित किया गया है, जिनके दाँत में अति लघुकाय नारी-मूर्ति {पृथ्वी} लटकी हुई है ।[117] इसके अतिरिक्त तत्कालीन साहित्य में मोरपंखधारी कृष्ण,[118] उनके भाई बलराम[119] {हलधर} और उनकी पत्नी रूक्मिणी[120] का भी विवरण मिलता है । हर्ष के समकालीन प्राग्ज्योतिषपुर {आसाम} के शासक भास्करवर्मा के कुटुम्ब के लोग वैष्णव धर्म के अनुयायी थे ।[121]

राजपूतों के समय भी वैष्णव धर्म प्रचलित था । खालिमपुर-दानपत्र से विदित होता है कि विष्णु का पूजन ' ओम् नमो नारायण ' के नाम से किया जाता था ।[122] कभी-कभी ' ओम नमो भगवते वासुदेवाय ' भी कहा जाता था ।[123]

राजतरंगिणी द्वारा छठी से दसवीं ईसवी के बीच कश्मीर में बनवाये गये विष्णु के मन्दिरों के विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है । कार्कोट राजाओं में दुर्लभवर्द्धन ने श्रीनगर में विष्णु दुर्भस्वामी के एक मन्दिर की स्थापना की थी ।[124] उसके पुत्र मालहन और पोते चन्द्रपीड ने क्रमशः विष्णु मालहानस्वामी और त्रिभुवन स्वामी का मन्दिर बनवाया था ।[125] दुर्लभवर्द्धन के शिक्षक मिहिरदत्त ने गम्भीर स्वामी का एक मन्दिर बनवाया

था ।[126] दुर्लभवर्द्धन के पुत्र जनितादित्य (आठवीं शताब्दी) के प्रिय देवता विष्णु थे ।[127] उनकी पत्नी कमलावती ने विष्णु कमलाकेशव का मन्दिर बनवाया था ।[128] उसके जागीरदार काल्य ने, विष्णु काल्यस्वामी का एक मन्दिर बनवाया था ।[129]

वैष्णव सम्प्रदाय

वैष्णवों का एक प्रसिद्ध समुदाय, जंगलों में रहने वाले साधुओं और तपस्वियों का था, जो वैखानस के नाम से जाने जाते थे ।[130] वैखानस धर्मशास्त्र के अनुसार उन्हें खाने के विषय में, वेशभूषा और जीवन के तरीकों में आदि सभी में निश्चित नियमों का अनुसरण करना पड़ता था ।[131] बाण ने देखा था कि वैदिक यज्ञ करना उनके धार्मिक कर्मों का एक महत्वपूर्ण भाग था ।[132] वैखानस की साम्प्रदायिक धर्मपुस्तकों जो अगमस् के नाम से जानी जाती थी वे पंचविरास अथवा तत्त्वपंचकास की पूजा किया करते थे, जिसमें विष्णु और उनके चार साथी अच्युत, सत्य, पुरुष और अनिरूध थे ।

बाण ने दो वैष्णव समुदायों का उल्लेख किया है-भागवत और पांचरात्रिक[133]। पांचरात्रिक विद्यालय का नाम उच्च भगवान वासुदेव के पांच प्रदर्शनों के प्रधान सिद्धान्तों के नाम पर पड़ा है, जो इस प्रकार है :- पारा, व्यूह, वैभव, अन्तरयामी और अर्क रूप । पांचरात्रिकों ने अपने धर्म संबंधी पुस्तकों को स्वयं विभाजित किया था जिसे पांचरात्रिक सम्हिताय के नाम से जाना जाता था । चतुरव्यूह का सिद्धान्त अथवा भगवान विष्णु की उत्पत्ति के चार प्रकार, पांचरात्रिकों की प्रधान विषयवस्तु थी ।[134]

सातवीं शताब्दी में दक्षिण में वैष्णव अलवार काफी प्रसिद्ध हो गये थे ।[135] वे धार्मिक उदार जाने भक्त थे जो विष्णु की पूजा बहुत ही प्रेम और भक्ति से करते थे ।[136] तत्कालीन अलवारों में कुछ प्रसिद्ध थे, जैसे .- तिरूमलिसई, सत्तकोपा के नाम मालवार, मधुरकवि, कुलसेरा, विष्णुसित्ता, अदल, तोदरादी पोप्पदई, तिरूप्पन और तिरूमंगई ।[137] अलवार पुराणों के सिद्धान्त को जानते थे तथा वैदिक साहित्य का सम्मान करते थे । भगवान के नाम का पाठ, उनके विभिन्न रूपों का आत्मचिंतन और मन्दिरों में उनकी पूजा उनमें शामिल थे ।[138]

शैव धर्म

शिव से सम्बन्धित धर्म को शैव धर्म कहा गया तथा इस धर्म के भक्तों और अनुयायियों को 'शैव'। शैव धर्मावलम्बियों के प्रधान इष्टदेव शिव है। शिव ऋग वैदिक देवता रूद्र से विकसित हुये थे, प्राय: विष्णु की ही तरह मुख्य थे, तथा देश के लोगों के मध्य बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे उनका समुदाय सामान्यत. शैववाद के रूप में जाना जाता है।[139] पुराणों में उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है।[140] स्कन्दपुराण मे पशुपति, सर्वज्ञ, ईश्वर सब तत्त्वों के मूल तत्व तथा सनातन भगवान रूद्र ने कहा है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने भी पहले मैं ही अकेला ईश्वर था, वर्तमान में भी मैं ही ईश्वर हूं और भविष्य में भी मैं ही एकमात्र ईश्वर रहूँगा। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।[141] उसकी इस प्रतिष्ठा और महानता का कारण यह था कि उन्होंने अपने ऐश्वर्य से देवताओं को, शक्ति से असुरों को, ज्ञान से मुनियों को तथा योग से प्राणियों को पराजित किया था।[142] मुद्रा संबंधी साक्ष्यों से उनके अन्य नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे :- शंकर, शम्भु, भव, ईश, त्र्यंबका, शूलिन, शर्व, धुंडीश्वर, भवानीपति, रूद्र, शूलधरा, महेश्वर, दिगम्बर और पशुपति [143] उनके विशिष्ट नाम पशुपति के विषय में, एक पौराणिक कथा के अनुसार जब त्रिपुरा {माया द्वारा राक्षसों के लिये बनाये गये तीन शहर} के नाश के लिये अन्य देवता पशुओं की तरह जब उनके सामने अनुरोध करते हैं तो भगवानों के लिये यह कार्य पूर्ण करते हैं।[144]

भगवान की महानता के रूप में उनके अनुयायियों के द्वारा उनका अतिशय वर्णन किया गया था।[145] तत्कालीन साहित्य तथा कला में भी भगवान के आठ रूपों का उल्लेख मिलता है। वे इस प्रकार हैं :- चन्द्रमा, सूरज, मरूत, पृथ्वी, आकाश, यज्ञ करने वाले पुजारी, आग तथा पानी।[146] यह प्रत्यक्ष रूप से उनकी तत्व संबंधी शक्ति तथा उनकी चंचलता के सार्वभौमिक चरित्र के प्रतीक हैं। उनकी गर्दन में एक काला धब्बा था क्योंकि एक बार - क्षीर-समुद्र के मंथन से निकलने वाले चौदह रत्नों के अंत में जो प्राणनाशक जहर बचा था, उसके घातक प्रभाव से अन्य भगवानों को बचाने के लिये उसको पी लिया था।[147] उनका प्रहरास्त्र पिनाक अर्थात त्रिशूल है तथा कभी - कभी वह एक परशु अर्थात कुल्हाड़ी भी

भाग में जाते थे।[148] एक महान साधु के रूप में, वह एक जूड़े में उलझे हुये जाल धारण करते हैं, जिसमें अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा जड़ा हुआ था तथा जिसमें से पवित्र गंगा बहती है।[149] उनकी गर्दन तथा भुजायें साँपों से घिरी रहती है।[150] उनका स्थायी निवास स्थान कैलाश पर्वत पर है, तथा उनकी सवारी साँड है, नंदिनी, जो झण्डे में उनके चिन्ह के रूप में भी चिन्हित है।[151] उन्होंने एक राक्षस अन्धाका का भी नाश किया तथा कामदेव को भस्म कर देते हैं, जब वह अपने में पार्वती के लिए मोह जागृत करने का प्रयत्न करते हैं जो बाद मे उनके साथी बन गये।[152] उनका भयंकर नृत्य ताण्डव कहलाता था, जो विश्व-कालचक्र की समाप्ति पर किया जाता था, तथा उनके अट्टहास का वर्णन दण्डिन ने भी अन्य शास्त्रीय लेखकों की तरह किया है।[153]

शिव के मानवीय रूपों में एक तीसरी आँख उनके माथे पर दिखायी गयी थी, उनके दायें हाथ में एक डमरू और बायीं तरफ उनकी पत्नी पार्वती विराजमान थीं।[154] उनका त्र्यम्बका अर्थात तीन आँख वाले भगवान का उल्लेख दण्डिन के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है,[155] उनके माथे के मध्य भाग में स्थित तीसरी आँख उनकी प्रखर बुद्धि का लक्षण है।

अर्धनारीश्वर रूप में शिव की कल्पना की गयी है। शिव और पार्वती का परस्पर इतना तादात्म्य हुआ कि दोनों की सम्मिलित मूर्ति 'अर्धनारीश्वर के रूप मे समाज में प्रचलित हो गई जिसके अन्तर्गत पुरुष और नारी को एक ही शरीर के भाग के रूप में स्वीकार किया गया था तथा यह अभिव्यक्त किया गया कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिये स्त्री अर्द्धांगिनी कही जाती है। वस्तुत: स्त्री और पुरुष दोनों संयुक्त होकर सृष्टि की रचना करते हैं। फलत: शिव और पार्वती युक्त 'अर्धनारीश्वर की मूर्ति की कल्पना पर आधारित थी, जिसमे अर्धांग रूप में शिव बाईं ओर और अर्द्धांगिनी रूप में पार्वती दाईं ओर स्थित हैं।[156]

रुद्र के रूप में भी शिव की पूजा की जाती थी। सड़कों के किनारों पर उन्हें बलि दी जाती थी।[157] यद्यपि अपने भयंकर रूप में, वह एक दयालु भगवान हैं, जो अपने

काम में लाते थे ।[148]एक महान साधु के रूप में, वह एक जूड़े में उलझे हुये जाल धारण करते हैं, जिसमें अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा जड़ा हुआ था तथा जिसमें से पवित्र गंगा बहती है ।[149] उनकी गर्दन तथा भुजायें सांपों से घिरी रहती है ।[150]उनका स्थायी निवास स्थान कैलाश पर्वत पर है, तथा उनकी सवारी सांड है, नंदिनी, जो झण्डे में उनके चिन्ह के रूप में भी - चिन्हित है ।[151]उन्होंने एक राक्षस अन्धाका का भी नाश किया तथा कामदेव को भस्म कर देते हैं, जब वह अपने में पार्वती के लिए मोह जागृत करने का प्रयत्न करते हैं जो बाद में उनके साथी बन गये ।[152]उनका भयंकर नृत्य तांडव कहलाता था, जो विश्व -कालचक्र की समाप्ति पर किया जाता था, तथा उनके अट्टहास का वर्णन दण्डिन ने भी अन्य शास्त्रीय लेखकों की तरह किया है ।[153]

शिव के मानवीय रूपों में एक तीसरी आँख उनके माथे पर दिखायी गयी थी, उनके दायें हाथ में एक उपरू और बायीं तरफ उनकी पत्नी पार्वती विराजमान थीं ।[154] उनका त्र्यम्बका अर्थात तीन आँख वाले भगवान का उल्लेख दण्डिन के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है,[155] उनके माथे के मध्य भाग में स्थित तीसरी आँख उनकी प्रखर बुद्धि का लक्षण है ।

अर्धनारीश्वर रूप मे शिव की कल्पना की गयी है । शिव और पार्वती का परस्पर इतना तादात्म्य हुआ कि दोनों की सम्मिलित मूर्ति ' अर्धनारीश्वर के रूप में समाज में प्रचलित हो गई जिसके अन्तर्गत पुरुष और नारी को एक ही शरीर के भाग के रूप में स्वीकार किया गया था तथा यह अभिव्यक्त किया गया कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं ।इसलिये स्त्री अर्द्धांगिनी कही जाती है ।वस्तुत: स्त्री और पुरुष दोनों संयुक्त होकर सृष्टि की रचना करते हैं ।फलत: शिव और पार्वती युक्त ' अर्धनारीश्वर की मूर्ति भी कल्पना पर आधारित थी, जिसमे अर्धांग रूप में शिव बाईं ओर और अर्द्धांगिनी रूप में पार्वती दाईं ओर स्थित हैं ।[156]

रुद्र के रूप में भी शिव की पूजा की जाती थी ।नड़ओं के किनारों पर उन्हें बलि चढ़ाई जाती थी ।[157]यद्यपि अपने भयंकर रूप में, वह एक दयालु भगवान हैं, जो अपने

भक्तों तथा पूजा करने वालों की इच्छा पूर्ण करते हैं तथा विशेषकर एक बच्चे के लिये अथवा युद्ध में सुरक्षित विजय प्राप्त करने हेतु रास्त्र के लिये अपने भक्तों द्वारा सन्तुष्ट किये जाते थे।[158]अपने इसी गुण के कारण वह देश में अधिकता से पूजे जाते थे। बराहमिहिर ने अपनी वृहत्संहिता में रूद्र शिव की पूजा का उल्लेख किया है।[159]शिव रूद्र की मूर्तियाँ अधिकतर दक्षिण भारत में पायी जाती थीं।

उनके अनुयायियों में जैसे :- भैरवाचार्य, जिन्होंने ऐश्वर्य अथवा माहेश्वर्य की प्राप्ति के लिये काले जादू का अभ्यास किया और बुरे कार्य भी किये थे, उनका अन्तिम उद्देश्य एक माहेश्वरा था।[160]

भगवान अपने भयंकर रूप में भी पूजे जाते थे, जिनमें आठ रूपों का पुराणों में परम्परागत ढंग से वर्णन किया गया है। उनमें से एक रूप अमरदाका का उल्लेख दण्डिन ने किया है[161]जो पौराणिक सूची के कालभैरव की तरह थे। भगवान अपने इस रूप में विशेषकर जंगली जातियों के मध्य प्रसिद्ध थे, तथा बाण ने भी तत्कालीन कला में इस रूप को देखा था।[162]

वर्ष में कुछ दिनों में शिव की विशेष पूजा की जाती थी। अमावस पखवारे के चौदहवें दिन उनकी विशेष पूजा की जाती थी।[163]अनंगत्रयोदशी भी एक पवित्र दिन समझा जाता था क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि इस दिन शिव ने प्रेम के देवता काम का विनाश किया था।[164]किन्तु शिव की पूजा का सबसे महत्वपूर्ण दिन शिव चर्तुदशी होता था। कश्मीर में भी यह एक त्योहार का दिन था। शिव के भक्त खुशियाँ मनाते थे और दरबारियों के साथ मिलकर गाते थे और नृत्य करते थे।[165]माघ के महीने में श्रावस्ती में उनके सम्मान में एक वार्षिक उत्सव का आयोजन होता था, तथा एक इसी तरह का उत्सव उज्जैन में भी आयोजित किये जाने का प्रमाण मिलता है।[166]

लिंग रूप में भी शिव की पूजा की जाती थी। यद्यपि दण्डिन द्वारा इसका बहुत कम उल्लेख किया गया है।[167]लिंग पूजन शिव पूजा के एक भाग के रूप में ईसा युग के प्रारम्भ से शुरू हुई तथा सातवीं शताब्दी तक यह शिव पूजा के एक प्रसिद्ध रूप में स्था-

पित हो चुकी थी ।[108] पुराणों में शिवन-पूजा § लिंग-पूजा § का भी उल्लेख है । एक बार जब ब्रह्मा और विष्णु में श्रेष्ठता का विवाद चल रहा था तब उन्होंने दीप्तिमान अव्यक्त लिंग देखा ।[109] बृहत्संहिता में शिव के दोनों रूपों §मानवीय रूप तथा लिंग-रूप§ की पूजा का उल्लेख मिलता है ।[170] शिवागमास दो प्रकार के शिवलिंग के विषय में कहते हैं, एक घूमने वाला और दूसरा स्थिर रहने वाला । घूमने वाला पृथ्वी, अनेक प्रकार की धातुओं जैसे :-- सोना, चाँदी, ताँबा, मिश्रित धातु, लोहा, जस्ता, पीतल और टिन से बनता था । विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थरों जैसे .- मूंगा, वैदूर्य, पुखराज, पन्ना और नीला पत्थर अस्थायी पूजा के लिये प्रयोग किये जा सकते थे और ले जाये जा सकते थे । स्थिर लिंग दस प्रकार के थे - स्वयंभू, पूर्णा अथवा पूर्वा, देवता, गणपत्या, असुर, सुरा, अरसा, राक्षस, मानुज और बान ।[171] लिंग सादा हो सकता था, चेहरों के साथ, जिसे ऐसी स्थिति में मुखलिंग कहा जाता था जिसे ईशान कहा जाता था और अन्य चेहरे परिक्रमा की स्थिति में तत्पुरुष, अघोरा, वामदेव और सद्योजाता कहे जाते थे । अघोरा चेहरा सामान्यत: बहुत भयंकर दिखाई देता था । हर्षचरित में सरस्वती के लिये कहा जाता है कि उसने एक शिवलिंग बनवाया था और शिव के सभी पाँच रूपों की पूजा की थी ।[172] कनौज में बहुत अधिक शिवलिंग पाये जाते हैं जिनका सम्बन्ध सातवीं और आठवीं शताब्दी से था । ये लिंग एक या चार चेहरों से युक्त थे । एक चार चेहरे वाले लिंग में पार्वती का चेहरा आभूषणों से सजा हुआ था और बालों को एक जूड़ा के रूप में धारण किये हुये थीं । महेन्द्रवर्मन प्रथम का त्रिचनापल्ली गुफा अभिलेख राजाओं के लिंग पूजा के एक पूजक होने की ओर संकेत है ।[173]

शिव की पूजा के असंख्य केन्द्र थे । बाण ने उज्जैनी में महाकाल के मंदिर का उल्लेख किया है ।[174] कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन किया गया है जो एक चार्तुमुख अथवा चार मुख वाले शिवलिंग की पूजा करती थी जो मौक्टा का बना होता था ।[175] सातवीं शताब्दी में, जलन्धर, अहिच्छत्रा, मालवा, माहेश्वर-पुरा, बनारस और कन्नौज में शैवों की सत्ता थी ।[176] सातवीं शताब्दी में, बनारस में मिश्र धातु से बनी 100 फुट ऊँची शिव की प्रतिमा है जो जीवित के समान उनकी महिमा को प्रदर्शित करती है ।[177] कच्छ की राजधानी

पित हो चुकी थी ।[168]पुराणों में शिश्न -पूजा (लिंग-पूजा) का भी उल्लेख है । एक बार जब ब्रहमा और विष्णु में श्रेष्ठता का विवाद चल रहा था तब उन्होंने दीप्तिमान अव्यक्त लिंग देखा ।[169]बृहत्संहिता में शिव के दोनों रूपों (मानवीय रूप तथा लिंग -रूप) की पूजा का उल्लेख मिलता है ।[170]शिवआगमास दो प्रकार के शिवलिंग के विषय में कहते हैं, एक घूमने वाला और दूसरा स्थिर रहने वाला । घूमने वाला पृथ्वी, अनेक प्रकार की धातुओं जैसे :-- सोना, चांदी, तांबा, मिश्रित धातु, लोहा, जस्ता, पीतल और टिन से बनता था । विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थरों जैसे :- मूंगा, वैदूर्य, पुखराज, पन्ना और नीला पत्थर अस्थायी पूजा के लिये प्रयोग किये जा सकते थे और ले जाये जा सकते थे । स्थिर लिंग दस प्रकार के थे - स्वयंभू, पूर्णा अथवा पूर्वा, देवता, गणपत्या, असुर, सुरा, अरसा, राक्षस, मानुष और बान ।[171]लिंग सादा हो सकता था, चेहरों के साथ, जिसे ऐसी स्थिति में मुखलिंग कहा जाता था जिसे ईशान कहा जाता था और अन्य चेहरे परिक्रमा की स्थिति में तत्पुरूष, अगहोरा, वामदेव और सद्योजाता कहे जाते थे । अगहोरा चेहरा सामान्यत: बहुत भयंकर दिखाई देता था । हर्षचरित में सरस्वती के लिये कहा जाता है कि उसने एक शिवलिंग बनवाया था और शिव के सभी पांच रूपों की पूजा की थी ।[172]कनौज में बहुत अधिक शिवलिंग पाये जाते हैं जिनका सम्बन्ध सातवीं और आठवीं शताब्दी से था । ये लिंग एक या चार चेहरों से युक्त थे । एक चार चेहरे वाले लिंग में पार्वती का चेहरा आभूषणों से सजा हुआ था और बालों को एक जूड़ा के रूप में धारण किये हुये थीं । महेन्द्रवर्मन प्रथम का त्रिचनापल्ली गुफा अभिलेख राजाओं के लिंग पूजा के एक पूजक होने की ओर संकेत है ।[173]

शिव की पूजा के असंख्य केन्द्र थे । बाण ने उज्जैनी में महाकाल के मंदिर का उल्लेख किया है ।[174]कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन किया गया है जो एक चतुर्मुख अथवा चार मुख वाले शिवलिंग की पूजा करती थी जो मोक्तिका का बना होता था ।[175]सातवीं शताब्दी में, जलन्धर, अहिच्छत्रा, मालवा, माहेश्वर -पुरा, बनारस और कन्नौज में शैवों की सत्ता थी ।[176]सातवीं शताब्दी में, बनारस में मिश्र धातु से बनी 100 फुट ऊंची शिव की प्रतिमा है जो जीवित के समान उनकी महिमा को प्रदर्शित करती है ।[177]कच्छ की राजधान

में, लगभग 1500 फुट, सिन्ध से दक्षिणी पश्चिमी में ह्वेनसांग ने बहुत अधिक सुन्दर रत्नों से सुसज्जित महेश्वर का मन्दिर देखा था, उनकी प्रतिमा में आलौकिक शक्तियाँ थीं।[178] लेंग-कि-लू की राजधानी में शिव का एक बहुत सुन्दर और अति विशाल मन्दिर था और पाशुपतियों के द्वारा जो अत्यधिक महत्व दिया गया था।[179] शिव के बहुत मन्दिर ब्रह्मपाद {मध्यसिन्ध} और फा - ता - ने {वाराणसी} में थे।[180] अर्धनारीश्वर के रूप में शिव का एक मन्दिर एक वैश्य आदित्यनाग द्वारा 674 ईस्वी में राजस्थान में शेखावती क्षेत्र में खंडेला में बनवाया गया था।[181] बंगाल में, धर्मपाल के शासन के समय महेश्वर की एक चार मुख वाली मूर्ति बनाई गई थी।[182] शिव को समर्पित मन्दिरों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण मन्दिर उज्जैनी का महाकाल मन्दिर, वाराणसी में अवमुक्तेश्वर मन्दिर थे, तथा एक मन्दिर विशेषकर कापालिकों द्वारा श्रीपर्वत पर श्रीशैलम में बनवाया गया था।[183]

उत्तरी तथा दक्षिणी भारत दोनों में ही शैव धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। कुछ गुप्त शासक तथा दक्षिणी भारत में राज्य कर रहे अनेक शासक शैव थे। ह्वेनसांग के द्वारा इनका बारम्बार वर्णन किया गया है। हर्ष के राज्य के प्रारम्भ के समय वहाँ एक शासक महेश्वर {शिव का उपासक} था।[184] वलभी का राजा मुख्य रूप से शिव का उपासक था।[185] कामरूप का राजा भास्करवर्मन केवल शिव के आगे ही झुकना चाहता था।[186] कश्मीर के कार्कोट और उत्पल वंश उनके सम्मान में मन्दिर खड़ा करके और उनके रख-रखाव के लिये अधिक दान-दक्षिणा देकर, शिव के प्रति भक्ति दिखाते थे।[187] गौड़ का राजा शशांक भी शिव का अनन्य उपासक था।[188]

हर्ष के पूर्वज पुष्यभूति, शिव की पूजा किये बिना भोजन नहीं ग्रहण करते थे और उन्हें विश्व का सृष्टिकर्ता और विनाशकर्ता मानते थे।[189] थानेश्वर नगर में भगवान खण्ड परशु की अधिकता से पूजा की जाती थी।[190] पवित्र अग्नि में गुग्गुल की आहुति देकर दूध से स्नान कराते थे तथा बिल्वा की पत्तियों को चढ़ाकर पूजा किया करते थे।[191] अपनी प्रजा द्वारा राजा पुष्यभूति को शिव की पूजा के लिये सामग्रियाँ दी जाती थी। वे उन्हें बन्धन खुले हुये साँड, सोने की सुराहियाँ, मणियों से जड़ित डीवट का दीपक, सुगन्धित

दीपक, फूल से बने कपड़े और ब्रह्मसूत्र {पवित्र धागे} ।[192]उनकी रानियों ने बिखरे हुये चावल को पीसने का कार्य किया, मन्दिरों को साफ सुथरा किया और अपनी दासियों को शिव की पूजा के लिये माला तैयार करने का आदेश दिया ।[193]जब बाण ने हर्ष को देखने के लिये अपना गाँव छोड़ा था तो उसने शिव की पूजा की थी ।[194]पृथ्वी पर उतरने के बाद, देवी सरस्वती के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने बालू से बने हुये सोन नदी के किनारे शिव- लिंग की पूजा की थी ।[195]बहुत से पल्लव राजा विशेषकर शिव के भक्त थे, जिनकी सवारी, साँड, उन्होंने अपने मुकुट पर अपने चिन्ह के रूप में ग्रहण किया हुआ था । नरसिंहवर्मन द्वितीय ने भगवान की उपाधि के रूप में 'कालकाला', को धारण किया था, जो उनके नामों में से एक था ।[196]अवन्तिसुन्दरीकथा में भारवि को महाशैव {शिव का एक महान उपासक} के रूप में वर्णित किया गया था ।[197]

शैव सम्प्रदाय

--------**

<u>मसकारिन सम्प्रदाय</u> .- शैवों का एक सम्प्रदाय मसकारिन नाम से जाना जाता था ।[198] शैव सन्यासी मसकारिन इसलिये कहे गये क्योंकि वे अपने साथ एक मसकारा अर्थात बाँस की छड़ी रखते थे ।[199]दण्डिन की कृतियों में एक मसकारिन का उल्लेख त्रिदण्ड ले जाते हुये मिलता है, ये तीनों डंडे एक साथ कसकर बँधे होते थे, जो त्रिडंड वर्ग के सन्यासियों की पहचान को सूचित करते थे, संगम साहित्य में इनका विशेष रूप से उल्लेख मिलता है ।[200]

<u>कापालिक और कालामुख</u> :- शैवों के विध्वंसवादी वर्ग कापालिक और कालामुख थे । बराहमिहिर ने कापालिकों का उल्लेख किया है और बताया है कि वे खाने के बर्तनों के रूप में मानवीय खोपड़ियों का प्रयोग करते थे और खोपड़ियों की माला पहनते थे ।[201]मालतीमाधव में उल्लेख मिलता है कि कापालिक अपने उलझे हुये बालों को एक गाँठ से कसकर बाँधते थे । वे हमेशा अपने साथ एक खटवांग रखते थे और उसमें घंटी बाँधे रखते थे ।[202]दण्डिन के अनुसार शैवों का यही समुदाय कापालेश्वर {खोपड़ियों की माला को पहनने वाले भगवान} के रूप में शिव की पूजा करता था, और इसलिये वे कापालिक के रूप में जाने जाते थे ।[203]वे प्राय: शहर के बाहर सुनसान कब्रिस्तानों में रहते थे तथा अपने को कठिन

व्रतों के पालन में व्यस्त रहते थे, और इसलिये वे महाव्रतिना (एक महान व्रत करने वाले) के रूप में भी समझे जाते थे।[204] कभी-कभी वे विविध धार्मिक कार्य करते थे, तथा दूषित अभ्यासों में लगे रहते थे। सातवीं शताब्दी की साहित्यिक कृतियों तथा अभिलेखों के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि बहुत से केन्द्रों में जैसे कांची में पाशुपत के साथ कापालिक भी रहते थे।[205] स्त्री और पुरूष दोनों कापालिकों के विचारों का अनुसरण कर सकते थे।[206] निशीथ चूर्णी में भी कापालिकों का उल्लेख मिलता है, उसमें कहा गया है कि ये जैन साधुओं और समाज द्वारा अति तिरस्कृत किये जाते थे।[207] वे बस्ती से बहुत दूर मलिनता से रहते थे, इसलिये वे न छूने योग्य (अस्पृस्य) समझे जाते थे।[208] सोमदेव ने बताया है कि यदि एक जैन साधु कापालिक का स्पर्श कर लेता था तो उसे स्नान करना पड़ता था[209]

छठी और सातवीं शताब्दी में यह समुदाय पंजाब और उत्तरी पश्चिमी भारत में प्रसिद्धि प्राप्त किये हुये था। यशोधर्मन - विष्णुवर्धन (532 ईसवीं) के मन्दसोर अभिलेख में शिव को हड्डियों को सिर पर धारण किये जाने का उल्लेख मिलता है।[210] समुदर्शन के एक ताम्रपत्र (612-613 ईसवी) में एक शिव मंदिर का उल्लेख मिलता है जिस का नाम कपालेश्वर था।[211] कपिशा और कुछ अन्य स्थानों पर ह्वेनसांग ने कुछ साधुओं को देखा था जो अपने सिर पर हड्डियों और खोपड़ियों की माला पहनते थे।[212] उसने यह भी विवरण दिया है कि महत्वपूर्ण समुदायों में से कापालिक समुदाय एक था।[213]

एक दूसरा समुदाय इसी प्रकार का समुदाय था ससरक्खा।[214] बृहत्कल्प-भाष्य की प्रस्तावना में इन कापालिकों का उल्लेख मिलता है।[215] कापालिक तथा ससरक्खा अलौकिक शक्तियों और जादूई कार्यों में पूर्ण रूपेण निपुण होते थे।[216] ये कापालिकों की तरह कार्य करते थे और कालमुख जैसे एक स्वतंत्र समुदाय के रूप में वह भी अपनी गतिविधियाँ करते थे। कालमुखों के उल्लेखनीय छ: चिन्ह थे। खोपड़ी में भोजन रखना, एक मृतक शरीर की राख को अपने शरीर पर लगाना, राख खाना, एक सोटा रखना, शराब का एक बरतन रखना और उसमें बैठे हुये भगवान की पूजा करना।[217]

नकुलिसा पाशुपात :- प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में एक शिक्षक था जिसका नाम नकुलिसा

अथवा नकुलिश था, जिसने शैवों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित किया था[218] और उन्हें किताब का रूप प्रदान किया था जिसे पंचार्थविद्या अथवा पंचाध्यायी के नाम से जाना जाता था। नकुलिश पाशुपत शैव समुदायों में सबसे पुराने थे। वराहमिहिर ने बताया है कि मूर्तियों की स्थापना के समय राख पोता करते थे, ब्राह्मण लोग शम्भू की मूर्ति का धार्मिक कार्य करते थे। ये ब्राह्मण संभवतः पाशुपत समुदाय के अनुयायी थे और अपने शरीर को एक दिन में तीन बार राख से लीपते थे। वे राख पर सोते थे।[219] वृहत्कल्पभाष्य पर लिखी एक टीका में वे एक तपस के रूप में जाने जाते थे।[220] सरकक्ख साधु निशीथचूर्णी में उल्लिखित पाशुपत थे। वे बरसात के लिये राख एकत्र करते थे और अपने शरीर पर राख लगाते थे।[221] ईत्सिंग ने भी साधुओं के एक वर्ग का उल्लेख किया है जो शरीर पर राख लगाते थे और अपने बालों की जट को कस कर बांधते थे।[222] छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में पाशुपतियों ने कुछ प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। प्राचीन कलचुरि राजा कृष्णराज और बुद्धराज की रानी अनंतमहायी पाशुपत सम्प्रदाय के अनन्य अनुयायी थे।[223] ह्वेनसांग ने राख से लिपटे हुये तीर्थिकों के रूप में पाशुपतों का उल्लेख किया है। उसे पाशुपतियों के बहुत से शरीर जलन्धर, अहिच्छत्रा, मालकूट (तमिलदेश), मालवा, माहेश्वरपुरा,[224] लैंग-कि लो - बालू (वर्णा) और मूलतान से प्राप्त हुये थे।

दण्डिन के अनुसार वे शिव अर्थात पशुपति की पूजा करते थे, वे पशुपति के रूप में भी जाने जाते थे।[225] यद्यपि दण्डिन ने पाशुपत का उल्लेख नहीं किया है, उन्होंने शिव के रूप में पशुपति का उल्लेख भगवान के सामान्य स्वरूप पशुपति का उल्लेख भगवान के सामान्य स्वरूप पशुपति के प्रतीक के रूप में किया है। वास्तव में भगवान और उनकी पूजा का वर्णन दण्डिन ने किया है। फिर भी उस समय जनसामान्य के मध्य शैववाद के पाशुपत अनुयायी बहुत थे।

<u>नयनार</u> :- दक्षिण में शैव नायनार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुये जो लगभग छठी शताब्दी के मध्य से तमिल भूमि पर महत्ता प्राप्त कर चुके थे।[226] किन्तु सातवीं शताब्दी में शैव नयनारों के आन्दोलन ने गति प्राप्त कर ली थी। नयनार अति सरल हृदय वाले भक्त थे।

वे लोगों को भगवान के प्रति आकर्षित करने वाले थे। जिन्होंने लाखों समकालीनों का हृदय परिवर्तित किया था।[227] इस समय तीन महान शैव आचार्य थे .- अप्पर §600-681 ईस्वी§, समदर §644-700 ईस्वी§ और मानिनावाचकर §600-692 ईस्वी§।[228]

सूर्य पूजा .-
=======

हिन्दू समाज में अन्य देवताओं की भांति सूर्य पूजा भी प्रचलित थी। सूर्य देवता, सूर्य, पुषान और सावित्र के नाम से भी जाने जाते हैं। दण्डिन ने भी सूर्य पूजा का उल्लेख किया है। उनकी कृतियों में वह घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले एक पहिये वाले रथ पर घूमते हुये दिखाये गये हैं जिसे अरुण मार्ग दिखाता रहे थे।[229] तथा मनुष्य के बुरे तथा अच्छे कार्यों पर नियन्त्रण रखते थे।[230] प्रातः काल पानी और लाल कमलों को चढ़ाकर उनकी पूजा की जाती थी।[231]

आदित्यसेन और जीवितगुप्त द्वितीय के शाहपुर के अभिलेख तथा देव-बर्नीक §शाहाबाद जिला§ के अभिलेख में सूर्य पूजा का उल्लेख मिलता है।[232] प्राचीन गुर्जर राजा दद्दा द्वितीय और रानाग्रह सूर्य की पूजा करने वालों के भक्त थे।[233] वलभी राजा शिलादित्य प्रथम §600 ईस्वी§ ने एक सूर्य मन्दिर को भूमिदान में दी थी जो भद्रन्यका गाँव में बारा के जगंल में थी। उसने यह दान मन्दिर की मरम्मत और क्षतिपूर्ति को पूरा करने के लिये दिया था तथा प्रतिदिन पूजा की जरूरतों तथा सामग्रियों की पूर्ति के लिये भी प्रदान किया था।[234] प्रभाकरवर्द्धन प्रातःकाल स्नान करने के बाद और सफेद रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित होकर चन्दन से लिये हुये एक घेरे में जमीन पर पूरब की ओर झुकते थे और एक लाल कमल भगवान सूर्य को चढ़ाते थे। दिन में तीन बार वह पवित्र आदित्य हृदय मंत्र का पाठ करते थे।[235] हर्ष के जन्म के अवसर पर जो ज्योतिषी बुलाये गये थे, उनमें तारक भोजक ज्योतिषी भी था[236] भोजक का अर्थ है मग, जो सूर्य की पूजा किया करते थे। वराहमिहिर के अनुसार सूर्य पूजा के लिये मगों को ही पुजारी बनाया जाता था।[237] हर्ष ने अपने पंच-वर्षीय सम्मेलन में बुद्ध और शिव की मूर्तियों के बीच में एक भगवान सूर्य की मूर्ति स्थापित की थी।[238] उसके भाई और वंशजों में राज्यवर्धन, आदित्यवर्धन और प्रभाकरवर्द्धन सूर्य के परम भक्त थे।[239] कन्नौज के राजा के दो प्रतिहार रामभद्र और विनयकपाला सूर्य के महान

भक्त थे ।[240]

ह्वेनसांग के भारत भ्रमण के दौरान कन्नौज में भगवान सूर्य के बहुत अधिक मन्दिर थे ।[241] इस समय सूर्य पूजा का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र मुल्तान था । ह्वेनसांग ने यहाँ के सूर्य मन्दिरों का स्पष्ट उल्लेख किया है ।[242] उसके अनुसार इसकी मूर्ति स्वर्ण निर्मित तथा बहुमूल्य पदार्थों से अलंकृत थी ।[243] मुल्तान के हिन्दू भगवान सूर्य की पूजा के उपलक्ष्य में एक त्योहार मनाते थे जो सम्बार्युयात्रा के नाम से जाना जाता था ।[244] राजस्थान में सूर्यपूजा विशेष रूप से प्रसिद्ध थी । भगवान सूर्य की एक मूर्ति जोधपुर से प्राप्त हुई है जिसमें वह एक कमल पर विराजमान हैं, उनके दाये हाथ में एक कमल है और बायाँ हाथ घुटने पर रखे हुये आसन मुद्रा में है ।

आर्यों के द्वारा सूर्य के वास्तविक गोलचक्र की पूजा की जाती थी । भगवान सूर्य के जिस रूप की पूजा मुल्तान के लोगों के द्वारा की जाती थी तथा वराहमिहिर द्वारा अपनी वृहत्संहिता में भगवान सूर्य का जो वर्णन किया गया है उस पर स्पष्ट रूप से विदेशी प्रभाव दिखाई देता है ।[245]

सातवीं, आठवीं ईसवी से सम्बन्धित सूर्य की अनेक प्रतिमायें मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं । डी. आर. भण्डारकर के अनुसार सातवीं शताब्दी ईसवी में अलंगद में सूर्य देव के प्राचीन मन्दिर में सूर्य का चेहरा एक पत्थर की खिड़की की तरह दीवार में चित्रित था ।[246] उत्तर गुप्तकाल के स्टुअर्ट - ब्रिज संग्रह में सूर्य की एक प्रतिमा थी जिसमें सूर्य अपने दोनों हाथ में कमल लिये हैं तथा सात घोड़े से युक्त एक पहिये वाला रथ खींच रहे थे, उनकी पत्नियाँ स्वर्ण और छाया दूसरी ओर खड़ी थी और पृथ्वी देवी उनके पैर के पास बैठी हैं । उनके दो सहायक पिंगला और दण्ड को सामान्य ढंग से दिखाया गया है ।[247]

शाक्त धर्म

हिन्दू धर्म में शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है । शक्ति को नारी रूप में अभिव्यक्त किया गया है जिसके दिव्य स्वरूप को सार्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है । सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान स्पष्ट अभूतपूर्व है ।[248] क्रिस्तान युग के हजार वर्ष पहले से ही भारत में शक्ति की उपासना अथवा देवी माता अस्तित्व में थी[249]। पुराणों में शक्ति के दो रूपों का उल्लेख मिलता है पहला दयालु और दूसरा भयानक[250] । अपने दयालु रूप में वह शिव की अर्द्धांगिनी के रूप में पूजी जाती थी,[251] अपने भयानक रूप में वह दुर्गा, काली, चण्डी, चंडिका, कराल, रौद्री, भारवि आदि के रूप में जानी जाती थी[252]। मारकेण्डय पुराण में शक्ति की व्यापकता और महत्ता विवृत है ।[253]

शक्ति के दो रूपों (दयालु और भयानक) के अनुयायी दो समूहों में विभाजित थे - दक्षिणाचारी और वामचारी । इनमें क्रमश: दायें मार्ग तथा बायें मार्ग के अनुयायी थे ।[254] पुराणों के अनुसार शक्ति की पूजा पशुओं की बलि, फूल, पानी, सुगंधा, चंदन, दिया, ब्राह्मणों को भोजन देने, होम (यज्ञ), प्रदक्षिणा और अनेक प्रकार के दूसरे उपहारों से की जाती थी ।[255] प्रत्येक वर्ष अश्विन के महीने में शक्ति को विशेष चढ़ावा अर्पित किया जाता था । पूजा के ये दिन नवरात्र अथवा देवी के नौ दिन के रूप में जाने जाते थे ।[256] महीने के आठवें, नवें और चौदहवें दिन शक्ति पूजा के दिन के रूप में माने जाते थे ।[257] राजा शूद्रक की रानी के विषय में कहा जाता है कि वह पुत्र की प्राप्ति के लिये चंडिका के मन्दिर में सोयी थी ।[258] चंडिका के पुजारी अनेक तान्त्रिक कार्यों का अनुसरण करते थे, जब प्रभाकरवर्द्धन अपनी मृत्युशय्या पर थे तो हर्ष ने पाया कि बहुत से शाक्त चंडिका को प्रसन्न करने के लिये विभिन्न प्रकार के संस्कार कर रहे थे ।[259] चंडिका को पशु - बलि और शराब चढ़ावा देश के अनेक भागों में विद्यमान था । यहाँ तक शाक्त लोगों के मध्य मनुष्य की बलि भी असामान्य नहीं थी । एक बार जब चीनी यात्री ह्वेनसांग अयोमुख से अयोध्या जा रहा था तब उसे ठगों के द्वारा देवी दुर्गा को बलि चढ़ाने के लिये पकड़ लिया गया था, किन्तु भाग्यवश वह बच गया था ।[260] शबरों के मध्य में मनुष्य और पशु की बलि चढ़ाना एक सामान्य विशेषता थी ।[261]

शक्ति अपने अनेक प्रकार के अवतारों में पूजी जाती थी । जैसे .- गौरी, उमा, ब्राह्मणी, सरस्वती अम्बिका, कालि, इन्द्राणी, लक्ष्मी, गिरिजा आदि ।[262] देवियों में चंडिका, दुर्गा के रूप में भी जानी जाती थी ।[263] यह एक महत्वपूर्ण देवता थीं । जो सम्पूर्ण उपमहाद्वीप में अधिकता से पूजी जाती थी । दुर्गा अपने दयालु रूप में भी पूजी जाती थी । रानी विलासवती के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने फूलों, फलों और अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थों से दुर्गा की पूजा किया करती थी ।[264] अपने भयंकर रूप में वह पार्वती § हिमवत की पुत्री तथा शिव की पत्नी § के रूप में प्रतीत होती थी जिसमें उन्होंने महिषासुर का वध किया था । महिषासुर को मारने के लिये विष्णु, शिव, ब्राह्मा, इन्द्र, वरुण, सूर्य, आदि विभिन्न देवताओं के मुख से निकले हुये तेज से 'शक्ति' का उद्भव हुआ जो महिषासुरमर्दिनी के रूप में ख्यात हुई । उस देवी को सभी देवताओं ने अपने-अपने अस्त्र प्रदान किया ।[265] इस रूप में उन्हें आठ भुजाओं से युक्त तथा प्रत्येक भुजा में एक-एक पृथक शस्त्र लिये हुये दिखाया गया है ।[266] मामल्लपुरम में अनेक उभरी हुयी नक्काशियों में उनके इसी रूप को चित्रित किया गया है ।

द्रविण, शबर और चाण्डाल जाति के लोग विन्ध्यवासिनी दुर्गा के भक्त थे[267] बाण ने अपनी कादम्बरी में दुर्गा का विस्तृत वर्णन किया है ।[268] वह विन्ध्यप्रदेश के जंगली लोगों में विशेष रूप से प्रसिद्ध थीं, जो विन्ध्यवासिनी के रूप में उनकी पूजा करते थे तथा उन्हें रक्षा करने वाली देवी के रूप में मानते थे ।[269] उन्होंने उनकी प्रतिमा को मुख्य रूप से पहाड़ी गुफाओं में मन्दिरों के रूप में व्यवस्थित किया था ।[270] उनका इसी प्रकार का एक मन्दिर मिर्जापुर के समीप पहाड़ियों के एक भाग पर बना हुआ है जो विन्ध्यवासिनी के रूप में जाना जाता है । देवी भक्तों के द्वारा पशु बलि से सन्तुष्ट की जाती थी तथा कभी-कभी बीमारी से छुटकारा प्राप्त करने के लिये[271] उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये मनुष्य-बलि भी चढ़ायी जाती थी ।[272]

दण्डिन के समय दक्षिण में उनकी तुलना भयंकर तमिल युद्ध देवी कोररावई के साथ की जाती थी जो युद्ध मैदान पर मरे गये लोगों पर नृत्य करती थी तथा उनके मांस

को जाती थीं ।[273]उनकी उपाधियों के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि सात मातृका के मध्य उन्हें प्रमुख स्थान प्राप्त था, जैसे:- भगवती तथा आर्य § पुज्य तथा अम्बिका §जिन्हें तमिल में अम्मई कहा जाता था §अर्थात मा. ।[274]भगवान शिव को समर्पित मन्दिरों में भी उनकी पृथक रूप से पूजा की जाती थी ।[275]उनमें स्वतन्त्र पूजन की प्रतिमा थी,तथा देश के विभिन्न भागों में अनेक मन्दिर केवल उन्हीं को समर्पित थे ।[276]

दण्डिन ने दैवयोग से ' माँ देवियों ' का उल्लेख किया है जो संख्या में सात थीं तथा उनके बीच ब्राह्मी का विशेष रूप से उल्लेख किया है ।[277]ब्राह्मी के अतिरिक्त माहेश्वरी,कौमारी,वैष्णवी, महेन्द्री,वराही तथा चामुण्डा देवियाँ थीं ।[278]अमरकोश में भी सप्तमातृका की चर्चा की गयी है ।[279]कुमारसम्भव में इन्हें ' मातर. ' कहा गया है ।[280] सप्त मातृका देवी का प्रचलन गुप्तकाल से प्रारम्भ हुआ था यह विचार प्रमुख पुरुष देवता को शक्ति से नारी स्वरूप की शक्ति को अलग करने के विचार से उत्पन्न हुआ । माहेश्वरी को छोड़कर माँ देवी स्वतन्त्र अस्तित्व तथा अनोखा स्थान प्राप्त करने में सक्षम थीं, माध्यमिक महत्त्व के देवताओं के रूप में पूजा की जाती थी तथा एक समूह में उनकी भक्ति की जाती थी,माध्यमिक महत्त्व के देवताओं के रूप में पूजा की जाती थी ।दक्षिण भारत के मन्दिरों में इन माताओं की अनेक सुन्दर आकृतियाँ चित्रित की गई हैं ।बादामी के चालुक्य राजा ने यहां तक कहा था कि वह इनके द्वारा पाले-पोसे गये थे ।[281]शास्त्रीय संस्कृत लेखकों ने भी इन स्त्री -देवताओं की चर्चा की है ।[282]

इसी प्रकार की एक अन्य देवी ' षष्ठीपुत्रिका ' थी जो बच्चों की देवी माँ के रूप में अनुमानित की गयी थी । एक बच्चे के जन्म के समय उसकी प्रतिमा की पूजा की जाती थी, बाण ने भी इसे प्रमाणित किया था ।[283]महाभारत में भी इनका उल्लेख एक माँ के रूप में मिलता है जो स्कन्ध की देखभाल करती है ।[284] कुछ अन्य देवियों जैसे:-'लक्ष्मी ',' सरस्वती ' तथा 'पार्वती ' का उल्लेख दण्डिन ने भी किया है । इनमें से ' लक्ष्मी ' विष्णु की पत्नी के रूप में अनुमानित की जाती थी तथा स्वास्थ्य और उत्तम भाग्य की देवी के रूप में भी अधिक प्रसिद्ध हैं ।[285]लक्ष्मी सावित्री और सरस्वती ब्रह्मा से सम्बन्धित

थी ।[286]एकनामसा के रूप में, शक्ति कृष्ण और बलराम की बहन के रूप में जानी जाती थी ।[287]लक्ष्मी के विषय में यह कहा जाता है कि वह क्षिर समुद्र से निकलने वाले रत्नों में से एक है ।[288]वे हमेशा अपने हाथ में एक कमल रखती है जो धन और सुन्दरता दोनों का प्रतीक है ।[289]वह प्राय: साहित्य में अपनी चंचलता और अविवेक[290]के लिये दोषी ठहरायी जाती थी । यह इस बात का प्रतीक है कि विष्णु की पत्नी के रूप को छोड़कर पूजा का उद्देश्य नहीं बनती है । ब्रह्मा की पुत्री 'सरस्वती' को शिक्षा और भाषण की सर्वदेवी के रूप में प्रदर्शित किया गया है ।[291]काव्यादर्श के प्रारम्भ में दण्डिन द्वारा उनकी प्रार्थना की गई थी । नणिक्षिप्प्हई में उनके एक मन्दिर का उल्लेख मिलता है ।[292]साहित्य में उन्हें लक्ष्मी के विरोधी के रूप में दिखाया गया है क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति धन से विरत रहते हैं और धनी व्यक्ति विद्या से वंचित रहते हैं ।[293]एक अन्य देवी पृथ्वी {भूमि} थी[294]जो एक अमुख्य देवी थी तथा जिनकी पृथक से पूजा नहीं होती थी ।

शिव की पत्नी गौरी थी,वह पार्वती अथवा उमा के रूप में भी जानी जाती थीं । एक सिंह का सिंहासन उनका आसन समझा जाता था ।[295]एक सिंह का 'अर्धनारीश्वर' रूप के बायें भाग का भी निर्माण करती थी, शिव के सिर का चन्द्रमा उनके बालों को रोशनी देता था ।[296]बाण के अनुसार पार्वती एक पर्वतारोही की पौराणिक पहचान थी और हिमालय पर्वत की पुत्री के रूप में जानी जाती थी ।वह राक्षसों के एक संहारक के रूप में जानी जाती थीं ।और उनकी सवारी के रूप में एक सिंह था ।[297]अपने पूर्वजन्म में वह शक्ति के रूप में जानी जाती थी ।रूद्रा की अर्धांगिनी के रूप में वह महाकाली,चंडिका, चामुण्डा,महामारी आदि के रूप में जानी जाती थी ।अनेक प्रकार के स्थानीय और जाति सम्बन्धी धार्मिक नाम दुर्गा से मिलते -जुलते थे जैसे:- कात्यायनी,कौशिकी,कालिका,विन्ध्यवासिनी,रक्तदंतिका,शताक्षी,शाकम्भरी,भीमा और भ्रामरी ।[298]

682 ईसवी के पारमलाता के वसंतगढ़ अभिलेख में शक्ति की दुर्गा के रूप में प्रार्थना की गयी थी ।[299] 289 ईसवी के दधिमती के अभिलेख में वह दधिमाता के अभिलेख में वह दधिमाता के रूप में जानी जाती थीं ।[300]सिरोही राज्य में वसंतगढ़ के अभिलेख में

उल्लेख मिलता है कि 682 ईसवी क्षेमक अथवा क्षेमार्य ने स्वास्थ्य देवी के सम्मान में एक मन्दिर बनवाया था ।[301] शाकम्भरी देवी, उनका प्रधान मन्दिर सम्बहर में था ।[302] वसुधरा देवी का सातवीं शताब्दी का एक मन्दिर डूंगरपुर राज्य में है ।[303] ह्वेनसांग ने गान्धार के उत्तर - पूरब में लगभग 50 मील पर भीमा देवी की एक मूर्ति का उल्लेख किया था । इस मूर्ति ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी और देवी की एक स्वाभाविक मूर्ति के रूप में विश्वास की जाती थी जो आश्चर्यजनक कार्य करती थी ।[304] बाण ने बताया है कि वह जब हर्ष के दरबार में जा रहा था, उसने एक बगीचे को पार किया था । बगीचे के द्वार पर पेड़ थे, जिस पर कात्यायनी देवी की आकृतियां खुदी हुयी थीं ।[305] महाश्वेता के आश्रम से जब चन्द्रापीड उज्जैन लौट रहा था तो उसने जंगल में एक लाल झण्डा देखा था जिसके समीप चंडिका का एक मन्दिर था ।[306]

हिन्दुओं के अन्य प्रमुख देवता

गणेश :- छठी शताब्दी में गणेश की पूजा उन्नति के शिखर पर थी । पुराणों में गणेश देवताओं के शैव समूह से मिलाये गये थे ।[307] शिव और पार्वती के एक अन्य पुत्र ' गणनायक' {गणों का प्रधान, शिव के समीप रहने वाले} थे, जो एक भगवान के रूप में श्रद्धा प्राप्त करते थे ।[308] इनके अनेक नाम थे जैसे :- विनायक, वक्रतुंडा, एकदंता, गणपति, विघ्नेश्वर, अखुराया, सिद्धिदाता, हेरम्ब, लम्बोदर, देवेदेहक, गजानन और भोला, गणपति ।[309] यद्यपि प्रारम्भिक समय में वह अपने भाई स्कन्ध की अपेक्षा कम प्रसिद्ध थे । वह एक टूटे दांत के साथ एक हाथी का सिर धारण किये हुये भगवान के रूप में भी अनुमानित किये जाते थे तथा बाधाओं को दूर करने वाले देवता के रूप में भी माने जाते थे और इसलिये विघ्नविनायक कहे जाते थे ।[310] बाण ने भी विघ्न के देवता ' के रूप में गणेश का वर्णन किया है जिन्होंने लोगों के उद्देश्यों की पूर्ति में बाधाओं का सृजन किया था ।[311] बराहमिहिर ने गणेश का वर्णन हाथी का चेहरा लिये हुये, एक लम्बा पेट, हाथ में एक छोटी कुल्हाड़ी, एक दांत और एक मूली लिये हुये रूप में वर्णन किया है ।[312] अपने विघ्नविनायक के रूप के कारण उन्हें अधिक प्रशंसा प्राप्त हुयी तथा प्रतिदिन उनकी पूजा की जाती थी और सभी कार्यों को प्रारम्भ करने

के पूर्व बाधाओं को दूर करने के लिये उनकी प्रार्थना की जाती थी । अनेक गुप्तकालीन तथा उत्तरगुप्तकालीन मूर्तियों में उन्हें खड़े, बैठे तथा नृत्य की स्थितियों में दिखाया गया है ।[313] भवभूति (आठवीं शताब्दी ईसवी) ने अपने मालतीमाधव में गणेश का वर्णन इस प्रकार किया है कि " विनायक के सिर के हिलने से लम्बे गर्जन की आवाज के साथ तुम्हारी रक्षा होगी ।"[314] उनके समकालीन वाक्पति के मध्य में गणेश का वर्णन किया है।[315]

कार्तिकेय :-
=======
मुख्य रूप से पूजे जाने वाले भगवान, शिव और पार्वती के पुत्र स्कन्ध (कार्तिकेय) थे । हिन्दू समाज में स्कन्ध की पूजा शिव के साथ भी होती थी तथा स्वतन्त्र रूप से भी । छः चेहरे वाले भगवान कार्तिकेय युद्ध के देवता थे । वह 'स्कद', 'कुमार', 'महासेन' 'गुह' आदि के रूप में भी जाने जाते थे ।[316] एक अन्य परम्परा के अनुसार वे शिव के पुत्र थे, जो पहले छ: अलग-अलग शरीर धारण करते थे तत्पश्चात गुप्त रूप से एक अद्भुत रूप में संयुक्त हो जाते थे जिसमें छ: हाथ और मुंह एक साथ (छ: कृतिका) होते थे तथा इस प्रकार वे अपने मुख्य नाम कार्तिकेय द्वारा जाने जाते हैं ।[317] वह 'कुमार' (राजकुमार), 'गुहा' (एक गुप्त स्थान में उनका पालन पोषण हुआ था) तथा 'शक्तिधर' (शक्ति का प्रबन्ध करने वाला, जो उनका शस्त्र था) के नामों से भी जाने जाते थे ।[318] पुराणों में स्कन्द के विषय में विस्तृत विवरण पाया होता है ।[319] ब्रह्माण्डपुराण के एक स्थल पर उल्लिखित है कि शिव और पार्वती के संयोग से स्कन्द का जन्म हुआ था ।[320] मत्स्य पुराण की एक कथा के अनुसार अग्नि द्वारा रति में विघ्न उपस्थित करने के कारण शंकर के तेज का अंशारा पार्वती को न मिलकर 'आश्रम में स्थापित हो गया था, जो सरोवर बन गया । एक दिन - पार्वती ने उस सरोवर का जल पी लिया जिससे स्कन्द का जन्म हुआ ।[321] नीलमत पुराण में उनकी एक विशेष पूजा का उल्लेख मिलता है जिसमें बच्चों के अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये चद्रमास चैत्र के सोलहवें दिन कार्तिकेय को फूलों की माला, चंदन, आभूषण, भोजन, कुक्कुट इत्यादि चढ़ाये जाते थे ।[322] वह बच्चों के विशेष भगवान के रूप में भी समझे जाते थे, एक बच्चे के जन्म पर अन्य दूसरे भगवानों के साथ उनकी भी एक उत्सवी पूजा की जाती थी ।[323]

दक्षिण में, उनके गुणों की तुलना मुरुगन के साथ की गयी थी, जो प्राचीन तमिलों के मुख्य देवता थे, वे मुख्यतया 'स्वामिन' {गणों के नायक} तथा 'सुब्रह्मण्या' {ब्राह्मणों के लिये बहुत दयालु} के रूप में भी जाने जाते थे। उनकी इन उपाधियों का उल्लेख दण्डिन ने भी किया है।[324] उनकी पौराणिक उपलब्धियों का उल्लेख प्रायः तमिल देश के साहित्य में मिलता है जहाँ उनकी पूजा बहुत अधिक होती थी तथा संगमकाल तथा उत्तर संगमकाल दोनों में ही उनकी प्रसिद्धि दूर - दूर तक फैली हुयी थी।

बाण ने बताया है कि कार्तिकेय के द्वारा क्रौंच पहाड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये थे।[325] वह कार्तिकेय के सम्मान में बनाये गये एक मन्दिर का उल्लेख करता है[326] बराहमिहिर ने कार्तिकेय की एक प्रतिमा का वर्णन किया है जिसमें वह एक लड़के की तरह दिखाई दे रहे हैं और अपने हाथ में एक शक्ति लिये हुये हैं; वह अपने चिन्ह के रूप में एक मोर रखते थे।[327] दण्डिन ने भगवान स्कन्ध को समर्पित मन्दिरों का उल्लेख किया है जहाँ लोग भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते थे तथा सन्तान प्राप्ति के लिये अथवा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिये अधिकता से सन्तुष्ट किये जाते थे।[328]

बलराम :-

बलराम अथवा हलधर कृष्ण के बड़े भाई थे। अपने हल से यमुना को खोदते हुये और गहरे नीले रंग के वस्त्र पहने हुये तथा तेज शराब पीने के कारण उत्तेजित रूप का वर्णन बाण ने किया है।[329] वराहमिहिर ने भी इनका वर्णन इसी प्रकार किया है और यह जोड़ा है कि वह कुंडल पहनते थे और उसका रंग शंख, चन्द्रमा, और कमल की तरह सफेद था।[330]

बौद्ध देवता :-

बौद्ध देवता, चन्द्रमा विशेष अवसरों पर उनकी पूजा की जाती थी, तथा अन्य ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारों के साथ उनकी भी प्रार्थना की जाती थी।[331] विशेष अवसरों पर भगवान इन्द्र, वरूण, कुबेर तथा यम के साथ उनकी भी पूजा की जाती थी[332] तथा जो क्रमशः पूरब, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण के शासक के रूप में अनुमानित किये जाते थे। चार अन्य शासक चन्द्रमा, हवा, आग और सूरज, जो क्रमशः उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण - पूरब और दक्षिण पश्चिम के अभिभावक के रूप में माने जाते थे।[333] अनेक ब्राह्मण मन्दिरों की बाहरी दिवारों के विभिन्न भागों पर खुदी हुयी उनकी आकृति पायी गयी है।[334]

काम :-
==== काम,प्रदयुमन के नाम से भी जाने जाते थे । ये प्रेम के देवता थे ।वराहमिहिर ने एक सुन्दर शरीर धारण करने वाले और अपने हाथ में धनुष लिये हुये रूप में काम का वर्णन किया है ।उनकी पत्नी अपने हाथ में एक तरकस और एक तलवार लिये हुये उनके एक तरफ दिखायी गयी है ।[335]काम के सम्मान में एक त्योहार कामोत्सव आयोजित किया जाता था ।[336]भवभूति ने अपने नाटक मालतीमाधव में भी कामदेव की मूर्ति के विषय में बताया है ।[337]

वरूण :- पुराणों के अनुसार वरूण पश्चिमी दिशा के अभिभावक थे ।वराहमिहिर ने एक राजहंस पर बैठे हुये तथा एक सरकने वाला फन्दा लिये हुये वरूण का वर्णन किया है ।[338] मूर्तियों में उन्हें एक मगरमच्छ पर खड़े हुये चित्रित किया गया है ।भुवनेश्वर में राजधानी मन्दिर के तरफ के टुकड़े में दो भुजाओं वाले भगवान खड़े हुये चित्रित हैं जिसमें अपने दाहिने हाथ में एक रस्सी का फन्दा और बायें हाथ में एक वरद मुद्रा लिये हुये हैं ।[339]

अग्नि :- वराहमिहिर ने अग्नि के विभिन्न नामों का उल्लेख किया है जैसे :- अग्नि, दहन,हुताभुज,हुतावह,हुताशा और अनल ।[340]अग्नि को दक्षिणी पूर्वी दिशा का अभिभावक माना जाता था जिसे अग्नेय के नाम से जाना जाता है ।[341]पहाड़पुर की चित्रकारी में दो भुजाओं के साथ मात्र अग्निशिखा अग्नि के शरीर से निकलते हुये एक तरफ दिखाया गया है और वह अपने दायें हाथ में कमल और बायें हाथ में कमण्डल लिये हुये है ।[342]

रैवन्त :-
===== पौराणिक कथाओं में रैवन्त सूर्य के पुत्र माने जाते थे । रैवन्त भगवान सूर्य के अनेक गुणों से युक्त थे ।बृहत्संहिता में इन्हें घोड़े की पीठ पर चढ़े हुये और अपने साथियों के साथ शिकार के खेल में व्यस्त दिखाया है ।[343]

इन्द्र :- इन्द्र को पूर्व के रक्षक अभिभावक के रूप मे माना गया था ।वराहमिहिर के अनुसार एक चार दांत वाला सफेद हाथी उनकी सवारी के रूप में,उनके आयुध के रूप में वज्र और एक तीसरी आँख उनके मस्तिष्क में क्षितिज की दिशा में विराजमान थी ।[344] इन्द्र की एक प्रस्तर प्रतिमा पहाड़पुर में पायी गयी है ।[345]इन्द्र के सम्मान में एक त्यो-

द्वारा आयोजित किया जाता था और प्राचीन समय के अनेक राजाओं के द्वारा मुख्यतः मनाया जाता था । यह त्योहार भाद्रपद के उज्ज्वल आधे के आठवें दिन प्रारम्भ होता था और इसी महीने के अन्धकारपूर्ण अंधेरे की पहली को समाप्त होता था ।[340]

गंगा और यमुना :- गंगा और यमुना भारत की दो प्रसिद्ध नदियाँ थी और आकृति द्वारा रचित प्राकृत कविता गौड़वहो में उनकी पूजा की गयी थी ।[347]

यम :- यम को दक्षिण दिशा का अभिभावक माना जाता था । पौराणिक कथाओं में वह मृत्यु और क्रोध के देवता समझे जाते थे ।[348]उनका भयानक किला भैंसों से भरा होता था और उनमें से एक भैंसा जिसके कान घुमावदार होते थे वह यम की सवारी बनता था ।[349] वृहत्संहिता में इनका उल्लेख भैंसे पर बैठे हुये और अपने हाथ में गदा लिये हुये रूप में वर्णन मिलता है ।[350]

कुबेर :- कुबेर धन के देवता थे । वे यक्षों के राजा और उत्तरी दिशा के अभिभावक भी माने जाते थे । वृहत्संहिता में बताया गया है कि कुबेर पेट का कठीन है, उनकी सवारी के लिये एक आदमी है, उसके सिर पर एक किरीट (ताज) रखा है और जो बायें ओर झुक गया है ।[351]

नवग्रह :- नौ ग्रहों को नवग्रह समझा जाता था । वे बहुत प्राचीन समय से ही पूजे जाते थे किन्तु सातवीं शताब्दी में ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन की उन्नति से उनकी पूजा में विशेष रूप से वृद्धि हुई ।[352]ग्रह, मनुष्य में नक्षत्र सम्बन्धी शक्तियों के रूप में रहते थे और उन्हें कमजोर बनाते थे ।[353]

नागा :- दुष्ट भूतों में प्रमुख थे, नागा अर्थात सांप आत्मा, जो भोगवती के निचले शहर में रहते थे, तथा महान खजाना सुरक्षित रखते थे ।[354]पौराणिक कथाओं में नागा को आधा ईश्वरीय जीव माना जाता था । अति प्राचीन समय से ही भारत में प्रचलित थी, जो बाद में धर्मपरायण व्यवस्था में एक परिवर्तित रूप में जुड़ गई थी । नागा की माता कादरू के नाम से जानी जाती थी ।[355]उनके राजा शेष अथवा अनन्त के रूप में जाने जाते थे ।[356]

नागों में अति ख्याति प्राप्त शेष अथवा अनंत थे, पौराणिक कथाओं में उन्हें सृष्टि-निर्माण के मध्यान्तर पर विश्राम करते हुये विष्णु के पलंग तथा वदंपा के रूप में दिखाया गया है।[357]

पूजा विधि

नवीन ब्राह्मण व्यवस्था में प्रत्यक्ष रूप से यज्ञों के स्थान पर पूजा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। पूजा के इसी नये स्वरूप के कारण भक्ति की भावना जागृत हुई। भक्ति का विचार प्यार और आत्मीयता के अनुभव द्वारा उत्पन्न हुआ। नयनारों एवं अलवारों, तमिल शैव तथा वैष्णव सन्तों के भक्तिपूर्ण भजनों में यह भावना दिखाई देती है जिसने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण भारत की धार्मिक विचारधारा को प्रभावित किया तथा बाद में इसने उत्तर के धार्मिक जीवन पर भी प्रभाव डाला।[358]जहाँ भागवतपुराण में इस-ने उच्च साहित्यिक वर्णन प्राप्त किया था। दण्डिन ने इस प्रकार की भक्ति भावना का उल्लेख विष्णु, शिव और दुर्गा के सम्बन्ध में एक से अधिक बार किया है[359]जो सम्पूर्ण भारत में अधिकता से पूजे जाते थे।

पूजा की सामान्य रीति में प्रातःकाल सूर्य से प्रार्थना की जाती थी तथा आग की पूजा की जाती थी,[360]तथा इसके अन्तर्गत भगवान की प्रतिमा के सामने झुकना, प्रार्थना करना, उसे एक आसन पर बैठाना, धन्यवाद देना, मुँह धोने के लिये तथा पैरों को साफ कर-ने के लिये उन्हें जल देना, उन्हें फूल और सुगन्ध अर्पित करना उनके सामने दिया जलाना त-था उनको देने के लिये भोजन तथा बलि तैयार करना,[361]तथा उनके चारों ओर चक्कर लगाना सन्निहित था।[362]

भगवानों की पूजा के लिये ताजे फूल तथा खिले हुये विभिन्न रंगों वाले कमल के फूल अधिक पसन्द किये जाते थे, जैसे:- सामान्यत. विष्णु को सुनहरे कमल, शिव को एक सफेद कमल तथा सूरज को लाल कमल चढ़ाया जाता था।[363]ऐसा प्रतीत होता है कि मंदि-रों में नियमित रूप से मूर्तियों के रख-रखाव के लिये सहायक हुआ करते थे, उदाहरण के लिये विन्ध्यजंगल में एक चंडिका मंदिर में एक महिला सेविका §देवालिका§ का उल्लेख हमें मिलता है।[364]

देवताओं के सम्मुख धार्मिक कार्यों के साथ भक्तिपूर्ण नृत्य एवं गीत भी प्रस्तुत किये जाते थे,तथा दशकुमारचरित में इस रीति का उल्लेख मिलता है ।उदाहरण के लिये चम्पा की एक वेश्या द्वारा शिव को संगीतमय पूजा अर्पित करने का उल्लेख मिलता है[365] दामलिप्त राजकुमारी कन्दुकवती द्वारा एक पवित्र सेवा के रूप में कन्दुक नृत्य का प्रयोग विन्ध्यवासिनी देवी के लिये भी किया गया था ।[506]दशकुमारचरित में ही अन्य भगवानों के साथ विष्णु और ब्रह्मा के लिये भी इसी प्रकार की गई सेवा का उल्लेख मिलता है।[507]उत्तर संगमकाल की महाकाव्य सम्बन्धी कविताओं में बहुत प्राचीन समय से भगवान के सम्मान में की जाने वाली इस प्रकार की सेवाओं का उल्लेख मिलता है । विशेषकर भगवान स्कंद की पूजा में, उनके सम्मान में एक आनन्ददायक नृत्य (वेदाक्कल) प्रस्तुत किया जाता था ।[508]दण्डिन की कृतियों में इच्छित देवता के नाम का जाप करने अथवा भजनों को गुनगुनाने की रीति का उल्लेख मिलता है,तथा भगवान का स्मरण करने के लिये जप की माला के प्रयोग की प्रथा प्रचलित थी ।[509]

शुभ अवसरों पर विशिष्ट ढंग से पूजा कर्म किये जाते थे,तथा किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले अच्छे शगुन के लिये देवताओं की प्रार्थना की जाती थी ।जब राजकुमार युद्ध में अपने शत्रुओं से मिलने जाता था, तो इसके पूर्व वह पवित्र जल में स्नान करता था, प्रात.कालीन प्रार्थना का जप करता था, सूर्य का अभिवादन करता था,अनेक प्रकार के देवताओं तथा देवी चंडिका की पूजा करता था,अग्नि यज्ञ करता था तथा पवित्र मांगलिक पदों को गाता था । वह रक्षा के लिये ताबीज पहनता था,अच्छे शगुन के लिये कपड़े धारण करता था, संहार और सुरक्षा में सहायक उपकरणों को धारण करता था तथा विजयी भजनों में विशेषकर ' अपरातीर्थी '[570]एवं '.सौपर्णी '[571](पवित्र ब्राह्मणों द्वारा गाये जाने वाले सूक्त) का गान करता था ।[572]अपनी प्रादेशिक विजय के लिये प्रस्थान करते समय राजकुमार राजवाहन द्वारा भी इसी प्रकार के कार्य किये गये थे ।[573]

विभिन्न देवता कभी -कभी कुछ विशेष उद्देश्य से पूजे जाते थे, जैसे .- युद्ध में सुरक्षित विजय प्राप्त करने के लिये, सन्तान प्राप्त करने के लिये,ज्ञान प्राप्त करने के

लिये तथा एक शत्रु अथवा एक महामारी को दूर करने के लिये,एक विशेष प्रकार का धार्मिक कार्य अपनी इच्छापूर्ति के लिये किया जाता था जो 'प्रतिशयन' कहलाता था जिसमें भक्त लोग बिना भोजन ग्रहण किये हुये मुंह के बल भगवान के सामने तब तक लेटे रहते थे जब तक उनकी इच्छा पूर्ण नहीं होती थी ।[374] यह प्रथा बहुत पुरानी प्रतीत होती है तथा इसका संगम साहित्य में उल्लेख मिलता है ।[375] बाण ने भी अपनी गद्य रचनाओं में देव पूजा की इस रीति की चर्चा की है ।[376] इस प्रथा की उत्पत्ति उस सामाजिक रीति के फलस्वरूप हुई जिसमें एक राजा या उच्चाधिकारी से किसी इच्छा को मनवाने के लिये मृत्यु तक उपवास रखने की बात कही जाती थी । इसका प्राचीन उल्लेख रामायण में मिलता है तथा बाण एवं दण्डिन ने भी इस रीति का उल्लेख किया है ।[377]

हिन्दुओं की प्रसिद्ध पूजा अलौकिक उपदेवताओं तथा विभिन्न आकृतियों की शक्तियों में भी विश्वास करती थी । एक स्थानीय देवता अथवा देवी का सामान्य विचार एक घर,गाँव अथवा शहर,पानी,पेड़,बगीचा,जंगल अथवा चुटी पर अधिकार किये हुये था यह प्रसिद्ध विश्वास का एक महत्वपूर्ण पहलू था ।[378] वे देवता उन लोगों की रक्षा करते थे जो नियमित रूप से उनकी पूजा करते थे तथा उपर्युक्त स्थानों की यात्रा करने पर उनकी सहायता करते थे ।

विभिन्न उपदेवताओं के मध्य गन्धर्वों और अप्सराओं के साथ,उनके परिवार, भगवानों के संगीतकार तथा इन्द्र के स्वर्ग में निवास करते थे ।[379] विशेष कर बच्चे के गर्भधारण तथा जन्म पर अनेक अन्य देवताओं के साथ विशिष्ट धार्मिक कार्यों द्वारा इनकी भी पूजा की जाती थी,[380] क्योंकि वे गर्भधारण के प्रमुख देवता समझे जाते थे । उनके साथ स्वर्गीय संगीतकारों के रूप में किन्नर जुड़े होते थे,यह घोड़ों के सिरों तथा मानवीय धड़ों से युक्त विचित्र जीव थे तथा किन्न पुरुष,जो मानवीय खोपड़ियों तथा घोड़ों के शरीरों से युक्त होते थे ।[381] उपदेवताओं का दूसरा समूह 'विद्याधरों' {जादुई शक्तियों को धारण करने वाले} का था,जो हिमालय के जादुई नगरों में निवास करते थे ।[382] वे हवा में उड़ सकते थे और अपनी इच्छा से अपना रूप बदल सकते थे ।[383] वे सामान्यतया मनुष्य के शुभ

के लिये क्षण भर दिखाई पड़ जाते थे तथा गर्भ में धारण किये हुये बच्चे के लिये गन्धर्वों तथा सिद्धों के साथ उनकी भी प्रार्थना की जाती थी।[384] उपदेवताओं का दूसरा समूह सिद्ध था, जो अपनी रहस्यता तथा सिद्धि एवं अपनी आठ अलौकिक सिद्धियों की पूर्णता के लिये भी जाना जाता था।[385]

सप्तऋषि पौराणिक महात्मा थे, जिनके नाम इस प्रकार है:- मारीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलाहा, रातू और वशिष्ठ, बाद में उनकी तुलना महान शिक्षकों के सात तारों से की जाने लगी थी।[386] अन्य महात्मा जो देवताओं से जुड़े थे, वे कश्यप, बृहस्पति तथा अगस्त्य[387] महात्मा अगस्त्य के विषय में कहा जाता था कि इनका जन्म एक पानी वाले घड़े में हुआ था,[388] इन्होंने समुद्र को निगल लिया था तथा विन्ध्य पर्वत को अपने सामने झुकने को मजबूर किया था।[389] पौराणिक कथायें प्रत्यक्ष रूप से दक्षिण पर उनकी विजय तथा उनके द्वारा आर्यवाद फैलाने का प्रमाण देती है, और तमिल साहित्य में उन्हें द्रविड़ों के संरक्षक साधु के रूप में दिखाया गया है। पौराणिक परम्परा उन्हें तमिलों के प्रथम व्याकरण का लेखक बताती है बाद में वह विशेष रूप से पाण्ड्य राजवंश के शासक के साथ उनके प्रथम राजा के शिक्षक के रूप में जुड़े हुये थे, तथा वह अगीतमय तथा तमिल संस्कृति के पिता के रूप में भी जाने गये थे।[390] वह अपनी पत्नी के साथ मलय पर्वत पर निवास करते हुये दिखाये गये हैं, और वह गृहस्थ जीवन के साथ सन्यास जीवन को जोड़ने के लिये जोर देते थे।[391] उनकी पत्नी लोपामुद्रा भी सत्कार प्राप्त करती हुयी दिखाई देती है, वह विशेष रूप से स्त्री समूह द्वारा श्रद्धा प्राप्त करती थी।[392]

दुष्ट भूतों के भी कुछ प्रमुख वर्गों का उल्लेख मिलता है:- 'नागा' के अतिरिक्त 'यातुधान' राक्षसों का एक वर्ग था जो खूनी युद्ध पर अति आनन्द मनाते थे तथा मृत शत्रुओं को खाते थे।[393] पिशाच मृत व्यक्ति के भूत के रूप में अनुमानित किये जाते थे जो अपने पूर्व के शत्रुओं से बदला लेने के लिये यह रूप धारण करते थे।[394] वे कभी-कभी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाते थे या एक ही स्थान पर इधर-उधर घूमते रहते थे।[395] राक्षस 'दानव होते थे, जो कभी-कभी पुतरों के शरीरों में बस जाते थे और उन्हें पीड़ित करते थे।[396] वे भी अपनी इच्छानुसार अपना रूप बदल लेते थे, और स्त्रियों को सुनसान जगहों से उठाकर

ले जाते थे जहां वे प्राय: रहते थे ।[397] ब्रह्मराक्षस,यह वास्तव में ब्राह्मणों के भूतों के रूप में अनुमानित किये जाते थे जो अपवित्र जीवन व्यतीत करते थे,दण्डिन की कृतियों में इन्हें असाधारण शक्ति से पूर्ण राक्षस की तरह दिखाया गया है । यह प्राय: सुनसान द्वीपों अथवा जंगली क्षेत्रों में घूमते रहते थे ।[398]नवीं शताब्दी ईस्वी में एक कामाक्षी मंदिर में खुदी आकृतियों से ब्रह्मराक्षस द्वारा कुछ रानियों को पकड़ने का उल्लेख मिलता है ।[399]बेताल एक रुधिर पीने वाला प्रेत था जो मृतक शरीरों में अपना घर बना लेते थे तथा जब नींद से जागता था तो लोगों को नुकसान पहुंचाता था ।[400]

यक्ष, कुबेर से उनके सहायक के रूप में जुड़े रहते थे,वह प्राय: स्त्री समूह के शरीरों को धारण किये हुये दिखाये जाते थे तथा अपने प्रेमी की हत्या करता था या उन्हें परेशान करता था ।[401]यद्यपि पूर्वकालीन पौराणिक कथाओं में उन्हें पुरूषों के मित्र के रूप में दिखाया गया है,और दण्डिन ने एक यक्षिणी तारावली का उल्लेख किया है जो अर्थपाल की माँ थी ।[402]

बौद्ध धर्म

महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्ध धर्म अत्यधिक लोकप्रिय धर्म बन गया था ।तत्कालीन धार्मिक जीवन में बौद्धों के विषय में विदेशी स्रोत हमें विस्तृत सूचना देते हैं ।ह्वेनसांग तथा ईत्सिंग जैसे चीनी यात्रियों ने समय-समय पर भारत की यात्रा की थी ।उस समय बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्त था -हीनयान और महायान ।[403]ईत्सिंग ने महायान के दो विद्यालयों की स्थिति का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है - माध्यमिक और योगाचार ।[404]माध्यमिक के दर्शन का मुख्य विचार शून्यता § विश्व के सम्बन्धित जीव § था ।[405]योगाचार विद्यालय ने उच्चतम सत्य को प्राप्त करने के अर्थ के रूप में योग अथवा ध्यान के आचरण पर बल दिया था । इसे विज्ञानवाद भी कहा जाता था क्योंकि उनका विश्वास था कि बाह्य उद्देश्य असत्य है किन्तु हमारा अनुभव इसे सत्य के रूप में मानता है ।[406]इस विद्यालय के दो महान शिक्षक सातवीं शताब्दी में थे धर्मपाल और धर्मकीर्ति ।

ईत्सिंग ने मुख्य रूप से हीनयान के विषय में एक विस्तृत विवेचन दिया है । ईत्सिंग ने हीनयान के अठारह उप विद्यालयों का उल्लेख किया है जो चार निकायों के

समूह के अन्तर्गत विभाजित थे,जो निम्नलिखित है.-आर्य महासंघिका-निकाय- जो सप्तविद्यालयों में विभाजित था ;स्थाविर निकाय -जो तीन विद्यालयों में विभक्त था ;आर्य -मूलसर्वास्तिवाद -निकाय- जो चार विद्यालयों में विभाजित था और आर्य सम्मितीय निकाय -जो चार विद्यालयों में विभक्त था ।[407]ह्वेनसांग के भारत भ्रमण के दौरान,सम्मितीय विद्यालय बहुत प्रचलित थे ।उसने अपनी उपस्थिति में अहिच्छत्रा,संकिसा,हयामुखास,विशोक, श्रावस्ती,कपिलवस्तु,वाराणसी,वैशाली,कर्णसुवर्ण,मालवा,सिन्ध,कच्छ,हैदराबाद और अवंत में सम्मितीय विद्यालय विद्यमान देखे थे[408]लगभग 50 वर्ष बाद ईत्सिंग ने भी देखा था कि लाट सिन्धु तथा मगध में इनके विद्यालय बहुत प्रसिद्ध थे तथा दक्षिण भारत में इनके कुछ अनुयायी थे ।[409]आर्यमूल सर्वास्तिवाद मध्य तथा उत्तरी भारत में बहुत प्रसिद्ध था,इसके अनुयायी लाट तथा सिंध में कम तथा दक्षिण में बहुत ही कम थे ।[410]महासंघिका मुख्यत: मगध§मध्यभारत§ में पाया जाता था ।[411]स्थाविर विद्यालय दक्षिण भारत में बहुत प्रसिद्ध थे ।[412]ईत्सिंग का विचार है कि "यह चार विद्यालय महायान के साथ थे या हीनयान के साथ,यह निश्चित नहीं है ।"[413]सम्भवत: ईत्सिंग के द्वारा इसका अर्थ यह होता है कि महायान के सम्पर्क में आने के बाद हीनयान के अठारह विद्यालयों की परम्परा प्रारम्भ हुई या इस प्रथा के सभी उदाहरणों का अध्ययन अपने नियमों के साथ करते थे ।[414]उनमें बहुत सारे अन्तर थे किन्तु उनके आवश्यक लक्षण एक जैसे थे ।[415]ईत्सिंग के अनुसार,सभी में सामान्य था," पांच स्कन्धों §दोषों का समूह§ का निषेध तथा चार आदर्श सत्यों का पालन करते थे ।"[416]

सर्वास्तिवेदिन बौद्धों के मध्य सत्यवादी थे । शंकराचार्य के अनुसार सभी बाह्य और आन्तरिक चीजें ज्ञान और अनुमान के अर्थ के द्वारा प्रमाणित की जा सकती है ऐसा उनका विश्वास था ।[417]इन विद्यालयों का सूत्रों की अपेक्षा विभाषा अथवा टीकाओं पर अधिक अधिकार था,इसलिये ये वैभाषिक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुये ।[418]आर्यस्थाविरवाद अथवा थेरवाद सबसे पुराना था और बहुत ही कट्टरवादी विद्यालय था इसने गौतम को ईश्वरीय शक्तियों से भरा हुआ ऐतिहासिक पुरूष माना था ।[419]

उस समय देश के विभिन्न भागों में बौद्धों के मठ स्थित थे ।ह्वेनसांग के भारत भ्रमण के दौरान,कन्नौज में 100 मठ थे जहां 1000 से अधिक लोग रहते थे जिसमें दोनों -

सम्प्रदायों के विद्यार्थी थे ।[420]अयोध्या में भी लगभग 100 मठ थे जिसमें लगभग 3000 सन्यासी रहते थे ।[421]पुराङ्कर्मन में 20 संघाराम थे जिसमें दोनों सम्प्रदायों के लगभग 3000 अनुयायी थे ।[422]समतट में 30 बौद्ध मठ थे । जहाँ 3,000स्थाविर थे ।[423]कर्णसुवर्ण में लगभग 10 मठ थे जहाँ लगभग 2000साधु थे ।जलन्धर,मथुरा,साकेत,और उज्जैनी हीनयान और महायान के अन्य महत्वपूर्ण केन्द्र थे ।[424]दण्डिन ने बौद्ध मठों का भी उल्लेख किया है जो हर स्थिति में एक स्थानों पर होते थे और इसलिये ये कभी -कभी कुख्यात कार्यों की गुफा भी होती थीं ।[425]

हर्ष बौद्ध धर्म का एक महान उपासक था ।चीनी यात्री ह्वेनसांग के द्वारा बताया गया है कि हर्ष ने महायान के सिद्धान्तों को प्रसिद्धि प्रदान करने के उद्देश्य से कन्नौज में एक प्रसिद्ध महासभा का आयोजन किया था ।[426]किन्तु यात्रियों के संग्रह से प्रगट होता है कि बौद्ध धर्म पतन की ओर था ।[427]गान्धार में 100 मठ थे किन्तु वे लगभग नष्ट हो गये थे । बौद्ध का पवित्र कटोरा जो पहले गान्धार में पूजा जाता था वह अन्य देशों को चला गया था ।[428]उद्यान में भी स्थिति बुरी थी,वहाँ पूर्वकाल में 1,400 मठ थे किन्तु उनमें से बहुत अब नष्ट हो चुके हैं तथा यहाँ तक एक बार 18,000भाई थे किन्तु धीरे-धीरे नष्ट हो चुके थे जबकि कुछ शेष रह गये थे ।[429]तक्षशिला में "यद्यपि वहाँ असंख्य मठ थे , उनमें बहुत सारे खाली पड़े थे ।"[430]कश्मीर की राजधानी के निकट सभी पाँच मठों,जो पन-नु -तसो(कश्मीर में आधुनिक पंच अथवा पुनतस) में ये एक टूटे-फूटे राज्य थे ।[431]कपिलवस्तु में केवल एक बौद्ध मठ था जहाँ 30 हीनयान साधु थे ।[432]कौशाम्बी में 10संघाराम थे जो पूर्णतया नष्ट हो गये थे ।[433]श्रावस्ती में कुछ सम्मितीय के केवल कुछ अनुयायी थे तथा इसके अधिकांशतः 100 मठ नष्ट हो गये थे ।[434] तीन अथवा चार मठों को छोड़कर वैशाली के सभी 100 मठ निर्जन तथा टूट -फूट गये थे ।[435]

बौद्ध देवता और धार्मिक कार्य

तत्कालीन बौद्ध धार्मिक कार्यों का एक अच्छा उदाहरण बौद्ध संघ को अनुदान के रूप में वलभी से प्राप्त हो सकता है ।और ईत्सिंग के विवरण भी भारत में बौद्ध प्रथा को स्पष्ट

करते हैं। अनुदानों से प्रगट होता है कि बुद्ध की मूर्तियों की पूजा महायान मठों में अति सामान्य विशेषता थी।[436] ईत्सिंग ने बताया है कि भारत में पुजारी तथा साधारण पुरुष चैत्य तथा मूर्तियों के साथ पृथ्वी अथवा बुद्ध की मूर्तियों पर रेशम अथवा कागज जड़वा-कर बनवाते थे तथा वे जहाँ भी गये इसकी पूजा की।[437]

महायान के आगमन के साथ बौद्ध धर्म में देवताओं की पूजा प्रारम्भ हो गयी थी।[438] गांधार और मथुरा विद्यालय की कला द्वारा बुद्ध को उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के साथ अनेक मूर्तियों में प्रस्तुत किया गया था। बोधिसत्व के विचारों के उदय से कुछ और बौद्ध मूर्तियों को बढ़ावा मिला। बोधिसत्व के अतिरिक्त ईत्सिंग ने अमितायुस और चतुर महाराजिकास का भी उल्लेख किया है।[439] शिक्षासमुच्चय के लेखक शान्तिदेव §695-714 ईसवी§ने भी दो तथागतों का उल्लेख किया है, अक्सोहभ्या और सिम्हाविकुदिता, एक नये बोधिसत्व गगनगंजा तथा दूसरे निश्चित धार्मिक देवताओं में जैसे:- बुंदा, त्रिसमाया -राजा, मारीचि, सिम्हानाद आदि।[440]

नालन्दा मठ में, जहाँ पुजारियों की संख्या बहुत अधिक थी वहाँ अलग-अलग मठ के सभी बड़े आठ कमरों में पूजा की जाती थी। एक उपासक प्रत्येक कमरे में जाकर तीन या चार भजनों का पाठ करता था और पूजा की आवश्यक क्रियायें करता था। बत्ती के चमकने पर उसका कार्य समाप्त हो जाता था।[441]

चैत्यों में दोपहर बाद अथवा शाम के समय झिलमिलाती रोशनी में की जाती थी। मठ में रहने वाले सभी सन्यासी इसके द्वार के बाहर आते थे स्तूप के चारों ओर तीन बार घूमते थे और सुगन्ध एवं फूल चढ़ाते थे। वे पहले इसके आगे झुके जाते थे तथा बुद्ध के गुणों का वर्णन करने वाले कुछ पदों को गाते थे। सभी पुजारी तब एक स्थान पर एकत्र होते थे जहाँ एक सूत्र का पाठ करने वाला एक छोटे सूत्र का पाठ करता था जो "तीन भागों में सेवा" कहलाता था।[442] पाठ के अन्त में सभी पुजारी जमा होते थे और सुभाषितम अथवा साधु शब्द बोलते थे। इसके बाद उत्सव समाप्त होता था और शेर के आसन पर झुककर पुजारी आनन्द में विश्राम करते थे, एक के बाद एक या उसी समय एक साथ।[443]

मूर्तिपूजा का क्रम थोड़ा भिन्न था । प्रधान पुजारी के द्वारा अपरान्ह में पूजा के समय की घोषणा करने के लिये एक घंटा बजाया जाता था । सभी साधु स्नान करके पवित्र मूर्ति के समीप आते थे । मठ के आगन में रत्नों से जड़ा हुआ एक मंडप खड़ा किया जाता था और मूर्ति को उसी सामग्री की बनी हुयी एक छिछली कटोरी में रखा जाता था जिसकी मूर्ति बनी होती थी तथा लड़कियों का झुंड संगीत बजाता था । मूर्ति को बदन अथवा मुसब्बर लकड़ी की सुगन्ध से तेल लगाया जाता था और सुगन्धित पानी उनके ऊपर डाला जाता था । तब उसे एक सफेद कपड़े से पोंछा जाता था तथा फूल और सुगन्ध अर्पित किये जाते थे ।[444] खाने के समय सभी प्रकार के तैयार भोजन पहले देवता के आगे रखे जाते थे ।[445] प्रदक्षिणा और एकमना भी बौद्धों की पूजा का एक भाग था ।[446] लोग जो बौद्ध मन्दिरों में घूमने जाते थे वे मूर्ति के सामने छोटे समूह में, एक के बाद एक करके अपने शरीर को सीधा रखकर और अपने सिर को जमीन पर रखकर और इसे सिर से छूते हुये झुक जाते थे ।[447]

इस प्रकार 630-645 ईसवी तक भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी बताया है कि देश के कुछ निश्चित भागों में बौद्ध धर्म पतन की ओर अग्रसर था तथा विशेषकर दक्षिण में,[448] जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि शैव और वैष्णव संतों की तीव्र क्रियायें इसके पतन का कारण बनी । ईत्सिंग ने भी अपनी यात्रा§671-95 ईसवी§ के दौरान भारत में बौद्ध धर्म की बिगड़ी दशा को देखा था ।[449] यद्यपि दंडिन ने बौद्ध धर्म के महायान अथवा हीनयान समुदायों का उल्लेख नहीं किया है किन्तु काव्यादर्श में बौद्ध दर्शन के सामान्य रूप संस्कार के सिद्धान्त का आकस्मिक उल्लेख किया है ।[450] बौद्ध दर्शन में संस्कार मानसिक भावना है, जैसे:- बाह्य जगत की मानसिक भावना अथवा बुद्धि का झुकाव तथा पाँच स्कन्धों में से एक आकृति, जीवों के संरचनात्मक तत्व, अन्य चार रूप हैं शारीरिक रूप, वेदना, इन्द्रियजनित ज्ञान, समझना, मन की भावना सम्बन्धी ज्ञान, तथा विज्ञाना, चेतनावस्था अथवा चिंतन शक्ति । बौद्ध ग्रन्थों में ये संस्कार अन्य तत्वों के साथ अस्थायी और अस्थिर रूप से वर्णित किये गये हैं ।[451]

तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक प्रथा के रूप में जैन धर्म कई समुदायों में विभक्त था जिन-में दिगम्बर और श्वेताम्बर दो अति महत्वपूर्ण सम्प्रदाय थे। ये फिर छोटे समूहों में विभक्त थे जिन्हें गण, कुल, सखा और गच्छा कहा जाता था।[452]

ह्वेनसांग के अनुसार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय पश्चिम में तक्ष-शिला तथा पूरब में विपुल में थे।[453] दिगम्बर विपुल पहाड़ पर रहते थे और कड़ी तपस्या करते थे जैसे सूर्य को उदय से लेकर अस्त तक लगातार देखते रहना।[454] सातवीं शताब्दी ई- सवी में दिगम्बर जैन बहुत अधिक संख्या में पुराड्रवर्मन तथा समतट में पाये जाते थे।[455] वे वैशाली में भी बहुत प्रसिद्ध थे।[456] ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान-उत्तरी गुजरात तथा मालवा के व्यापारियों के मध्य भी जैनी बहुत प्रसिद्ध थे।

बाण ने बताया है कि बौद्ध शिक्षक दिवाकरमित्र साधुओं से घिरे हुये थे। ये साधु जैन सम्प्रदाय के अनुयायी थे - अरहट्स, श्वेतपथ और केशलुंचकास।[457] उसने क्षेपणकास और नगन्ट्स का भी उल्लेख किया है।[458] श्वेतपाथों की तुलना श्वेताम्बरों से की जा सकती थी। वृहत्संहिता में अरहटों के भगवान दिगवासह कहे गये है।[459] नाथूराम प्रेमी अरहटों की तुलना यापनीय संघ से करते हैं; वे नंगे रहते थे। वे अपने सिर पर मोर के पंख धारण करते थे। ह्वेनसांग बिना उनके संघ का उल्लेख करते हुये इस प्रकार के फकीरों का वर्णन करता है।[460] क्षेपणकास और नागानटस की तुलना केशलुंचकास से की जाती थी।[461] दण्डिन ने भी क्षेपणक विहार का उल्लेख किया है जिसकी तुलना एक जैन मठ (जैनीतास) विहपक्ष से की जाती थी। मठ में रहने वाले क्षेपणक, अपनी दुर्दशा के विषय में शिकायत करते थे। वे अ-पने बालों को तोड़ते हुये पीड़ा का अनुभव करते थे तथा वे एक फन्दे में फंसे हुये हाथी के समान वे रहने, बैठने, सोने तथा खाने में सताये जाते थे।[462]

यद्यपि दण्डिन ने जैन और बौद्ध दोनों व्यवस्था का पाखण्डपथ अर्थात धर्मविरुद्ध मार्ग के रूप में उल्लेख किया है।[463] एक अन्य स्थान पर एक अपटी पाखण्डीका उल्लेख मि-लता है जो सांसारिक बन्धनों को त्यागने का परामर्श देता है, जैसे.- पत्नी, पुत्र और यहाँ तक अपना जीवन भी[464] उसके यह विचार जैन साधुओं की भाँति ही प्रतीत होते हैं जो सभी

बन्धनों को छोड़ देने की सलाह देते हैं ।- जैसे मुक्ति प्राप्त करने के लिये कपड़ों को त्यागने की बात कहते हैं इसलिये वे निरग्रन्थीकास §कपड़ा न धारण करने वाले§ कहे जाते थे[465] जैन साधु उपवास का लम्बा आचरण, आत्मनियन्त्रण, अध्ययन और ध्यान को कर्म से मुक्ति प्राप्त करने के लिये आवश्यक समझते थे ।[466] और इसलिये वे अपने कठोर अनुशासन का पालन करते थे जिससे उनकी आत्मा नवीन कार्यों के प्रभाव से मुक्त रह सके ।

दण्डिन की कृतियों में जैन साधुओं की निन्दा की गयी है और कहीं उन्होंने विरूपका के चरित्र के रूप में उनका वर्णन किया है जो एक गरीब भिक्षुक था तथा अपने शरीर को छिपाने के लिये केवल एक कपड़ा लपेटे हुये था, एक दरबारी की निर्दयता के द्वारा वह दिगम्बर वर्ग के एक साधु के जैसा बन गया था, एक पवित्र जैन मुनि द्वारा पापों से मुक्ति पर एक उपदेश को सुनकर उसने उस कपड़े को भी फेंक दिया, किन्तु शीघ्रता से छिपने का एक स्थान बनाया जहाँ एक सन्यासी के रूप में वह बैठने, खड़े रहने, लेटने और खाने पीने के विषय में अत्यधिक परेशानी सहन करता रहा ।[467] वह विशेषकर अपनी दीक्षा संस्कार के समय अपने बालों को नोचने पर आश्चर्यचकित हो जाता था ।[468] वह जैन व्यवस्था के कठोर अनुशासन से पीड़ित था जो शारीरिक सुख प्राप्त करने पर रोक लगाते थे तथा शरीर पर चढ़ी हुयी धूलों की तह को साफ करने पर भी प्रतिबन्ध लगाते थे ।

दण्डिन ने जैन सन्यासियों का उल्लेख क्षेपणक §अपनी इच्छाओं को दबाने वाले§ के रूप में भी किया है ।[469] यद्यपि यह शब्द प्रायः एक बौद्ध भिक्षुक का सूचक था जैन साधुओं से सम्बन्धित एक दूसरे शब्द श्रमण §कठिन तपस्या करने वाले§ का भी उल्लेख मिलता है जिसमें वास्तविक रूप से सभी नास्तिक ब्राह्मणों का समावेश था ।[470] जैन साधु साधारणतया मठों §बिहारों में रहते जो दण्डिन के समय देश के विभिन्न भागों में काफी संख्या में थे[471]।

जैन सन्यासिनी भी होती थी । इनकी संख्या कम थी । उनमें से कुछ व्यवस्था की अप्रतिपादित सदस्या थी, उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था क्योंकि वे संदिग्ध लोगों के साथ सम्बध रखती थी और उनमें से कुछ वेश्याओं के घरों में मध्यस्थ का कार्य करती थी ।[472]

पण्डिन ने एक आजीविक सन्यासी का उल्लेख किया है जिसे एक भविष्यवक्ता के रूप में प्रदर्शित किया है।[473] वास्तविक रूप से यह सन्यासी उस समुदाय से सम्बद्ध थे जिसकी स्थापना गोशाला मक्खलीपुत्र ने की थी जो महावीर§छठी-सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व§ के समकालीन थे और जो कुछ समय के लिये इनके अनुयायी थे।ये साधु अपनी जीवन वृत्ति §आजीविका§ में विशेष नियमों का अनुसरण करते थे, इसी कारण उनको विचित्र पद से वर्णित किया गया है।

छठी शताब्दी ईसवी से लेकर 1000 ईसवी के समय से सम्बन्धित जैन मूर्तियों में मुख्यत: तीर्थंकरों के साथ सहायक,सरस्वती,अम्बिका,यक्ष,यक्षिन और दिक्पाल की आकृतियाँ रखी गयी थीं।[474]

जैन धर्म के सिद्धान्त और ज्ञानतत्व

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति करना था यह भक्ति,सच्चा ज्ञान तथा सच्चे कर्मों से यह प्राप्त किया जा सकता है। यह धर्म दो भागों में विभक्त था - गृहधर्म अर्थात गृहस्थों के लिये धर्म तथा यतिधर्म -अर्थात साधुओं के लिये धर्म[475] गृहधर्म का पालन बिना किसी कठिनाई के आसानी से किया जा सकता था जबकि यतिधर्म ऐसा नहीं था।[476]

एक साधु का धर्म §यतिधर्म§ व्यवहार में बहुत कठिन था। यह क्षान्ति §क्षमा§, मार्दव§विनय§,आर्जव§सरलता§,मुक्ति,तप§आत्म-सयंम§,सयंम §नियन्त्रण§,सत्य§सत्यता§, शौच §पवित्रता§,अकिंचन्य §त्याग§ तथा ब्रह्मचर्य §दान§ से सम्बन्धित था।[477]

गृह धर्म का सम्बन्ध पाँच अणुव्रतों §अहिंसाणुव्रत,सत्याणुव्रत,अस्तेयाणुव्रत,ब्रह्मचर्याणुव्रत और अपरिग्रहाणुव्रत§ से था,तथा यह तीन गुणव्रतों §दिग्व्रत किन्हीं विशेष दिशाओं में अपनी क्रिया सीमित करना§,देशव्रत §किन्हीं विशेष क्षेत्रों में अपना कार्य सीमित रखना§ और अनर्थदण्डव्रत§अकारण अपराध न करना§ एवं चार शिक्षा व्रतों§सामयिक§समय के कुछ भाग को अपने ऊपर विचार के लिये रखना§,प्रोषधोपवास §महीने में चार दिन,दोनों अष्टमियों और चतुर्दशियों को उपवास रखना §उपभोग-प्रतिभोग परिणाम§वस्तुओं और पदार्थों के

दैनिक उपभोग को नियमित करना} तथा अतिथि-संविभाग{दूसरों-साधुओं और उपासकों-को भोजन कराने के बाद भोजन करना} का पालन करते थे।[479] गृह धर्म का पालन करने वाले प्रेम और घृणा से दूर रहते थे। उन्हें कुछ बुरी आदतों को छोड़ना होता था जैसे :-क्रोध, घमंड, धोखा और लालच। उनका अपनी पांच इन्द्रियों पर नियन्त्रण रहता था। वह बाइस परिषह को नहीं मानता था। यह बाइस परिषह इस प्रकार हैं :- क्षुत,{भूख},पिपासा{प्यास},शीत{सर्दी},उष्ण{गर्मी},दंशमशक{मच्छरों का काटना},नाग्नय{ नगापन},अरति{दूषित वातावरण},स्त्री{योनिलता प},चर्या{थकावट},निषद्या{एक स्थल पर बैठे रहना},शैया{कठोर भूमि पर शयन करना},आक्रोश{क्रुद्ध वचन सहन},वध {पिटना},याचना{मांगना},अलाभ{कुछ न मिलना},रोग {बीमारी},तृणस्पर्श {कांटे चुभना},मल{गंदगी},सत्कार पुरस्कार {अपमान},प्रज्ञा{गुणों का अनादर करना}, अज्ञान{मूर्खता} और अदर्शन{सिद्धान्त के प्रति -अविश्वास}। केवल थोड़ा भोजन ग्रहण करते थे तथा कभी स्वादिष्ट भोजन की उपेक्षा करते थे। स्वध्याय {धार्मिक पुस्तकों का प्रतिदिन और निरन्तर अध्ययन करना} उनके लिये आवश्यक था। इस धर्म संहिता के कठोर नीति सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक पालन करने पर कोई भी अन्तत: मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[47)

इन दोनों धर्मों का आधार सम्यक् तत्व था जिसे आठ प्रकार के कर्मों के कारण प्राप्त करना कठिन था, जो इस प्रकार बताये गये हैं -ज्ञानावरण {आत्मा के ज्ञान को ढकने वाला},दर्शनावरण {आत्मा की दर्शन शक्ति को आवृत करने वाला},वेदना {सुःख दुःख के ज्ञान को अवरूद्ध करने वाला},मोह {जीव को मोह के आवरण से ढकने वाला},आयु -कर्म { मनुष्य की आयु को निश्चित करने वाला कर्म},नाम कर्म { व्यक्ति की परिस्थिति,गति शरीर,आदि को निर्धारित करने वाले कर्म },गोत्र कर्म {मनुष्य की उंचाई-नीचाई के स्तर को निश्चित करने वाले कर्म तथा अन्तराय कर्म {सत् कर्मों में विघ्न डालने वाले कर्म}।[480] इनमें से कुछ कर्म अपने विनाशकारी स्वभाव के कारण सम्यक्तत्व को प्राप्त नहीं करते थे तथा माया के कारण सही ज्ञान,सही दिशा तथा सही कर्म के फैलाव को रोकते हैं। वेदन्या एक प्रकार का कर्म है जिससे दर्द और आनन्द का उत्तेजनात्मक अनुभव होता है।

मिथ्यात्व {झूठ},अज्ञाना {अज्ञानता},आवृत्ति,प्रमाद {असावधानी}, क्षेप {वेग} और योग{शरीर,मस्तिष्क तथा वाणी की तीव्रता} आदि कर्म से ही सम्बन्धित है[481]। कर्म दो प्रकार के बताये गये हैं-अच्छे और बुरे।[482]कर्म के प्रभाव से निकलना कठिन है तथा केवल कुछ ही लोग कर्म के बंधन {कर्मग्रन्थि} को खोल सकते हैं।एक जो यह करता है वह सम्यक् तत्व प्राप्त करता है, इसका परिणाम मतिजना और श्रुतिजना है।[483]मतिजना अथवा बौदिक ज्ञान "ज्ञान के उद्देश्य के साथ अनुभव के सम्पर्क के घेरे से उत्पन्न होता है।" श्रुतजना = शिल्प,किताबों तथा चिन्हों या लक्षणों के अर्थ के अध्ययन से उत्पन्न होता है।"[484]

बहुत अधिक संख्या में संकल्प सम्यक्त्व से जुड़े थे।हरिभद्र ने पहले ही देशवृति अथवा दूसरों से सम्बन्धित वस्तुओं को लेने के त्यागपूर्ण पक्षपाती,झूठ बोलना,दूसरों को घायल करना,मिथ्या,व्यभिचार तथा अतिरिक्त धनसम्पदा का संग्रह आदि का उल्लेख किया है।यह केवल स्थूल प्रकार के थे जो इनके उप-विभागों में सम्मिलित थे।[485]ये संकल्प तथा अणुव्रत के रूप में माने जाने वाले व्रत कुछ निश्चित गुणों को त्यागने के परिणाम स्वरूप प्राप्त होते थे जैसे:-दूसरों को बन्धक बनाना,वध करना,अंग काटना,बहुत अधिक बोझ देना, किसी से भोजन अथवा पानी अलग करना,रहस्य को खोलना,जालसाजी करना,चोरी करना, झूठे वचन का प्रयोग करना और अनेक सामाजिक दोष।यद्यपि एक व्यक्ति केवल इन को करना प्रारम्भ करता है जो बन्धक के कारण नहीं।[486]वह अन्य उत्तरागुणों का भी अनुसरण करता है जिसके परिणाम स्वरूप बिना पकी हुयी दवाओं को खाना छोड़ देना,बुरे ढंग से बनी हुयी दवायें,लकड़ी का कोयला तैयार करना,मेलों के लिये मोटरगाड़ी चलाना,किराये पर मकान देना,घरों की मरम्मत कराना, हाथी दाँत,लाह,बाल,रस तथा जहर का व्यापार करना,बुरी औरत रखना तथा अन्य कई बुरे कार्य।[487]कुछ समय बाद जैसे एक मनुष्य बाद की यतिधर्म की अवस्था में पहुँचता है जिसका सम्बन्ध उपर्युक्त दस गुणों से होता था[488]

तान्त्रिकवाद में जैन विश्वास .- जैन धर्म में तान्त्रिक तत्व मुख्यत: मन्त्रवाद के रूप में था[489] देवता अद्वितीय मानवीय शक्तियों और जादुई शक्तियों को प्राप्त करने के लिये बिना माँस, शराब, और औरत के पूजे जाते थे। लिंग सम्बन्धी आकर्षण को दबा दिया जाता था[490]

निशीथचूर्णी में अनेक प्रकार की शक्तियों तथा भूतों का उल्लेख किया गया है जैसे:- भूत,[491] जक्खास,[492] पिशाच,[493] राक्षस,[494] गजाक्ष,[495] वनमहात्रा[496] तथा स्त्री-भूत जैसे:- पूतना[497] तथा डाकिनी ।[498] ये अधिकता से पूजे जाते थे तथा सन्तुष्ट किये जाते थे । मठीय जीवन जक्खास द्वारा भूतप्रेत में विश्वास द्वारा गम्भीर रूप से प्रभावित हुआ था[499]

हरिभद्र सूरी के समरैच्चकहा में जैन मंत्रवाद का उल्लेख पाया जाता है ।[500]- उद्योतन सूरी §778 ईसवी§ के कुवलयमाला में भी जैन तांत्रिक व्यवहारों का उल्लेख मिलता है ।[501]

समकालीन साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि जैनियों को उत्तरी भारत में अच्छा राजकीय संरक्षण नहीं प्राप्त था किन्तु दक्खिन के अनेक शासक वंशों द्वारा इसे अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया था तथा दक्षिण भारत में इसकी तुलना में कुछ कम संरक्षण प्राप्त था जहाँ इसे सातवीं शताब्दी और उसके बाद शैव और वैष्णवों के अधिक प्रचार के कारण धक्का लगा ।[502]

धार्मिक सहिष्णुता

तत्कालीन धार्मिक जीवन में हिन्दुओं और बौद्धों का संबंध पूरी तरह से सामान्य था । बलभी के मैत्रक राजा स्वयं शैव थे किन्तु उन्होंने बौद्ध धर्म को भी संरक्षण प्रदान किया था । वैष्णव राजा श्रीधरनारता §सातवीं शताब्दी§ के मंत्री जयन्त ने अपने मालिक से एक बौद्ध संघ को भूमि का एक टुकड़ा देने के लिये अनुमति मांगी थी तथा पंचमहायज्ञ के आयोजन के लिये भी अन्य ब्राह्मणों को विश्वस्त किया था ।[503] ब्राह्मण परामर्श दाता बंगाल के बौद्ध शासक पाल के दरबार में एक महत्वपूर्ण स्थान रखते थे, जो हिन्दू यज्ञों में भी भाग लेते थे ।[504] हर्षवर्द्धन यद्यपि बौद्ध धर्म के अनुयायी थे फिर भी दूसरे धर्मों के प्रति भी सहानुभूति रखते थे । प्रयाग धर्म सम्मेलन में वह उदारतापूर्वक सभी धर्मों के सदस्यों को दान दिया करते थे ।[505] इस प्रकार सामान्य रूप से हर्ष का युग धार्मिक सहिष्णुता का युग था किन्तु बंगाल के राजा शशांक, जो एक शैव थे, उन्होंने अन्य धर्मों के प्रति विशेषकर बौद्ध धर्म के प्रति सहानुभूति दिखायी थी ।[506] स्वयं ब्राह्मण धर्मावलम्बी होते हुये भी पल्लव शासकों में सहिष्णुता

दिखाई देती है। उन्होंने अपने राज्य में बौद्धों अथवा जैनियों पर किसी प्रकार के अत्याचार नहीं किये। पल्लव नरेश नरसिंह वर्मन के समय में चीनी यात्री ह्वेनसांग कांची में कुछ समय तक ठहरा था। उसके अनुसार यहाँ सौ से अधिक बौद्ध विहार थे जिनमें दस हजार बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। उन्हें राज्य की ओर से सारी सुविधायें प्रदान की गयी थीं।[507]

धार्मिक सिद्धान्तों के बीच बढ़ती हुई यह एकता की भावना सातवीं शताब्दी की शिल्पकला में अभिव्यक्त पायी जाती है। विष्णु और शिव की संयुक्त मूर्ति को हरि-हर कहा जाता था। मथुरा संग्रहालय में ऐसी बहुत सी मूर्तियाँ हैं। जब ब्रह्मा को शिव और विष्णु की मूर्ति से जोड़ा जाता था इसे हरि-हर पितामह अथवा त्रिमूर्ति के नाम से जाना जाता था। शिल्पकारों के द्वारा चित्रित की गयी सूर्य तथा शिव के तथा विष्णु और ब्रह्मा की जुड़ी हुयी मूर्तियाँ राजस्थान और गुजरात के विभिन्न भागों में पायी गयी हैं जैसे:- ओसिया, जोधपुर, मवाला, किराडु, कामना, रामगढ़, झालारपत्तन, वर्मन और बड़ोदा।।[508] मथुरा संग्रहालय में एक मूर्ति विष्णु के साथ शिव और ब्रह्मा की है। इसमें एक चार भुजाओं वाले भगवान हैं, सम्भवत: यह सूर्य है जो विष्णु के मुकुट के बीच में बैठे हुये हैं। उन्हें अपने ऊपर उठे हुये दो हाथों में कमल लिये हुये जबकि उनके दो हाथ विष्णु के मुकुट के ऊपर रखे हुये चित्रित किया गया था। मथुरा से प्राप्त शिव की एक प्रतिमा पर विष्णु के आठ अवतारों ढके हुये हैं। धार्मिक सहिष्णुता का एक अन्य उदाहरण बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मानना था।[509] दूसरी ओर हिन्दू देवता जैसे:- विष्णु, शिव, ब्रह्मा, कृष्ण, गणेश, बलराम, कार्तिकेय, दुर्गा, यम, अग्नि आदि पहाड़पुर के बौद्ध मंदिर के बाहरी दीवार पर चित्रित की गयी है जो छठी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के बीच की है।[510]

तीर्थ यात्रा

तीर्थ यात्रा के जैन केन्द्र :- जैनियों का तीर्थ-यात्रा के प्रति आकर्षण अति प्राचीन है। उनके अनुसार विभिन्न स्थानों की यात्रा तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित विचारों को शुद्ध करने तथा धर्म में सच्ची आस्था प्राप्त करने का साधन था।[511] अष्टपाद, उज्जैन्ता, राजगृह पाद, धर्मचक्र, अहिच्छत्रा, पार्श्वनाथ, रथावर्त, तथा कामरूपता आदि का पवित्र स्थानों के

रूप में जैनियों के आगमास में उल्लेख मिलता है। निशीथचूर्णी में अनुसार उत्तरपथ का धर्मचक्र, मथुरा का अलौकिक स्तूप, कौशल में जीवत स्वामी की मूर्ति तथा जन्म-स्थान आदि तीर्थंकरों के तीर्थस्थान थे।[512]

तीर्थयात्रा के जैन केन्द्रों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता था.- सिद्धक्षेत्र और असिद्धक्षेत्र।[513] इसमें दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक महत्वपूर्ण था जो सीधे तीर्थंकरों अथवा महान शिक्षकों के जीवन और जीवन क्रम से जुड़ा हुआ था।

तीर्थंकरों के जीवन तथा जीवन-क्रम से जुड़े हुये पाँच कल्याण काम विशेष पवित्र थे। जो इस प्रकार है :- §1§ स्थावान अर्थात विचार§2§ जन्म अर्थात पैदा होना, §3§ दीक्षा अर्थात दीक्षा संस्कार, §4§ कैवल्य ज्ञान अर्थात अनन्त ज्ञान, तथा §5§ निर्वाण अर्थात मुक्ति[514]।

तीर्थयात्रा के बौद्ध केन्द्र

सातवीं- आठवीं शताब्दियों में अनेक चीनी यात्री भारत आये थे क्योंकि यहाँ बुद्ध ने जन्म लिया था और अपने सिद्धान्तों का उपदेश दिया था। इन यात्रियों के मध्य ह्वेनसांग और ईत्सिंग बहुत महत्वपूर्ण थे।[515] तीर्थयात्रा के बौद्ध केन्द्र बुद्ध से सम्बन्धित थे। नेपाल की तराई में लुम्बिनी वन§आधुनिक रूम्मिनदेई§ बुद्ध का जन्मस्थान था।[516] ह्वेनसांग के अनुसार बोधि पेड़ के केन्द्र में सटा हुआ था 'अदामत स्थान' §वज्र- समाधि§ ऐसा इसलिये कहा गया है कि एक हजार बौद्ध भिक्षु 'व्रज -समाधि' में गये तथा मोक्ष प्राप्त किया।[517] वाराणसी के समीपसारनाथ में कानून के पहिये को स्वामी ने सर्वप्रथम घुमाया। कुशीनारा नामक - स्थान पर एक सालवृक्ष के नीचे झाड़ में बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। श्रावस्ती एक दूसरा महत्वपूर्ण स्थान था जहाँ बुद्ध ठहरे थे। यहाँ उनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने तीर्थकों को पराजित किया था। यहाँ जेतवन में अनाथपिंडक ने पहला बौद्ध मठ बनवाया था।[518] संकिसा§आधुनिक सांकिसा -बसंतपुर एटा जिला, उत्तर -प्रदेश§ भी बौद्धों के लिये एक मुख्य तीर्थस्थान था।[519]

राजगृह का मेला, जिसकी तुलना बिहार के पटना जिले में राजगृह से की गयी है जहाँ प्रतिवर्ष एक हजार यात्री भ्रमण करने आते थे।[520] सातवीं शताब्दी में वैशाली में

बहुत अधिक संख्या में स्मारक चिन्ह थे ।[521] सातवीं शताब्दी में नालन्दा, बौद्धों का एक प्रसिद्ध किला था । ह्वेनसांग यहाँ बहुत वर्षों तक ठहरा था । उसने इसके स्मरणीय क्षेत्रों का वर्णन किया है । इसके समीप में मगध की पूर्व राजधानी कुशागरपुर भी ' गिद्ध की चोंच ' तथा ' कलोता के बाँस का झाड़ ' भी कहलाता था ।[522]

तीर्थयात्रा के हिन्दू केन्द्र

विश्व के सभी धर्मों में कुछ निश्चित स्थानों के अस्तित्व में विश्वास करके उनको पवित्र माना जाता है तथा लोगों के द्वारा इन स्थानों की यात्रा को बहुत महत्व दिया जाता था । बी॰पी॰मजूमदार ने बताया है कि " तीर्थ मध्यभारत के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था ।"[523] उन्होंने यह भी बताया है कि इन तीर्थों में देश के विभिन्न भागों से आये हुये स्त्री और पुरुषों का समुदाय तीर्थयात्रियों के दृष्टिकोण को विस्तृत करता था, अंतरों को दूर करता था सभी पृथक्तत्व के लिये एक द्रावक के रूप में सेवा करता था तथा संकुचित ग्राम्यवाद को दूर करता था तथा सबकी सहायता करता था यह विश्वास करके कि भारतीय सभ्यता में आवश्यक एकता है ।[524] मत्स्य, कूरम, वराह, तथा अग्नि पुराण में हिन्दू तीर्थों के विषय में विस्तृत आँकड़े उपलब्ध हैं ।[525] तीर्थयात्रा के उद्देश्यों पर व्याख्या करते हुये बी॰एन॰एस॰यादव ने बताया है कि यह विश्वास किया जाता था कि श्रद्धा और धार्मिक भावना से की गई तीर्थयात्रा पापों का नाश करती थी, मनुष्य नैतिक मूल्यों मानसिक अनुशासन, सुख और मोक्ष भी प्राप्त करता था[526] दण्डिन ने भी धार्मिक स्थानों की यात्रा के महत्व का वर्णन किया है । अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु या पश्चाताप स्वरूप कभी-कभी व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप में धार्मिक स्थलों की यात्रा का उल्लेख मिलता है ।[527]

बहुत सी पहाड़ियां भी पवित्र थी ।[528] मत्स्य पुराण के अनुसार हिमालय का क्षेत्र भी एक तीर्थयात्री के पापों को धोने के लिये पर्याप्त था तथा सन्यासी लोग हिमालय पर थोड़े समय के लिये तपस्या करके सिद्धि प्राप्त करते थे ।[529] हिमालय पर कैलाश पर्वत शिव के निवास स्थान समझा जाता था । कुबेर के विषय में कहा जाता है कि वह भी यहाँ

में भी जानी जाती थी ।[531] यहाँ विन्ध्यवासिनी का एक बहुत प्रसिद्ध मन्दिर है ।

बहुत अधिक संख्या में तालाब तथा झीलें पवित्र समझी जाती थी, ये हमारे देश के इतिहास में कुछ सांस्कृतिक तथा पौराणिक घटनाओं से सम्बन्ध थे ।[532] अजमेर के समीप पुष्कर एक पवित्र तालाब था ।[533] कुछ स्थान अपनी पवित्र मूर्तियों अथवा आकृतियों के कारण महत्वपूर्ण थे । मुल्तान में सूर्य की मूर्ति तीर्थयात्रियों के लिये मुख्य आकर्षण थी । गुजरात में सोमनाथ भी एक प्रसिद्ध तीर्थ था ।[534] गया जाकर तथा गया श्राद्ध किया जाता था, यह भी विश्वास किया जाता था कि यह एक अश्वमेध यज्ञ के समान होता था ।[535]

सभी नदियाँ पवित्र मानी जाती थी किन्तु गंगा पवित्रतम मानी जाती थी । मत्स्य तथा कूरम पुराण उल्लेख करते हैं कि केवल गंगा को स्मरण करने से ही सभी पाप दूर हो जाते थे तथा अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त होती थी ।[536] ह्वेनसांग के अनुसार गंगा पू-शू अर्थात् सुख पानी के रूप में जानी जाती थी जैसे.- धार्मिक गुणमाला पानी ।[537] पवित्र नदी कावेरी में स्नान करने से व्यक्ति एक अश्वमेध यज्ञ करने का लाभ पाता था तथा उसके बाद रूद्र के राज्य में रहता था ।[538] एक जो सरस्वती में स्नान करता था वह ब्रह्मा के प्रदेश में जाता था ।[539]

तीर्थयात्रा के कुछ हिन्दू स्थान इन पवित्र नदियों से जुड़े हुये थे । वाराणसी इतना पवित्र था कि लोग वहाँ अपने जीवन की समाप्ति तक रहना चाहते थे । यहाँ तक एक हत्यारा सजा से दूर समझा जाता था यदि वह वाराणसी में प्रवेश करता था । इसके सबसे अधिक पवित्र क्षेत्र हरिश्चन्द्र घाट, अमरतकेश्वर, जपेश्वर, श्रीपर्वत, महालय, भृगु, चंदेश्वर तथा केदार ।[540] गंगा नदी यद्यपि सभी स्थानों पर पवित्र मानी जाती थी विशेषकर गंगाद्वार, प्रयाग तथा गंगा सागर में पवित्र मानी जाती थी ।[541] मथुरा, यमुना नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है जो श्री कृष्ण का जन्म स्थान तथा उनकी क्रीड़ाओं का प्रधान केन्द्र था ।[542] उज्जैनी सिप्रा नदी के तट पर स्थित था जो महाकाल के शिव मन्दिर के लिये प्रसिद्ध था ।[543] सरयू नदी के किनारे अयोध्या तथा गोमती नदी के किनारे स्थित नीमषा भी तीर्थयात्रा के महत्वपूर्ण स्थान थे । अल्बरूनी ने भी गंगा और यमुना के संगम पर स्थित प्रयाग, वाराणसी में मणिकर्णिका घाट, उज्जैनी का महाकाल मंदिर तथा अगस्त्य तीर्थ, अयप .

शिवराकोटी और राम दक्षिण में तीर्थों का उल्लेख किया है।[544] धार्मिक स्थानों में मृत्यु को प्राप्त करना एक धार्मिक गुण माना जाता था, यह विश्वास किया जाता था कि इससे दूसरे जीवन की धारा पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जैसे एक भिक्षु के कटोरे से एक चूहा गंगा की धारा में गिर जाता है, जो बाद में एक ब्राहमण लड़की के रूप में पुन: जन्म लेता है।[545]

हिन्दू तीर्थयात्रियों के कर्तव्य :- एक तीर्थयात्रा का पूर्ण फल प्राप्त करने के लिये एक तीर्थयात्रा के लिये यह आवश्यक था कि वह अपने हृदय को सभी बुराइयों से दूर रखे। एक पवित्र स्थान की यात्रा करते समय एक सवारी पर बैठना भी बुरा माना जाता था[546] यात्रा प्रारम्भ करते समय एक तीर्थयात्री अपने धार्मिक देव की पूजा करता था, प्रार्थना तथा भजन का पाठ करता था, उपवास रखता था तथा ब्राहमणों, पुजारियों तथा अन्य योग्य लोगों को धर्मदान दिया करता था। अपनी तीर्थयात्रा के समय वह उदारतापूर्वक दान देता था। एक तीर्थ पर पितरों की आत्माओं को पानी तर्पण करना एक पवित्र कार्य था, वह कुछ स्थानों पर इस कार्य को करने से प्रतिभा बढ़ती थी, यह अनन्त के रूप में माना जाता था।[547]

तीर्थस्थानों पर आत्महत्या जैसे वाराणसी, प्रयाग और गया में उन दिनों बिल्कुल समान था। लिखिता स्मृति में बताया गया है कि एक मनुष्य जो काशी जैसे स्थान से जीवित लौट आता है या शक्तियों द्वारा उपहास किया जाता था, जो अपने को अभाग्यशाली प्राणी मानता था।[548]

ह्वेनसांग ने प्रयाग में देखा था कि नदियों के संगम पर एक बड़ा अखाड़ा था जिसके पूरब में "प्रतिदिन बहुत अधिक संख्या में लोग पवित्र जल के पास एकत्र होते थे उनका विश्वास था कि इससे स्वर्ग में पुर्नजन्म होगा।"[549]

ईत्सिंग ने भी अनेक लोगों को प्रतिदिन वहा अपने को पानी में डुबोते हुये देखा था।[550] बोधगया का वर्णन करते हुये उसने बताया है कि बोधगया की पहाड़ियों में भी आत्महत्या की घटनायें बारम्बार नहीं होती थी। कुछ इधर- उधर घूमते थे और कुछ नहीं खाते थे, कुछ पेड़ पर चढ़ जाते थे तथा अपने आप को नीचे गिराते थे।[551] इस प्रथा का उ-

लेख मत्स्य,[552] कूरम[553] तथा पदम पुराण[554] में मिलता है। मत्स्य पुराण में बताया गया है कि " एक जो प्रयाग में अक्षयवट के समीप अपने शरीर का त्याग करता है वह सीधे शिव के प्रदेश में जाता है।"[555] आदित्यसेन के अफसद अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि " कुमार-गुप्त कंडी की आग में प्रवेश कर गया था जैसे प्रयाग के पानी में घुसा हो।"[556]

पाद - टिप्पणी

1- डी. के. गुप्ता, दक्षिण कालीन समाज एवं संस्कृति, पृ0 316 ।

2- वही ।

3- गौरीशंकर चट्टोपाध्याय, हर्षवर्द्धन, पृ0 248 ।

4- कादo,पृ0 11,77,70 §अनवरतभरवन्निधूमेना श्रुपात. अनवरतज्या हुतिनिर्व्ये: तापसाग्निहोत्रधूमलेखा भि:" §; हर्षo,6,पृ0 202 ।

5- मनु स्मृ0,2 ·12; अवन्ति0,पृ0 2,105,107,अवन्ति0कथासार, 8 ·140;दशकुमार0 पृ0 75 ।

6- अवन्ति0,पृ0 195;मनु स्मृ0, 3·68-74 ।

7- अवन्ति0,पृ0 195; मनु स्मृ0, 3 ·68-70 ।

8- अवन्ति0,पृ0 17,98 §प्रात:कालीन समध्या के लिये पृ0 77§;दशकुमार0,पृ073,137, 192 शाम की प्रार्थना के लिये ,अवन्ति0कथासार, 8 ·88 ।

9- अवन्ति0,पृ0 12,17,28,137,144,156,185,235,245; दशकुमार0,पृ0 193 ।

10- अवन्ति0,पृ0 196;मनु स्मृ0 ,3 ·185 ।

11- अवन्ति0,पृ0 00; रघु0, 13·37 ।

12- अवन्ति0,पृ0 190,महावीर के लिये,पृ058,काद0अनुच्छेद,15 ।

13- अवन्ति0,पृ0 126;कात्या0, 2 ·51;मनु स्मृ0, 3·70 ।

14- अवन्ति0,पृ0 212 ;मनु स्मृ0, 3 ·194 ।

15- अवन्ति0 ,पृ0 196; मनु स्मृ0, 3 ·122 ।

16- अवन्ति0,पृ0 228 ।

17- वही,पृ0 13,किरातु के लिये देखिये,पृ0175,सोम धार्मिक कार्य के लिये,पृ061,95, 194,235 , हर्ष0,पृ0 79 ।

18- अवन्ति०,पृ० 231; मनु स्मृ०, 11·74; सर्ववेदाम के लिये देखिये अवन्ति०,पृ०15, 172 ; रघु० ,4 ·86 ।

19- अवन्ति० ,पृ० 167-8 ।

20- दशकुमार० ,पृ० 190 ।

21- कात्या०, 3 ·177 ।

22- अवन्ति०, पृ० 9 ।

23- हर्ष० पृ० 236;वी·एस·अग्रवाल,<u>हर्षचरित्र एक सांस्कृतिक अध्ययन</u> ,पृ० 111 ·1

24- अवन्ति० ,पृ० 131 ।

25- अवन्ति०,पृ० 160 ;दशकुमार०,पृ० 102,117;रघु०, 1·59 ।

26- अवन्ति०,पृ० 11, 196 ।

27- वही,§क§ पृ० 229 §ख§ पृ० 100 ।

28- वही, पृ० 155-6 ।

29- वही,पृ० 182 ।

30- मृच्छ० , 1 ·8 ।

31- दशकुमार०, पृ० 82,183,193,अवन्ति०,पृ० 10,11,00-2,95,235 ।

32- दशकुमार०, पृ० 193 ।

33- वही,पृ० 69,169;अवन्ति०,पृ० 39,209,अवन्ति०कथासार,5 ·140, 8 ·28 ।

34- अवन्ति०, पृ० 24 ।

35- दशकुमार०,पृ० 65,144,161;अवन्ति०,पृ० 141,145,195-7 ।

36- दशकुमार०,पृ० 193;अवन्ति०,पृ० 40,44 ।

37- वही, पृ० 149 ।

38- दशकुमार०,पृ० 69-70 ।

39- वही, पृ० 219, और भी पृ० 30 ।

40- अवन्ति० कथासार, 7 ·5 ।

41- दशकुमार०,पृ०111-2,122,131,184,और भी अवन्ति०,पृ० 230 ।

42- काव्या0, 1 ·15 ।

43- अवन्ति0,पृ0 154;और भी पृ0,19,134,189;दशकुमार0,पृ0 68,168 ।

44- दशकुमार0,पृ068; और भी,पृ0 188;अवन्ति0,पृ0 19,134,137,191 ।

45- वही,पृ0 43,73,75 ।

46- दशकुमार0,पृ0 100 ।

47- वही,पृ065,110,189,197;अवन्ति0,पृ0 142,227 ।

48- अवन्ति0,पृ0 38,55,145,166,190,191,दशकुमार0,पृ0 80,128,164,188 ।

49-अवन्ति0, पृ0 55,145,171,190,208, दशकुमार0,पृ0164-5,188,काव्या0,2 ·172 ।

50- अवन्ति0,पृ0 50,51,114,131,164,171,191;दशकुमार0,पृ0 127,155 ।

51- दशकुमार0,पृ0 80,अवन्ति0,पृ0 10,108;काव्या0, 2 ·172 ।

52- दशकुमार0, पृ0 100 ।

53- वही, पृ0 181 ।

54- अवन्ति0,पृ0 208 ।

55- वही,पृ055;अवन्ति0कथासार, 5 ·78,काव्या0, 1·104; दशकुमार0,पृ0 127, अवन्ति0 कथासार, 4 ·161 ।

56- अवन्ति0,पृ0 186-7,188, दशकुमार0,पृ0 127-8;अवन्ति0 कथासार, 4·161 और भी, 6·87-93,120,पूर्व0,पृ0 46-7 ।

57- अवन्ति0,पृ0 231,233-4; मनु स्मृ0,11·54,दशकुमार0, पृ0121,191,अवन्ति0, पृ0 183 ।

58- अवन्ति0,पृ0 231,234-5, मनु स्मृ0,11·55-8,72;याज्ञवल्क्य स्मृ0 3 ·314 ।

59- अवन्ति0,पृ0229,233,234,दशकुमार0,पृ075,174,मनुस्मृ0,4· 88-90 ।

60- अवन्ति0,पृ0 185,काव्या0, 3 ·56 ।

61-§1§ दशकुमार0,पृ070,157,181,अवन्ति0,पृ0 7,22,48,62;काव्या0,2·331§2§ दशकुमार0,पृ0 102,119;अवन्ति0,पृ0 60,170,180§3§काव्या0,2·351,अवन्ति0, पृ0 60,76,98,104 ।

62- काव्या0, 3 ·145;अवन्ति0,पृ0 151,अवन्ति0कथासार, 7·72 ।

63- काव्या0,3·184;कुमार0, 7·44 ।

64- अवन्ति0,पृ0 98,151;दशकुमार0,पृ0 75,185 ।

65- डी॰सी॰सरकार, क्लासिकल ऐज, पृ0 427 ।

66- एपि0इण्डिका,17,पृ0 14 ।

67- हर्ष0, 1, पृ0 8 ,12 ।

68- अवन्ति0,पृ0 10;काव्या0,1·1,कुमार0,2·17;मत्स्य पु0,4, 7-12 ।

69- दशकुमार0,पृ0 70;कुमार0 , 4·41;काव्या0, 1 ·1 ।

70- वृहत्0 ,58 ·41 ।

71- अवन्ति0,पृ0 1,43,65,146;दशकुमार0,पृ0 75 ।

72- अवन्ति0,पृ0 6, 86,206; दशकुमार0 ,पृ0 70 , हर्ष0,पृ0 8 ।

73- हर्ष0 ,1, पृ0 7-8,11,18 ।

74- अवन्ति0,पृ0 14,102,151, काव्या0, 2 · 31 ।

75- दशकुमार0 पृ0 88; मुद्रा0, 1 ·13, 2·14 ।

76- डी॰ के॰गुप्ता,उपरोक्त, पृ0 344 ।

77- अवन्ति0, पृ0 140-1,152-3; और भी पृ0 201,पंच-अग्नि-त्याग के लिये देखिये कुमार0, 5 ·20; काद0,अनुच्छेद , 34,131 ।

78- एन॰सुब्रह्मण्यम, संगम साहित्य, पृ0 266 ।

79- अवन्ति0,पृ0 150-1,176,178; दशकुमार0,पृ064,100-1; अवन्ति0कथासार,8·5; रघु0, 8 ·78; काद0,अनुच्छेद, 40 ।

80- दशकुमार0, पृ0 64 ।

81- अवन्ति0,पृ0 150- 1 ।

82- दशकुमार0,पृ0 179 और भी पृ0 181-2 ।

83- वही, पृ0 65,88,164;अवन्ति0,पृ0 152-3,155-7,182,203;अवन्ति0कथासार, 5 ·8 ।

84- अवन्ति0,पृ0 138-40{वामदेव},153{भद्रयाश्रम}, दशकुमार0, पृ0 65 ।

85- अवन्ति0,पृ0 195 ।

86- वही,पृ0 144,145,146{मुक्तिमरीसाद},155{तापस},181{परिव्राजक असमाजा} ।

87- अवन्ति0,पृ0 142; दशकुमार0,पृ0 75 ।

88- के॰ एन॰नीलकंठ शास्त्री,हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया,पृ0 423-4 ।

89- अवन्ति०, पृ० 138-41, कथारदा के लिये, पृ०152, जटा के लिए पृ० 160,215, दशकुमार०, पृ० 82,178, अवन्ति०, पृ० 143 ।

90- अवन्ति०, {1} पृ०142-3,152{2}पृ०142,178{3}पृ०219{ ।

91- अवन्ति०, {1}पृ०38{2}पृ० 38,152{3} पृ० 38,12) ।

92- अवन्ति०, पृ० 38,143,226, काद०, अनुच्छेद, 37,205 ।

93- अवन्ति०, {1} पृ० 155,208{2} वही, पृ० 144,218{3} दशकुमार०, पृ० 64 ; अवन्ति०, पृ० 143,150,163,200 {4}वही, पृ० 155,183,211, दशकुमार०, पृ०125 ।

94- दशकुमार०, पृ० 102-4,164-5,227 8 ।

95- डी० के० गुप्ता, उपरोक्त, पृ० 347 ।

96- भागवत पृ०, 10 ·21 ·40, 10 ·27 ·14 ।

97- अवन्ति०, पृ० 1,9,17, दशकुमार०, पृ० 151; रघु०, 10 ·6,20,13 · 8 ।

98- अवन्ति०, पृ० 17, रघु० ,10 ·10; कुमार०, 2 ·4 ।

99- अवन्ति०, पृ० 13,14,20,43,153; रघु० ,10 ·7 ।

100-अवन्ति०, पृ० 8,9,14,15,102,155, दशकुमार०, पृ० 70; हर्ष०, पृ० 8 ।

101- अवन्ति०, पृ० 14 ।

102- अवन्ति०, पृ० 153 ।

103- अवन्ति०, पृ० 77,79,90,214, काव्या०, 3·47 ।

104- भागवत पृ० ,1 ·3; 2 ·7;11·4 ।

105- वही, 1 ·3·6-25; 2·7, 1-45;1 ·3, 28 ।

106- अवन्ति०, पृ० 22,27,43,75,80,108,205,242; काव्या०, 1, 73-74,3·25; दशकुमार०, पृ० 138, रघु०, 13·8,77, काद०, अनुच्छेद, 20,30; "ए क्रिटिकल स्टडी आफ दण्डिन एण्ड हिज वर्क्स," पृ० 40 ।

107- अवन्ति०, पृ० 9; काव्या०, 3·93; पूर्व०, पृ०53; हर्ष०, पृ०187; वी·एस·अग्रवाल, हर्ष०, पृ० 123; बी·एस·उपाध्याय, कालिदास का भारत, 2, पृ० 138-40 ।

108- अवन्ति०, पृ०2,79,111,216,242; काव्या०, 11 ·81 ।

109- अवन्ति०, पृ० 7,13,17,21,28,103,113,125,161,164-5,22 ।

110- काव्या०, 2 ·276-7, 3 ·2850; दशकुमार०, पृ० 184 ।

111- काद०, पृ० 9 ।

112- आर०सी०मजूमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल, भाग 1, पृ० 401 ।

113- गौड०, 5·22; वेणी०, अंक 1, छन्द 1; वाक्पति देव का मालवा अभिलेख, आई·ए·, 6, पृ० 51; वाक्पति देव का ताम्रपत्र, आई·ए·, 6, पृ० 160 ।

114- रघु०, 107; 8 ; 6 ·49; 10·10; 10 ·13 ।

115- कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 3, पृ० 51, 52, 56, 88, 221, 159 । {भगवतो वराहमूर्तिजगत्चरणस्य नारायणस्य' शिलाप्रासाद: ।

116- द क्लासिकल ऐज, पृ० 422 । {117} कुमार०, 6 ·8 ।

118- मेघदूत, पृ० 15 ।

119- वही, पृ० 49 ।

120- मालविका०, 5 ·2 ।

121- वृहत्०, 60 ·19 ।

122- हर्ष०, 8, पृ० 236 ।

123- वही, 7, पृ० 64 ।

124- राज० , 4·6 ।

125- राज०, 4 ·4, 55 ।

126- वही, 1 ·80, 81 ।

127- वही, 1 ·183, 188, 195-8, 201-2, 275 ।

128- वही, 1 ·208 ।

129- वही, 1 ·209 ।

130- अवन्ति०, पृ० 139, 186, 223; अवन्ति०कथासार; 5 ·39; वी·एस·अग्रवाल, हर्ष०, पृ० 109 ।

131- बृज नारायण शर्मा, उपरोक्त, पृ० 155 ।

132- वी·एस·अग्रवाल, हर्ष०, पृ० 109, 191 ।

133- हर्ष०, 8, पृ० 236, भगवते विष्णुभक्ते., वही, पृ० 237 पान्यरात्रिकैवैष्णवभेदे: ; वृहत्०, 15, 20; 59·19; 86 ·25 ।

134- वृहत्०, 6 ·8; बृज नारायण शर्मा, उपर्युक्त, पृ० 154 ।

135- नीलकंठशास्त्री, उपरोक्त, पृ० 370-2, 426-8 ।

136- के· आर· श्रीनिवास आयगर, द क्लासिकल ऐज, पृ० 327 ।

137- दिनेश चन्द्र सरकार, अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म, में हरिदास भट्टाचार्य, द कल्चरल हर्टी ऐज आफ इंडिया, भाग 4, पृ० 144 ।

138- वही, पृ० 143 ।

139- डी॰के॰गुप्ता ,उपरोक्त, पृ० 331 ।

140- वायु पृ०, 5 ·41 § देवेषु महान देवो महादेवस्तत. स्मृत.§ ।

141- स्कन्द पृ०, 1. 2· 7-8 ।

142- वायु पृ० , 70, 61-62 ।

143- मत्स्य पृ०, 60.4; ब्रह्माण्ड पृ०, 2 ·26·21;वायु पृ०,55 ·21 ।

144- अवन्ति०,पृ० 137,211; पूर्व०,पृ० 8 ।

145- अवन्ति०,पृ०14§माहेश्वरा§,पृ०24§विश्वेश्वर§; दशकुमार०,पृ०142§त्रिभुवनेश्वर एवं देवदेवा§; अवन्ति० ,पृ० 17 §त्रिभुवनपति § ।

146- काव्या०, 2 ·278; दशकुमार०,पृ०181;अभिज्ञाशाकु०, 1 ·1;वासव०,पृ० 100, हर्ष०,पृ० 20 ।

147- दशकुमार०,पृ० 77,118,157;अवन्ति०,पृ० 30,89,102,210,217;काव्या०,2·12 ।

148- §1§अवन्ति०कथासार,7 ·45§2§अवन्ति०,पृ० 7 ।

149- §1§अवन्ति०,पृ० 89,160,काव्या०,2 ·12;दशकुमार०,पृ०77,118§2§अवन्ति०,पृ० 89,137,149;काव्या०,2 ·12,3 ·66, दशकुमार०,पृ० 184 §3§ अवन्ति०,पृ० 43,71,143,160; दशकुमार०,पृ० 111-2;काव्या०, 2 ·31 ।

150- काव्या०, 2 ·322 ।

151- §1§ अवन्ति०,पृ० 59§2§ काव्या०, 2 ·12 ।

152-§1§ अवन्ति०,पृ० 25,209-10; दशकुमार०,पृ० 123§2§वही,पृ० 138;अवन्ति०,पृ० 21,23,25,28,149,190§3§ दशकुमार०, पृ०70;अवन्ति०,पृ० 7,146,245 ।

153- §1§अवन्ति०,पृ० 102,210;दशकुमार०,पृ० 178§2§ अवन्ति०,पृ० 102,137 ।

154- वृहत्०, 58 ·53 ।

155- दशकुमार०,पृ० 142;अवन्ति०,पृ०157,160और भी पृ० 148,149,175 ।

156- जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 750 ।

157- काद०, पृ० 150 ।

158- §1§ अवन्ति०कथासार, 7 ·75§2§ काव्या०,2·322,अवन्ति०,पृ० 149,175 ।

159- वृहत्०, 65 · 6,10 ।

160- वृज नारायण शर्मा, सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया, पृ० 268 ।

137- दिनेश चन्द्र सरकार, अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म, में हरिदास भट्टाचार्य, द -
कल्चरल हर्टी ऐज आफ इंडिया, भाग 4, पृ0 144 ।

138- वही, पृ0 143 ।

139- डी॰के॰गुप्ता, उपरोक्त, पृ0 331 ।

140- वायु पृ0, 5 ·41 { देवेषु महान देवो महादेवस्तत. स्मृत. } ।

141- स्कन्द पृ0, 1, 2· 7-8 ।

142- वायु पृ0, 70, 61-62 ।

143- मत्स्य पृ0, 60.4; ब्रह्माण्ड पृ0, 2 ·26·21; वायु पृ0,55 ·21 ।

144- अवन्ति0, पृ0 137,211; पूर्व0, पृ0 8 ।

145- अवन्ति0, पृ014{माहेश्वरा}, पृ024{विश्वेश्वर}; दशकुमार0, पृ0142{त्रिभुवनेश्वर एवं
देवदेवा}; अवन्ति0, पृ0 17 {त्रिभुवनपति} ।

146- काव्या0, 2 ·278; दशकुमार0, पृ0181; अभिज्ञानशाकु0, 1 ·1, वासव0, पृ0 100,
हर्ष0, पृ0 20 ।

147- दशकुमार0, पृ0 77,118,157; अवन्ति0, पृ0 30,89,102,210,217; काव्या0, 2·12 ।

148- {1}अवन्ति0कथासार, 7 ·45{2}अवन्ति0, पृ0 7 ।

149- {1}अवन्ति0, पृ0 89,160; काव्या0, 2 ·12; दशकुमार0, पृ077,118{2}अवन्ति0, पृ0
89,137,149; काव्या0,2 ·12,3 ·66; दशकुमार0, पृ0 184 {3} अवन्ति0, पृ0
43,71,143,160; दशकुमार0, पृ0 111-2; काव्या0, 2 ·31 ।

150- काव्या0, 2 ·322 ।

151- {1} अवन्ति0, पृ0 59{2} काव्या0, 2 ·12 ।

152-{1} अवन्ति0, पृ0 25,201-10; दशकुमार0, पृ0 123{2}वही, पृ0 138; अवन्ति0, पृ0
21,23,25,28,149,190{3} दशकुमार0, पृ070; अवन्ति0, पृ0 7,146,245 ।

153- {1}अवन्ति0, पृ0 102,210, दशकुमार0, पृ0 178{2} अवन्ति0, पृ0 102,137 ।

154- वृहत्0, 58 ·53 ।

155- दशकुमार0, पृ0 142; अवन्ति0, पृ0157,160और भी पृ0 148,140,175 ।

156- जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 750 ।

157- कादं0, पृ0 130 ।

158- {1} अवन्ति0कथासार, 7 ·75{2} काव्या0, 2·322; अवन्ति0, पृ0 149,175 ।

159- वृहत्0, 65 · 6,10 ।

160- वृज नारायण शर्मा, सोशल लाइफ इन नार्दन इंडिया, पृ0 268 ।

161- अवन्ति0,पृ0 38,39,113,134,153,206,209 ।

162- हर्ष0,पृ0 153,187;वी·एस·अग्रवाल, हर्ष0,पृ0 123 ।

163- काद0,पृ0 124 ।

164- वायु पु0 ,19। पृ0 373 ।

165- नारमत पु0,पृ0552 ।

166- {1} दशकुमार0,पृ0 142{2}अवन्ति0कथासार, 6·82,95 ।

167- अवन्ति0,पृ0 226;पूर्व0,पृ0,पृ0 26; हर्ष0,पृ0 20 ।

168- जे·एन· बनर्जी, क्लासिकल ऐज, पृ0 438-9 ।

169- मत्स्य पु0,60 ·4;ब्रह्माण्ड पु0,2 ·26·21;वायु पु0 ,55· 21 ।

170- वृहत्0, 57·5 -54,55 ।

171- टी·जी·एन·राव, ऐलीमेन्ट्स आफ हिन्दू इक्नोग्राफी, 2, पृ0 75 ।

172- हर्ष0,पृ0 20;लिंग पु0,उत्तरार्ध, 14 ।

173- टी·वी·महालिंगम ,कांचीपुरम इन अर्ली साउथ इंडियन हिस्ट्री,पृ0 75-6 ।

174- काद0,पृ0 100 ।

175- वही, पृ0 243 ।

176- वाटर्स,1,पृ0 290,331,352,2,पृ0 47,242,251 ।

177- वही,2,पृ0 47 ।

178- वही, 2,पृ0 256 ।

179- वही,2, पृ0 257 ।

180- वही,2,पृ0 262 ।

181- आर्कलाजी आफ सर्वे, एनुअल रिपोर्ट, 1934-5,पृ0 73-75 ।

182- खलीमपुर तामपत्र अभिलेख,एपि0इण्डिका,4,पृ0 243 ।

183- अवन्ति0,पृ0 63,90,93-4;एपि0इण्डिका,4,पृ0 243, अवन्ति0,पृ0 180; उत्तर0,पृ0 214 शिव मन्दिर के लिये ।

184- एपि0इण्डिका,4,पृ0 210 {हर्ष का बांसखेड़ा तामपत्र} ।

185- आई· ए·,9, पृ0238 ।

186 हर्ष0, 7,पृ0 220 ।

187- रत्ना0, 4·190 और 6 ·137,173 ।

188 एपि0इण्डिका, 6,पृ0 17 ।

189- हर्ष0 ,3, पृ0 100 ।

190- हर्ष0, पृ0 15 {गृहे- गृहे अपूज्यत भगवान शंड परशु:} ।

191- वही, पृ0 151 ।

192- वही ।

193- हर्ष0,3, पृ0 100 ।

194- वही, 2, पृ0 50 ।

195- वही, 1, पृ0 120 ।

196- अवन्ति0, पृ0 10 ।

197- आर·जी·भण्डारकर,वैष्णविज्म,शैविज्म ऐंड माइनर रिलिजियस सिस्टम,पृ065-66 ।

198- अवन्ति0,पृ038,180;हर्ष0,पृ0 42·,102 ।

199- हर्ष0,पृ0 102; वी·एस·अग्रवाल,हर्ष0,पृ0 191 ।

200- अवन्ति0,पृ0 38; के·ए·नीलकंठ शास्त्री,उपरोक्त,पृ0 143 ।

201- वृहत्0, 86· 22 ।

202- मालती0, 5, छन्द 4 ।

203- दशकुमार0,पृ0 203;आर·जी·भण्डारकर,उपरोक्त,पृ0 182-3 ; वी·एस·अग्रवाल, कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन,पृ0 58 ।

204- दशकुमार0,पृ0 204;आर·जी·भण्डारकर,उपरोक्त,पृ0 182-3;वी·एस·अग्रवाल, काद0,पृ0 89-90 ।

205- नीलकंठ शास्त्री,उपरोक्त, पृ0 433 ।

206- मालती0 ,1, 18 ।

207- नि·चू·,2,पृ0 38,227,244; 3 ·पृ0 252 ।

208- वही, 2, पृ0 244 ।

209- वही ।

210- कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 3, सं 35,शिरषि विन्विदन्तरन्ध्रिणीमस्थिमानाम् ।

211- वही, सं0 80 ।

212- वलि, 1, पृ0 55,76 ।

213- वाटर्स ,1, पृ0 148 ।

214- नि·चू· ,2,पृ0 207,227,वही,3, पृ0 31,585 ।

215- वृहत्कल्प0 ,3, पृ0 783 ।

216- नि·चू·,3, पृ0 585;वृहत्कल्प0 3,पृ0 783 ।

217- आर·जी· भण्डारकर, उपरोक्त,पृ0 168-169 ।

218- एपि० इण्डिका, 1, पृ० 271; 2, पृ० 5 ।

219- वृहत्० ,59 ·19 ।

220- वृहत्कल्प० ,2, पृ० 456 ।

221- मधुसेन ,उपरोक्त, पृ० 293 ।

222- तकाकुसु, पृ० 2 ।

223- कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 4, पृ० 12,14,32-33 ।

224- वाटर्स ,1, पृ० 296,233; 2, पृ० 229,251,262,287,296 ।

225- अवन्ति० ,पृ० 211 ; पूर्वपीठिका०, पृ० 8 ।

226- के० ए० नीलकंठ शास्त्री, उपरोक्त, पृ० 568-70 ।

227- के० आर० श्रीनिवास आयंगर, उपरोक्त, पृ० 327 ।

228- वी० वी० अय्यर, ओरोजिन एण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इनसाउथ इंडिया, पृ० 462 ।

229- काव्या०, 2 ·328; अवन्ति०, पृ० 20,112; दशकुमार०, पृ० 106 ।

230- दशकुमार०, पृ० 181 ।

231- अवन्ति०, पृ० 28,52,98,150,222; दशकुमार०, पृ० 181, हर्ष०, पृ० 125; काद०, अनुच्छेद 55; वी० एस० अग्रवाल, हर्ष०, पृ० 64-5; वी० एस० उपाध्याय, उपरोक्त, 2, पृ० 128-30 ।

232- कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, पृ० 209-10,213-18 ।

233- एच० डी० संकालिया, आर्कलाजी आफ गुजरात, पृ० 212 ।

234- शिलादित्य प्रथम का दानपत्र ।

235- हर्ष०, 4, पृ० 123 ।

236- हर्ष०, पृ० 148, त्रिकालज्ञान -- -- --भोजकस्तारको नाम गणक: समुपसत्य - विज्ञापितवान् ।

237- वृहत्० ,60 ·19 ।

238- जलि ,पृ० 186 ।

239- एपि० इण्डिका, 2, पृ० 210 §हर्ष का बाँसखेड़ा ताम्रपत्र § ,हर्ष०,4, पृ० 123 ।

240- एपि० इण्डिका ,5, पृ० 182 §महेन्द्रपाल द्वितीय के समय का प्रतापगढ़ अभिलेख § ।

241- वाटर्स ,1, पृ० 352 ।

242- जलि, पृ० 152 ।

243- वाटर्स ,2, पृ० 254 ।

244- जलि, पृ० 152 ।

245- वृहत्० , 58 ·10 ।

246- विंसेन्ट स्मिथ, हिस्ट्री आफ इण्डियन आर्ट, पृ० 205 ।

247- आर॰ सी॰चन्द, उपरोक्त, पृ0 45 ।

248- जयशंकर प्रसाद, उपरोक्त, पृ0 54 ।

249- ई॰ मैकी, इन्दुज सिविलाईजेशन ,पृ0 54 ।

250- दुर्गासप्त0 , 5 ·13 { मारकेण्डय पृ0 } ।

251- अपने इस रूप में पार्वती,उमा अथवा गौरी के नाम से जानी जाती हैं ।

252- दुर्गासप्त0 , 9 ·6 ,10 ,23 ।

253- मारकेण्डय पृ0 ,73 ·40-42 ।

254- दक्षिणकारी समुदाय के धार्मिक कर्म पौराणिक पूजा के ही समान थे ।

255- दुर्गासप्त0 ,12 ·20-21 ।

256- वही, 12 ·4 ।

257- वही ।

258- काद0,काले, पृ0 108-109 ।

259- हर्ष0 ,पृ0 212 ।

260- वहि, पृ0 87 ।

261- काद0 ,पृ0 58 ।

262- दुर्गासप्त0 ,11 ·11-13 ।

263- {1} अवन्ति0,पृ0 39,131,200 {चंडिका के लिये}{2} दशकुमार0,पृ0 206,207 { दुर्गा के लिये } ।

264- काद0 ,पृ0 109 ।

265- मारकेण्डय पृ0 ,74 · 1-19 ।

266- अवन्ति0 ,पृ0 159; मृच्छ0, 90 ·15 ।

267- {हर्ष0, 205 ।

268- काद0 ,रायडिंग, पृ0 391-401 ।

269- दशकुमार0,पृ0 149,150,204,207; अवन्ति0 ,पृ0 127,135,159,167,174,214 ।

270- अवन्ति0, पृ0 39,157 ।

271- अवन्ति0,पृ0 39,58,167,173-4; अवन्ति0कथासार,3·70, 4·197,पूर्व0,पृ0 15 ।

272- दशकुमार0,पृ0 149,208,अवन्ति0,पृ0 39,135,173-4,179 ।

273- ए॰एल॰बाशम, द वण्डर दैट वाज इंडिया, पृ0 314 ।

274- {1}अवन्ति0,पृ0 127,135,174; दशकुमार0,पृ0 151{2}अवन्ति0,पृ0 58,173; दशकुमार0,पृ0 208; वही,पृ0 143, अवन्ति0,पृ0 245 ।

275- दशकुमार0 ,पृ0 143 ।

276- अवन्ति0,पृ0 39,135,173,200,दशकुमार0,पृ0 149,204,207 ।

277- दशकुमार0,पृ0 143 ।

278- अमर0 " ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः ।।"

279- वही ।

280- कुमार0 , 7·38 ।

281- डी·सी·सरकार,उपरोक्त,पृ0 426-7 ।

282- मृच्छ0, 1 ·5; हर्ष0, पृ0 153 ।

283- अवन्ति0,पृ0 160; काद0,अनुच्छेद, 64 ।

284- महा0, शल्य 46 ·3 ।

285- अवन्ति0,पृ0 8,15,57,131,154,दशकुमार0,पृ065,134,151,काव्या0, 2·345 ।

286- हर्ष0,1,पृ0 9 ,11 ।

287- वृहत्0, 58 ·5,37 ।

288- अवन्ति0,पृ0 45,90 ।

289- दशकुमार0,पृ0 139,151 ।

290- अवन्ति0,पृ0 44-8, काद0 अनुच्छेद 104-105 ।

291- काव्या0, 1·1;दशकुमार0,पृ0 55;अवन्ति0,पृ03,10,12,131,154 ।

292- के·ए·नीलकंठ शास्त्री,उपरोक्त, पृ0 143 ।

293- दशकुमार0,पृ0 55;अवन्ति0,पृ0 131;रघु0, 6 ·29;विक्रमो0,5. 24 ।

294- दशकुमार0 ,पृ0 134,138,अवन्ति0,पृ0 27,60 ।

295- काद0,पृ0 103{गौरमिहासिंहासनोचितमूर्ति.} ।

296- काद0,उत्तरभाग, 5 ।

297- काद0,पृ0 21,155 ।

298- वेणी0, पृ0 206 ।

299- एपि0 इण्डिका ,?,पृ0 1?1 ।

300- वही, 1?,पृ0 303 ।

301- वही, ?, पृ0 1?1 ।

302- शाकम्भरी देवी शाकाहारी लोगों की देवी थी ।

303- जी·एच·ओझा,डुंगरपुर राज्य का इतिहास,पृ0 18-19 ।

304- वाटर्स ,1,पृ0 221 ।

305- हर्ष0, पृ0 92 ।

306- कादO, पृ0 334-35 ।

307- अग्नि पु0, 348 ·23; ब्रह्म पु0 ,40 ·15 ।

308- अवन्ति0,पृ0 156,215,दशकुमार0,पृ0 111-2;अवन्ति0कथासार,5.76-7 ।

309- एलिस गेटे, गणेशा, पृ0 25 ।

310- अवन्ति0,पृ0 138,156 ।

311- हर्ष0,3,पृ0 104 ।

312- वृहत्0, 58 ·58 ।

313- जे·एन·बनर्जी, क्लासिकल ऐज, पृ0 449-50 ।

314- मालती0,अंक 1, छन्द 2 ।

315- गौड़0,छन्द 52-54 ।

316- अमर0, 1, 1·39-40 ।

317- दशकुमार0,पृ0 147,रामा0,1 ·36-7;अवन्ति0,पृ0 160,161 ।

318- §1§अवन्ति0,पृ0 60,136,162;पूर्व0,पृ0 22§2§अवन्ति0,पृ0 137,156-7 §अवन्ति0कथासार,3 ·37§,169§3§काव्या0, 2 ·321,दशकुमार0,पृ0 139 ।

319- वायु पु0,53 ·31 सुरसेनाधिपति: स्कन्ध: पठ्यते गारको ग्रह. ।

320- ब्राह्माण्ड पु0, 3·10,30-39; वायु पु0,72 ·34-37 ।

321- मत्स्य पु0 ,159 1- वामं विदार्य निष्क्रान्त. सुतो देव्या: ।

322- नीलमत पु0 ,647-9 ।

323- अवन्ति0 ,पृ0 160 ।

324- अवन्ति0,पृ0 181,182,अवन्ति0 कथासार, 4 ·40,50, काव्या0, 2 ·321; मुरुगुन के लिये देखिये,एन· सुब्रह्मण्यम,उपरोक्त, पृ0 254-6 ।

325- काद0 ,पृ0 233,437 ।

326- वही ।

327- वृहत्0, 58 ·41 ।

328- §1§ अवन्ति0,पृ0 155-6;अवन्ति0कथासार, 3 ·37-8§2§ अवन्ति0,पृ0182, मन्दिर के लिये देखिये,दशकुमार0,पृ0 147 ।

329- काद0,पृ0 21,66 ।

330- वृहत्0 , 58 ·56 ।

331- अवन्ति0,पृ0 156 ।

332- वही, पृ098 ।
333- वही, पृ0 223 ।
334- जे॰ एन॰ बनर्जी, उपरोक्त, पृ0 453 ।
335- वृहत्0, 58 ·40 ।
336- ब्रज नारायण शर्मा, उपरोक्त, पृ0 258 ।
337- मालती0, अंक 2, पृ0 26 ।
338- वृहत्0 ,57 ·57 ।
339- जे॰एन॰ बनर्जी, डेवलमेन्ट आफ हिन्दू इक्नोग्राफी, पृ0 527 ।
340- वृहत्0, 5 ·19, 22; 8, 23, 26 ।
341- वही, 53 ·3; 85, 75 ।
342- के ·एन·दीक्षित, एक्सवेशनस एट पहाड़पुर, पृ0 48 ।
343- वृहत्0 ,57 ·56 ।
344- वही, 58 ·42 ।
345- के॰ एन॰ दीक्षित, उपरोक्त, पृ0 46 ।
346- अजय मित्र: शास्त्री, इण्डिया ऐज सीन इन द बृहत्संहिता आफ बराहमिहिर , पृ0 116 - 117 ।
347- गौड़0, 10 ·58 -61 ।
348- कादं0, पृ0 9 ।
349- वही, पृ038, 212, 233 ।
350- वृहत्0 ,58 ·57 ।
351- वृहत्0, 57 ·57 " नवग्रह कुबेरो वामकृति वृहत् कौशकी ।"
352- अग्नि पु0, 104 ·1-2, 3-4 ।
353- दशकुमार0, पृ0 168, 17) ।
354- अवन्ति0, पृ0 4, 112, 213, 217, 150, 162 ।
355- कादं0, पृ0 104 ।
356- वही, पृ0 168, 485 ।
357- अवन्ति0, पृ0 14· 20, 43, 90, 153 ।
358- डी॰ के॰ गुप्ता, उपरोक्त, पृ0 338 ।
359- §1§ काव्या0, 2 ·277; अवन्ति0, पृ0 15, 17, 153, अवन्ति0कथासार, 3 ·28; उत्तर0, पृ0 216 §2§ अवन्ति0, पृ0 180§3§दशकुमार0 पृ0 143 ।

360- अवन्ति0,पृ0 28,98; पूजा के लिये ,पृ0 17,155,22 ।

361- अवन्ति0,पृ0 155;प्रतिमा के लिये, पृ0 53,118,दशकुमार0,पृ0 206; अवन्ति0 पृ0 15 ।

362- अवन्ति0 ,पृ0 16,222 ।

363-§1§अवन्ति0,पृ0 180§2§ वही,पृ0 245§3§दशकुमार0,पृ0 181,अवन्ति0,पृ0 98 और भी,दशकुमार0,पृ0 64,164; अवन्ति0,पृ0 133,143,189 ।

364- वही, पृ0 173 ।

365- दशकुमार0 ,पृ0 69 ।

366- वही, पृ0 149 ।

367- वही, पृ0 184 ।

368- के०एन०नीलकंठ शास्त्री,उपरोक्त, पृ0 143 ।

369- §1§अवन्ति0,पृ0 98,222§2§वही,पृ038,111,142,226 ।

370- ऋग्वेद, 10 ·103 ।

371- वही, 1 ·164 ।

372- अवन्ति0 ,पृ0 98; और भी, पृ0 60 ।

373- वही, पृ0 222-3 ।

374- दशकुमार0, पृ0 141,149 ।

375- के० एन० नीलकंठ शास्त्री, उपरोक्त, पृ0 143 ।

376- हर्ष0, पृ0 153; काद0 अनुच्छेद, 216; वी०एस०अग्रवाल,काद0उपरोक्त,पृ0 228 ।

377- रामा0, 2 ·12,27,111· 13-7; काद0,अनुच्छेद 180,195;हर्ष0,पृ0 222; अवन्ति0,पृ0 181;दशकुमार0,पृ0 68;और भी,पृ0 57,104,147,148,अवन्ति0 कथासार, 8 ·31 ।

378- §1§ दशकुमार0,पृ0 133§2§ वही,पृ077,84;अवन्ति0, पृ065,133§3§वही,पृ0 241§4§ दशकुमार0,पृ0 137§5§ अवन्ति0 ,पृ0 133§6§ वही,पृ0 140 §7§वही, पृ0 155 ।

379- काव्या0, 2 ·325;अवन्ति0,पृ0 17,110,150,159,162,242,244, अप्सराओं के लिये देखिये दशकुमार0,पृ0 106,120,130;अवन्ति0,पृ0 56,112,132,166,203 काव्या, 2 ·119 ।

380- §1§ अवन्ति0,पृ0 60 §2§ वही,पृ0 159,ए०एल०बाशम,उपरोक्त,पृ0 320 ।

381- §1§ दशकुमार0,पृ0 177; रघु0 ,4 ·78 §2§अवन्ति0,पृ0 26,212,244;कुमार0, 1 ·14; काद0अनुच्छेद, 37 ।

382- दशकुमार0,पृ060;अवन्ति0,पृ0 15,16,17,52,113,150,159 ।

383- अवन्ति०,पृ० 124 ।

384- वही,पृ० 159,और भी देखिये, पृ० 124 ।

385- वही,पृ० 17,150,159,आठ सिद्धियों के लिये,पृ० 146 ।

386- वही, पृ० 118 ।

387- {1} अवन्ति०,पृ० 214;अवन्ति०कथासार,8 ·73{2}दशकुमार०,पृ० 70,118; अवन्ति०,पृ० 144{3}दशकुमार०,पृ० 126;अवन्ति०,पृ० 9,48,83,211 ।

388- वही, पृ० 19,195{अवन्ति०कथासार, 4 ·199},198 ।

389- वही,{1} पृ० 9,19{2} पृ० 78;काद०,अनुच्छेद, 18-9 ।

390- नीलकंठ शास्त्री, उपरोक्त, पृ० 75-7 ।

391- {1} दशकुमार०,पृ०126 {2}अवन्ति०,पृ० 78;काद०,अनुच्छेद,18 ।

392- दशकुमार०,पृ० 126 ।

393- अवन्ति०,पृ० 115,130 ।

394- दशकुमार०,पृ० 56;अवन्ति०,पृ० 40,199;अवन्ति०कथासार,4 ·127-8,217 ।

395- दशकुमार०,पृ० 56 ।

396- वही, पृ० 142 ।

397- वही, पृ० 170-1 , और भी अवन्ति०,पृ० 26,125,214 ।

398- दशकुमार०,पृ० 156,170, अवन्ति०,पृ० 211; रामा०, 1 ·8 ·17; मनु०,12·60; याज्ञवल्क्य स्मृ० , 3 ·212 ; हर्ष० ,पृ० 107 ।

399- टी· वी·महालिंगम, उपरोक्त, पृ० 120 -1 ।

400- दशकुमार०,पृ० 117; हर्ष०,पृ० 108 ।

401- दशकुमार०,पृ० 178-80;अवन्ति०कथासार,6 ·6); पूर्व०,पृ० 39 ।

402- दशकुमार०, पृ० 126 और भी देखिये अवन्ति०,पृ० 7,183,210 ।

403- तकाकुसु , पृ० 15 ।

404- वही ।

405- वही ।

406- वही ।

407- वही, पृ० 6 -8 ।

408- वाटर्स, 1, पृ० 331,333,351,373,377, 2,पृ० 1,47,63,191,242,247, 252,256 और 257 ।

409- तकाकुसु, जनरल इंट्रोडक्शन, पृ० 34 ।

410- वही, पृ० 24 ।

411- वही, पृ0 23 ।

412- वही, पृ0 23 ।

413- वही, पृ0 14 ।

414- वही, पृ0 22 ।

415- वाटर्स, 1, पृ0 1624:

416- तकाकुसु, पृ0 14 ।

417- ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2 · 2,18 ; बृज नारायण शर्मा ,उपरोक्त,पृ0 172 ।

418- तकाकुसु ,जनरल इन्ट्रोडक्शन ,पृ0 20 ।

419- एक शाक्य परिवार में पैदा होने के कारण गौतम शाक्यमुनि कहलाये ।

420- वाटर्स ,1, पृ0 340 ।

421- वही, पृ0 354 ।

422- वही, 2, पृ0 184 ।

423- वही, 2,पृ0 187 ।

424- वही, पृ0 171 ।

425- दशकुमार0 ,पृ0 205,206और भी पृ0 102,105 ।

426- राधा कुमुद मुखर्जी, हर्ष0, पृ0 74 ।

427- बृज नारायण शर्मा ,उपरोक्त, पृ0 6 ।

428- वाटर्स ,1, पृ0 202 ।

429- वही, पृ0 226 ।

430- वही, पृ0 240 ।

431- वही, पृ0 283 ।

432- वही, 2, पृ0 1 ।

433- वही, 1, पृ0 366 ।

434- वही, पृ0 377 ।

435- वही, 2, पृ0 63 ।

436- बृज नारायण शर्मा ,उपरोक्त, पृ0 125-6 ।

437- तकाकुसु, पृ0 150 ।

438- महायानी बुद्ध को लोकोत्तर अर्थात् अलौकिक के रूप में समझते थे ।

439- तकाकुसु, पृ0 162,202 ।

440- बृज नारायण शर्मा, उपरोक्त, पृ0 201 ।

441- तकाकुसु, पृ0 154-5 ।

442- वही, पृ0 153 ।

443- वही, पृ0 152-4 ।

444- वही, पृ0 147-9 ।

445- वही, पृ0 38 ।

446- वही, पृ0 142 और 150 ।

447- वही, पृ0 155 ।

448- वाटर्स ,1, पृ0 283 ।

449- तकाकुसु, पृ0 155 ।

450- काव्या0 ,3 ·174 ।

451- वही ।

452- एस·वी· देव, हिस्ट्री आफ जैन मोनकिज्म ,पृ0 371-4 ।

453- वाटर्स ,1,पृ0 251,2, पृ0 152 ।

454- वही, 2, पृ0 154 ।

455- वाटर्स ,2, पृ0 114, 187 ।

456- वही, पृ0 63 ।

457- बृज नारायण शर्मा,उपरोक्त, पृ0 124 ।

458- हर्ष0, 2, पृ0 48, 5 पृ0 153 ।

459- अर्थ सम्भवत: उन जैन साधुओं का प्रतीक था जो नग्न होकर घूमते थे ।

460- वाटर्स ,1, पृ0 148 ।

461- हर्ष0, पृ0 236 ।

462- दशकुमार0 ,2, पृ0 73,75 ।

463- दशकुमार0 ,पृ0 75 और भी पृ0 196;अर्थ0 ,2 ·36,3 ·16,39;आर0पी0 - कांगले, कौटिल्य अर्थशास्त्र , 3,पृ0 154-5 ।

464- दशकुमार0 ,पृ0 100 ।

465- वही, पृ0 87, 108 ।

466 वही, पृ0 109 ।

467- दशकुमार0 ,पृ0 75, अभिनन्द0 ,पृ0 73 ।

468- हर्ष०, पृ० 236 ।

469- दशकुमार०,पृ० 73, 87, अवन्ति०, पृ० 73 ;अवन्ति०कथासार, 8 ·35 ;हर्ष०, पृ० 42,48; काद०,अनुच्छेद 28; मृ०, 4 ·17 और भी,वी·एस·अग्रवाल, हर्ष०, पृ० 107 ।

470- दशकुमार० ,पृ० 168 ।

471- वही, पृ० 73,75;अवन्ति० कथासार, 8 ·35 ।

472- दशकुमार० ,पृ० 168-9, और भी पृ० 67,170,227-8 ।

473- अवन्ति०, पृ० 238,अवन्ति०कथासार, 5 ·55 ।

474- दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के लोग तीर्थंकरों तथा अन्य देवी - देवताओं की पूजा किया करते थे ।

475- सूत्र०, जैकोबी का प्रकाशन,अध्याय 1, पृ० 46 ।

476- वही, अध्याय 5, पृ० 391-5 ।

477- वही, अध्याय 1, पृ० 46 ।

478- वही ।

479- वही, अध्याय 5, पृ० 391- 5 ।

480- वही, अध्याय 1, पृ० 46 ।

481- वही ।

482- वही ।

483- वही, अध्याय 1, पृ० 47-48 ।

484- पूर्ण चन्द नाहर तथा घोष, एपिटामी आफ जैनिज्म, पृ० 13 ।

485- सूत्र० ,उपरोक्त, अध्याय, 1, पृ० 49 ।

486- वही ।

487- वही ।

488- वही ।

489- नि· चू· ,1, पृ० 141, वही, 2, पृ० 262 ।

490- सूत्र० ,उपरोक्त, अध्याय 1, पृ० 49 ; ए·एस· अल्टेकर, मंत्रशास्त्र और जैनिज्म ।

491 - नि· चू· ,1, पृ० 9; 3, पृ० 186 ।

492- वही, 1, पृ0 21, 3, पृ0 141 ।

493- वही, 3, पृ0 185-86 ।

494- वही, 3, पृ0 186 ।

495- वही, 1, पृ0 8-9, 4, पृ0 15 ।

496- वही, 2, पृ0 408 ।

497- वही, 2, पृ0 81 ।

498- वही, 1, पृ0 67; 2, पृ0 262;3, पृ0 102 ।

499- वही, 2, पृ0 308, 3, पृ0 416 ।

500- समरैच्चकहा, पाँचवा भाग ।

501- कुवलय0, पृ0 248 ।

502- ए.एम. गेटे, क्लासिकल ऐज, पृ0 408 - 15 ।

503- आई.ए., 14, पृ0 326 §शिलादित्य प्रथम का ताम्र दानपत्र§ ।

504- कलिन् प्रशस्ति, 25, पृ0 221 ।

505- बादल प्रशस्ति, एपि0 इण्डिका, 2, पृ0 106 ।

506- आर. एस. त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ0 161 ।

507- के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 670 ।

508- ब्रज नारायण शर्मा, पूर्वोक्त, पृ0 126 ।

509- भागवत पु0, 1 ·3, 2-7, 11 ·4 ।

510- आर. सी. मजूमदार, ऐज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ0 330 ।

511- नि. चू., 3, पृ0 24 ।

512- कल्याण §तीर्थांक§ § गोरखपुर§ नि. चू., 3, पृ0 543 ।

513- नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ0 522 ।

514- देशभक्त्यादि संग्रह, अखिल विश्व जैन मिशन द्वारा प्रकाशित, गुजरात ।

515- ह्वेनसांग सातवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में और ईत्सिंग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आया था ।

516- वाटर्स ,2, पृ0 14 ।

517- वही, पृ0 113, 15 ।

518- वाटर्स ,1,पृ0 388-97 ।

519- वही ,1, पृ0 335 ।

520- तकाकुसु ,पृ0 30 ।

521- वाटर्स ,2, पृ0 73 ।

522- ह्वेनसांग इन इंडिया,पृ0 27; ब्रज नारायण शर्मा, उपरोक्त, पृ0 220 ।

523- बी॰ पी॰ मजूमदार, सोशियो -इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, पृ0316 ।

524- वही ।

525- मत्स्य पु0 ,अध्याय 22, 102- 11, 122, कुरम पु0, 1. 30-38, 2 · 35-37, 40-42, वराह पु0, अध्याय 126 ·137-9 ; अग्नि पु0, 109-116 ।

526- बी॰एन॰ एस॰ यादव, सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया, पृ0 372 ।

527- {1} अवन्ति0, पृ0 10 ,55,95, 107,139,143, 144,193, दशकुमार0,पृ0 00, 147; अवन्ति0 कथासार, 4 ·168 ।

528- गेंडर और उससे सम्बन्धित देवता भी पवित्र माने जाते थे ।

529- मत्स्य पु0 , 110 · 20 ।

530- वही, 120 ·28 ।

531- वही, 113 ·262 ; अग्नि पु0 ,118 ·251 ।

532- ब्रज नारायण शर्मा , उपरोक्त, पृ0 224 ।

533- अग्नि पु0 ,109 ·55-6 ।

534- हिन्दू धर्मशास्त्र, 4, पृ0 552 ।

535- अग्नि पु0 ,114 ·117 ।

536- मत्स्य पु0 , 103 ·242 , कुरम पु0 , 1 ·36 ।

537- वाटर्स , 1,पृ0 319 ।

538- मत्स्य पु0 ,188 ·504, 14 ।

539- अग्नि पु0 , 109 ।

540- वही, 112 ।

541- वही , 3 · 11-12 ।

542- नि· बू· ,3, पृ0 366 ।

543- कादo ,पृ0 84 , 100- 101 ।

544- {1} अवन्ति0,पृ0 95 {2} दशकुमार0,पृ0 123 {3} अवन्ति0,पृ0 38, 154 {4} अवन्ति0,पृ0 33{5} - {6} अवन्ति0,पृ0 195 {7} वही,पृ0 186 ।

545- अवन्ति0 ,पृ0 180 ।

546- मत्स्य पु0 ,105 · 4- 5 ।

547- पराशर स्मृ0 ,12 ·12-13 ।

548- लिखित स्मृ0 ,2 · 130 ।

549- वाटर्स, 1, पृ0 364 ।

550- तकाकुसु, पृ0 198 ।

551- वही, पृ0 198 ।

552- मत्स्य पु0, 105 ·11 ।

553- कूरम पु0 , 37 · 8-9 ।

554- पदम पु0, 43 ·11 ।

555- मत्स्य पु0 , 105 ·11 ।

556- कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 3,42,पृ0 203 ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मौलिक ग्रन्थ

दण्डिन के मूल ग्रन्थ

अवन्तिसुन्दरीकथा :- सं०, एम०आर०कवि, मद्रास, 1924 ।
सं०, के०एस० महादेव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1954 ।

अवन्तिसुन्दरीकथासार :- पद्य लेखन शैली में गुमनाम संग्रह, सं०, एम०आर०कवि, मद्रास, 1924 ।
सं०, जी०हरिहर शास्त्री, मद्रास, 1957 ।

दशकुमारचरित :- सं०, जी०ब्यूहलर तथा पी०पीटरसन, बम्बई, 1891, सं०, जी०जे० आगाशे, वर्तमान पूर्वपीठिका तथा पुरावृत्तांतदर्शन, बम्बई, 1919 ।
सं०, एच०एच०विल्सन, लन्दन, 1846 ।
सं०, एम०आर०काले, वर्तमान प्रचलित पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका अंग्रेजी अनुवाद सहित, बम्बई, 1925; पुन: प्रकाशित, दिल्ली, 1966 ।
सं०, नारायण राम आचार्य, पूर्वपीठिका पर गुमनाम संग्रह पादटीपिका, कविन्द्राचार्य सरस्वती की पादचन्द्रिका नामक टीका (17वीं शताब्दी ईसवीं), शिवराम की भूषण, तथा भानुचन्द्र की लघुदीपिका, तथा उत्तरपीठिका की टीका सहित, बम्बई, 1951 ।
अनु०, ए०डब्लू रायडर, शिकागो, 1927 ।
निरंजनदेव विद्यालंकार का हिन्दी अनुवाद ।

काव्यादर्श :- सं०, केशव, प्रेमचन्द्र तारकेश्वर की टीका सहित कलकत्ता, 1881 ।
सं०, एम०रंगाचार्य, गुमनाम टीका सहित, हृदयंगमा तथा तरुणवाचस्पति की टीका सहित, मद्रास, 1910 ।
सं०, एस०के०बलवाकर, पूना, 1924 ।

सम्पा०, पी०कृष्णमाचारी, वेदजयंगला की टीका; तरूणवाचस्पति की टीका, तिरुवेदी, 1936 ।
सम्पा०, रंगाचार्य रेडी, पूना, 1938 ।
सम्पा०, डी०टी०ताताचार्य, तरूणवाचस्पति की टीका सहित, बम्बई, 1941 ।
सम्पा०, वी०एन० लायर, जीवानन्द विद्यासागर की टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद, मद्रास, 1952 ।
सम्पा०, अनन्तलाल तथा उपेन्द्र झा, काव्यलक्षण, दरभंगा, 1957 ।
रामचन्द्र मिश्र, हिन्दी अनुवाद सहित, वाराणसी, 1958 ।

अन्य मौलिक ग्रन्थ
==============

अथर्ववेद :- सम्पा०, श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1938 ।
अथर्ववेदसंहिता :- सम्पा०, एस०पी०, पण्डित, बम्बई, 1895 ।
अर्थशास्त्र :- कौटिल्य, सम्पा०, आर०शामशास्त्री, मैसूर, 1919 ।
सम्पा०, आर०पी०कांगले, बम्बई, 1960 ।
अभिज्ञानशाकुन्तलम् :- सम्पा०, सीताराम चतुर्वेदी, बनारस ।
सम्पा०, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1914 ।
अमरकोश :- अमरसिंह, सम्पा०, टी०गणपतिशास्त्री, भाग -4, त्रिवेन्द्रम, 1914-17 ।
सम्पा०, गुरुप्रसाद शास्त्री, बनारस, 1950 ।
अष्टाध्यायी :- पाणिनी, निर्णयसागर प्रेस, 1929 ।
सम्पा० शंकर राम शास्त्री, मद्रास, 1937 ।
अष्टांगसंग्रह :- वाग्भट्, सम्पा०और अनु०, अत्रीदेव गुप्ता, बम्बई, 1951 ।
आपस्तम्बधर्मसूत्र :- हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी ।
आपस्तम्बगृह्यसूत्र :- सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, मैसूर गवर्नमेन्ट, संस्कृत लाइब्रेरी सीरिज ।
आश्वलायनगृह्यसूत्र :- नारायण की टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1894 ।
उत्तररामचरित :- भवभूति, सम्पा०, गुरुनाथ वी०भट्टाचार्य, कलकत्ता ।

सम्पा०,पी०कृष्णमाचारी,वेदजवंगमा की टीका;तरूणवास्पति की टीका, त्रिवेदी, 1936 ।
सम्पा०,रंगाचार्य रेड्डी,पूना,1938 ।
सम्पा०,डी०टी०तथाचार्य,तरूणवास्पति की टीका सहित, बम्बई, 1941 ।
सम्पा०,वी०एन० लायर,जीवानन्द विद्यासागर की टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद, मद्रास, 1952 ।
सम्पा०,अनन्तलाल तथा उपेन्द्र झा,काव्यलक्षण,दरभंगा,1957 ।
रामचन्द्र मिश्र,हिन्दी अनुवाद सहित,वाराणसी,1958 ।

अन्य मौलिक ग्रन्थ

अथर्ववेद :- सम्पा०, श्रीपाद शर्मा,औंधनगर, 1938 ।
अथर्ववेदसंहिता :- सम्पा०,एस०पी०,पंडित, बम्बई, 1895 ।
अर्थशास्त्र :- कौटिल्य,सम्पा०,आर०शामशास्त्री,मैसूर, 1919 ।
सम्पा०,आर०पी०कांगले,बम्बई, 1960 ।
अभिज्ञानशाकुन्तलम् :- सम्पा०,सीताराम चतुर्वेदी, बनारस ।
सम्पा०,जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1914 ।
अमरकोष :- अमरसिंह,सम्पा०,टी०गणपतिशास्त्री, भाग -4, त्रिवेन्दम, 1914-17 ।
सम्पा०,गुरुप्रसाद शास्त्री, बनारस, 1950 ।
अष्टाध्यायी :- पाणिनी, निर्णयसागर प्रेस, 1929 ।
सम्पा० शंकर राम शास्त्री,मद्रास, 1937 ।
अष्टांगसंग्रह :- वाग्भट्ट, सम्पा०और अनु०,अत्रीदेव गुप्ता, बम्बई, 1951 ।
आपस्तम्बधर्मसूत्र :- हरदत्त की टीका सहित,चौखम्भा संस्कृत सीरिज,वाराणसी ।
आपस्तम्बगृह्यसूत्र :- सुदर्शनाचार्य की टीका सहित,मैसूर गवर्नमेन्ट , संस्कृत लाइब्रेरी सीरिज ।
आश्वलायनगृह्यसूत्र :- नारायण की टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,1894 ।
उत्तररामचरित :- भवभूति, सम्पा०,गुरुनाथ वी०भट्टाचार्य, कलकत्ता ।

उपनिषद :- सम्पा, जे०एल०शास्त्री, दिल्ली, 1970 ।
ऋग्वेद :- भाग5, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933-51 ।
ऋतुसंहार :- कालिदास, वाराणसी, 1962 ।
कादम्बरी :- बाणभट्ट एवं भूषणभट्ट, सम्पा०के०पी० प्रभा, बम्बई, 1896
{एन०एस०पी०} ।
अनु०, सी०एम०रायडिंग, लंदन, 1896 ।
अनु०, पी०आर०काले, बम्बई, 1924 ।
कामसूत्र :- वात्स्यायन, सम्पा, यशोधर जयमंगला, वाराणसी, 1964 ।
अनु०, के०आर० लायंगर, लाहौर, 1921 ।
कामन्दक नीतिसार :- हिन्दी अनुवाद, बम्बई, 1952 ।
काव्यमीमांसा :- राजशेखर, सम्पा०, जी०एस०राय, वाराणसी, 1964 ।
किरातार्जुनीय :- भारवि, सम्पा०, जे०विद्यासागर, कलकत्ता, 1875 ।
कुट्टनीमतम् :- दामोदरगुप्त, वाराणसी, 1961 ।
कुमारसम्भव :- कालिदास, वाराणसी, 1963 ।
सम्पा०, वी०एल०पणिशकर शास्त्री, सातवाँ संस्करण,
बम्बई, 1910 ।
कुवलयमाला :- {प्राकृत} उद्योतनसूरी, सम्पा० डा० एस०एन० उपाध्याय,
बम्बई, 1959 ।
कृत्यकल्पतरु :- लक्ष्मीधर, 11खण्ड, बड़ौदा, 1941-53 ।
सम्पा०, के०वी०रंगास्वामी आयंगर, बड़ौदा ।
{ब्रह्मचारी कांड, 1948; दानकांड, 1941; गृहस्थकांड, 1942;
राजधर्मकांड, 1943; व्यवहारकांड, 1953; तीर्थकांड; व्रतकांड} ।
गौतमधर्मसूत्र :- हरदत्त टीका सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, 1910 ।
गौतमधर्मशास्त्र :- सम्पा०, स्टेंजलर, लन्दन, 1876 ।
गौड़वहो :- {प्राकृत} वाक्पतिराज, सम्पा०, नारायण बापूजी उत्गीकर,
पूना, 1927 ।
चरकसंहिता :- सम्पा०, जे० विद्यासागर, कलकत्ता, 1896 ।
जातक :- हिन्दी अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन ।
जानकीहरण :- कुमारदास, सम्पा०, गोपाल आर०नंदराजीकर, बम्बई, 1907 ।

तन्त्रवार्तिक :- कुमारिलभट्ट, प्रकाशन बनारस, 1890 ।

तिलकमंजरी :- धनपाल, एन0एस0पी0, बम्बई, 1903 ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण :- राम शास्त्री, मैसूर, 1921 ।

तैत्तिरीय संहिता :- श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1945 ।

नागानन्द :- हर्ष, सं0जे0 विद्यासागर, कलकत्ता, 1912 ।
नागानन्दधाम, ब. रस, 1947 ।

निशीथसूत्र भाष्यचूर्णि :- जिनदास गनी, आगरा, 1957-60 ।

नीतिशतक :- भर्तृहरि, बनारस, 1955 ।

पार्वती-परिणय :- बाणभट्ट, संपा0 मगेश रामकृष्ण तेलंग (एन0एस0पी0) बम्बई, 1920 ।

पारस्करगृह्यसूत्र :- गुजराती प्रेस संस्करण, 1917 ।

प्रियदर्शिका :- हर्ष, वी0डी0गाडरे, बम्बई, 1884 ।

पुराण

अग्निपुराण :- आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1900 ।

गरुण पुराण :- खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906 ।

नारमत पुराण :- सं0, डि व्रीजे, लाहौर, 1924 ।

नीलमत पुराण :- सं0, दे वर्री, लन्दन, 1936 ।

पद्म पुराण :- सं0, वी0एन0 मांडलिक, भाग 4, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1893-94 ।

ब्रह्माण्ड पुराण :- बम्बई, 1913 ।

भागवत पुराण :- गोरखपुर, 1965 ।

भविष्य पुराण :- वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1912 ।

मत्स्य पुराण :- आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1907 ।

मारकण्डेय पुराण :- सं0, के0एम0बनर्जी, कलकत्ता, 1862 ।

वायु पुराण :- पूना, 1905 ।

विष्णु पुराण :- गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 2009 ।

वामन पुराण :- कलकत्ता, 1885 ।

वाराह पुराण :- कलकत्ता, 1883 ।

स्कन्ध पुराण :- पूना, 1893 ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण :- बम्बई, 1912 ।
कालिका पुराण :- बम्बई, 1891 ।
बौधायन धर्मसूत्र :- आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज ।
भविष्यतकथा :- धनपाल, सं०, सी०डी०दलाल तथा पी०डी० गुणे, बड़ौदा, 1925 ।
मत्तविलासप्रहसन :- महेन्द्रवर्मन, वाराणसी, 1966 ।
महाभाष्य :- पतंजलि, सं०, वेदव्रत, रोहतक, 1962 ।
महाभारत :- गीताप्रेस प्रकाशन, गोरखपुर, 1956 ।
महावीरचरितम् :- भवभूति, लाहौर, 1928 ।
मालविकाग्निमित्रम् :- कालिदास, बम्बई संस्कृत सीरिज ।
मालतीमाधव :- भवभूति, एन०एस०पी०, 1926 ।
मृच्छकटिक :- शूद्रक, सं०, जे० विद्यासागर, कलकत्ता, 1928 ।
मुद्राराक्षस :- विशाखदत्त, सं०, सी०आर० देवधर तथा वी०एम०बडेकर, बम्बई, 1948 ।
मेघदूत :- कालिदास, कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी ।
रघुवंश :- कालिदास, सं०, एन०एस०पी०, बम्बई, 1922 ।
मल्लिनाथ की टीका, 1916 ।
कालिदासग्रन्थावली, वाराणसी ।
रत्नावली :- हर्ष, सं०, के०पी०परब, बम्बई (एन०एस०पी०)
राजतरंगिणी :- कल्हण, सं०, एम०ए०स्टीन, दिल्ली, 1960 ।
रामायण :- वाल्मीकि, गीता प्रेस प्रकाशन, गोरखपुर, 1963 ।
वासवदत्ता :- सुबन्धु, वाराणसी, 1954 ।
विक्रमोर्वशीय :- कालिदास, बम्बई संस्कृत सीरिज, 1901 ।
वीरमित्रोदय :- (तीर्थप्रकाश) सं०, विष्णु प्रसाद, बनारस, 1917 ।
वृहत्संहिता :- वराहमिहिर, वाराणसी, 1895 ।
वृहत्जातक :- वराहमिहिर, उत्पल की टीका सहित, सं०, सीताराम झा, बनारस, 1934 ।
वेणीसंहार :- भट्ट नारायण, सं०, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1875 ।
वैराग्यशतक :- भर्तृहरि, सं०, ए०वी०गोपालाचार्य, मद्रास, 1954 ।

शिशुपालवध :- माघ, संपा०, दुर्गाप्रसाद और शिवदत्त, बम्बई, 1917 ।
प्रकाशक एन०एस०पी०, मल्लिनाथ की टीका सहित, 1927 ।

स्मृतियाँ

कात्यायन स्मृति :- संपा०, पी०वी०काणे, बम्बई, 1933 ।
गौतम स्मृति :- सेक्रेड बुक अव दि ईस्ट, आक्सफोर्ड, 1897 ।
नारद स्मृति :- संपा०, जे० जोली, कलकत्ता, 1885 ।
पराशर स्मृति :- संपा०, रामचन्द्र शर्मा, मुरादाबाद, 1925 ।
मनुस्मृति :- बम्बई, 1923 ।
मनुस्मृति पर भारुचि की टीका, भाग 2, अनुवादक तथा संपादक जे० डनकेन एम०डेरेट ।
कुल्लूक टीका सहित, बनारस, 1970 ।
मेधातिथि की टीका सहित, कलकत्ता, 1932 ।
याज्ञवल्क्य स्मृति :- विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका सहित, बम्बई, 1962 ।
विश्वरूप की टीका, त्रिवेन्द्रम, 1922-24 ।
अपरार्क और अपरादित्य की टीका ।
व्यास स्मृति :- धर्मशास्त्र संग्रह, खण्ड 2, कलकत्ता, 1876 ।
विष्णु स्मृति :- संपा०, वी० कृष्णामाचार्य, मद्रास, 1964 ।
स्मृति समुच्चय :- सत्ताइस स्मृतियों का समूह §अंगिरा, अत्रीस्मृति, अत्रीसंहिता, आपस्तम्ब, अनसूया, गोभिला, दक्ष, देवल, प्रजापति, बृहद्यम, बृहस्पति, यम, लघु-विष्णु, लघु, शंख, लघु-संत्ताप, लघु - हरित्ता, लघुशातातप, लिखिता, वशिष्ठ, वृद्ध -संताप, वेद - व्यास, शंखलिखिता, शंख, संताप, समवृत तथा बौधायन§, संपा०, विनय गणेश आपटे, पूना, 1921 ।
समरैच्चकहा :- हरिभद्र सूरी, संपा०एच०जैकोबी, कलकत्ता, 1926 ।
हर्षचरित :- बाणभट्ट, संपा०, के०पी०परब, बम्बई, 1912 ।
काउवेल का अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, 1897 ।
हिन्दी अनुवाद, वाराणसी, 1958 ।
शृंगार शतक :- भर्तृहरि, अनु०, प०वी०, गोपालचार्य, मद्रास, 1954 ।

सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण :- हर्षचरित -एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 195 ।
कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1958 ।
मार्कण्डेयपुराण -एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1958 ।
पाणिनि कालीन भारतवर्ष, वाराणसी, 1955 ।
प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, 1964 ।
गुप्ता आर्ट, लखनऊ, 1947 ।

अय्यर, सी०वी० :- ओरोजिन ऐण्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया ।

अल्टेकर, ए०एस० :- रिपोर्ट आन कामपुरा एक्सकेवेशन, 1951-55 ।
एजुकेशन इन एशेंट इण्डिया, बनारस, 1957 ।
पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, बनारस, 1938, दिल्ली, 1962 ।
स्टेट ऐण्ड गवर्नमेंट इन एशेंट इण्डिया, दिल्ली, 1962 ।
राष्ट्रकूट ऐण्ड देयर टाइम्स, पूना, 1934 ।
ए हिस्ट्री आफ आफ विलेज कम्युनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया, मद्रास, 1927 ।

उपाध्याय, बी०एस० :- इण्डिया इन कालिदास, इलाहाबाद, 1947 ।
द ओरिजिन - रिलीजियस कंडीशन आफ नादर्न इण्डिया, वाराणसी, 1964 ।
कालिदास का भारत, भाग 2, वाराणसी, 1957 ।

उपाध्याय, राम जी :- प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, इलाहाबाद, 1966 ।

ओझा, गौरीशंकर-हीराचन्द :- मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, प्रयाग, 1928 ।

ओम प्रकाश :- फूड ऐण्ड ड्रिंक इन एशेंट इण्डिया, दिल्ली, 1961 ।
प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, तृतीय संशोधित संस्करण, नई दिल्ली, 1986 ।

काणे, पी०वी० :- हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, 1-5, 1930-46 ।
हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, दिल्ली, 1961 ।

कार्ल मार्क्स :- दि कैपिटल ।

कांगले,आर0पी0 :- दि कौटिल्यीय अर्थशास्त्र,भाग 3,ए स्टडी,बम्बई,1965 ।

कनिंघम,ए0 :- क्वायन्स आफ मेडिवल इण्डिया फ्राम दि सेवेन्थ सेन्चुरी डाउन टू मोहम्मडन कानक्वेस्ट, लन्दन, 1894 ।

कीथ,ए0बी0 :- ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर,लन्दन,1937,1928 ।
क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, कलकत्ता, 1958 ।
दि सांख्य सिस्टम, आक्सफोर्ड ।

कीथ,ए0 बी0-
मैक्डानल,ए :- ए वैदिक इंडेक्स,भाग 2, लन्दन, 1912 ;
न्यूयार्क, 1901 ।

कृष्णाकुमारी,जे0बृज :- एंशेंट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र ।

कृष्णामाचारी,एम0 :- हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर,मद्रास, 1937 ।

गांगुली,ओ0सी0 :- ईस्टर्न वाजुआज, वाराणसी, 1937 ।

ग्रीफिथ जे0 :- अजन्ता दि पेंटिंगस इन दि बुद्धिस्ट केव टेम्पिल्स,
लन्दन, 1896-97 ।

गुप्ता,आर0एस0 :- अजन्ता,एलोरा एण्ड औरंगाबाद केव्स बम्बई, 1962 ।

गुप्ता,डी0के0 :- सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन दि टाइम आफ दण्डिन,दिल्ली,1972
ए क्रिटीकल स्टडी आफ दण्डिन ऐण्ड हिज वर्क,दिल्ली,1970 ।

गोपाल,लल्लन जी :- ऐस्पेक्ट आफ हिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर इन एंशेंट इण्डिया ।
अर्ली मेडीवल क्वायन टाइप्स आफ नादर्न इण्डिया,वाराणसी,19
दि इकोनामिक लाइफ आफ नादर्न इण्डिया§700-1200ईसवी§,
वाराणसी, 1965 ।

गोपालन, आर0 :- हिस्ट्री आफ दि पल्लवाज आफ कांची,मद्रास,1928 ।

गे, एलिस :- ग्रीवा, ए मोनोग्राफ, आक्सफोर्ड, 1930 ।

गौड,पी0के0 :- स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री,भाग3,बम्बई,1953-56 ।
स्टडीज इन इण्डियन कल्चर हिस्ट्री, भाग 1,2, होशियारपुर,
पूना, 1960, 1961 ।

गोखले,बी0जी0 :- ऐंशेंट इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, बम्बई, 1956 ।

घुर्ये, जी0एस0 :- कास्ट ऐण्ड क्लास इन इण्डिया,बम्बई, 1957 ।

घोषाल, यू०एन० :- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल आईडीयल, आक्सफोर्ड, 1900; बम्बई, 1 59 ।
ए हिस्ट्री आफ हिन्दू पब्लिक लाइफ, कलकत्ता, 1945 ।
स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1957 ।
कंट्रीब्यूटरान टू दी हिस्ट्री आफ हिन्दू रेवन्यू सिस्टम, कलकत्ता, 1929 ।

चटर्जी, गौरीशंकर :- हर्षवर्धन, इलाहाबाद, 1938 ।

चन्द, आर०पी० :- इण्डो आर्यन रेस, राजशाही, 1916 ।

चौधरी, आर०एल० :- हिन्दू वूमेन्स राइट टू प्रापर्टी ।

चौधरी, जी०सी० :- पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नादर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, अमृतसर, 1963 ।

जैक्सन :- बाम्बे गजेटियर, भाग 1 ।

जैन, जी०सी० :- यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, अमृतसर, 1967 ।

जैन, जगदीश चन्द्र :- लाइफ इन इण्डिया ऐज डिपिक्टिड इन जैन कैनन्स, बम्बई, 1947

जैन, जे०पी० :- जैन सोर्सेज आफ दि हिस्ट्री आफ दि एंशेंट इंडिया, दिल्ली, 1964

जोशी, एल०एम० :- स्टडीज इन दि बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया, दिल्ली, 1967 ।

दास, एस०के० :- इकोनामिक हिस्ट्री आफ एंशेंट इण्डिया, कलकत्ता, 1925 ।
दि ऐजुकेशनल सिस्टम आफ दि एंशेंट हिन्दूज, कलकत्ता, 1930 ।

दास, ए०सी० :- दि वैश्य कास्ट, कलकत्ता, 1903 ।

दास, शुक्ला :- सोशियो - इकोनामिक लाइफ आफ नादर्न इण्डिया §550-650 ईसवी§, नई दिल्ली, 1980 ।

दास, बी०एन० :- ए सोशल कल्चरल ऐण्ड इकोनामिक हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया

दासगुप्ता, डी०सी० :- जैन सिस्टम आफ ऐजुकेशन, कलकत्ता, 1944 ।

दास, एस०सी० :- इण्डियन पंडित्स इन दि लैण्ड आफ स्नो, कलकत्ता, 1893 ।

दासगुप्ता, एस०एन० :- हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग 1, 2, कलकत्ता, 1932 ।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद :- प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद ।

दीक्षितार, वी०आर० आर० :- हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, मद्रास, 1952 ।

दीक्षित, एन०के० :- एक्सकेवेशन ऐट पहाड़पुर, दिल्ली, 1938 ।

दूबे, एच०एन० :- दक्षिण भारत का इतिहास ।

दे, एस०बी० :- हिस्ट्री आफ जैन मार्किजिज्म, पूना, 1950 ।

देवस्थली, जी०वी० :- हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दि इण्डियन पीपुल, भाग 3 ।

नाथ, प्राण :- ए स्टडी इन दि इकोनामिक कंडीशन आफ नादर्न इण्डिया, लन्दन, 1929 ।

नियोगी, पुष्पा :- कन्ट्रीब्यूटरान टू दि इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1962 ।

नियोगी, पुष्पा :- फ्लीट, जे०एफ० : कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, 3, लंदन, 1888 ।

पाण्डेय, आर०बी० :- श्री हर्ष आफ कन्नौज, बम्बई, 1922 ।
हिस्ट्री आफ हिन्दूज संस्काराज, बनारस, 1949 ।

पन्निकर :- श्री हर्ष आफ कन्नौज, बम्बई, 1922 ।

पाल, पी०एल० :- अर्ली हिस्ट्री आफ बंगाल, कलकत्ता, 1939 ।

पुरी, बी०एन० :- हिस्ट्री आफ गुर्जर प्रतिहार, बम्बई, 1957 ।

प्रेमी, नाथू राम :- जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, 1956 ।

प्रभु, पी०एच० :- हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, बम्बई, 1958 ।

ब्यूहलर, जी० :- इण्डियन सेक्ट आफ दि जैन, लन्दन, 1903 ।

बर्गेस ऐंड लाक :- द फैमिली ।

बनर्जी, एस० :- हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन ।

बनर्जी, पी० :- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन टैक्सेशन, लन्दन, 1930 ।

बनर्जी, आर०डी० :- ईस्टर्न इण्डियन स्कूल आफ मेडीविल स्कल्पचर, दिल्ली, 1933 ।
दि ऐज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, 1933 ।

बनर्जी, जे०एन० :- डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू इकनोग्राफी, कलकत्ता, 1956 ।

बागची, पी०सी० :- इण्डिया ऐण्ड सेन्ट्रल एशिया, कलकत्ता, 1955 ।

बापत, पी०वी० :- 2500 ईयरस आफ बुद्धिज्म, दिल्ली, 1956 ।

बाशम, ए०एल० :- दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1954 ।
ऐसपेक्ट्स आफ एंशेंट इण्डियन कल्चर, बम्बई, 1960 ।
स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1964 ।

बरूआ, के०एल० :- अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूपा, भाग 1, शिलांग, 1933 ।

बोस, पी०एन० :- इण्डियन टीचर्स आफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटी, मद्रास, 1923 ।

बोस, ए०एन० :- सोशल ऐण्ड रूरल इकोनामी आफ नादर्न इण्डिया, भाग 2, कलकत्ता, 1942-45 ।

ध्रुव, एम०पी० :- इकोनामिक लाइफ इन एंशेंट इण्डिया ।

ब्राउन, सी०जे० :- क्वाइन्स आफ इण्डिया, कलकत्ता, 1922 ।

भट्टाचार्य, बी० :- इण्डियन बुद्धिस्ट इकनोग्राफी, कलकत्ता, 1958 ।

भण्डारकर, आर०जी०:- वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलिजियस सिस्टम, पूना, 1928 ।

भण्डारकर, डी०आर०:- सम ऐसपेक्ट्स आफ एंशेंट हिन्दू पालटी, बनारस, 1929 ।

मजूमदार, बी०पी० :- सोशियो इकोनामिक हिस्ट्री आफ नादर्न इण्डिया,
§1030-1194 ईसवी§, कलकत्ता, 1960 ।
रेवन्यू इन अर्ली मेडीविल नादर्न इण्डिया हिस्टारिकल स्टडीज,
प्रकाशक आर०एस०शर्मा ।

मजूमदार, अशोककुमार:- चालुक्याज आफ गुजरात, बम्बई, 1956 ।

मजूमदार, एम०आर० :- कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, बम्बई, 1965 ।

मजूमदार, आर०सी० :- कारपोरेट लाइफ इन एंशेंट इण्डिया, कलकत्ता, 1922 ।
हिस्ट्री आफ बंगाल, प्रथम संस्करण, पहला भाग, ढक्का, 1943 ।
दि वाकाटक- गुप्त ऐज, बनारस, 1954 ।
एंशेंट इण्डिया, बनारस, 1952 ।
दि क्लासिकल ऐज, बम्बई, 1954 ।
दि ऐज आफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, 1955 ।

मजूमदार, एन०जी० :- इंस्क्रिप्शन्स आफ बंगाल, 3, राजशाही, 1929 ।

महाजन, वी०डी० :- अजंता, ऐलोरा ऐण्ड औरंगाबाद केव्स, बम्बई, 1962 ।

महालिंगम, टी०वी० :- कांचीपुरम इन अर्ली साउथ इण्डियन हिस्ट्री, बम्बई, 1968 ।

मिश्र, जयशंकर :- प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ
अकादमी, 1964 ।

मिश्रा, वी०के० :- रिपोर्ट आन कामपुराएक्सवेशन, 1951-55 ।

मुकर्जी आर०के० :- एंशेंट इण्डिया, इलाहाबाद, 1956 ।
एंशेंट इण्डियन ऐजूकेशन, रिप्रिन्ट, दिल्ली, 1974, 1960 ।
हर्ष, तृतीय संस्करण, नई दिल्ली, 1965; पटना, 1957 ।

मैकी, ई०जे०एच० :- फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदड़ो, भाग 2, दिल्ली, 1938 ।
अर्ली इन्डस सिविलाइजेशन, लन्दन, 1948 ।

मैक्स वेबर :- दि स्टडी आफ सोशल ऐंड इकोनामिक आर्गेनाइजेशन न्यूयार्क,
1967 ।

मैकडानेल ऐण्ड कीथ :- हिस्ट्री आफ एंशेंट संस्कृत लिटरेचर, बम्बई, 1954 ।

मैटी, एस0के0 :- दि इकोनामिक लाइफ आफ नादर्न इण्डिया, 300-350 ईसवी, कलकत्ता, 1957 ।
दि इकोनामिक लाइफ आफ नादर्न इण्डिया इन दि गुप्ता-पीरियड, दिल्ली, 1970 ।

मोहन, एफ0जे0 :- अर्ली हिस्ट्री आफ बंगाल, आक्सफोर्ड, 1925 ।

मोतीचन्द्र :- प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, वी0एस0, 2007 ।
जैन मिनिएचर पेंटिंग्स फ्राम वेस्टर्न इण्डिया, अहमदाबाद, 1949 ।
कास्ट्यूम टेक्सटाइल कासमैटिक ऐण्ड कोइफ्योर्स इन एंशेंट ऐण्ड मेडीवल इण्डिया, दिल्ली, 1972 ।

यज़दनी, जी0 :- अंजता, भाग 4, आक्सफोर्ड तथा लन्दन 1930-55 ।

यादव, बी0एन0एस0 :- सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नादर्न इण्डिया, 1973 ।
दि प्राब्लम आफ दि इमरजेन्सी आफ फ्यूडल इन अर्ली इण्डिया ।

राधाकृष्णन, एस0 :- इण्डियन फिलासफी, लन्दन, 1958 ।
रिलीजन ऐण्ड सोसाइटी, 1955 ।

रायचौधरी, एस0सी0 :- अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट, 1920 ।
सोशल कल्चरल एण्ड इकोनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया, (एंशेंट टाइम्स) ।
एजुकेशन इन एंशेंट इण्डिया ।

राय, डा0एस0एन0 :- रिलीजन ऐण्ड कल्चर इन दि फोर पुराणाज
पौराणिक धर्म एवं समाज 1969 ।

राव, टी0जी0एन0 :- ऐलीमेन्टस आफ हिन्दू इकनोग्राफी, भाग 2, मद्रास, 1914-16 ।

रेप्सन, ई0जे0 :- इण्डियन क्वायन्स, स्ट्रासबर्ग, 1897 ।

ला, बी0सी0 :- ज्याग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, लन्दन, 1932 ।
ट्राइब्स इन एंशेंट इण्डिया, पूना, 1943 ।

लायंगर, के0 आर0 श्रीनिवास :- दि क्लासिकल ऐज ।

व्यास, एस0एन0 :- इण्डिया इन दि रामायण ऐज, दिल्ली, 1967 ।

वर्मा, बी0एस0 :- सोशियो-रिलीजियस इकोनामिक ऐण्ड लिटेरेरी कंडीशन आफ बिहार (319-1000 ईसवी), दिल्ली, 1962 ।

वासु,एन0एन0 :- दि सोशल हिस्ट्री आफ कामरूप,कलकत्ता, 1933 ।

विद्याभूषण,सतीशचन्द्र :- हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक,कलकत्ता, 1952 ।
विक्रमशिला विश्वविद्यालय, भारती में, बैसाख, 1315 ।

विन्टरनित्ज,एम0 :- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, कलकत्ता, 1927 ; 1933 ।

वैद्य,सी0वी0 :- हिस्ट्री आफ मेडीवियल हिन्दू इण्डिया,पूना,1921,1924 ।

शर्मा,बृजनाथ :- हर्ष ऐण्ड हिज टाइम्स, वाराणसी, 1970 ।

शर्मा, बृज नारायण :- सोशल लाइफ इन नादर्न इण्डिया (600 - 1000 ईसवी), दिल्ली, 1966 ।

शर्मा,दशरथ :- अर्ली चौहान डाइनेस्टी ।

शर्मा,आर0एस0 :- लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी ऐण्ड इकोनामी,बम्बई, 1966 ।
इण्डियन फ्यूडलिज्म (300 - 1200 ईसवी),कलकत्ता, 1965 ।
शूद्राज इन एंशेंट इण्डिया, पटना,1958;दिल्ली,1959 ।

शास्त्री,पी0सी0 :- जैनधर्म और वैष्णवधर्म, दिल्ली ।

शास्त्री,एच0कृष्णा :- साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शन्स,भाग 2,मद्रास,1924 -6 ।

शास्त्री,हीरानन्द :- ए गाइड टू एलीफेन्टा ।

सांकलिया,एच0डी0 :- दि यूनिवर्सिटी आफ नालन्दा,मद्रास, 1934 ।
आर्कियालॉजी आफ गुजरात, बम्बई, 1941 ।

समद्दर,जे0एन0 :- इकोनामिक कंडीशन्स आफ एंशेंट इण्डिया,कलकत्ता, 1922 ।

सरकार,डी0सी0 :- इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लोसरी,दिल्ली, 1966 ।
अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म ।
स्टडीज इन दि सोसाइटी एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन आफ एंशेंट ऐण्ड मेडीवियल इण्डिया, दिल्ली, 1960 ।
दि क्लासिकल ऐज, बम्बई,तृतीय संस्करण, 1970 ।
इण्डियन एपिग्राफी,कलकत्ता, 1965 ।
सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, भाग 1, कलकत्ता, 1965 ।

सरकार,एस0सी0 :- एजुकेशनल आइडियाज ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एंशेंट इण्डिया ।

सरकार, के0आर0 :- पब्लिक फाइनेन्स इन एंशेंट इण्डिया, नई दिल्ली, 1978 ।

सरकार,बी0के0 :- दि फोक ऐलीमेन्ट्स इन हिन्दू कल्चर,नई दिल्ली, 1981 ।

बासु, एन0एन0 :- दि सोशल हिस्ट्री आफ कामरूप, कलकत्ता, 1933 ।

विद्याभूषण, सतीशचन्द्र :- हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक, कलकत्ता, 1952 ।
विश्वभारती विश्वविद्यालय, भारती में, बैसाख, 1315 ।

विन्टरनित्ज, एम0 :- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 2, कलकत्ता, 1927 ; 1933 ।

वैद्य, सी0वी0 :- हिस्ट्री आफ मेडीवियल हिन्दू इण्डिया, पूना, 1921, 1924 ।

शर्मा, बृजनाथ :- लार्ड ऐण्ड हिज टाइम्स, वाराणसी, 1970 ।

शर्मा, बृज नारायण :- सोशल लाइफ इन नार्दर्न इण्डिया {600 - 1000 ईसवी}, दिल्ली, 1966 ।

शर्मा, दशरथ :- अर्ली चौहान डायनेस्टी ।

शर्मा, आर0एस0 :- लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसाइटी ऐण्ड इकोनामी, बम्बई, 1966 ।
इण्डियन फ्यूडलिज्म {300 - 1200 ईसवी}, कलकत्ता, 1965 ।
शूद्राज इन एंशेंट इण्डिया, पटना, 1958; दिल्ली, 1959 ।

शास्त्री, पी0सी0 :- जैनधर्म और वैष्णवधर्म, दिल्ली ।

शास्त्री, एच0कृष्णा :- साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग 2, मद्रास, 1924 -6 ।

शास्त्री, हीरानन्द :- ए गाइड टू ऐलीफेन्टा ।

सांकलिया, एच0डी0 :- दि यूनिवर्सिटी आफ नालन्दा, मद्रास, 1934 ।
आर्कियोलाजी आफ गुजरात, बम्बई, 1941 ।

समद्दर, जे0एन0 :- इकोनामिक कंडीशन आफ एंशेंट इण्डिया, कलकत्ता, 1922 ।

सरकार, डी0सी0 :- इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लोसरी, दिल्ली, 1966 ।
अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णविज्म ।
स्टडीज इन दि सोसाइटी एण्ड मिनिस्ट्रेशन आफ एंशेंट ऐण्ड मेडीवियल इण्डिया, दिल्ली, 1960 ।
दि क्लासिकल ऐज, बम्बई, तृतीय संस्करण, 1970 ।
इण्डियन एपिग्राफी, कलकत्ता, 1965 ।
सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, भाग 1, कलकत्ता, 1965 ।

सरकार, एस0सी0 :- सम् आस्पेक्ट्स आफ दि अर्लियस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इण्डिया ।

सरकार, के0आर0 :- पब्लिक फाइनेंस इन एंशेंट इण्डिया, नई दिल्ली, 1978 ।

सरकार, पी0के0 :- दि फोक एलीमेन्ट्स इन हिन्दू कल्चर, नई दिल्ली, 1981 ।

सरन, के०एम० :- लेबर इन एंशेंट इण्डिया, बम्बई, 1957 ।

सरस्वती, एस०के० :- इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता, 1957 ।

स्मिथ, वी०ए० :- दि अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1957 ।

सिन्हा, बी०पी० :- डिक्लाइन आफ दि किंगडम आफ मगध, पटना, 1954 ।

सुब्रह्मण्यम, एन० :- सगम पालटी, न्यूयार्क, 1966 ।

सेन, मधु :- ए कल्चरल स्टडी आफ दि निशीथ चूर्णी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम - सीरिज, 21 ;प्रकाशन, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1975 ।

सेन, बी०सी० :- सम हिस्टारिकल ऐसपेक्ट्स आफ दि बंगाल इंस्क्रिप्शन, कलकत्ता, 1942 ।

सेल्टो, आर०एन० :- आक्स इन दि गुप्ता ऐज, बम्बई, 1943 ।
अर्ली इण्डियन इकोनामिक हिस्ट्री, बम्बई, 1973 ।

सेल्टो, बी०ए० :- इण्डियाज डिप्लोमैटिक रिलेशन विद दि ईस्ट, बम्बई, 1960 ।
मेडीवियल जैनिज्म, बम्बई, 1938 ।

श्रीवास्तव, कृष्णचन्द्र :- प्राचीन भारत की संस्कृति ।

त्रिपाठी, आर०एस०:- हिस्ट्री आफ कन्नौज, बनारस, 1959 ।
हिस्ट्री आफ एंशेंट इण्डिया, दिल्ली, 1960 ।

त्रिपाठी, जे०एस० :- आचार्य दण्डी एवम् संस्कृत काव्यादर्श का इतिहास दर्शन, इलाहाबाद, 1968 ।

विदेशी विवरण

एरियान :- मैक्रिन्डिल, एंशेंट इण्डिया ऐज डिसक्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियान ।

कास्मास :- क्रिश्चियन टोपोग्राफी आफ: अनु०जे०डब्लू मैकक्रिन्डिल, लन्दन, प्रथम संस्करण ।

गैलिस, एच०ए० :- दि ट्रेवल्स आफ फा-हेन और रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट किंगडम्स कैम्ब्रिज, 1923 ।

तकाकुसु, जे०ए० :- ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रैक्टाइज्ड इन इण्डिया ऐण्ड दि मलय आर्चिपेलगो, इत्सिंग, तकाकुसु का अंग्रेजी अनुवाद, ऑक्सफोर्ड प्रैक्टिसेस इन इण्डिया, लन्दन, 1896 ।

बील, एस0 :- सि-यू-की, बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, अनु0 ह्वेनसांग, भाग 2, लन्दन, 1906 ।

लाइफ आफ ह्वेनसांग बाई समन हुई-ली, लन्दन, 1911 ।

वाटर्स, टी0 :- ऑन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग 2, लन्दन, 1904, 1905 ।

शब्दकोश तथा विश्वज्ञानकोश

मोनियर विलियम - ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, 1956 ।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, केम्ब्रिज ।

इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेस, न्यूयार्क ।

इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, न्यूयार्क ।

हिन्दी शब्दसागर, काशी नगरी प्रचारिणी, 1925 ।

जरनल्स प्रीआडिकल्स ऐण्ड रिपोर्टस

अभिनव भारती ।
आर्केलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट्स, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया ।
इण्डियन ऐन्टिक्वेरी ।
इण्डियन कल्चर ।
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली ।
इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू ।
इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया ।
ए कैटलाग आफ ब्राह्मनिकल इमेज इन मथुरा आर्ट, डा० वी०एस० अग्रवाल, अध्यर-लाइब्रेरी बुलेटिन ।
एपिग्राफिया, इण्डिका, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया, दिल्ली ।
एपिग्राफिया कर्नाटिका ।
ऐनुवलस आफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना ।
ऐनुवलस आफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास ।
ऐनुवल रिपोर्ट आफ राजपूताना म्यूजियम ।
कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, वी०वी० मिराशी ।
कालायन §हिन्दी§, गोरखपुर ।
कम्पैरिटिव स्टडीज इन लोसाइटी ऐण्ड हिस्ट्री ।
जनरल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ।
जनरल आफ दि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी ।
जनरल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैंड ।
जनरल आफ दि बिहार रिसर्च सोसाइटी ।
जनरल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जनरल आफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी ।
जनरल आफ दि यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी ।
जनरल आफ दि बम्बई ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जनरल आफ दि इण्डियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट, कलकत्ता ।

जनरल आफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद ।

जनरल आफ इण्डियन हिस्ट्री ।

दि पूना ओरियन्टेलिस्ट ।

न्यू इण्डियन ऐन्टिक्वेरी ।

प्रोसीडिंग्स आफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस ।

प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि आर्केयोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल ।

पुराणम् (अंग्रेजी और संस्कृत), काशी ।

युनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद स्टडीज ।

विक्रम, विक्रम युनिवर्सिटी जरनल, उज्जैन ।

साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स ।

सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स ।